प्रकाशक
यशोधर मोदी
मैनेजिंग डायरेक्टर,
हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्राइवेट लिमिटेड,
तार हिन्दीग्रमी • फोन १८५१९ • पो॰ बॉ॰ ११२२
गिरगाव — बम्बई-४
शाखा ग्रन्थभवन, दयानन्द रोड, २१ दरियागंज, दिल्ली-६

•

लेखक
डा॰ सी॰ एल॰ प्रभात
अध्यक्ष हिन्दी विभाग
के॰ सी॰ कालेज,
बम्बई

•

संस्करण
जनवरी १९६५, प्रथम
इक्कीस रुपये

•

मुद्रक
अमृतलाल परमार
सिपई प्रेस
४१८ मढ़ाताल
जबलपुर

प्रकाशक
यशोधर मोदी
मैनेजिंग डायरेक्टर,
हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्राइवेट लिमिटेड,
तार हिन्दीग्रन्थ ● फोन ३८५१६ ● पो० बॉ० ११२२
हीराबाग — बम्बई–४
शाखा ग्रन्थभवन, दयानन्द रोड, २१ दरियागंज, दिल्ली–६

●

लेखक
डा० सी० एल० प्रभात
अध्यक्ष हिन्दी विभाग
के० सी० कालेज,
बम्बई

●

संस्करण
जनवरी १९६५, प्रथम
इक्कीस रुपये

●

मुद्रक
अमृतलाल परवार
सिंघई प्रेस
४१८ मढ़ाताल
जबलपुर

अनुक्रम

[अंक पृष्ठ-संख्या के सूचक हैं]

[१] पृष्ठभूमि

[२] जीवन-वृत्त : अध्ययन के आधार

(५) साधना-पथ

[६] काव्य अनुभूति और अभिव्यक्ति

[७] तीन परिशिष्ट

पृष्ठभूमि

राजनीतिक परिस्थिति

मीरां कभी राजनीति के पथ पर नहीं चली। जिसे भौतिक भोग के प्रति ही आसक्ति न हो उस राजनीति के तंत्र नहीं उलझा सकते। फिर भी उस काल का कोई और विशेषकर राज-परिवार का व्यक्ति राजकीय संघर्ष की आँधी से अछूता नहीं रह सकता था। मीरां के विवाह-संबंधी निर्णय और उनके जीवन के अंतिम अंश की गतिविधि के निर्धारण में आंशिक रूप से तत्कालीन राजकीय स्थिति का भी हाथ था।

मीरां के युग की उत्तर भारतीय राजनीति का मूल स्वर था वीरता और बलिदान से परिपूर्ण संघर्ष।

राजस्थान में व्याप्त यह संघर्ष दो प्रकार का था

(क) मुसलमानी राजाओं और विशेषकर तत्कालीन दृष्टि से विदेशी मुगल राजसत्ता का राजपूतों से संघर्ष और (ख) राजपूतों के आपसी झगड़े।

अशांति और अरक्षितता इन सभी संघर्षों का दुर्निवार फल था।

मध्ययुग में उत्तर का प्रमुखतम और केन्द्रीय राज्य था दिल्ली का। पर फीरोज तुगलक की मृत्यु के पश्चात् दिल्ली राज्य से सम्बद्ध कुछ रियासतें स्वतंत्र भी हो गयीं जिनमें प्रमुख थीं जौनपुर, मालवा गुजरात बंगाल काश्मीर, उड़ीसा अमरपुर तथा आसाम दक्षिणी राज्य तथा राजस्थान।[1] प्रस्तुत प्रसंग में हमारा विशेष संबंध राजस्थानी राजनीति से ही है।

उस समय राजस्थान में डेढ़ दर्जन से अधिक स्वतंत्र हिन्दू राज्य थे। इनमें सबसे प्रमुख थे मेवाड़ और मारवाड़ के राज्य। ये दोनों बहुत दिनों तक बहुत कुछ अर्थों में राजस्थानी राजनीति के नियामक थे। मीरां का संबंध इन्हीं दो राजवंशों से था। जोधपुर के राठौड़ वंश की मेड़तिया शाखा में वे जन्मी उसी में उनका शैशव बीता और मेवाड़ के राणा-परिवार में उनका विवाह हुआ। इन राज्यों की संघर्षमय राजकीय परिस्थितियों ने मीरां की जीवन धारा को अनेक प्रकार से प्रभावित किया।

---

(१) विस्तृत विवरण के लिए देखिए—सुल्तानेट ऑव देहली, ए० एल० श्रीवास्तव अध्याय १५

मीरां के जन्म के समय मेवाड़ के सिंहासन पर रायमल विराजमान था। वह सन् १४७३ में राजगद्दी पर बैठा था।[1] उदयपुर के कमिश्नर के मुहाफिजखाने में सुरक्षित तत्कालीन खासी ताम्रपत्रों से ज्ञात होता है कि उस समय राज्य में शोचनीय आर्थिक दशा और चिन्ताजनक दुर्व्यवस्था थी।[2] क्षत्रिय 'कुल कानन पंचानन' 'हिन्दुसुरत्राण'[3] महाराणा कुंभा के समय की गौरवमयी स्थिति को पितृघाती ऊदा कलंकित कर ही चुका था। रायमल भी ३६ वर्ष के राज्य-काल में (मृत्यु ईस्वी १५०९) अपने पितामह की महिमा को नहीं पा सका। उधर मारवाड़ में राव जोधाजी के बाद राव सातल जी और राव सूजाजी का समय राजकीय उत्थान की दृष्टि से सामान्य ही था[4] पर साथ ही लोदीवंशी सुलतान सिकंदर के शासन में दिल्ली राज्य भी इतना शक्तिशाली नहीं था कि राजस्थान के मामलों में हस्तक्षेप कर सके। वे प्रांतीय राज्य जो किसी समय दिल्ली सल्तनत के अंग थे अब स्वाधीनता की माँग कर रहे थे। इसके फलस्वरूप उनमें आपस में एक दीर्घकालीन संघर्ष चला। मालवा और गुजरात के राज्य इस समय विशेष रूप से सक्रिय थे और उनके शासक महमूद द्वितीय तथा मुजफ्फर शाह द्वितीय दिल्ली पर भी अपनी निगाह जमाये थे।[6]

इस समय सन् १५०९ में मीरां के भावी श्वसुर महाराणा सांगा के हाथ में मेवाड़ राज्य की बागडोर आयी।[7] वे तलवार के धनी थे शूरता उनके रक्त में समायी थी। अधिकार पाते ही रणभेरी ने उनका साथ दिया। कहा जाता है कि उन्होंने दिल्ली और मालवा के सुलतानों के विरुद्ध १८ युद्ध जीते थे। गुजरात मुजफ्फर निजामुल्मुल्क और मांडू के सुल्तान को अनेक बार

---

(१) उदयपुर राज्य का इतिहास, ओझा, पहली जिल्द पृष्ठ ३१७

(२) डॉ० जी० एन० शर्मा : मेवाड़ एंड दी मुगल ऐम्परर्स पृष्ठ १२

(३) वि० सं० १४९६ का राणकपुर के जैन मंदिर का शिलालेख (एन्युअल रिपोर्ट आव द आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑव इंडिया सन् १९०७-८, पृष्ठ २१४ १५

(४) उदयपुर राज्य का इतिहास : ओझा, प० जि० पृष्ठ ३४६

(५) मारवाड़ का इतिहास प्रथम भाग, रेउ पृ० १०४ – ११०

(६) दी कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इंडिया ३ रा खंड, पृष्ठ २४३-२४५, और २१२

(७) उदयपुर राज्य का इतिहास ओझा : पहली जिल्द, पृ० ३५७। मुहणोत नैणसी की ख्यात के आधार पर (वीर विनोद तथा एनल्स में संवत् १५६७, सन् १५०८ दिया गया है)

(८) उदयपुर राज्य का इतिहास ओझा : पहली जिल्द, पृष्ठ ३५१

नीचा दिखाया था[1] और चारों दिशाओं के विजयी[2] राजा होकर हिन्दू गौरव के प्रतीक बन गए थे।

इसी बीच बाबर ने लोदी-वंश का अस्त करके मुगल राज्य का झंडा दिल्ली पर गाड़ दिया। इस विषय में तो इतिहासकारों में मतभेद है कि बाबर को महाराणा सांगा ने बुलाया था या बाबर ने दिल्लीपति के विरोध में उस समय के सबसे शक्तिशाली राजा (सांगा) से सहायता मांगी थी पर इतना सत्य है कि दोनों एक दूसरे के खतरे से परिचित थे। राणा सांगा ने सन् १५२७ में, बाबर को इस देश से निकालने के लिए अभियान प्रारंभ किया। उन्होंने पहले बयाना पर चढ़ाई की और किले को अपने अधिकार में कर लिया। उस सघर्ष-काल में मुगलों के विरुद्ध एक राजपूत राजा की यह अंतिम विजय थी। इसके बाद खानवा के युद्ध में बाबर के सामने राणा की पराजय हुई। यह पराजय मेवाड़ की ही नहीं थी समस्त हिन्दू-राज्यों की पराजय थी। इससे उत्तरी भारत के इतिहास में एक नए अध्याय का प्रारंभ हुआ। राणा सांगा की मृत्यु के पश्चात् राणा रत्नसिंह सन् १५२८ ईस्वी में चित्तौड़ की गद्दी का स्वामी बना[3] पर वह केवल तीन वर्ष के बाद ही अपने मामा बूंदी के हाड़ा सूरजमल (जो कि उसके सौतेले भाइयों की रणथंभोर की जागीर की देखभाल करता था) के साथ युद्ध करते हुए मारा गया। इस बीच केवल एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। मालवा पर मेवाड़ की जो धाक थी वह समाप्त हो गयी। रत्नसिंह के निस्संतान होने से उसका छोटा भाई विक्रमादित्य रणथंभोर से आकर वि० सं० १५८८ (ईस्वी १५३१) में मेवाड़ की गद्दी पर बैठा। शासन करने के लिए वह बिलकुल अयोग्य था। अपने खिदमतगारों के अतिरिक्त उसने दरबार में सात हजार पहलवानों को रख लिया जिनके बल और अपने छिछोरे पन के कारण वह सरदारों की दिल्लगी उड़ाया करता था जिससे वे अप्रसन्न होकर अपने-अपने ठिकानों में चले गये और राज्य-व्यवस्था बहुत बिगड़ गई।

---

(१) अमरकाव्य वंशावली मुदफ्फर गुज्जरेशं जित्वा तद् शिबिरं बहुत्—
(एपीग्रैफिया इंडिका— पृष्ठ ६८ से उद्धृत)

(२) "इब्राहीम पूरब दिशा न उलटे पदम मुदाफर न दै पयाण
बहली महमदसाह न बौड़े सांगो दामण बहुं सुरताण"
—महाराणा यश प्रकाश : ठाकुर भूरसिंह शेखावत, पृष्ठ ६१

(३) उदयपुर राज्य का इतिहास, ओझा, पु० ३८८ कर्नल टाड ने १५२६ ईस्वी (१५८६ वि०) को राज्याभिषेक माना है।

(४) वही, पृष्ठ ३१४

मीरांबाई को भी इस राणा ने बहुत कष्ट दिया था। इसके राज्यकाल में बहादुरशाह ने दो बार चित्तौड़ पर आक्रमण किया। पहली बार तो वह भेंट लेकर लौट गया।[1] दूसरी बार उसने चित्तौड़ के किले को अपने अधिकार में ही कर लिया[2] पर हुमायूं उसके पीछे पड़ गया था इसलिए वह थोड़ी-सी सेना चित्तौड़गढ़ में रखकर आया। मंदसौर में हारकर मांडू, चम्पानेर और खंभात होता हुआ दीव के टापू में पहुँचा वहाँ से लौटते समय समुद्र में मारा गया।[3] इस समाचार को सुनकर मेवाड़ के सरदारों ने फिर चित्तौड़ पर पाँच-सात हजार सेना एकत्र कर अधिकार कर लिया और विक्रमादित्य को गद्दी पर बैठा दिया।

राणा विक्रमादित्य कुसंगति में फँसा था। मौका पाकर पृथ्वीराज के अनौरस (पासवानिया) पुत्र ने उसे तलवार के घाट उतार दिया। पन्ना धाय के प्रयत्न से उसका शिशुपुत्र उदयसिंह कुंभलनेर के किलेदार के पास पहुँचकर बच गया वरना इस वंश का अंत हो गया होता।

वणवीर अकुलीन और साथ ही घमंडी था। सरदार उसे नहीं चाहते थे। अंत में मावली में युद्ध हुआ और उसे भागना पड़ा। कुछ कहते हैं कि वह मर गया। कुछ भी हो चित्तौड़ का राज्य सन् १५४ में उदयसिंह को मिल गया।[4]

उदयसिंह एक साधारण राजा था—न वह बड़ा वीर था और न राजनीतिज्ञ। उसका जीवन विलास और संघर्ष की एक अव्यवस्थित कहानी है। राज्य पाते ही उसे जोधपुर के राव मालदेव से युद्ध करना पड़ा पर इस (कुंभलनेर के युद्ध) में उसकी विजय हुई।[5] थोड़े समय बाद हाजी खाँ से युद्ध हुआ जिसमें मालदेव ने हाजी खाँ की मदद की और राणा को धन-जन की हानि के साथ लौटना पड़ा।

उधर उत्तर भारत में शेरशाह का उदय हुआ। वह हुमायूं को दो बार पराजित करके उत्तर भारत में अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने में लगा हुआ था। मेवाड़ को भीतर से फलने-फूलने का अवसर मिल भी नहीं पाया था कि शेरशाह ने आक्रमण कर दिया। राणा ने किले की तालियाँ उसके पास भेजकर

---

(१) हिस्ट्री ऑव गुजरात बैले : पृ० १७१ १७२
(२) वही पृष्ठ १८३
(३) वही पृ० १८६-८७
(४) वीर विनोद, भाग २ पृ० ६३-६४
(५) इस तिथि के विषय में विभिन्न इतिहासकारों में मतभेद है।
(६) वीर विनोद, भाग २ पृ० ६८

आत्म-समर्पण की मौन घोषणा कर दी। शेरशाह भी संधि करके लौट गया।[1] चित्तौड़ की यह पराजय देखकर राणा की आँखें खुलीं और उसने एक ऐसे स्थान की खोज की जहाँ शत्रु से घिरने का डर इतना अधिक न हो। इसके फलस्वरूप सन् १५५९ के लगभग उदयपुर की नींव पड़ी।[2] अकबर के चित्तौड़ पर आक्रमण के समय राणा उदयपुर आ गया और चित्तौड़ के मुगल-अधिकार में पहुँचने के कारण वहीं बस गया। मीरां इसके पूर्व ही परलोक सिधार चुकी थीं।

जहाँ तक मेड़ता की राजकीय परिस्थिति का प्रश्न है, वह बहुत कुछ आसपास की बड़ी रियासतों के ऊपर ही आश्रित थी। राव जोधाजी के दो पुत्रों (बरसिंह और दूदा) ने सन् १५४१ में मेड़ता जीता था और पुरानी बस्ती के पास नया मेड़ता नगर भी बसाया था।[3] बरसिंह वहाँ का शासक हुआ। उसके बाद वीरमदेव मेड़ता का स्वामी बना। मीरां इन्हीं वीरमदेव के भाई रत्नसिंह की कन्या थी। यद्यपि वीरमदेव जोधपुरी राठौरों की ही शाखा का था परन्तु मालदेव से उसकी अनबन हो गयी और इसके फलस्वरूप मेड़ता सदैव मालदेव के कोप का दुखद परिणाम भोगता रहा। सन् १५३५ में मेड़ता पर मालदेव का अधिकार हो गया। सन् १५४४ में शेरशाह की जोधपुर विजय के बाद यह फिर वीरमदेव को मिला।[4] वीरमदेव के पश्चात् जयमल मेड़ते का स्वामी बना पर सन् १५५३ में मेड़ता फिर मालदेव के हाथों में पहुँच गया।[5] उसके पश्चात् जयमल के अनेक प्रयत्नों के बावजूद मेड़ता उसे नहीं मिला। मेड़ता मालदेव से अकबर के हाथों में चला गया और जयमल अंत में, सन् १५६७ में चित्तौड़ दुर्ग की रक्षा करते हुए अकबर की सेना द्वारा मारा गया।[6]

इस युग की राजनीतिक व्यवस्था आपसी युद्धों द्वारा तो विषम हो ही गई थी। नियम और नीति के ऊपर शक्ति के अधिकार के कारण उत्तराधिकार संबंधी अनिश्चितता रनवासों के षड्यंत्र राजाओं और युवराजों की उच्छृंखलता

---

(१) मेवाड़ एंड मुगल एम्परर्स : डा० जी० एन० शर्मा पृ० ६१ ६२
(२) उदयपुर राज्य का इतिहास : ओझा पहली जिल्द पृ० ४२१
(३) मेवाड़ का इतिहास रेउ पृ० ६५
(४) जोधपुर राज्य का इतिहास ओझा, प्रथम खण्ड, पृ० २८०
(५) मारवाड़ का इतिहास, रेउ : पृ० १११
(६) वही, पृष्ठ ११५
(७) वही पृष्ठ ११६ १४१

की सीमा को पहुँची हुई परम स्वतंत्रता और जनता की 'कोउ नृप होय हमैं का हानी" वाली निश्चिन्ततापूर्ण उदासीनता की नीति के कारण राज्यों में आंतरिक सुरक्षा संतोष और सुनियोजित विकास की प्रक्रिया का अत्यन्त अभाव था। इस राजनीतिक संघर्षों के फलस्वरूप समाज में आर्थिक कष्ट असुरक्षितता की भावना और वीरपूजा के भाव प्रबल हो उठे थे। जीवन की संघर्षजन्य निर्मम अनिश्चितता ने आस्तिकता को और बढ़ा दिया था। मुसलमानी विजयों ने एक नयी सामाजिक व्यवस्था और एक नये धर्म को प्रसारित किया जिसने इस देश के परंपरागत धर्म और समाज के सामने अनेक प्रश्न और समस्याएँ खड़ी कर दी।

आर्थिक परिस्थिति

मीरांकालीन राजस्थान की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं कही जा सकती। यहाँ की तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था का मुख्य आधार था अन्न का उत्पादन और वितरण पर राजपूताने की रेतीली और पहाड़ी जमीन वर्षा की कमी यातायात और आवागमन के साधनों की सीमितता के कारण प्रायः अकाल इस प्रदेश को संत्रस्त करते थे। राजपूताने के पश्चिमी भागों में तो यह कहावत प्रचलित है कि वहाँ हर तीसरे वर्ष एक अकाल पड़ जाता है।[1] पुराने समय का एक दोहा भी प्रसिद्ध है जिसमें अकाल स्वयं कहता है कि मेरे पैर पुंगल देश (बीकानेर) बड़ कोठड़ा (मारवाड़) और भुजाएँ बाड़मेर (जिला मालानी) में स्थायी रूप से हैं और कभी उत्पात करने पर जोधपुर में भी मिल जाता हूँ परन्तु जैसलमेर में तो मेरा ठिकाना है।[2] तुलसीदास जी की भी साखी है कि 'कलि बारहिं बार दुकाल परै बिनु अन्न दुखी सब लोग मरैं' और 'देव न बरषिहि धरनि बए न जामहिं धान।'[3] ऐसी स्थिति में आर्थिक कष्ट एक अनिवार्य परिणाम था।

---

(१) राजपूताने का इतिहास : जगदीश सिंह गहलोत, पृ० १२१

(२) पग पुंगल धड़ कोटड़े बाहुर बाड़मेर।
जोयो लाद्रे जोधपुर, ठावो जैसलमेर॥

(३) इस संबंध में तुलसीदास जी की निम्नांकित पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं :
खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बलि
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी
जीविका विहीन लोग, सीद्यमान सोच बस
कहैं एक एकन सों कहाँ जाई का करी।

सोलहवीं सदी के राजस्थान में राजा समस्त भूमि का एकमात्र स्वामी था। जागीरदार उसकी व्यवस्था के दुर्निवार स्तम्भ थे। किसानों के कुछ सहज प्रकृति प्रदत्त वैयक्तिक अधिकार थे जो राजनीतिक संघर्षों के कारण बहुत अंशों में अनिश्चित तथा सीमित होते हुए भी उन्हें भूमि के साथ ममता के बंधन में बांधे हुए थे।

खेती के अतिरिक्त जीवन की अन्य आवश्यक वस्तुओं का निर्माण जातीय ग्रामोद्योगों द्वारा होता था पर इनसे स्थानीय आवश्यकताएँ ही पूर्ण हो पाती थीं। कुछ उद्योगों को राज्याश्रय भी मिला था। ये अधिकांश में सुखोपभोग की सामग्री से संबंधित थे।[1] राजस्थान के कुछ नगर पश्चिमी बंदरगाह तथा उत्तरी भारत के बीच की मंडियाँ थीं। उत्तरी भारत काश्मीर और चीन के माल का योरप फारस तथा अफ्रीका के माल के साथ इन स्थानों में लेन-देन होता था। कच्छ व गुजरात के बन्दरगाहों से बनजारों के काफिले आते थे।[2] उस समय व्यापार के लिए रेल व सड़कों के सुभीते न थे। फिर भी हर राज्य में राहदारी माप दलाली व चुंगी (सायर) लगती थी। इससे स्थानीय आर्थिक स्थिति का कुछ उत्कर्ष मिल जाता था।

सेना उस समय राज्य का सबसे महत्वपूर्ण अंग थी। इसका सारा खर्च अंततोगत्वा किसान और कारीगरों के ऊपर पड़ता था। युद्ध के काल में तो लूट मार आदि के कारण इनकी दशा बहुत शोचनीय हो जाती थी। मुसलमानी रियासतों के हिन्दू किसानों के लिए धर्म भी एक अभिशाप था। राजधर्म के नाम पर मुल्ला मौलवी मुसलमान सरदार भी किसानों की खेती के चिरकालीन मनचाह अतिथि बने रहते थे। वितरण-संबंधी विषमताएँ बहुत थी। यह वस्तुतः एक छोटे-से वर्ग के हाथ में था। भूमिवान राजा राज्याधिकारी व्यापारी और साहूकार अर्थ-व्यवस्था का नियमन करते थे और समस्त उपभोग के स्वामी बन गये थे।[3] इस प्रकार सोने की चिड़िया कहलाने वाले इस देश में श्रमजीवी सामान्य जनता का शोषण अनेक रूप में जाने और अनजाने होता रहता था।

सामाजिक स्थिति

मीरां के युग में उत्तर भारत की जनता धर्म की दृष्टि से दो वर्गों में

(१) दी सुल्तानेट आव देहली ए० एल० श्रीवास्तव, पृष्ठ १७१
(२) राजपूताने का इतिहास गहलोत पृष्ठ ११८
(३) दी सुल्तानेट ऑव देहली, श्रीवास्तव पृ० १७२ १७३

बँटी थी—हिन्दू और मुसलमान। ये वर्ग केवल धार्मिक ही नहीं थे। धर्म ने सामाजिक वैषम्य की दीवारें भी इनके बीच खड़ी कर दी थीं। यहाँ तक कि कुछ रियासतों में तो इनके धार्मिक आचार ही नहीं सामाजिक कर्तव्य और अधिकार भी भिन्न हो गये थे।

आर्थिक और व्यावसायिक दृष्टि से राजस्थानी समाज में निम्नांकित वर्ग प्रमुख थे

(क) सामंत तथा युद्ध व्यवसायी वर्ग

(ख) पुरोहित (हिन्दुओं में ब्राह्मण मुसलमानों में सैयद जैनों में यती इसी वर्ग में आते हैं।)

(ग) भक्त समुदाय—वैरागी जोगी संन्यासी समेनी फकीर आदि।

(घ) वंशोच्चारक तथा लेखक वर्ग—चारण भाट, मोतीसर, रावल मिरासी।

(ङ) गायक नर्तक आदि—ढोली हिजड़ा बागरीपातुरी भगतण कलावंत भाँड आदि।

(च) व्यवसायी—व्यापारी

(छ) दस्तकार—कलाकार

(ज) खेतिहर तथा सेवा व्यवसायी वर्ग

उस समय हिन्दुओं में वर्णाश्रम की व्यवस्था थी। आश्रम धर्म तो सिद्धान्ततः आदर की दृष्टि से देखा जाता था व्यवहार में नहीं था। वर्ण-व्यवस्था प्रचलित थी पर उस पर आघात होने लगे थे और उसमें कहीं-कहीं दरारें भी पड़ने लगी थीं। इसीलिए तुलसी जैसे परम्पराप्रिय सुधारक ने कलिकाल के लक्षणों में वर्णाश्रम धर्म के अभाव तथा श्रुति-विरोध का दुःख के साथ उल्लेख किया है।[1]

सामाजिक दृष्टि से सबसे अधिक सम्पन्न और सुखी वर्ग था शासक और युद्धजीवी वर्ग। यह वर्ग भोग-विलास और वैभव में मग्न था।[2] राजाओं की सत्ता

---

(१) बरन धरम नहिं आश्रम चारी। श्रुति-बिरोधरत सब नर नारी॥

—मानस, उत्तर काण्ड

(२) पद्माकर यद्यपि कुछ परवर्ती युग के हैं, पर उनका निम्नांकित छंद इसी राजन्य-वर्ग की यथार्थ स्थिति, या उनकी वास्तविक आकांक्षाओं, का चित्रण करता है:

गुलगुली गिल में गलीचा हैं गुनीजन हैं
चाँदनी है चिक है चिरागन की माला है,
कहैं त्यों गजक गिजा हैं, सजी सेज हैं
सुराही है सुरा है और प्याला है। आदि।

न्याय पर नहीं कराल दण्ड की शक्ति पर आधारित थी।[1] छल और प्रवंचना राज-समाज के सहायक और संगी थे। राजा व्यक्तिगत रूप से भला भी होता तो भौतिक और बाह्य संकट उसे चैन नहीं देते थे। मीरां का जिस वर्ग से संबंध था वह यही युद्धप्रिय राजपूत क्षत्रिय वर्ग था। उसमें सामन्तों के अन्य दोषों के साथ ही एक आत्माभिमान था जो प्रायः अहंकार की सीमा पार कर जाता था। उनकी प्रतिष्ठा के तीन प्रमुख आधार थे

(१) जमीन पर अधिकार (सबसे महत्त्वपूर्ण)
(२) स्त्रियों में परदा
(३) उच्च परिवार से विवाह संबंध

उनमें यहाँ अब भी कहावत है

'जम जमीं पर पसरता त्रिया पर्दा ताव
यह तीनों जिन मरदन रहा रंक रहा राव।

क्षत्रियों के अतिरिक्त समाज का दूसरा शक्तिशाली वर्ग ब्राह्मणों का था जो धर्म के क्षेत्र में एकछत्र सम्राट था। उनकी व्यवस्था के बिना आज भी हिन्दू जीवन का कोई महत् कार्य सम्पन्न नहीं हो पाता। अशिक्षितता के कारण उस युग में भाग्यवाद और अवतारवाद में लोगों की विशेष श्रद्धा बढ़ गयी थी, जिससे बुद्धिजीवी ब्राह्मण वर्ग के हाथ और मजबूत हो गये थे। यह वर्ग सामान्यतः स्वाभिमानी था पर मध्यकाल की आर्थिक परिस्थिति में 'निगम अनुशासन' की उपेक्षा करनेवाले वृत्तिवेचक द्विज भी उत्पन्न हो गये थे और ज्ञान तथा कर्म के पथ से हटकर केवल भिक्षा के क्षेत्र में उतरनेवाले भी।

वैश्य वर्ग सुखी था पर उसका सम्मान ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों जैसा नहीं था। वह चतुर था और मौका देखकर काम निकाल लेता था पर उसमें भामाशाह जैसे व्यक्ति भी थे। वैश्यों ने लाज छोड़ दी थी। वह अब शूद्रों का कर्म समझा जाता था। 'धर्म और काम' का उपभोग करने वाला यह वर्ग धर्म भीरु भी पर्याप्त मात्रा में था। विरोधों की भीरुता की ओर उदासीनता इसकी एक स्वाभाविक विशेषता-सी बन गयी थी कदाचित् इसलिए कि विरोध संघर्ष और अशान्ति में व्यापार नहीं पनपता।

शूद्र वर्ग की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। उसकी स्थिति सामाजिक और आर्थिक दोनों दृष्टियों से अत्यन्त हेय थी। अस्पृश्यता और पतित

---

(१) 'साम न दाम न भेद कलि केवल दण्ड कराल।

—दोहावली

'काल कराल नृपाल कृपाल न राज समाज बड़ोई छली है।

—कवितावली उत्तरकाण्ड

बँटी थी—हिन्दू और मुसलमान। ये वर्ग केवल धार्मिक ही नहीं थे। धर्म ने सामाजिक वैषम्य की दीवारें भी इनके बीच खड़ी कर दी थीं। यहाँ तक कि कुछ रियासतों में तो इनके धार्मिक आचार ही नहीं सामाजिक कर्तव्य और अधिकार भी भिन्न हो गये थे।

आर्थिक और व्यावसायिक दृष्टि से राजस्थानी समाज में निम्नांकित वर्ग प्रमुख थे

(क) सामंत तथा युद्ध व्यवसायी वर्ग

(ख) पुरोहित (हिन्दुओं में ब्राह्मण मुसलमानों में सैयद जैनों में यती इसी वर्ग में आते हैं।)

(ग) भक्त समुदाय—बैरागी जोगी संन्यासी सनेही फकीर आदि।

(घ) वंशोच्चारक तथा सेवक वर्ग—चारण भाट मोतीसर, रावल मिरासी।

(ङ) गायक नर्तक आदि—ढोली हिमका पातरीपातुरी भगतण, कलावंत भांड आदि।

(च) व्यवसायी—व्यापारी

(छ) दस्तकार—कलाकार

(ज) खेतिहर तथा सेवा व्यवसायी वर्ग

उस समय हिन्दुओं में वर्णाश्रम की व्यवस्था थी। आश्रम धर्म तो सिद्धान्ततः आदर की दृष्टि से देखा जाता था व्यवहार में नहीं था। वर्ण-व्यवस्था प्रचलित थी पर उस पर आघात होने लगे थे और उसमें कहीं-कहीं दरारें भी पड़ने लगी थीं। इसीलिए तुलसी जैसे परंपराप्रिय सुधारक ने कलिकाल के लक्षणों में वर्णाश्रम धर्म के अभाव तथा श्रुति-विरोध का दुःख के साथ उल्लेख किया है।[1]

सामाजिक दृष्टि से सबसे अधिक सम्पन्न और सुखी वर्ग था शासक और युद्धजीवी वर्ग। यह वर्ग भोग-विलास और वैभव में मग्न था।[2] राजाओं की सत्ता

---

(१) बरन धरम नहिं आश्रम चारी। श्रुति-बिरोधरत सब नर नारी॥
—मानस उत्तर काण्ड

(२) पद्माकर यद्यपि कुछ परवर्ती युग के हैं पर उनका निम्नांकित छंद इसी राजन्य-वर्ग की यथार्थ स्थिति या उनकी वास्तविक आकांक्षाओं, का चित्रण करता है:

गुलगुली गिलमें गलीचा हैं गुनीजन हैं,
चाँदनी है चिक है चिरागन की माला है
कहैं त्यों गजक गिजा हैं, सजी सेज हैं,
सुराही हैं, सुरा है और प्याला है। आदि।

न्याय पर नहीं, कराल काल की शक्ति पर आधारित थी।[1] उस और प्रवंचना राज-समाज के सहायक और संगी थे। राजा व्यक्तिगत रूप से भला भी होता तो आंतरिक और बाह्य संबंध उसे चैन नहीं देते थे। मीरां का जिस वर्ग से संबंध था वह यही युद्धप्रिय राजपूत सामंत वर्ग था। उसमें सामन्तों के अन्य दोषों के साथ ही एक आत्माभिमान था जो प्रायः अहंकार की सीमा पार कर जाता था। उनकी प्रतिष्ठा के तीन प्रमुख आधार थे

(१) जमीन पर अधिकार (सबसे महत्वपूर्ण)
(२) स्त्रियों में परदा
(३) उच्च परिवार से विवाह संबंध

उनके यहाँ अब भी कहावत है

'धम धर्ता धर धमटवा त्रिया पड़ंता ताव
यह तीनों दिन मरणरा कहा रंक कहा राव।

क्षत्रियों के अतिरिक्त समाज का दूसरा शक्तिशाली वर्ग ब्राह्मणों का था, जो धर्म के क्षेत्र में एकछत्र सम्राट था। उनकी व्यवस्था के बिना आज भी हिन्दू जीवन का कोई महत् कार्य सम्पन्न नहीं हो पाता। अनिश्चितता के कारण उस युग में भाग्यवाद और भगवानवाद में लोगों की विशेष श्रद्धा बढ़ गयी थी, जिससे बुद्धजीवी ब्राह्मण वर्ग के हाथ और मजबूत हो गये थे। यह वर्ग सामान्यतः स्वाभिमानी था पर मध्यकाल की आर्थिक परिस्थिति में 'निगम अनुशासन' की उपेक्षा करनेवाले श्रुतिवेचक द्विज भी उत्पन्न हो गये थे और ज्ञान तथा धर्म के पथ से हटकर केवल भिक्षा के क्षेत्र में उतरनेवाले भी।

वैश्य वर्ग सुखी था पर उसका सम्मान ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों जैसा नहीं था। वह चतुर था शीश झुकाकर कार्य निकाल लेता था पर उसमें भामाशाह जैसे व्यक्ति भी थे। वैश्यों ने खेती छोड़ दी थी। वह अब शूद्रों का कार्य समझा जाता था। 'अर्थ और काम' को उपलब्ध करने वाला यह वर्ग धर्म भीरु भी पर्याप्त मात्रा में था। विरोधों की भीषणता की ओर उदासीनता इसकी एक स्वाभाविक विशेषता-सी बन गयी थी कदाचित् इसलिए कि विरोध संघर्ष और अशान्ति में व्यापार नहीं पनपता।

शूद्र वर्ग की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। उसकी स्थिति सामाजिक और धार्मिक दोनों दृष्टियों से अत्यन्त हेय थी। अस्वास्थ्यकर और घृणित

---

(१) 'साम न दाम न भेद कलि केवल दण्ड कराल।'

—दोहावली

'काल कराल नृपाल कृपाल न राज समाज बड़ोई छली है।

—कवितावली उत्तरकाण्ड

समझे जाने वाले सेवा-कार्यों की लक्ष्मण रेखा ने उनके बौद्धिक और शारीरिक सामर्थ्य को बाँध दिया था। जीवनयापन के लिए यह साधन अपर्याप्त था अतएव उन्हें सदैव ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य वर्ग की कृपा का मुखापेक्षी रहना पड़ता था। धीरे-धीरे ये लोग खेती और दस्तकारी के काम भी करने लगे फिर भी उनका आदर समाज में नहीं बढ़ा। पर मीरां के युग में ही ऐसी सामाजिक शक्तियाँ जागृत हो गयी थीं जो तत्कालीन व्यवस्था में परिवर्तन चाहती थी। ये शक्तियाँ दो प्रकार की थीं

(क) एक थी उद्बुद्ध उच्चवर्गीय परम्परा-प्रिय सुधारवादियों की शक्ति जो सामाजिक मर्यादा के अंतर्गत वेदविहित मार्ग का अनुसरण करते हुए पातकों को पराजित करके सबके लिए कल्याण की व्यवस्था करना चाहती थी। ये लोग भक्ति के क्षेत्र में तो साम्य के पक्षपाती थे पर समाज के अन्य क्षेत्रों में वर्णभेद को ईश्वरीय विधान मानकर सामाजिक वैषम्य की रक्षा करना चाहते थे।

(ख) दूसरा वर्ग उन क्रांतिकारियों का था जो वर्णाश्रम की दीवारें को ध्वस्त करके सामाजिक वैषम्य की कारा से मानवता को सदैव के लिए मुक्त कराने के हामी थे। वे हर रूढ़ि हर आडंबर, हर परंपरागत अनुपयोगी रीति पर निर्भयतापूर्वक निर्मम आघात कर रहे थे। उन्होंने स्पष्टतः घोषित किया था कि आचार अत्याचार होकर नहीं निभेगा।

मुसलमानी शासक-वर्ग भी विलासी था। विजय के पश्चात् शासन और न्याय-व्यवस्था अमीरों मुल्लाओं और काजियों पर छोड़कर सुखोपभोग की ओर उन्मुख हो जाता था। मुल्ला और मौलवियों का समाज में विशेष जोर था। इनकी स्थिति हिन्दू पंडित-वर्ग से भिन्न थी। एक सामाजिक परंपराओं को विशृंखल होने से बचाना चाहता था दूसरा राज्य शक्ति और प्रचार से अपने धर्मानुयायियों की संख्या बढ़ाकर लोक-परलोक सुधारने में रत था। इसीलिए उलेमाओं और मुसलमान भरपवियों में गठबंधन था। इनमें से सूफी लोग उदार थे और जनता पर भी उनका प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक था पर उनमें इतना साहस नहीं था कि वे शासकों की अनीतिके विरुद्ध विद्रोह के स्वर उठा सकें।

वैदिक युग में भारतीय नारी का समाज में एक आदरणीय स्थान था। वह अर्धांगिनी थी। बाद में उस पर पिता पति और पुत्र के रूप में पुरुष ने अपने नियमन के अधिकार की शृंखलाओं को कड़ा कर दिया। मुसलमानी संस्कृति के भारतीय क्षितिज पर उदित होने पर यहाँ की सामंतीय परंपराओं में बँधी नारी की स्थिति और भी शोचनीय हो गयी।

प्राय कन्या का आगमन परिवार को प्रसन्नता नहीं प्रदान करता था। पुत्रियों को जन्म देने वाली माता का भी विशेष सम्मान नहीं होता था। लड़की

दान की वस्तु बन गयी थी और कन्या-दान करने वाले परिवार का स्थान वर पक्ष के परिवार से नीचा माना जाता था। आपसी झगड़ों और युद्धों के कारण लड़कियों के सम्मान का प्रश्न सदैव गंभीर बना रहता था और कन्या पर सदैव कड़ी निगाह रखी जाती थी

हाँ माता के रूप में नारी का सम्मान था। राजपूत माताओं ने वीरता और त्याग की भावना से अपने लिये विशेष गौरवमय और आदरणीय स्थान बना लिया था। माँ के दूध की लाज रखना राजपूत अपने जीवन का परम कर्तव्य मानता था।

प्राचीन भारत में परदा की प्रथा कदाचित् अज्ञात-सी थी। अरब और तुर्किस्तान में इसका प्रचार था। एक नयी भूमि पर आने पर मुसलमानों ने इस ओर महत्व प्रदान कर दिया। हिन्दुओं में यह परदा-पद्धति एक तो वैयक्तिक सुरक्षा दूसरे, अपनी समाज-व्यवस्था की रक्षा और तीसरे, राजन्य वर्ग के अनुकरण की भावना से प्रेरित होकर प्रचलित हुई। उच्च वर्ग में परदे का प्रयोग अनिवार्य-सा हो गया था। मध्यवर्गीय समाज में भी इसी परम्परा का अनुकरण होता था। राजपूतों में भी परदा की प्रथा घर करती जा रही थी परन्तु उसके पालन में कड़ाई नहीं थी, क्योंकि राजपूत वीरांगनाएँ कटार से अपनी लाज बचाना जानती थी।

हिन्दुओं में बाल-विवाह की प्रथा थी। स्वयं मीरा का परिणय १२ वर्ष की आयु में हुआ था। राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि कन्याओं के बड़ी होने पर असम्मान की अनेक सम्भावनाएँ पिता के लिये अनावश्यक चिन्ता का कारण बनी रहती थीं। इस बाल-विवाह की प्रथा के कारण कन्या या वर की इच्छा-अनिच्छा का कोई प्रश्न ही नहीं था। बड़े राजपूत परिवारों में कभी कभी कन्या की इच्छा का भी ध्यान रखा जाता था पर राजनीति और सामाजिक सम्मान के सामने इस प्रकार का बलिदान हो जाता था।

हिन्दुओं में सामान्य रूप में बहु-विवाह की प्रथा थी। सामान्य व्यक्ति एक पत्नी रखता था और पति-पत्नी का सम्बन्ध आमरण होता था। मुसलमानों में एक समय पर चार पत्नी रखना तो धर्म-सम्मत था। अधिक पत्नियाँ निकाह द्वारा नहीं मुताह द्वारा रखी जा सकती थी। अधिक पत्नियाँ रखना धार्मिक बाध्य था। अतः अधिक पत्नियाँ आर्थिक सम्पन्नता और वैभव का प्रतीक मानी जाती थीं। पत्नी के अधिकार सीमित थे। वह पति की आज्ञाकारिणी भोग्या उसके पुत्रों की ममतामयी माँ और घर की आंतरिक व्यवस्था की अधिकारिणी थी। पति उसके लिये स्वर्ग और अपवर्ग था। पति की प्रसन्नता और प्रेम के

लिये उसका जीवन समर्पित था। राज परिवार की प्रबुद्ध और साहसी नारियाँ अन्तःपुर का ही शृंगार नहीं बनी रहती थी। वे पति के लिये प्रेरक और मंत्र दाता का महत्वपूर्ण कार्य भी करती थीं।

सम्बन्ध-विच्छेद और पुनर्विवाह की प्रथा मुसलमानों में थी पर हिन्दुओं में नारी इस अधिकार से वंचित थी।

पत्नी का सौभाग्य पति के जीवन-काल में या उसके साथ मर जाने में था। अतएव सती की प्रथा का जोर था। वास्तव में हिन्दू विधवा का जीवन एक भीषण अभिशाप था। अमंगल की सजीव छाया में बसने वाले उसके असहाय व्यक्तित्व का सन्देह, शंका और उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था।

शिक्षा

मीरां के युग में राजनीतिक हलचलों और रात-दिन आपसी झगड़ों के कारण राजकीय स्तर पर शिक्षा की व्यवस्था संतोषजनक नहीं थी। प्रायः पंडित लोग पाठशालाएँ खोल लेते थे और शिष्यों द्वारा गुरु-दक्षिणा और सामंतों द्वारा अनुदान से ये शिक्षा-केन्द्र चलते थे। मुसलमानों के बालकों की शिक्षा मकतबों में होती थी जिन्हें मौलवी लोग पाठशालाओं की तरह चलाते थे। उच्चतर शिक्षा का आयोजन सामूहिक रूप से नहीं होता था। विद्वानों के निवास-स्थल ही अध्ययन के केन्द्र बन जाते थे। प्रेस के अभाव में हस्तलिखित होने के कारण पुस्तकें संख्या में कम और मूल्य में मँहगी होती थीं।[1] संस्थाओं द्वारा प्रमाण पत्र देने की व्यवस्था नहीं थी। वैयक्तिक योग्यता और गुरु के नाम से ही किसी की शिक्षा के स्तर का ज्ञान होता था। अतएव गुरु का महत्व असाधारण था।

पर्व और उत्सव

हिन्दू जीवन में उत्सवों का विशेष महत्व है। इनसे धर्म संस्कृति और इतिहास ही नहीं सामान्य जीवन भी अनुप्राणित होता रहता है। मीरां के युग में हिन्दुओं में अवतारों के जन्म-दिवस (रामनवमी जन्माष्टमी) ऋतुओं से संबंधित महत्वपूर्ण दिन (बसन्तपंचमी होली और, वैशाखी पूर्णिमा) तथा

(१) हुमायूं ने मीर अलीकृत गुहस्तानम्-सक्तलीन २१०० ए० में खरीदी थी। राजकीय संग्रह में एक पुस्तक का औसत मूल्य २१० रु० था। —लाम एस्पेक्ट्स आव सुसाइटी एंड कल्चर इयूरिंग द मुगल एज.

पौराणिक ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित पर्वों पर विषय उत्सव मनाने की प्रथा थी। होली का वर्णन मीरां के पदों में मिलता है। मुसलमानों के आने से मुहर्रम और अरब के उत्सव भी यहाँ प्रचलित हो गए थे। राजा महाराजा और पूर्वजों की वर्षगांठ, विजय-दिवस विवाह तथा गद्दीनशीनी आदि के दिन उत्सव के दिन बन जाते थे पर उनका महत्व तात्कालिक और स्थानीय विशेष था। वैशाख-शुक्ल तीज को मेड़तिया राठौड़ शाखा का प्रवर्तन दूदा जी द्वारा हुआ था। मेड़ता में अब भी उस दिन उत्सव मनाया जाता है।

दार्शनिक परिस्थिति

विक्रम की १६ और १७वीं शती को 'स्वर्ण-युग' की सज्ञा दिलाने वाला लगभग समस्त श्रेष्ठ साहित्य 'भक्ति भावना' की मुखर अभिव्यक्ति है। यह भक्ति भाव अपने में पूर्ण और चरम आध्यात्मिक साधना के रूप में प्रतिष्ठित होते हुए भी कोरा 'भक्ति भाव' ही नहीं था। उसके पीछे दर्शन की भी पुष्ट परंपराएँ थी।

इस युग की राजनीति तो सामंतों की सीमा थी। सामान्य जनता उसके परिणाम स-प्राय दुष्परिणाम से ही-प्रभावित होती थी। वहाँ उसकी इच्छा का कोई मूल्य नहीं था परन्तु इस काल में भक्ति और धार्मिकता जनता में अधिक व्याप्त थी। व जन-जीवन के अन्तरंग से अधिक मिल गयी थी। समाज में उसकी जड़ें राजनीति की अपेक्षा अधिक गहरी थी। मीरां के युग में दर्शन की प्रमुख तीन धाराएँ थीं

(क) वैदिक प्रमाण को लेकर चलने वाली धारा जिसमें वेदान्त के व्याख्याता आचार्य शंकर का अद्वैतवाद, रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद वल्लभ का शुद्धाद्वैतवाद माध्व का द्वैतवाद और निम्बार्क का द्वैताद्वैतवाद समाया हुआ है।

(ख) वैदिक-परंपरा के विरोध में जन्मी धारा जो बौद्धधर्म के महायान सम्प्रदाय से क्रमश सिद्ध नाथ और संतों तक आयी। मीरां-युग में इस परंपरा का प्रतिनिधि दर्शन संत-दर्शन था।

(ग) पश्चिम से आने वाली धारा जिसमें का-धारा मुसलमानों की और वेदान्त सूफियों की चिंता-धाराएँ संयुक्त थीं।

धार्मिक पृष्ठभूमि

सामान्यत: जिससे अभ्युदय तथा निःश्रेयस् की सिद्धि हो उसे धर्म कहते हैं। इसका धर्मस्थान भावना और आचार के संस्कार में है जिससे जीवन

के उच्चतर मूल्यों की रक्षा और प्रतिष्ठा होती है। मीरा का युग धार्मिक आंदोलनों का युग था। वे आध्यात्मिक जीवन के सरल सुलभ मार्गों का उद्घाटन कर रहे थे। इस समय तक सिद्धों और नाथों की धर्म-पद्धति उठ चली थी। पर तंत्रयानियों के तंत्र-मंत्र जादू-टोना ध्यान-धारणा आदि जनता को अब भी आकर्षित करते थे। जीवन की अनिश्चितता से इसे बल मिल रहा था। अशुभ वेष और भूषण धारकर भक्षाभक्ष खाने वाले ऐसे योगी कहलाने वालों की कमी नहीं थी और उनका आदर भी होता था। सूर-सागर में भी इन योगियों की चर्चा है। आसन ध्यान और श्वास की साधना मुद्रा भस्म विषाण मृग चर्म धारण करना और गोरख नाम से अलख इनकी विशेषता थी।[1] नाथ-पंथियों का वैदिक प्रमाण की अपेक्षा करनेवाली हठयोग की धारा का उत्तराधिकार पाकर और वैष्णव भक्ति और सूफी प्रेम तत्त्व आत्मसात करके निर्गुणवादी संतमत पनप रहा था। हिंदू समाज का निम्न वर्ग इससे विशेष प्रभावित था। परंपरा-निष्ठ सगुणवादी सुधारक वर्ग उससे अत्यन्त क्षुब्ध और चिन्तित था। तुलसी ने 'साखी सबदी-दोहरा' तथा 'किहनी उपखान' कहकर 'श्रुति-सम्मत बिरति बिबेक संयुत हरिभक्ति पथ' को त्यागकर चलने वालों की कटु आलोचना की है।[2] निश्चित् रूप से 'साखी-सबदी-दोहरा' कहनेवाले कबीर-पंथी थे और 'किहनी उपखान' कहकर सूफी अपना मत प्रचारित कर रहे थे। वर्णाश्रम धर्म के विरोधी और सम्प्रदायों की नितान्त अवहेलना करने वालों के कारण द्विज-शूद्र का परंपरागत संबंध विशृंखल हो रहा था और वर्ण-निर्णय का आधार जन्म को नहीं कर्म को मानने का उद्घोष होने लगा था।[3]

---

(१) सूर-सागर सभा-संस्करण पद २१११ १०२९, ११२५

(२) (क) आश्रम-बर बरन-धरम-बिरहित जग-लोक-बेद-मरजाद गई है—

विनयपत्रिका पद १३९

(ख) साखी, सबदी दोहरा, कहि किहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहिं बेद पुरान॥
श्रुति सम्मत हरिभक्ति पथ संजुत बिरति बिबेक।
तेहि परिहरहिं बिमोह बस कल्पहिं पंथ अनेक॥

—दोहावली दोहा ५५४ ५५५

(३) (क) बादहिं सूद्र द्विजन सन हम तुम्ह तें कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो बिप्रबर आँखि देखावहिं डाटि॥

(ख) सूद्र करहिं जप तप ब्रत नाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना॥

—रामचरित मानस, उत्तरकाण्ड

संत मत के अतिरिक्त अन्य मत भी प्रचलित थे। तुलसी ने 'तामस धर्म' की चर्चा की है जिसमें 'जप तप व्रत मख और दान' किया जाता था।[1] सम्भव है कि यहाँ तामस-धर्म से तात्पर्य शाक्तों या हठयोगियों की किसी शाखा में प्रचलित धर्म से हो। वृन्दावनदास ने चैतन्य-काल में चण्डी विषहरी तथा बासुली आदि देवियों के पूजा के प्रचलन का उल्लेख किया है।[2] प्रियादास के अनुसार मीरां को विवाह के पश्चात् देवी-पूजन के लिए कहा गया।[3] इस प्रकार की देवी-पूजाएँ राजस्थानी राज-घरानों में अत्यन्त प्रचलित थीं। मीरां के पितामह दूदा जी ने स्वयं देवी का मंदिर बनवाया था।

शंकर के मायावाद का प्रभाव बुद्धिवादियों पर था पर सामान्य जनता में भी ब्रह्मवाद-मायावाद का ढोल पीटकर अज्ञान-ज्ञान और थोथ ज्ञान वाले मौजूद थे। तुलसी का तो कहना है कि 'ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर, कहहिं न दूसरि बात।' इतना ही नहीं जो 'परत्रिय लम्पट' पर सयान और मोहद्रोह ममता-लिप्त थे वे भी मायावादी ज्ञानी बने हुए थे। इससे उस समय की मायावादी विचार धारा के प्रचार का पता चलता है।

कर्म-काण्ड अपने प्रबल रूप के साथ समाज में व्याप्त था। ये कर्मकाण्डी प्राचीन परंपरा के पोषक थे। चैतन्य के भक्ति-आन्दोलन तक का इन्होंने विरोध किया था। कबीर ने इस प्रकार के मार्गों को आड़े हाथों लिया है। उनके कथन से अनुमान होता है कि ये कर्मकाण्डी स्नान करके तिलक छापा लगाकर विधिवत् पूजादि करवाते थे और पाप काटने के लिए कथाएँ वार्ताएँ भी सुनाते थे। समाज में इनका आदर भी था और इनका स्थान शुद्ध उच्च तथा प्रतिष्ठित माना जाता था।

---

(१) तामस धर्म करहिं नर, जप तप व्रत मख दान—मानस उत्तरकाण्ड

(२) चैतन्य भागवत आदिखण्ड अध्याय २, पृष्ठ १२

(३) श्री भक्तमाल की टीका कवित्त २

(४) साधो पाँडे निपुन कसाई।

बकरी मारि भेड़ को धाए, दिल में दरद न आई।
करि असनान तिलक दै बैठे विधि सो देव पुजाई।
आतम मारि पलक में बिनसे रुधिर की नदी बहाई।
अति पुनीत ऊँचे कुल कहिए सभा माँहि अधिकाई।
इनसे दिच्छा सब कोई माँगे हँसि आवे मोहि भाई।
पाप कटन को कथा सुनावैं करम करावैं नीचा।
बूड़त दोउ परस्पर दीखे गहे बाँह जम खींचा।
गाय बधे से तुरुक कहावैं यह क्या इनसे छोटे।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो कलि के ब्राह्मन खोटे।

—कबीर, १५, डा० ह० प्र० द्विवेदी

अन्य अनेक पंथ भी प्रचलित थे। वल्लभाचार्य ने कहा है कि 'नाना वादों के कारण समस्त धर्म व्रतादि विनष्ट हो गये हैं। पाखण्ड के लिए ही धर्म-कर्म किए जाते हैं। परमानन्ददास ने तो अनेक मतों में प्रचलित पाखण्ड पूर्ण और अप्राकृतिक धार्मिक स्थिति का उल्लेख किया है।[1]

इसके अतिरिक्त तुलसी ने 'सरावगी' (जैन) 'सेवड़ा', 'अघोरी' और 'भूतप्रेतपूजा' प्रचारकों के कार्यों की ओर संकेत किया है।[2] इसी विविधता के बीच भक्ति-धर्म का प्रचार हो रहा था। यह मत ब्राह्मण धर्म का विरोधी तो नहीं था पर उसका पूर्ण अनुगामी भी नहीं था। यह उसका पंथ होकर भी स्वाधीन रहा।[3] इसने सहज और स्वाभाविक जीवन को महत्त्व दिया। प्रभु के सम्मुख जाति-पाँति-कुलाभिमान सबका प्रश्न हटाकर प्रत्येक को मानव के रूप में ही स्वीकार किया। भक्ति मत की विशेषताएँ थीं—आस्तिकता अवतारवाद अहिंसा शास्त्र-ज्ञान तथा पाण्डित्य की अपेक्षा तथा श्रद्धा और प्रेम की श्रेष्ठतम भावों के रूप में स्वीकृति। ये भक्तिवादी वैष्णव मत के थे। इनके प्रमुख दो सम्प्रदाय थे—राम भक्त और कृष्ण भक्त। रामावत सम्प्रदाय के प्रारंभ में मर्यादामार्गी भक्ति की प्रधानता थी पर मीरां के समय तक धीरे धीरे उसमें रसिक सम्प्रदाय का भी उदय हो गया था। कृष्ण भक्तों की भक्ति प्रारंभ से ही 'रसमयी' थी। मीरां इसी माधुर्य भाव के पंथ की भक्त थीं।

भारत में एक नए धर्म ने और प्रवेश किया था और वह था इस्लाम। लाखों हिन्दुओं ने चाहे अनचाहे इस्लाम को अपना लिया। इससे हिन्दुओं की धर्म व्यवस्था को सुरक्षा के लिए विशेष सतर्क होना पड़ा। इस्लाम धर्म के अन्तर्गत जो शाखा विशेष लोकप्रिय हुई और जिसने प्रेम से इस देश की जनता का हृदय

---

(१) माधो या घर बहुत धरी।
कहत सुनत की लीला कीनी मर्यादा न टरी।
जो गोपिन को प्रेम न होतो अरु भागवत पुरान।
ये सब औघड़हि होतो कपट गर्वया ज्ञान।
बारह बरस को भयो दिगम्बर, ज्ञान हीन सन्यासी।
खान पान घर-घर सबहिन के भसम लगाय उदासी।
पाखण्ड दंभ बढ़ यो कलियुग में श्रद्धा धर्म भयो लोप।
परमानंद वेद पढ़ि बिगरयी का पर कीजै कोप।
अष्टछाप डा० दीनदयाल गुप्त, पृष्ठ ११ (फुटनोट)

(२) दोहावली, दोहा, ६५, २८१, ३२६, ५५०

(३) सूर साहित्य, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ७४

जीतने का प्रयास किया वह सूफियों की शाखा थी। भारत में सूफियों की कौन-सी शाखा ने सबसे पहले प्रवेश किया इस विषय में मतभेद है। ख्वाजा हसन निजामी के अनुसार भारत में सबसे पहले सुहरावर्दी सूफी आए[1] और सैयद मुहम्मद हाफिज के अनुसार चिश्ती।[2] कुछ भी हो मीरां के समय तक तीन प्रसिद्ध सम्प्रदाय यहां फैल चुके थे चिश्ती सुहरावर्दी और कादरी।[3]

सूफियों के धर्म का सर्वों पर विशेष प्रभाव पड़ा था और इस धर्म परायण देश की श्रद्धावान जनता में उनके लिए आदर का भाव जागने लगा था।

साहित्य :

साहित्य से यहां तात्पर्य ललित साहित्य से है। मीरां के युग का अधिकांश ललित साहित्य धर्म की प्रेरणा से रचित है। यद्यपि वीरगाथा युग की सामन्ती प्रवृत्ति के साहित्य का सर्जन चल रहा था और शृंगार या रीति-काल को जन्म देने वाले तत्त्व भी अस्तित्व में नहीं थे पर उनका स्वर मन्द था। मीरां के पूर्व हिन्दी के लिए कृष्ण-भक्ति साहित्य का सर्जन हुआ जिसकी उत्तराधिकारिणी मीरां स्वाभाविक बनी उसका परिचय परिशिष्ट में दे दिया गया है। यहां संक्षेप में इतना कह देना पर्याप्त होगा कि उस समय धार्मिक प्रेरणा से रचे गए काव्य की तीन प्रमुख धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं—संत, सूफी और तीसरी वैष्णव साहित्य की।

संगीत

संगीत की दृष्टि से मीरां का युग विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। इस युग ने श्रेष्ठ गायक ही उत्पन्न नहीं किए, संगीत-शास्त्र के विकास में भी योग दिया। हरिदास तानसेन बैजू बावरा संगीत के इतिहास के अमर नाम हैं। संगीत-शास्त्र के प्रणेताओं में मीरां के पति परिवार के पूर्वज राणा कुंभा का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने ईसा की १५ वीं शताब्दी के मध्य में संगीत-राज की रचना की। इसके पश्चात् रीवां नरेश के पुरोहित क्षेमकरण कृत रागमाला मिलती है। विक्रम की १६वीं शताब्दी में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संगीत-ग्रंथ रचा गया ग्वालियर नरेश मानसिंह तोमर कृत 'मान कुतूहल'। अकबर के संरक्षण

---

(१) एन इन्ट्रोडक्शन टू दी हिस्ट्री आव सूफीज्म—ए० जे० आरबरी भूमिका, पृष्ठ ८

(२) इस्लामिक सूफीज्म—सरदार इकबाल अली शाह, पृ० २८२

(३) एन इन्ट्रोडक्शन टू दी हिस्ट्री आव सूफीज्म—भूमिका पृ० १२। सूफी मत और हिन्दी साहित्य, डा० विमलकुमार जैन, पृष्ठ ८४-८५

में तानसेन ने 'मीयाँ की मल्हार' 'मीयाँ की टोडी' और 'दरबारी कानड़ा' का आविष्कार किया। इसी समय एक दक्षिणी पंडित पुंडरीक विट्ठल ने षड्राग चन्द्रोदय आदि ग्रंथ लिखकर इस परम्परा को आगे बढ़ाया। मीरां की 'मल्हार' राग की आधारभूत सामग्री तो स्वयं मीरां के द्वारा इसी काल में रची गई।

स्थापत्य तथा शिल्प :

शिल्प के विकास की दृष्टि से मीरां के पूर्व राजस्थान में राणा कुंभा का नाम महत्वपूर्ण है। उन्होंने कीर्तिस्तम्भ कुंभ स्वामी और आदिवराह के मन्दिर आदि बनवाए जिनमें उस युग के राजस्थानी शिल्प और स्थापत्य कला का नमूना मिलता है। इसी समय सूत्रधार मण्डन ने देवता मूर्ति प्रकरण प्रासाद मण्डन तथा रूपावतार आदि ग्रंथ लिखे।[1] कुंभा के पश्चात् उदयसिंह तक मीरां के पति परिवार द्वारा इस क्षेत्र में विशेष कार्य नहीं कराया गया।

चित्रकला

यह युग चित्रकला की दृष्टि से पुनरुत्थान का काल था। अपभ्रंश शैली की परंपरा पीछे रह गई थी और एक नवीन शैली का विकास हो गया था जिसे विद्वानों ने राजस्थानी शैली की संज्ञा दी। वृक्षों पत्तियों का आलेखन स्त्रियों के चित्रों में चोलियों के रूढ़िगत अंकन को छोड़कर यथार्थ अंकन, सवाचश्म की जगह एक चश्म चहरे आदि विशेषताएँ इस बात के प्रमाण हैं। पर साथ ही अपभ्रंश शैली की विशेषताओं के अवशेष—ओढ़नी-उरोज भावों के प्रभाव अलंकरण पेड़ के आलंकारिक आलेखन तथा इमारतों पर के बेल-बूटों आदि के रूप में चल रहे थे।[2]

---

(१) रिपोर्ट आफ ए सैकिण्ड टूर इन सर्च आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन राजपूताना एण्ड सेन्ट्रल इंडिया इन १९०४-६, पृष्ठ १८

(२) राय कृष्णदास कृत 'भारत की चित्रकला' के आधार पर।

जीवन-वृत्त

अध्ययन के आधार

मीरां के युग के श्रेष्ठ संत और भक्त संसार को निस्सार और उसकी माया को साधना का विरोधी मानते थे। उन्हें अपने सांसारिक स्थूल 'नाम-रूप' के प्रति मोह नहीं था। मीरां तो इसके साथ ही अपने मनमोहन की मधुराई में इतनी डूब गई थीं कि उनकी वाणी के लिए गिरिधर के अतिरिक्त किसी अन्य की चर्चा में प्रवृत्त होने का कोई प्रश्न ही नहीं रहा था। निस्व होकर 'सर्वस्व' में डूब जाने वाली इस 'दरद दीवानी' द्वारा आत्म-चरित लिखे जाने की संभावना भी नहीं है। पर उनकी रचनाओं में उनकी अपनी इच्छा आकांक्षा और भावना की अभिव्यक्ति मिली है और प्रसंगवश कुछ ऐसे उल्लेख भी हो गए हैं, जिनसे उनके जीवन पर प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार उनके अन्तर्जगत और उसे प्रभावित करने वाली बाह्य परिस्थितियों की व्यंजना उनके पदों में हो जाती है। अतः मीरां की जीवनी के अध्ययन के लिए उनकी रचनाएँ बहुत महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती हैं पर परिमाण में वह अत्यंत अल्प है।

मीरांबाई के जीवन पर प्रकाश डालने वाली विशेष सामग्री अन्य लोगों की रचनाओं में मिलती है। मीरां की अलौकिक भक्ति की प्रसिद्धि और उनके लोकप्रिय गीतों का प्रचार पिछले चार-सौ वर्षों से है और उनका व्यक्तित्व जहाँ जनता को मुग्ध करके उसकी प्रशंसा का पात्र बना है, वहाँ साम्प्रदायिक क्षेत्र में विवाद का विषय भी रहा है। फलस्वरूप मीरां के विषय में उपलब्ध बहिःसाक्ष्य में अतिशयोक्तियों और कल्पनाओं द्वारा निर्मित अनेक सुन्दर और असुन्दर पट मार्गों के प्रवेश पाने की संभावना सदैव वर्तमान है। अतः मीरां के जीवन की रूप-रेखा प्रस्तुत करने के पूर्व इस समस्त सामग्री पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार कर लेना आवश्यक है।

सामान्यतः मीरां-सम्बन्धी सामग्री को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) कवयित्री के जीवन-वृत्त से संबंधित अन्य लोगों की रचनाएँ अर्थात् बहिःसाक्ष्य

(१) मीरां के समकालीन तथा परवर्ती कवियों भक्तों और संतों के उल्लेख

(२) प्राचीन ताम्रपत्र, शिलालेख चित्र आदि
(३) इतिहास-ग्रंथ—राजनीतिक और साहित्यिक
(४) लोक-गीत और जनश्रुतियाँ
(५) मीरां-सम्बन्धी आधुनिक ग्रंथ

(ख) कवयित्री की अपनी रचनाओं के उल्लेख अर्थात् अंत:साक्ष्य

बहिःसाक्ष्य

बहिःसाक्ष्य के अन्तर्गत सबसे अधिक सामग्री मीरां के कतिपय समकालीन और बहुत-से परवर्ती भक्तों और कवियों के मीरां-सम्बन्धी उल्लेखों में है। इस सामग्री को साधारणतः दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(क) अपनी संपूर्णता में मीरां का जीवन-वृत्त या उनके जीवन की कोई घटना प्रस्तुत करने वाली रचनाएँ जैसे मीरांबाई की परची (राजस्थानी), ग्रीपीनामा कृत चरित्र मीरांबाई (मराठी) दयाराम कृत मीरांचरित्र (गुजराती) इत्यादि।

(ख) वे रचनाएँ जिनमें अन्य बातों के साथ मीरां-संबन्धी उल्लेख मिलते हैं, जैसे नाभादास कृत भक्तमाल (ब्रजी) महीपत कृत भक्तलीलामृत (मराठी) कवि विष्णुदास कृत कुंवरबाई नुं मोसाळु (गुजराती) आदि।

इन रचनाओं को भाषा रचनाकारों के संप्रदाय (यदि वे सांप्रदायिक साहित्य के अन्तर्गत हैं) सूचना के स्रोत आदि आधारों पर विभाजित करके भी प्रस्तुत किया जा सकता है, परन्तु मीरां के जीवन-संबन्धी उल्लेख एक भाषा से दूसरी भाषा में एक संप्रदाय से दूसरे संप्रदाय में और एक स्रोत की सामग्री से दूसरे स्रोत की सामग्री में आते-जाते रहे हैं। अब उन्हें पूर्णतः अलग कर लेना संभव नहीं है। अतः इन उल्लेखों को कालक्रम से और यथा संभव विशिष्ट वर्गों की तथा एक ही परंपरा की सामग्री को एक साथ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

(१) कवियों और भक्तों द्वारा उल्लेख

कबीर—कबीरदास के नाम से प्रकाशित कुछ पदों में मीरां-संबन्धी उल्लेख मिलते हैं। विद्यासभा मठ अहमदाबाद के संग्रहालय में सुरक्षित एक हस्तलिखित पोथी में जिसका लिपिकाल संवत् १८२९ है, निम्नलिखित पद दिया हुआ है—

मेरी बात बरण कुल हीरा कहो जी कैसे तारोगे ॥१॥
रंका तारे बंका तारे तारे सजना कसाई ॥

सुवा पढ़ावत गुनका तारी तारीये मीरांबाई ॥ कहो जी ॥२॥
नामदेव की छापरी छाई मुड़ गए जीवाई ॥
धना भगत की बाजरी कीनी आपे भए हरि नाई ॥ कहो जी ॥३॥
बह्या जात संसार सागर कीस बीच पार उतरया ॥
अपनी करणी पार उतरनी केहे गये मुख प्रेहलाद ॥ कहो जी ॥४॥
वृंदावन की कुंज गलिन में भई साम सू भेंट ॥
अब तो प्रभुजी कैसे अनेगी यही कबीर ने फेंट ॥ कहो जी ॥५॥[1]

भानुसुखराम निर्गुणराम महेता ने कबीर-छाप के ऐसे दो और पदों का उल्लेख किया है, जिनमें मीरांबाई का नाम आया है।

एक पद में "धना सना रैदास नाम नीसरी मीरांबाई ॥
कहत कबीरा सुनो भेर मनवा ज्योति में ज्योति मिलाई ॥"
और दूसरे में "गुनका गीध अजामील तार्यो और तारी मीरांबाई ॥"
अंश है।[2]

कबीर और मीरां के जीवन-काल की तुलना करने से यह स्पष्ट है कि कबीर द्वारा मीरां के संबन्ध में ये उल्लेख संभव ही नहीं है।

कबीर की मृत्यु-तिथि के विषय में चार मत प्रचलित हैं—

(क) सं० १५०५ विक्रमीय । पन्द्रह सौ और पांच में मगहर कीना गौन[3]
(ख) सं० १५४९ अथवा १५५२ विक्रमीय पंद्रह सौ उनचास में मगहर कीनो गौन
(ग) सं० १५६९ विक्रमीय संवत् पन्द्रह से उनहत्तरा रहाई[5]
(घ) सं० १५७५ विक्रमीय संवत्पंद्रह सौ पछत्तरा कियो मगहर को गौन[6]

---

(१) विद्या-सभा हस्तलिखित पोथी संख्या ६८३
(२) मीरांबाई पृष्ठ १५
(३) हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, पृष्ठ ६६
तथा
मेडीवल मिस्टीसिज्म, आचार्य क्षितिमोहन सेन पृष्ठ ८८
(४) श्री भक्तमाल रूपकला, पृष्ठ ४९१ : रूपकलाजी ने उक्त पंक्ति को उद्धृत करते हुए लिखा है, "श्री कबीरजी १५४९ में मगहर गए। वहीं से संवत् १५५२ के अगहन सुदी एकादशी को परमधाम पहुंचे"।
(५) धनदास कृत द्वारापंथ (हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा पृष्ठ २७० के आधार पर)
(६) कबीर-कसौटी, बाबू लेहना सिंह, भूमिका, पृष्ठ ३

कबीर के उक्त पदों में मीरांबाई का उल्लेख एक पूज्य दिवंगत भक्त आत्मा के रूप में हुआ है और उन्हें गणिका गीध तथा अजामिल जैसे पौराणिक व्यक्तियों की कोटि में रखा गया है। हितहरिवंश (जन्म सं० १५५९)[1] हरिराम व्यास (जन्म सं० १५६७)[2] और कृष्णदास के प्रौढ़ और प्रसिद्ध भक्त होने पर उनके संपर्क में आने वाली तथा अपने श्वसुर राणा सांगा की मृत्यु (सं० १५८४)[3] के बाद भी जीवित रहने वाली मीरां संवत् १५७५ में या उससे पूर्व ही दिवंगत कैसे हो सकती थी ?

स्पष्ट है कि उक्त पद कबीर-पंथी अथवा अन्य संतों ने कबीर के आयुष्य काल के बाद कभी लिखे होंगे। ये न गुरुग्रंथ साहिब में हैं और न 'सं०१५५१'[4] तथा सं० १८८१ में लिखी प्रतियों के आधार पर संपादित 'कबीर-ग्रंथावली' में। इससे भी उक्त निष्कर्ष की पुष्टि ही होती है।

इन उल्लेखों से केवल इतना निष्कर्ष निकलता है कि मीरां के महत्व को परवर्ती ज्ञानमार्गी संतों ने स्वीकार किया था और वे उनका नाम आदर से लेते थे।

सेना न्हावी (नाई) वारकरी संप्रदाय के प्रसिद्ध संत श्री नाना महाराज साखरे के हस्तलिखित पोथी-संग्रह की प्रतियों के आधार पर संपादित 'गाथा पंचक' में 'सेना न्हावी' की कुछ रचनाएँ संगृहीत हैं, जिनमें एक प्रसंग में मीरां के संबन्ध में निम्नांकित उल्लेख है 'मिरा साठी । कैसी केली आटाआटी । (मीरां के लिए कितना परिश्रम किया) ।'[5]

सेना नाई के जीवन-काल तथा संपर्कों के विषय में मतभेद है। एक मत के अनुसार वे ज्ञानेश्वर के समकालीन थे और उनका आयुष्य-काल संवत् १५०५ के लगभग था दूसरे के अनुसार वे बांधवगढ़ के नरेश के सेवक थे और तीसरे के अनुसार राजाराम (संवत् १६११–४८) के यहाँ नियुक्त थे।[6]

अगर पहला मत सही है तो सेना के नाम से प्रचलित उक्त पंक्तियाँ

---

(१) राधावल्लभ संप्रदाय, सिद्धान्त और साहित्य डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृष्ठ ६९

(२) भक्त कवि व्यासजी गोस्वामी वासुदेव, पृष्ठ ४१

(३) उदयपुर राज्य का इतिहास ओझा, पृष्ठ ३८४

(४) संवत् १५५१ की प्रति का यह संवत्-संबन्धी उल्लेख प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता।

(५) गाथा-पंचक श्री संत-गाथा, सेना न्हावी के पद, पृष्ठ ७०

(६) उत्तरी भारत की संत परंपरा पं० परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ २३१–२३२

देना हल नहीं हो सकती। यदि तीसरा मत ठीक है, तो संवत् १६०० के आस-पास मीरां की भक्ति की प्रसिद्धि का पता चलता है। वस्तुतः उक्त पंक्तियों से कोई निश्चित् और महत्त्वपूर्ण प्रकाश मीरां के जीवन पर नहीं पड़ता।

नरसिंह मेहता :

'नरसैंया' छाप के निम्नलिखित पद में मीरां का उल्लेख है—

तुं तारा कोई साहामुं न जे धामना न कोईय करशो हमारी रे।
मीरांबाई विष अमृत कीधां बिडुरनी आरोग्या भाजी रे।
× × ×
नरसैंयाना स्वामी लक्ष्मीवर, मोटी आश हमारी रे॥[1]

क० का० शास्त्री ने केवल यह कहकर इस पद को अप्रामाणिक घोषित कर दिया है कि यह किसी प्राचीन पोथी में नहीं मिला[2] पर अप्रामाणिकता संबन्धी यह तर्क अत्यन्त निर्बल है। इसके पीछे गुजराती के प्रथम ज्ञात भक्तकवि नरसिंह मेहता को विक्रम की १२ वीं शती का सिद्ध करने की बलवती स्पृहा ही है। वस्तुतः वे १६ वीं शती विक्रमी के अन्तिम चरण तक वर्तमान थे।[3] इस उल्लेख से 'मीरां के विष पीने और उससे बच जाने की घटना' का पता चलता है। मीरां के जीवन के विषय में सर्वप्रथम सूचना नरसिंह मेहता के उक्त पद में मिलती है और यह सूचना विश्वसनीय है। विभिन्न स्रोतों से उपलब्ध बाद के लगभग सभी मीरां-सम्बन्धी उल्लेखों में इसकी चर्चा है।

सूरदास

सूर-छाप का निम्नांकित पद संगीत-राग-कल्पद्रुम (द्वितीय भाग) में संकलित है

हनुमान सुत सैनिक वल्लभ सुग्रीव कपिराज
रंका बंका पीपा नामा सेन धना के किए काज।
सदना रैदास, मीरांबाई कृपा करी ब्रजराज।
ब्राह्मण लाखी बलिराज संपत चमचर, गिरधरराज
और अनेक पतित तारे तुम यहाँ ला गिनों मेरे राज।

---

(१) नरसिंह महेता कृत काव्य-संग्रह संपादक, इच्छाराम सूर्यराम देसाई पृष्ठ ४७२
(२) गुजरातनो साहित्यनुं रेखा-दर्शन पृष्ठ ८० फुटनोट ९
(३) देखिए, परिशिष्ट १

जैसो हूं तैसो तिहारो सूर प्रभु बाँह गहे की लाज ।[1]

'वार्ता-साहित्य' का साक्ष्य है कि 'घिघियाने' की भावना वाले 'विनय के पद' सूरदास ने वल्लभाचार्य द्वारा पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के पूर्व ही लिखे थे । आधुनिक शोध का भी यही निष्कर्ष है ।[2] दीक्षा के पूर्व 'स्वामी' के रूप में प्रसिद्ध सूरदास का अपने समवयस्क वल्लभ और अपने से काफी छोटी तथा भक्ति के क्षेत्र में उस समय लगभग अज्ञात मीरां को हनुमान और सुग्रीव जैसे पौराणिक पात्रों की कोटि में रखना स्वाभाविक और सहज नहीं प्रतीत होता । दीक्षा[3] के बाद वे वल्लभ को साक्षात् कृष्ण-रूप मानने लगे थे और मीरां के विषय में वल्लभाचार्य के समय में ही पुष्टिमार्गियों में विरोध और कटुता का भाव पैदा हो गया था । गोविन्द दुबे सांचोरा ब्राह्मण के नाम श्री विट्ठल का पत्र इस बात का प्रमाण है कि संप्रदाय के इस विरोधी भाव को संप्रदाय के आचार्यों द्वारा प्रेरणा समर्थन और बल प्रदान किया गया था । तब 'पुष्टि मार्ग के जहाज' के लिए मीरां का अत्यन्त आदर के साथ 'बृजराज की कृपापात्री' के रूप में उल्लेख करके अपने गुरु, गुरु-पुत्र और संप्रदाय की अवज्ञा करना संभव नहीं प्रतीत होता । अतः यही मानना अधिक तर्कसंगत है कि यह पद अष्टछापी 'सूरदास' द्वारा रचा हुआ नहीं है । यदि इसे प्रामाणिक मान भी लिया जाय तो इससे मीरां के विषय में केवल इतनी जानकारी प्राप्त होती है कि वे सूर के जीवन काल में ही व्रजराज की कृपापात्री के रूप में प्रसिद्ध हो गई थीं ।

हरिराम व्यास[4]

इनके निम्नलिखित दो पद मिलते हैं जिनमें मीरांबाई का उल्लेख है—

---

(१) पृष्ठ ५६१

(२) भारतीय साधना और सूर साहित्य डा० मुन्शीराम शर्मा पृष्ठ ५२

(३) डा० हरिवंशलाल शर्मा ने सूर का शरणापत्ति-काल संवत् १५६७ निर्धारित किया है (सूर और उनका साहित्य पृष्ठ ४६) जिस समय मीरांबाई की आयु छः वर्ष थी ।

(४) क—हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज-रिपोर्ट सन् १९१८-१९ की नोटिस संख्या २०४ में व्यासजी का नाम मोहनदास दिया है । यह गलत है । इनका नाम 'हरिराम व्यास' था जो अंत: साक्ष्य और बहि: साक्ष्य दोनों के आधार पर सिद्ध है । (द्रष्टव्य 'भक्तकवि व्यासजी' पृष्ठ ४५)

ख—गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित 'भक्त-सौरभ' तथा रीवां नरेश महाराजा रघुराजसिंह कृत 'राम रसिकावली' आदि ग्रंथों ने इनके लिए व्यासदास नाम का प्रयोग किया है ।

(१) इतनो है सब कुटुम हमारो।
सैन धना अरु नामा पीपा और कबीर, रैदास चमारो॥
× × ×
सूरदास परमानन्द मेहा मीरां भक्ति बिचारो॥
× × ×
इहि पथ चलत व्यास-न्यास क 'श्यामहि बौरी भावहि दारो॥'[1]

(२) बिहारिहि स्वामी बिनु को गावै।
× × ×
मीराबाई बिनु, को सब लीला गाइ सुनावै।
× × ×
'व्यासदास' इन बिनु, को सब तन की तपन बुझावै॥[2]

इनसे मीरांबाई के सम्बन्ध में निम्नलिखित सूचनाएँ मिलती हैं—

१—मीरां परम भक्त थीं और इस दृष्टि से सेना धना नामा पीपा कबीर, रैदास रूप सनातन भट्ट सूरदास परमानन्द मेहा हित हरिवंश और हरिदास की कोटि में आती हैं।

२—भक्तों को पिता जानकर उर लाने में अद्वितीय थीं। उनकी वाणी तन की तपन बुझाती थी।

३—व्यासजी के इस पद की रचना के पूर्व परलोक सिधार चुकी थीं।

मीरांबाई के संबन्ध में निर्विवाद रूप में निश्चित् और पूर्ण विश्वसनीय प्रथम उल्लेख व्यासजी के उक्त पदों में ही मिलता है। व्यासजी का जन्म मार्गशीर्ष कृष्णा ५, बुधवार, संवत् १५६७ विक्रमीय का ओरछा में हुआ था।[3] इनके दीक्षा-गुरु के विषय में मतभेद है, पर भक्ति भावना की दृष्टि से वे हितहरिवंश के अनुवर्ती थे।[4] ८४ वार्ता का साक्ष्य है कि वे हितहरिवंशजी के साथ व्यक्तिगत रूप में मीरांबाई के सम्पर्क में आए थे। मीरां की ब्रज-यात्रा के समय वे ब्रज में थे या नहीं इसका पता नहीं है, पर वे ब्रज के प्रसिद्ध वैष्णव भक्त जैसे हितहरिवंश हरिदास जीवगोस्वामी आदि के अंतरंग सखा रहे थे। अतः इनके मीरां सम्बन्धी उल्लेख पूर्ण विश्वसनीय साक्ष्य के अन्तर्गत रख जा सकते हैं।

---

(१) भक्त कवि व्यासजी, गोस्वामी वासुदेव, पृष्ठ १६६
(२) वही, पृष्ठ १६७
(३) वही, पृष्ठ ४१ ४२
(४) कोई हितहरिवंश कोई पिता सुखसमागम और कोई भी माधवजी को उनका गुरु मानते हैं।

कवि विष्णुदास कृत 'कुंवरबाईनु मोसाळु'

'कुंवरबाईनु मोसाळुं' विष्णुदासकी प्रसिद्ध प्रामाणिक रचना है। पं० के० का० शास्त्री इसका रचना-काल संवत् १६२४ २८ के आसपास निर्धारित कर चुके हैं।[1] इस कृति में कुंवरबाई के मोसाळुं के अवसर पर सहायता के लिए कृष्ण से प्रार्थना करते हुए नरसी मेहता द्वारा कहलवाया गया है—

'प्रह्लादनी पीड़ा टाळी'

× × ×

बाळबाईना कुल बहु कंचोड हाथ काढी बीडां रणछोड

मीरांबाई ने बीडा प्रमीत भरे, बरद राख्युं पोते आपणे

× × ×

हेवा वचन तमो मवळे सुणो, कुंवरबाई ने मोसाळुं करो ॥[2]

कवि विष्णुदास खम्भात निवासी नागर ब्राह्मण थे। यद्यपि इनके जन्म की निश्चित् तिथि अज्ञात है, पर इनकी कृतियों में दिए रचना-कालों के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ये संवत् १६० के आसपास पैदा हुए थे।[3] विष्णुदास-साहित्य के अन्वेषक विद्वानों में इस विषय में मतभेद नहीं है।

विष्णुदास उन गुजराती कवियों में से हैं, जिनका काल मीरां के ठीक बाद में पड़ता है। अतः ये उन व्यक्तियों के संपर्क में अवश्य आए होंगे जो मीरां और नरसी के जीवन-काल में वर्तमान थे और जिन्होंने मीरां और नरसी के स्वयं दर्शन किए होंगे या उनके युग में उनकी चर्चाएँ सुनी होंगी। अतः विष्णुदास के उल्लेख प्रामाणिक तथा विश्वसनीय सामग्री की कोटि में रखे जा सकते हैं।

---

(१) कवि-चरित पृष्ठ १४७

(२) सं० १७५० में खंभात निवासी गोकुलदास द्वारा लिपिकृत हस्तलिखित पोथी के आधार पर 'प्राचीन साहित्य अंक बीजो' म मा०नि० मेहता द्वारा प्रकाशित 'कुंवरबाईनु मोसाळु' पृष्ठ ६८

(३) 'कवि विष्णुदास खंभातनो रहीश हतो अने ज्ञातिये नागर ब्राह्मण हतो। ते संवत् १६०० नी आसपास जन्म्यो हशे केमके तेणे काव्यो ऊपर थी मळवानी बनाव छ, कारण तेणे "भीष्म पर्व" सं० १६१३ मां तथा सभा पर्व १६१७ मां रच्यां हता"—"सभा पर्व मनाख्यान कुंवरबाईनु मोसाळुं, हुंडी" की प्रस्तावना मा० नि० मेहता, पृष्ठ ६

(४) गुजराती साहित्य (मध्यकालीन) अनन्तराय रावल, पृष्ठ ११८ इसमें (रचना-काल सन् १५६८ १६१२ अर्थात् संवत् १६२५ १६६६ माना है)

'मोसाळु' के आधार पर मीरां के संबन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

(१) मीरां के विष के अमृत होने की घटना संवत् १६२४-२८ के पूर्व ही गुजरात में विख्यात हो गई थी और मीरां का उल्लेख कबीर, रैदास, नामा तथा बालबाई के साथ किया जाने लगा था।

(२) मीरांबाई 'मोसाळु' के रचना-काल से पूर्व ही दिवंगत हो चुकी थीं क्योंकि मीरां का उल्लेख पौराणिक और प्राचीन भक्तों (प्रह्लाद कबीर, रैदास) के साथ और उसी रूप में हुआ है।

(३) मीरां के विष-पान की घटना नरसी के जीवन-काल की है। 'मोसाळु' की घटना के पूर्व ही यह घटित हो चुकी थी। कम-से-कम १६ वीं शती के प्रथम चतुर्थांश के अन्त में इस विषय में उक्त बात प्रचलित थी।

मीहित ध्रुवदास : ध्रुवदास कृत 'भक्त नामावलि लीला' में मीरां के सम्बन्ध में निम्नांकित दोहे मिलते हैं—[1]

लाज छांडि गिरधर भजे, करी न कछु कुल कान।
सोई मीरां जग विदित प्रगट भक्ति की खान॥
ललितहु लाई बोलि कै, तासौं हो अति हेत।[2]
आनन्द सौं निरखत फिरैं, वृन्दावन रस खेत॥
नृत्यति नूपुर बाँधि के नाचति लै करताल।
विमल हियौ भक्तनि मिली तिन सम गनि संसार॥
बंधुनि विष ताको दियो, करि विचार चित आन।
सो विष फिर अमृत भयो तब लागे पछितान॥
गंगा-जमुना तियनि मैं परम भागवत जानि
तिनकी बानी सुनति ही बढ़ै भक्ति उर आनि॥[3]

इससे मीरां के जीवन के संबन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

१—मीरां के आराध्य गिरिधर थे।

२—उन्होंने कुल की मर्यादा पर ध्यान नहीं दिया और न लोक की

---

(१) बयालीस लीला वाणी—(भक्त नामावलि लीला) पृष्ठ ३४-३५
(२) 'ललिता हू लई बोलि कै' पाठ भी मिलता है।
(३) गंगा जमुना ब्रज की दो कृष्ण-भक्त नारियों के नाम भी माने जाते हैं। अतः ये दो पंक्तियाँ मीरां और ललिता के लिए न होकर गंगा और जमुना के लिए भी हो सकती हैं।

नृत्या की । वे नुपुर पहनकर नाचतीं तथा संतों के सम्मुख करताल लेकर गाती थीं ।

३—वे 'प्रगट भक्ति की खान' के रूप में प्रसिद्ध (जन विदित) थीं ।

४—वे वृन्दावन में घूमी थीं और उन्होंने वहाँ के रसखेलों के दर्शन किए थे । ललिता से उनका बहुत हेत था । वृन्दावन में उसे भी बुलाकर अपने साथ लाई थी ।

५—वैभव और लौकिक सम्बन्धों से विरक्त थीं, भक्तों से विमल हृदय से मिलती थीं ।

६—बंधुओं ने (परिवार के लोगों ने) चित्त में और विचार करके उन्हें विष दिया पर वह विष अमृत हो गया (मीरां उससे मरी नहीं), तब वे लोग पछताए ।

७—नारियों में श्रेष्ठ, पवित्र थीं परम भागवत थीं उनकी वाणी (रचनाएँ) भक्ति की प्रेरक हैं ।

'भक्त नामावलि लीला' में रचना-काल नहीं दिया गया ।[1] कुछ राधा वल्लभीय लेखकों के अनुसार ध्रुवदासजी हितहरिवंश के तीसरे पुत्र श्री गोपीनाथ जी के 'परमप्रिय कृपापात्र शिष्य' थे और उन्होंने संवत् १६०० में अपने गुरु गोपीनाथजी की आज्ञा से श्री देवबन नगर (देवबंद) से श्री वृन्दावन धाम में आकर निवास किया था ।[2] कहा जाता है कि उन्होंने ५ वर्ष की अवस्था में ही वैराग्य के कारण घर छोड़ दिया था । इस हिसाब से उनका जन्म संवत् १५९५ वि० पड़ता है । राधावल्लभ भक्तमाल में इनका जन्म संवत् १६२२ दिया है ।[3] ध्रुव दासजी की ४८ रचनाओं में से ५ में रचना-काल दिया हुआ है—

(१) रसानंद लीला—"संवत् षोडस सै पंचासा" १६५० विक्रमीय

(२) प्रेमावली—"सोलह सै इकहत्तरा" १६७१ विक्रमीय

---

(१) सवलम कृत 'मीरां, एक अध्ययन' में इस ग्रंथ का रचना-काल सं० १६९८ दिया है; वह निराधार है ।

(२) श्री बयालीस लीला-वाणी श्री हित ध्रुवदास जी कृत्य, पृष्ठ (म) श्रीराधावल्लभीय संप्रदायाचार्य गोस्वामी मुकुंद वल्लभाचार्यजी की आज्ञानुसार बाबा तुलसीदास द्वारा प्रकाशित (बम्बई भूषण प्रेस मथुरा)

(३) राधावल्लभ भक्तमाल—प्रियादास शुक्ल पृष्ठ १९८ (राधावल्लभ संप्रदाय सिद्धान्त और साहित्य पृष्ठ ४२६ से उद्धृत)

(४) बयालीस लीला-वाणी श्री हित ध्रुवदास पृष्ठ २२६, १८३, १४७, ९९, १८९

(३) सभा-मण्डन लीला—"सोलह सै इक्यासिया" १६८१ विक्रमीय
(४) श्री रसलीला—"सोलह सै शुभ छ्यासिया" १६८६ विक्रमीय
(५) रहस्य मंजरी की लीला—"सत्रह सै श्रौउन" १६९८ विक्रमीय

उक्त ग्रंथों के रचना-कालों को देखते हुए इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ध्रुवदास का रचना-काल विक्रम की १७वीं शती का उत्तराध था। अतएव भक्त नामावलि का रचना-काल ७०० के आसपास माना जा सकता है।

यहाँ रचना-काल की अपेक्षा रचनाकार की सूचना का आधार अधिक महत्त्वपूर्ण है। ध्रुवदासजी भक्तरूप में स्वयं अपनी आँखों से विक्रमीय १७ वीं शती का अधिकांश देख चुके थे। ये हितहरिवंश के (जिनका मीरां से वैयक्तिक संपर्क था) पुत्र के प्रिय शिष्य थे। उनसे उन्हें बहुत-सी बातें ज्ञात हुई होंगी। ब्रज की और वैष्णव भक्तों की परम्पराओं का उन्हें विशद ज्ञान था। अतः ध्रुवदासजी के मीरां-सम्बन्धी उल्लेख विश्वसनीय प्रमाण की कोटि में रखे जा सकते हैं।

एकनाथ महाराज—एकनाथ महाराज का काल वि॰ सं॰ १६०४-१६९९ वि॰ माना जाता है।[1] इनके एक अभंग में मीरां के सम्बन्ध में निम्न लिखित उल्लेख मिलता है—

"विष पिलो मिराबाई साठीं। विठुराच्या हाटीं कण्या स्वयें"।[2]

इस चतुश्चरण से मीरांबाई के लिए कृष्ण द्वारा विषपान करने की घटना का पता चलता है।

तुकाराम—तुकारामजी का जीवन-काल विक्रमी संवत् १६६५ से १७०६ तक माना जाता है।[3] उनकी रचनाओं में मीरां सम्बन्धी निम्नलिखित उल्लेख मिलते हैं—

(क) मिराबाई साठीं घ्याला ती विषाचा। सारया जीवात्मा या दोन पिटीं।

---

(१) श्री एकनाथ महाराज यांची अभंगाची गाथा (प्रस्तावना) पृष्ठ १, २ (जन्म शके १४७० प्रमाथीन, १५२१ फाल्गुन वद्य ६)
(२) वही पृष्ठ १६८
(३) श्री तुकाराम चरित, श्री लक्ष्मण रामचंद्र पांगारकर (हिंदी अनुवाद) पृष्ठ ३८;
सरल संतगाथा तुकाराम महाराज की गाथा, पृष्ठ ११०

(ख) न घसे न बुझे न बहे काही। विष ते ही अमृत पाही ॥[१]

(ग) मिराबाई साठीं घेती विष प्याला। रामाजीचा काला पाविबार।[२]

(घ) जीव के जीवन एका-जनार्दन पाठक श्रीकान्ह मीराबाई।[३]

इन उद्धरणों से यह सूचना मिलती है कि मीरां को विष दिया गया था और भगवान् की कृपा से वे इस विष से बच गई थीं। विष अमृत बन गया था।

श्री निलोबा महाराज—दक्षिण अहमदनगर जिला के पारनेर तालुका में पिपलनेर गाँव के कुलकर्णी थे। इनका जन्मसंवत उपलब्ध नहीं है, परन्तु ये श्री तुकाराम के १४ टालकरी शिष्यों में से एक थे। अतः इनका काल सं० १७०० के आसपास माना जा सकता है। इनके अभंगों में मीरांबाई के सम्बन्ध में निम्नांकित उल्लेख है—

(१) बच्छला धारिंा बिठोबा सेवर। कान्ह पाबा मिराबाई परम सुंदर ॥[५]

(२) मन्मीरां बने विषचि प्याले। नाहीं ते म्योले महाघरसा ॥[६]

(३) नाहीं कविकाला हे प्याले। अगिन विष बांटुनि प्याले ॥

इन उद्धरणों से मीरांबाई के सुंदर होने और उनके द्वारा विषपान करने की घटना का संकेत मिलता है।

बेणीमाधवदास कृत मूल गोसाईं चरित—इसका रचना-काल पुस्तक के अन्तिम दोहे के अनुसार सं० १६८७ नवमी कार्तिक शुक्ल पक्ष है।[८] इसमें उल्लिखित तिथियों के अशुद्ध तथा घटनाओं के इतिहास-विरोधी होने के आधार पर डा० माताप्रसाद गुप्त अपने प्रबन्ध 'तुलसीदास' में इसकी अप्रामाणिकता सिद्ध

---

(१) वही पृष्ठ २०४

(२) वही, पृष्ठ २०१

(३) मीरां-माधुरी, ब्रजरत्नदास पृष्ठ ३८ (नया संस्करण)

(४) तुकाराम की मृत्यु संवत् १७०६ वि० में हुई थी—भागवत सम्प्रदाय, डा० बलदेव उपाध्याय पृष्ठ ६०३

(५) सकल संतगाथा : श्री निलोबा महाराजांची गाथा, पृष्ठ ६१—अभंग संख्या ८०६

(६) वही, पृष्ठ ५४ अभंग संख्या ३२१

(७) वही, पृष्ठ ७० अभंग संख्या ४२१

(८) मूल गोसाईं-चरित गीता प्रेस गोरखपुर, द्वितीय संस्करण सं० १९९३
"सोरह सै सत्तासि सित, नवमी कातिक मास।
बिरच्यो यह निज पाठ हित बेनी माधवदास ॥

कर चुके हैं।[1] अतः मूल गोसाईं चरित के उल्लेख विश्वसनीय नहीं माने जा सकते। जिस प्रति के आधार पर गीता प्रेस से यह कृति प्रकाशित की गयी है, उसका लिपि-काल सं० १८४८ वि० है। इसके आधार पर कहा जा सकता है कि मूल गोसाईं चरित सं० १८४८ के पहले की रचना है।[2]

मीरां के सम्बन्ध में निम्नलिखित उल्लेख 'मूल गोसाईं चरित' में मिलता है—

> सोरह सै सोरह लगै कामद गिरि ढिग वास।
> सुचि एकान्त प्रदेस महं आये सूर सुदास॥
> दिन सात रहे सतसंग पगे। पदकंज गहे जब जान लगे॥
> तब आये मेवाड़ ते विप्र नाम सुखपाल।
> मीरांबाई-पत्रिका लायो प्रेम प्रवाल॥
> पढ़ि पाती उत्तर लिखे गीत कवित्त बनाय।
> सब तजि हरि भजबो भला कहि दिय विप्र पठाय॥[3]

इसी प्रबन्ध में मीरां-तुलसीदास-प्रसंग में अन्यत्र यह सिद्ध किया गया है कि उक्त उल्लेख में वर्णित घटना काल्पनिक है। कृष्णदत्त 'गौतम चन्द्रिका' से भी इसी बात की पुष्टि होती है। अतः इसके उल्लेख विश्वसनीय नहीं हैं।

---

(१) तुलसीदास, पृष्ठ ४४ से ५६ तक

(२) मूल गोसाईं चरित (गीता प्रेस, गोरखपुर) में हस्तलिखित पोथी की पुष्पिका भी दी हुई है:
'इति श्री बेणीमाधवदास कृत मूल गोसाईं चरित समाप्त। श्री शाण्डिल्य गोत्रोत्पन्न पंक्तिपावन त्रिपाठीरामरत्नमणि रामदासेन तदात्मजेन च लिखितम्। मिति विजयादशमी संवत १८४८ भृगुवासरे।'

(३) मूल गोसाईं-चरित पृष्ठ १५
विशेष—

(क) बेनी माधवदास कृत 'गोसाईं चरित्र' नामक ग्रंथ भी मिलता है। इसका उल्लेख 'शिवसिंह सरोज' में तीन स्थलों पर हुआ है। एक गोस्वामी तुलसीदासजी के प्रसंग में दूसरा बनी माधवदास के विषय में लिखते हुए और तीसरा, गोसाईं-चरित्र की दो पंक्तियाँ देते समय। 'सरोज' में केवल दो पंक्तियाँ ही उद्धृत हैं जो मीरां के जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रखतीं। शेषांश अभी तक अप्राप्य है।

(ख) एक 'गोसाईं-चरित्र' भवानीदास कृत है। यह नवलकिशोर प्रेस लखनऊ

कृष्णदत्त कृत 'गौतम चन्द्रिका'।

काशीराज (रामनगर) के मनोनीत साहित्य-मर्मज्ञ श्री चौधरी सुखी सिंहजी के पास पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र को कृष्णदत्त कृत 'गौतम-चन्द्रिका' नामक रचना प्राप्त हुई थी जिसमें से तुलसी-सम्बन्धी अंश नागरी प्रचारिणी पत्रिका के संवत् २०१२ के अंक १ में प्रकाशित हुए हैं। गौतम-चन्द्रिका में कृष्णदत्त ने अपने वंश का वर्णन किया है। परिवार से सम्बन्धित होने के कारण उसमें तुलसीदास की चर्चा भी प्रसंगवश आ गई है।

गौतम चन्द्रिका संवत् १६८१ में लिखी गई थी।[1] तब तुलसीदासजी को परलोक सिधारे एक ही वर्ष हुआ था। दूसरे, इसका लेखक तुलसीदास के निकट संपर्क में था और उनके जीवन की विभिन्न प्रवृत्तियों से परिचित था। अतः इस ग्रंथ की तुलसी-सम्बन्धी सामग्री विश्वसनीय है।

इस रचनामें एक स्थान पर मीरां का भी उल्लेख है,जो निम्नांकित है—

पंचकोस ध्यावहि सिपरावहि । विपुल संत तुलसीपद आवहि ।
ढोल मृदंग डिमडिमी बाजै । बीन सितार मजीरा साजै ।
भक्त उजेनीदासहुँ आए । सुपद सूर मीरां कृत गाए ।
सुनि तुलसी बानी अनुरागी । सुपद कृष्ण पद गावन लागी ।[2]

इसके पश्चात् यह पद भी दिया हुआ है,जो तुलसीदासजी ने गाया था। यद्यपि मीरां के जीवन पर उक्त उद्धरण से कोई सीधा प्रकाश नहीं पड़ता फिर भी इसे यहाँ इसलिए प्रस्तुत किया गया है कि इससे मीरां द्वारा तुलसी को भेजे गए पत्रादि सम्बन्धी प्रचलित मान्यता पर कुछ प्रकाश पड़ता है और मूल गुसाईं चरित्र के भ्रमात्मक उल्लेख का निरसन हो जाता है। इससे दो बातें स्पष्ट हैं—

(१) कोई उज्जैनीदास नामक भक्त तुलसी से मिलने आए थे और

से रामचरणदासजी की टीका-सहित प्रकाशित 'रामचरित मानस' की भूमिका में बिना शीर्षक के दिया हुआ है। इसकी ओर विद्वानों का ध्यान सबसे पहले डा० माताप्रसाद गुप्त ने आकर्षित किया। उनके अनुसार यह सं० १८१० के आसपास की रचना है। यह ग्रंथ मूल गोसाईं चरित से बहुत साम्य रखता है। ये कदाचित् एक दूसरे से या किसी एक ही स्रोत की सामग्री से प्रभावित हैं।

(१) पुस्तक में ही निर्माण संवत् दिया हुआ है—
संवत् सोरह सै एकासी, तुलसी बरषी असी प्रकासी ।
सावन कृष्ण तीजि तिथि पाई । यह गौतम चन्द्रिका पुराई ॥

(२) गौतम चन्द्रिका में तुलसीदास का वृत्तान्त, श्रीविश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृष्ठ १०

उन्होंने तुलसी को मीरां और सूर के पद सुनाए।

(२) उज्जैनीदास जैसे सामान्य भक्त के तुलसी से मिलने और सूर तथा मीरां के पद गाने का उल्लेख करनेवाला लेखक जिसका तुलसी से विशेष सम्बन्ध था और जो उनके प्रति आदर भाव रखता था 'सूर का तुलसी के पास पहुँचना और मीरां का विशेष वैयक्तिक संदेशवाहक द्वारा आप-निर्देशन के लिए पत्र प्रेषित करना' जैसी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख नहीं करता है। यह बात अकारण नहीं हो सकती। कृष्णदत्त ने तुलसी के संपर्क में आने वाले अत्यन्त साधारण और आज के इतिहास के लिए अज्ञात व्यक्तियों का भी उल्लेख किया है, वहीं पर सूर और मीरां के नामों का छूटना और उनके पदों का तुलसी के सामने गाये जाने का उल्लेख इस बात की ओर संकेत करता है कि वस्तुतः मीरां ने तुलसी से संपर्क स्थापित नहीं किया था जैसा कि मूल गोसाईं चरित के लेखक द्वारा उल्लिखित किया गया है। साथ ही सूर और मीरा की भक्ति और उनके पदों की प्रसिद्धि इतनी हो गई थी कि भक्तगण तुलसी के सामने उनके पद गाने लगे थे और तुलसी की वाणी उससे प्रेरणा लेने लगी थी। कदाचित् उज्जैनीदास द्वारा मीरां के पद गाने की इसी घटना ने तुलसी-भक्तों की कल्पना सहारे मूल गोसाईं चरित में उल्लिखित रूप धारण कर लिया है।

क्रमांक	ग्रंथ का नाम	रचना-काल	लेखक	विशेष विवरण
(२)	भक्तमाल	आषाढ़ शुक्ल १ सं० १७१७	राघवदास	संत मत की दृष्टि से रचित
(३)	भक्तिरस बोधिनी टीका	फाल्गुन बदी ६ सं० १७६९	प्रियादास	चैतन्य संप्रदाय के थे
(४)	भक्तमाल का दृष्टांत	संवत् १८०० के लगभग	वैष्णवदास	प्रियादास के पोते वृन्दा बन वासी निम्बार्क संप्रदाय के
(५)	भक्त उरवशी	संवत् १८०० के लगभग	लालचन्द्रदास	वैष्णवदास के मत से अनुवाद
(६)	भक्त सुयश	संवत् १८६६	हरी (हरिदास)	प्रियादास की टीका का अनुवाद
(७)	राघवदास कृत भक्तमाल की टीका	संवत् १८५७	चतुरदास	प्रियादास का अनुसरण नवीनता का पूर्णतः अभाव
(८)	भक्तमाल (फारसी अनुवाद)	संवत् १८६८	मुं० मुनासीलाल	———
(९)	गुरमुखी भक्तमाल	संवत् १८६८	कीर्तिसिंह	———
(१०)	भक्तमाल (२४ निष्ठा)	संवत् १९११	तुलसीराम अग्रवाल	दृष्टि और विवेचनमें मौलिकता उर्दू लिपि में
(११)	भक्तमाल की टीका	हस्तलिखित पोथी का लिपि काल संवत् १९१२	बालाराम	सज्जनवाणी विलासमें सुरक्षित
(१२)	भक्त कल्पद्रुम (२४ निष्ठा)	संवत् १९५८	प्रतापसिंह	तुलसी साहिब की भक्तमाल का अक्षरशः अनुवाद
(१३)	राम रसिकावली	संवत् १९२१	राजा रघुनाथ सिंह (रीवां)	———
(१४)	रसिक भक्तमाला	संवत् १९२२	श्री युगल प्रियाजी (विरचित)	———

क्रमांक ग्रंथ का नाम	रचना-काल	लेखक	विशेष विवरण
(१५) भक्तमाल छप्पय	संवत् १९३० भादों पूर्णिमा ३	भारतेन्दु हरिश्चंद्र	———
(१६) रमूजे मिहरोवफ़ा (फ़ारसी)	संवत् १९३४	श्री तपस्वीरामजी सीतारामीय	———
(१७) भक्तमाल हरिभक्ति प्रकाशिका	संवत् १९५५	ज्वाला प्रसाद मिश्र	———
(१८) भक्तमाल का अंग्रेजी वर्ज़न	संवत् १९६४	भानुप्रताप तिवारी (चुनार)	———
(१९) ग्रीनिम्स			
(२०) भक्तिसुधा तिलक	संवत् १९६६	ग्रार्ज ग्रियर्सन	———
(२१) भक्तमाल सार (मराठी)	संवत् १९६६	रूपकला	उपयोगी संस्करण
(२२) भक्तमाला भक्ति प्रेमामृत (मराठी)	शके १८११	श्री निवास कृष्ण अर्जुन भास्कर	———
(२३) भक्तमाल (गुजराती)	———	श्री मार्तण्ड बुवा	मोती बद्ध पद्यात्मक
(२४) भक्तमाल प्रसंग (गुजराती)	———	भगवानदास देवसीभाई वैष्णव गोपालराम प्रभु राम मेहता	सामान्य ———

उनके लेखकों टीकाकारों या अनुवादकों की धार्मिक मान्यताओं की दृष्टि से प्रस्तुत सूची के भक्तमालों को सामान्यतः दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) सगुण वैष्णव मत की दृष्टि से लिखी गईं।
(२) संत-मत की दृष्टि से लिखी गईं।

इनमें रचना-काल की प्राचीनता सामग्री की नवीनता और महत्ता तथा सामग्री को प्रस्तुत करने के नए दृष्टिकोण, इन सभी दृष्टियों से 'विशेष महत्त्वपूर्ण' कृतियाँ निम्नांकित हैं—

१ (क) भक्तमाल नाभादास
(ख) भक्तिरसबोधिनी टीका प्रियादास
(ग) दृष्टान्त वैष्णवदास
२ (घ) भक्तमाल राघवदास।
(च) 'राघवदास' कृत भक्तमाल की टीका चतरदास

क्रमांक	ग्रंथ का नाम	रचना-काल	लेखक	विशेष विवरण
(२)	भक्तमाल	आषाढ़ सुक्ल १ सं० १७१७	नाभादास	संत मत की दृष्टि से रचित
(३)	भक्तिरस बोधिनी टीका	फाल्गुन बदी ६ सं० १७६९	प्रियादास	चैतन्य संप्रदाय के थे
(४)	भक्तमाल का दृष्टांत	संवत् १८०० के लगभग	वैष्णवदास	प्रियादास के पोते वृन्दावन वासी निम्बार्क संप्रदाय के
(५)	भक्त उरवशी	संवत् १८०० के लगभग	लालचन्द्रदास	वैष्णवदास के मत से अनुवाद
(६)	भक्त सुजस	संवत् १८३६	हरी (हरिदास)	प्रियादास की टीका का अनुवाद
(७)	नाभादास कृत भक्तमाल की टीका	संवत् १८५७	भवदास	प्रियादास का अनुसरण नवीनता का पूर्णतः अभाव
(८)	भक्तमाल (फारसी अनुवाद)	संवत् १८६८	मुं० गुमानीलाल	———
(९)	गुरमुखी भक्तमाल	संवत् १८६८	कीर्तिसिंह	———
(१०)	भक्तमाल (२४ निष्ठा)	संवत् १९११	तुलसीराम अग्रवाल	दृष्टि और विवेचनमें मौलिकता उर्दू लिपि में
(११)	भक्तमाल की टीका	हस्तलिखित पोथी का लिपि काल संवत् १९१२	बालाराम	सज्जनवाणी विभागमें सुरक्षित
(१२)	भक्त कल्पद्रुम (२४ निष्ठा)	संवत् १९२८	प्रतापसिंह	तुलसी साहिब की भक्तमाल का अक्षरशः अनुवाद
(१३)	राम रसिकावली	संवत् १९२१	राजा रघुराज सिंह (रीवां)	———
(१४)	रसिक भक्तमाला	संवत् १९२२	श्री युगल प्रियाजी (विरचित)	———

क्रमांक	ग्रंथ का नाम	रचना-काल	लेखक	विशेष विवरण
(१५)	भक्तमाल छप्पय	संवत् १९३० भादों पूर्णिमा ३	भारतेन्दु हरिश्चंद्र	———
(१६)	रमूजे मिहोंबक्रा (फारसी)	संवत् १९५४	श्री तपस्वीरामजी सीतारामीय	———
(१७)	भक्तमाल हरिभक्ति प्रकाशिका	संवत् १९५५	ज्वाला प्रसाद मिश्र	———
(१८)	भक्तमाल का अंग्रेजी वार्ता	संवत् १९६४	भानुप्रताप त्रिवेदी (कुमार)	———
(१९)	ग्रीनिम्स	संवत् १९६६	जार्ज ग्रियर्सन	———
(२०)	भक्तिसुधा तिलक	संवत् १९६६	रूपकला	उपयोगी संस्करण
(२१)	भक्तमाल सार (मराठी)	संवत् १९६६	श्री निवास कृष्ण अर्जुन वाडकर	———
(२२)	भक्तमाला भक्ति प्रेमामृत (मराठी)	शाके १८११	श्री मार्तण्ड बुवा	पोथी बद्ध पद्यात्मक
(२३)	भक्तमाल (गुजराती)	———	भगवानदास देवसीभाई वैष्णव	सामान्य
(२४)	भक्तमाल प्रसंग (गुजराती)	———	मायाराम प्रभु राम मेहता	———

इनके लेखकों टीकाकारों या अनुवादकों की धार्मिक मान्यताओं की दृष्टि से प्रस्तुत सूची के भक्तमालों को सामान्यतः दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) सगुण वैष्णव मत की दृष्टि से लिखी गई।

(२) संत-मत की दृष्टि से लिखी गई।

इनमें रचना-काल की प्राचीनता सामग्री की नवीनता और महत्ता तथा सामग्री को प्रस्तुत करने के नए दृष्टिकोण इन सभी दृष्टियों से विशेष महत्त्वपूर्ण कृतियाँ निम्नांकित हैं—

१ (क) भक्तमाल नाभादास

(ख) भक्तिरसबोधिनी टीका प्रियादास

(ग) दृष्टान्त वैष्णवदास

२ (घ) भक्तमाल राघवदास

(च) 'राघोदास' कृत भक्तमाल की टीका चतुरदास

शेष ग्रंथों में कोई नई उपयोगी सामग्री उपलब्ध नहीं है। अतः उपर्यु
केवल ५ ग्रंथों की ही मीरां-सम्बन्धी सामग्री का विवेचन अगले पृष्ठों में किय
गया है।

नाभादास कृत भक्तमाल

नाभादासजी का वास्तविक नाम था नारायणदास। ये अग्रदास
शिष्य थे जयपुर में गलता पहाड़ी पर रहते थे बाद में वृन्दावन में रहने ल
थे। भक्तों के विषय में इनका ज्ञान अत्यन्त विशद था। 'भक्तमाल' में इन्हों
कलियुग के २०० से अधिक भक्तों का परिचय छंदबद्ध किया है। अपने यु
के अनेक ऐसे प्रसिद्ध भक्तों से इनका व्यक्तिगत सम्पर्क था जो मीरांबाई
समकालीन थे। अतः इनके मीरांबाई-सम्बन्धी उल्लेख काफी विश्वसनीय है

'भक्तमाल' के रचना-काल के विषय में मतभेद है। इसे आचार्य रामच
शुक्ल सं० १६४२ के पश्चात् की[1] काशी नागरी प्रचारिणी की स
१९१७-१९ की खोज-रिपोर्ट के लेखक संवत् १६५२ के बाद की[2] गु
गुजराती आलोचक मा० शि० मेहता संवत् १६५८ की रचना मानते हैं
कुछ विद्वानों का मत है कि इस ग्रंथ में तुलसी का वर्तमान-काल[4] औ
ओरछा नरेश मधुकरशाह का भूतकाल[5] में उल्लेख है तथा तुलसी की मृत्यु-ति
सं० १६८० और मधुकरशाह की १६५१ है अतः इसका रचना-का
इन्हीं के बीच कभी मानना चाहिए।

'भक्ति प्रताप यश' सम्बन्धी उल्लेख के आधार पर वासुदेव गोस्वाम
ने निर्णय किया है कि भक्तमाल का रचना-काल संवत् १६८९ के पश्चा
ठहरता है।[6] नाभादास की मृत्यु सं० १७१६ में हुई थी।

मीरां के सम्बन्ध में निम्नलिखित छप्पय भक्तमाल में मिलता है—

लोक-लाज कुल-शृंखला तजि मीरां गिरधर भजी।

---

(१) हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १४७
(२) सूचना-संख्या ११७
(३) मीरांबाई, पृष्ठ २
(४) श्री भक्तमाल (कलकत्ता), पृष्ठ ७२६
(५) वही, पृष्ठ ६७१
(६) भक्तमाल का रचना-काल, वासुदेव गोस्वामी, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १२ जून १९५८

सदृस गोपिका प्रेम प्रगट, कलियुगहिं दिखायौ ॥
निरअंकुश अति निडर, रसिक-जस रसना गायौ ॥
दुष्टनि दोष बिचारि, मृत्यु को उद्दिम कीयौ ॥
बार न बाँको भयो, गरल अमृत ज्यों पीयौ ॥
भक्ति-निशान बजाय कै, काहू तें नाहिन लजी ॥
लोक-लाज-कुल शृंखला तजि, मीराँ गिरधर भजी ॥[1]

इस छप्पय से मीराँ के सम्बन्ध में निम्नलिखित सूचनाएं प्राप्त होती हैं —

(१) मीराँ के आराध्य गिरिधर थे। उन्होंने (मीराँ ने) रसिक का (श्रीकृष्ण के रसमय रूप का) यश गाया था।

(२) मीराँ का प्रेम गोपिकाओं के प्रेम के समान था अर्थात् उनकी भक्ति माधुर्य भाव की थी।

(३) मीराँ ने लोक-लाज कुल-शृंखला तज दी थी। किसी से भी उन्होंने लाज नहीं की और भक्ति का डंका बजाया।

(४) वे निरंकुश और अति निडर थीं।

(५) दुष्टों ने मीराँ के गिरिधर प्रेम को दोषमय समझकर उन्हें मारने के लिए गरल दिया। मीराँ उसे अमृत के समान पी गईं। उनका बाल बाँका भी नहीं हुआ।

प्रियादास कृत भक्तमाल की 'भक्तिरस-बोधिनी टीका'।

प्रियादासजी महाप्रभु कृष्णचैतन्य के संप्रदाय के अनुयायी श्री मनोहरदास के शिष्य थे। नाभादासजी से इनका वैयक्तिक सम्पर्क था। उन्हीं की आज्ञा से इन्होंने 'टीका' लिखी थी।[2] जैसा कि इन्होंने स्वयं कहा है (मति उनमान कही लही मुख संतनि के) उनके ग्रंथ का मूलाधार संतों में प्रचलित मान्यताओं की मौखिक परम्परा ही थी।

ब्रज के साधु-संत और भक्त राजस्थान की राजकीय परिपाटियों से विशेष परिचित नहीं थे। अतः राजकीय जीवन से सम्बन्धित बातों, विशेषकर राज-परिवार के आन्तरिक क्रिया-कलापों, पद्धतियों तथा रीतियों के सूक्ष्म विवरणों के विषय में इन भक्तों के उल्लेख पूर्णतः विश्वसनीय नहीं कहे जा

(१) श्री भक्तमाल पृष्ठ ७१२
(२) श्री भक्तमाल रूपकला, पृष्ठ १

सकते। राज-परिवार के हर व्यक्ति को राजा या राणा और प्रत्येक स्त्री को रानी कह देना उनके लिए स्वाभाविक था। पर, मीरां के भक्तजीवन की प्रमुख घटनाओं (विशेषकर ब्रजागमन-काल की) और उनकी भक्तिभावना के वैशिष्ट्य से ये लोग विशेष रूप से परिचित थे। अतः इस कोटि के इनके उल्लेख अधिक विश्वसनीय हैं। वास्तव में इनके उल्लेखों का अन्य साक्ष्यों की कसौटी पर कसकर और अतिशयोक्तियों से मुक्त करके ही स्वीकार करना उचित है। प्रियादास जी ने अपनी इस टीका का प्रणयन सं० १७६९ वि० में किया था।[1]

टीका में मीरां सम्बन्धी प्रसंग इस प्रकार हैं—

टीका — "मेरतौ" जन्मभूमि, भूमि हित नैन लगे
पगे गिरिधारीलाल पिता ही के धाम मैं।
राना कै सगाई भई, करी ब्याह सामा नई,
गई मति बूड़ि वा रँगीले घनस्याम मैं॥
भाँवरि परत मन साँवरे स्वरूप माँझ,
ताँवरै सी आवै चलिबे की पति धाम मैं।
पूछै पिता माता "पट आभरन लीजियै जू"
लोचन भरत नीर कहा काम दाम मैं॥१॥

"देवो गिरिधारीलाल जौ निहाल कियौ चाहौ
और धन माल सब राखियै उठाय कै"।
बेटी अति प्यारी प्रीति रंग चढ़यो भारी,
रोय मिली महतारी कही "लीजियै लड़ाय कै"॥
डोला पधराय दृग-दृग सौं लगाय चली
सुख न समाय चाय प्रानपति पाय कै।
पहुँची भवन सासु देवी पै गवन कियौ
तिया अरु बर गँठजोरी करी भाय कै॥२॥

---

(१) संवत् प्रसिद्ध दस सात सत उनहत्तर
फालगुन ही मास बदी सप्तमी बिताइकै।
नारायणदास सुखरास भक्तमाल लै कै
प्रियादास दास उर बसौ रहौ छाइकै॥
—श्री भक्तमाल रूपकला पृष्ठ ९१४

देवी के पुजायबे कों कियौ लै उपाय सासु,
बर पै पुजाइ, पुनि बधू पूजि' भाखियै ।
बोली "मू बिकायौ माथौ लाल गिरिधारी हाथ
और को न नवै एक वही अभिलाखियै" ॥
"बढ़त सुहाग याके पूजे तातें पूजा करौ
करौ जिनि हठ सीस पायनि पै राखियै" ।
कही बार बार "तुम यही निरधार जानौ
वही सुकुमार जापै वारी नाखियै" ॥३॥

तब तौ खिसानी भई अति जरि बरि गई
गई पति पास "यह बधू नहीं काम की ।
अब ही जबाब दियौ कियौ अपमान मेरौ
आगे क्यों प्रमान करै ? भरै स्वास चाम की ॥
राना सुनि कोप करयौ धरयौ हिये मारिबोई
दई ठौर न्यारी देखि रीझी मति बाम की ।
लालनि लड़ावै गुन गाय कै मल्हावै साधु,
संग ही सुहावै जिन्हैं लागी चाह स्याम की ॥४॥

आय कै ननद कही "गहै किन चेत भाभी ?
साधुनि सों हेतु मैं कलंक लागै भारियै ।
राना देसपती लाजै बाप कुल रती जात
मानि लीजै बात बेगि संग निरवारियै" ॥
"लागे प्रान साधु संत पावत अनन्त सुख
जाको दुख होय ताको नीकै करि टारियै" ।
सुनिकै कटोरा भरि गरल पठाय दियौ
लियौ करि पान रंग चढ़यौ यों निहारियै ॥५॥

गरल पठायौ सो तौ सीस लै चढ़ायौ संग
त्याग बिष भारी ताकौ झार न सँभारी है ।
राना नै लगायौ चर, बैठै साधु ढिग ढर,
तब ही खबर कर, मारौ यहै धारी है ॥
राखै गिरिधारीलाल तिनही सों रंग जाल बोलत

हँसत ख्याल कान परी प्यारी है।
बात कै सुनाई, भई मति अपसाई, आयो
लिये तरवार, दै किवार, खोलि न्यारी है ॥६॥

“ताके संग रंगभीजि करत प्रसंग नाना
कहाँ वह नर गयौ बेगि दै बताइयै”।
“आगे ही बिराजै कछू तोसौं नही लाजै अजूँ
देखि सुख साजै आँखें खोलि दरसाइयै” ॥
भयोई खिसानो राना लिख्यौ चित्र भीत मानौ
उलटि पयानौ कियौ नेकु मन आइयै।
देख्यौ हूँ प्रभाव ऐपै भाव मैं न भिद्यौ जाइ,
बिना हरिकृपा कहौ कैसे करि पाइयै ॥७॥

विषई कुटिल एक भेष धरि साधु लियौ
कियौ यौं प्रसंग ‘मोसौं अंग संग कीजियै।
आज्ञा मोंको दई आप लाल गिरिधारी” “अहो
सीस धरि लई, करि भोजन हूँ लीजियै’ ॥
संतनि समाज में बिछाय सेज बोलि लियौ
“संक अब कौन की निसंक रस भीजियै”।
सेत मुख भयौ बिषैभाव सब गयौ नयौ
पायन पै आय ‘मोकौं भक्तिदान दीजियै” ॥८॥

रूप की निकाई भूप ‘अकबर’ भाई हिये
लिये संग तानसेन देखिबे कौं आयो है।
निरखि निहाल भयो छबि गिरिधारीलाल
पद सुखजाल एक तब ही चढ़ायो है।
बृन्दावन आई जीवगुसाईं जू सौं मिलि झिली
तिया मुख देखिबे को पन लै छुटायो है।
देखी कुंज कुंज लाल प्यारी सुखपुंज भरी
धरी उर माँझ, आय देस बन पायो है ॥९॥

राना की मलीन मति देखि बसी द्वारावति

रति गिरिधारीलाल नित ही लड़ाइयै।
लागी चटपटी भूप भक्ति को सरूप जानि
अति दुख मानि विप्र श्रेणी लै पठाइयै॥
बेगि लैकै आवौ मोकों प्रान दै जिवावौ अहो,
गये द्वार धरनौ दै बिनती सुनाइयै।
सुनि बिदा होन गई राय रणछोर जू पै
छांड़ौ राखौ हीन लीन भई नहीं पाइयै॥१०॥[1]

उक्त उल्लेखों से निम्नलिखित सूचनाएँ मिलती हैं —

(१) मीरां का जन्म मेड़ते में हुआ।

(२) पिता के ही घर में उन्हें गिरिधरलाल से प्रेम हो गया।

(३) राना के (के यहाँ) अर्थात् राणा के परिवार में उनकी सगाई हुई।

भाँवरों के समय उनका मन 'साँवरे सरूप' (कृष्ण) में रहा और विदा के समय वे गिरिधारीलाल की मूर्ति को माँगकर ससुराल ले गईं।

(४) ससुराल पहुँचने पर सास ने वर से देवी-पूजन करवाकर वधू (मीरां) से देवी-पूजन के लिए कहा पर मीरां ने स्पष्टतः मना कर दिया। सास ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर उनके ससुर से शिकायत की। राणा ने यह सुन कर रोषवश मीरां को एकान्तवास दिया और उन्हें मारने की सोची।

(५) मीरां को श्याम की चाह थी और उन्हें साधु संग ही सुहाता था।

(६) ननद ने उन्हें समझाया कि संत-संग छोड़ दो (पर वे मानी नहीं)।

(७) राणा ने कटोरा भर गरल भेजा मीरां ने उसे शीश लगाकर पी लिया।

(८) राणा ने चर लगा दिए और यह आदेश दिया कि जब मीरां किसी साधु के समीप बैठें, तभी सूचना दो। चर ने कक्ष के भीतर हँसी सुनकर राणा को सूचना दी। राणा ने आकर उस पुरुष के विषय में पूछा तो मीरां बोलीं— वे पुरुष तुम्हारे सामने ही विराजमान हैं। आँखें खोलकर देखिए। राणा खिसियाकर चित्र की भाँति रह गया और चुपचाप लौट गया।

(९) एक विषयी कुटिल साधु ने आकर कहा कि गिरधर ने मुझे आज्ञा

---

(१) श्री भक्तमाल, लखनऊ, पृष्ठ ७१४-७२१

दी है। तुम मेरे साथ प्रसग करो। भोजनादि कराके संतों के बीच पर्लंग बिछाकर मीरां ने उससे कहा कि 'निर्शंक रस पीजिये'। उस साधु का मुख श्वेत हो गया और वह विषय भाव तजकर पैरों पर गिर पड़ा और भक्ति-दान माँगने लगा।

(१०) 'रूप की निकाई' सुनकर बादशाह के हृदय में आई और वह तानसेन को लेकर (गिरिधर की मूर्ति को) देखने के लिए आया। वह गिरिधारीलाल की छवि को देखकर निहाल हुआ और तब ही उसने (तानसेन ने) एक सुखदाता पद चढ़ाया।

(११) मीरां वृन्दावन आई जीवगोस्वामीजी से मिलीं और उनका तिया-मुख न देखने का प्रण छुड़ा दिया।

(१२) मीरां ने ब्रज के कुंज देखे और लाल-प्यारी (कृष्णराधा) को हृदय में धारण करके भक्ति के गीत गाये।

(१३) राणा की मलिनमति देखकर वे द्वारावती बसीं। (चित्तौड़ में) खटपटी लगी तब भूप ने भक्ति का स्वरूप जानकर दुःखित होकर विप्रों को यह कहकर भेजा कि द्वार पर धरना देकर मीरां को मेरी बिनती सुनाना और शीघ्र लाकर मुझे प्राण देकर जिलाना।

(१४) राणा द्वारा प्रेषित ब्राह्मणों का आग्रह देखकर मीरां रणछोड़जी से बिदा होने गईं। वहीं लीन हो गईं।

वैष्णवदास जी कृत 'भक्तमाल का दृष्टान्त':

'प्रियादास की भक्तिरस-बोधिनी टीका' के पश्चात् भक्तमालों की टीकाओं टिप्पणियों और भाषानुवादों की एक लम्बी परम्परा मिलती है, परन्तु इनमें प्राचीनतम और सबसे अधिक मौलिक तथा उपादेय कृति है वैष्णवदास कृत 'भक्तमाल का दृष्टान्त'। इसकी एक हस्तलिखित प्रति लेखक को सन् ६६ में 'प्राच्य विद्या मंदिर बड़ौदा' के संग्रहालय में मिली।[1] डॉ॰ माताप्रसाद गुप्त ने अपने 'तुलसीदास' नामक ग्रंथ में जिस वैष्णवदास कृत 'टिप्पणी' का उल्लेख किया है, वह प्रस्तुत ग्रंथ से भिन्न है और निश्चित रूप से वैष्णवदास कृत नहीं है।

'भक्तमाल का दृष्टान्त' की इस हस्तलिखित पोथी का लिपि-काल

(१) इस पोथी में नरसिंह महता मीरांबाई कृष्णानन्द परमराम, परमानन्द इत्यादि के कुछ पद भी देवनागरी अक्षरों में दिए हुए हैं।

संवत् १८४२ है ।[1] रूपकलाजी ने इस रचना का काल सं० १८०० दिया है।[2] वैष्णवदासजी प्रियादास के पौत्र थे[3] और प्रियादास ने सं० १७६९ में टीका लिखी थी। अतः दृष्टान्त का उक्त रचना-काल लगभग ठीक माना जा सकता है।

वैष्णवदासजी निम्बार्क संप्रदायी तथा वृन्दावन-वासी थे। ब्रज के भक्तों विशेषकर कृष्णभक्तों के सम्पर्क में वे विशेष रूप से आये थे। भक्तमाल की प्रियादास कृत टीका में कही गई कई बातों का स्पष्टीकरण इन्होंने किया है जिससे टीका द्वारा उत्पन्न कतिपय भ्रम सहज में ही दूर हो जाते हैं। अतः इनका दृष्टान्त अत्यन्त महत्व की सामग्री प्रस्तुत करता है।

चूँकि यह सामग्री अभी तक अप्रकाशित है, अतः कुछ अंशों में पुनरावृत्ति तथा भाषा सम्बन्धी अशुद्धियाँ होने पर भी अपने मूल रूप में ही अविकल प्रस्तुत की जा रही है।

भक्तमाल छप्पय—मीराबाई जू प्रसंग

(क) मीरां गिरधर भजी ॥ मीरां को भीरबर भज्यो ॥ न पारमेशं गिरवय संयुवास्व साधूरय मिवुवायुपापि च ॥ आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ॥

(ख) सदस गोपिका प्रेम ॥ जैसे साहुकार का लड़ीका है जीत कोरि माया है थोर कहना नहिं कह भी चुके ऐसे गोपिन्ह ते अधिक नहीं पर अधिक है ॥

---

(१) पुष्पिका, इति श्रीभक्तमाल नाभास्वामी कृत प्रियादास कृत टीका का दृष्टान्त वैष्णवदास कृत संपूर्ण । सं० १८४२ चैत सुदी पौर्णवासी रवीवार समाप्तं । श्री श्री श्री श्री श्री राम पठनार्थ वैष्णव मनसुखदास । लिखितं कासी मध्ये कल्यानी देवी श्री कृष्णार्पण शुभमस्तु श्रीरस्तु ॥

(२) श्री भक्तमाल सटीक—भक्तिसुधास्वाद तिलक, पृष्ठ १२ (रूपकला ने इसका नाम भ० म० टिप्पणी दिया है)।

(३) वैष्णवदास कृत श्री भक्तमाल माहात्म्य—(रूपकला, श्री भक्तमाल सटीक में सम्मिलित) पृष्ठ ६६४

प्रियादास अति ही सुखकारी । भक्तमाल टीका विस्तारी ॥६९॥
तिनकी पौत्र परम रंग भीनो । भक्तन हित महात्म यह कीनो ॥७०॥

टीका-कवित्त

(१) गई मति बुद्धि वा रंगीले घनश्याम में ॥ मांव ॥

सोभा सांवल मागर सागर कर मुरली धुनी गरजै ॥
वल्लभ रसिक दाम मह्रे गावत धावत सुर परजै ॥
मोर पक्ष कछु सैतु भैक लगी पूतरी सो बरजै ॥
स्याम हर हरि प्रान भाव बनि भाव भरम की भरजै ॥ १॥
इस नैननि मधि मोहन सोहन सुरति प्रानि धमानि (समानी)
धीरज धरम सरम सब भूले भूली नियम कहानी ॥
वल्लभ रसिक कोउ कछु भाषौ मैं भेक न मन में आनी ॥
हिय मटकी सटकी चटकीसी पाग जु सुरंग सुहानी ॥२॥

(२) [टिप्पण नहीं है]

(३) देवी के पूजाइबे को ॥

रम्यांति थं वयस्यन स्थाप रार्ब गमा अपि ॥
नंद गोपसुतं देवी पति मे कुरु ते नम ॥
गोपिन को भगवत् प्राप्ति की जिज्ञासा है । इनके साक्षात्कार
पति श्री कृष्ण होय रहे हैं ॥

(४) भति जर पर गई ॥

रही कैसे जैसे रसी (रस्सी) जरै वाको आकार रहे ऐसे रही ॥ जिने कामी चाह स्याम की ॥ कृष्ण भक्त भाते सत्संग करही ॥ जैसे संत निरवारियें ॥

जिनकी देह नेह परिपूरन ते बकमगात बय माहीं ॥
जिन दरसी तिनि परसै जिनमें रोम रोम हैं जाही ॥
नर पशु दाग लगत घर जिनकी वाती सुनत डेराहीं ॥
वल्लभ रसिक निसंक धंक मरिमरि तिनसौं लपटाहीं ॥

(५) उदाबाई मन्त्र सौं कहा

दोहा—मीन मारि बस मोई पामे अधिक पीमाव ।

× × ×

कवित्त—दुखी निसि बासर प्रान मोमे रहत तातें

बिनती करत सी न क्यों हू बिसरायबी ॥
हौं तो जरि जैहौं ज्वाल जालनि पै री मोपै
कैसे सहि जैहै बिरहाय की बसायबी ॥
कहै कवि चिन्तामनि है रे बनारि रूप
पाछले समइ मोहि तहां पहुंचायबी ॥
कीजियो उपाय सोइ प्यारो भरै बहां पाय
येह भये देह मरी तहां पहुंचायबी ॥
यादृसी भावना जमसी यौभवती तादृसो ॥ तुलयामि सबेनापि ॥१॥
प्रर्थ बिस्मोछिताबी पुरसुलरमति बैष्णबो आति बुद्धि ॥
। प्रर्थाबितारी-भावाना बैष्णबोत्पति बिदम ॥
मात्र योनिपरीक्षायां तुल्यामाहु मनीषितां ॥

(६) गरल पठाय दियो
राना तो बड़ो मक्त है और तो मक्त सूझि सो ॥
चरनामृत देहै यह कटोरा भर देहै ॥

(७) झारी पोलि दरसाईये
अकबर ने रसाईनी को बाँवा रसाइन पीया चाहै सो वह बतावै नहीं। नित्य मारने का प्रयोग करै । रानीको सखा का रूप करिके सेवा करै। बीस रोज मारन की ठीक पड़ी बाबू मैं बतावतो कहि मारी बिस रोजै सखा को बताया सो सेवा सो पाया बिन सेवा चाहै तो नहीं ॥

(८) संक बड़ कौन की :
चौरो बोलमनी तस्य चारोवमभजोपितां ॥
प्रेम सदैव सखूनां चौरजारसिरोमने ॥
देस काम पात्र पाय बिस ही म है ॥

(९) रूप की निकाई भूप अकबर भाई :
बिलायत के पातसाह ने हिंद के पातसाह को लिख्यो कि अपने देस का मेवा सुन्दर सरूप होय सो भिजियो। तब लिखा बृजबासी नन्द ग्वाल को फरजंद एक कन्हैया नाम है जाके रूप के ऊपर अनेक इस्त्री बावली भई हैं। और टेटी एक फल बड़ा मेवा होय है सो पथिकन का बरबस अटकावै है।

कही कि आप कै आवो सो उन्ह के मैं भी कन्हैया सुन्दर है। सो देखन अकबर पातसाह तानसेन समेत गीरधारी की छबि को मगन होय गया।

पद सुप जाल एक तबही गदायो है :

पद—प्यारी के चिहुर बिथुरे मानौं धाराधर की स्याम घटा उनई।
ता मधि छूटि परै जैसे बड़ी बड़ी बूंदै ॥
ता मध्य मुक्ता मांग मग पांति तरल्ल ग्रसक बिच बिच बिजुलता
सी कोमल नैन पंखरी। पीक बोमत बोमै रुदै ॥
नासा धारि हरि की रसपान सी घूंघट करि चली तरकै पीठि
पाछै है सोहै सास मुनीमा सी कंचुकी उमी की फूटै ॥
मेहदी सु धारक्त नख बीर बहुटी सी ऐसी पावस बनिता मिली।
मीरां साम गीरधर कूं सै कामप्रीति हार मूदै ॥१॥

यह पद तानसेन समेत अकबर गाय बढ़ायौ ॥

वृंदावन आय गोसाईं :

यही बूझत फीरैं वृन्दावन में कोउ मसान है ॥
कोई ने कहा आदू तो जीवगुसाईं है।)

तिया मुख देखबे को पन ले पकरायो है— माता स्वसा दुहिताव
नोविविक्तासनं भवेत ॥ बलवान् इंद्रिय ग्रामोविद्वांसमपिकर्षति।

(१०) रति गीरधारीलाल नित ही लड़ाय्यैं : कवित्त—

सांझ सवेरो अंधेरो उजेरो अकेले दुकेले नही रस भाख्यो ॥
भाईबो छोड़ो न तेरी गली को वो लोगन्ह लाक कुलाक हूं भाख्यो ॥
दीन भयो हम सी गहू सो भए कान्ह समान सबै करि छाख्यो ॥
पीरि सो भाइकै संग लपाय कै दे सुखदायक गौके न राख्यो ॥१॥

आरमार्नं चिंतये तत्र तासां मध्ये मनोरमां ॥
रूपयौवनसंपन्ना किशोरिं प्रमदाकृतिं ॥ ( )

दोहा—प्रेम एक एक चित्त सो एकै संग बिकाई ॥
गांधी की सोधो नही जन जन हाथ बिकाई ॥
कबहूं एकन्ट प्रेम सो सीयो लाम विवेक ॥
ऐसी मीलप कामक पै दरवाजो एक ॥

सुनि विदा होन गई

पद—राय श्री रनछोर दीजै द्वारिका को बास ॥
संख चक्र गदा पदुम दरसैं मिटै जम की त्रास ॥
सकल तीरथ गोमती के रहत नित्य निवास ॥
संख झालर झांझ बाजैं सदा सुख की रास ॥
तज्यो देस र बेस हू तजि तज्यो राना राज ॥
दास मीरा सरन गिरिधर तुम्हें सब सुख साज ॥

यार्को रायो ही न लीन भई :

हे हरि हरउ जनकी भीर ।
द्रोपदी की लाज राखी तुम बढ़ायो चीर ॥
भक्त कारन रूप नरहरि धर्यो आप सरीर ॥
हिरनकस्यप मारि लीनो धर्यो नाहिन धीर ॥
बूड़त गज ग्राह तार्यो कियो बाहर नीर ।
दास मीरा लाल गिरधर दुख जहाँ तहाँ पीर ॥

पद—सजन सुधि ज्यौं जानैं त्यौं लीजै ॥
तुम बिन मेरे और न कोई कृपा रावरी कीजै ॥
दिवस न भूख रैन नहिं निद्रा यह तन पल पल छीजै ॥
मीरां लाल गीरधर नागर अब मिलि बिछुरन नहिं कीजे ॥
या पद की छाप पर्यंत सति रनछोड़ जू मायुर्यं समाय लिया सो देही ॥[1]

इस सामग्री में (क) (ख) ग्रंथ में भक्तमाल छप्पय टीका है। इससे मीरां के जीवन पर कोई नया प्रकाश नहीं पड़ता १, ३ ४ ५ ७ ८ में भी दृष्टव्य नवीनता नहीं मिलती ।

(६) में दिया हुआ स्पष्टीकरण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अबतक विद्वान् रसबोधिनी टीका के इस अंश का यह अर्थ लगाते थे कि "मीरांबाई के सौंदर्य का हाल सुनकर अकबर तानसेन के साथ उन्हें देखने आया था और देखकर

विशेष टिप्पणी—

(१) उक्त टिप्पणी में दिए गए संस्कृत के उद्धरण भी यत्रतत्र अशुद्ध हैं, भाषा संबन्धी अन्य अशुद्धियाँ भी हैं पर उन्हें ज्यों का त्यों रहने दिया है।

प्रसन्न हुआ।"[1] कुछ विद्वानों ने इस वार्ता के आधार पर अकबर के द्वारका जाकर मीरां के दर्शन करने की कल्पना कर ली है।[2] इसी आशय के मीरां के पद भी बना लिए गए हैं।[3] पर वैष्णवदास का यह "दृष्टान्त" बताता है कि तानसेन अकबर को लेकर मीरां को नहीं कन्हैया को दिखाने गया था और अकबर भी तानसेन समेत "गिरधारीजी" की छवि को देखकर मगन हुआ। तब तानसेन ने एक पद भगवान की सेवा में प्रस्तुत किया अर्थात् गिरिधर की मूर्ति के सम्मुख गया। इस पद में "गिरिधारीजी" की माधुर्य भाव की भक्त मीरां के उनमें विलय होने के चित्र को अंकित किया है। गिरिधर मीरां के सेव्य थे उनके मीरों के आराध्य थे। अतः मीरां का 'गिरिधर' के प्रसंग में उल्लेख करना अत्यन्त स्वाभाविक है।

इससे एक निष्कर्ष यह और निकलता है कि अकबर के समय में ही मीरां की इतनी अधिक प्रसिद्धि हो गई थी कि अकबर उनके मीरों के आराध्य की मूर्ति देखने के लिए उत्सुक हुआ। उस समय मीरां कदाचित् इस लोक से जा चुकी थी। कम से कम वे जावरे के आसपास या वृन्दावन में नहीं थीं वरना सुन्दर व्यक्तियों भक्तों तथा कवियों से मिलने के लिए उत्सुक अकबर उनके आराध्य की मूर्ति के साथ उन्हें भी देखने का प्रयत्न करता।

प्रसंग ६ और १० में जीवगोस्वामी से मिलने तथा गिरिधर-प्रेम का उल्लेख है। संत के पद नागरीदास कृत पदप्रसंगमाला से उद्धृत हैं।

एक महत्वपूर्ण बात यह है कि मीरां के पावमराने की अंतरंग वार्ता

---

(१) मीरां माधुरी, रत्नदास, पृष्ठ २४
मीरां और उनकी प्रेम-वाणी आनन्दचन्द्र जैन, पृष्ठ २२
मीरां-दर्शन, मुरलीधर श्रीवास्तव, पृष्ठ १८-१९
मीरांबाई, डॉ० श्रीकृष्णलाल पृष्ठ ११
मीरांबाई (गुजराती) मा० मि० मेहता पृष्ठ ४५
संत, मीराबाई का माया (मराठी) बालकृष्ण लक्ष्मण पाठक, पृष्ठ १८

(२) परिषद् निबंधावली, द्वितीय भाग प्रथम निबंध ले० कुंवर कृष्ण

(३) भाई री सांवलिया आयो नाथ।
भेस बदली अकबर आयो तानसेन के साथ।
रागताल इतिहास भवन कर नाम माय सिर माथ।
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर कीन्हीं सोंहि सनाथ।
—मीरां बृहद पद-संग्रह, पद्मावत, पृष्ठ ११०

के विषय में वैष्णवदास बिलकुल मौन हैं। प्रियादास द्वारा उल्लिखित राणा और मीरां की सास आदि के संबन्धों और घटनाओं का 'टिप्पणी' में अनुल्लेख और इस विषय में लेखक का मौन इस बात की ओर संकेत करता है कि संतों के पास मीरां के आंतरिक पारिवारिक संबन्धों के विषय में विश्वसनीय सामग्री नहीं थी। वे उनके भक्त रूप से ही परिचित थे।

दो अप्रकाशित टिप्पण :

(१) मीरांबाई के सम्बन्ध में एक 'टिप्पण' डॉ० माताप्रसाद गुप्त के वैयक्तिक संग्रह की एक पोथी में है। यह पोथी गुपालराय नामक व्यक्ति द्वारा सं० १८८० में लिपिबद्ध हुई थी। वैष्णवदास कृत भक्तमाल की भारती के भी इस पोथी में लिपिबद्ध होने के कारण डॉ० गुप्त ने इसे वैष्णवदास कृत मान लिया है। बड़ौदा से प्राप्त 'वैष्णवदास कृत दृष्टान्त की संवत् १८४२ की प्रति' से मिलाने से यह प्रतीत होता है कि यह 'टिप्पण' 'दृष्टान्त' के आधार पर ही बाद में किसी अन्य व्यक्ति द्वारा लिखा गया है। दृष्टान्तकार ने कई महत्वपूर्ण विषयों पर मौलिक रूप से प्रकाश डालने का प्रयास किया है, पर टिप्पणकार महत्वपूर्ण शब्दों या वाक्यांशों पर कवित्त दोहा सवैया या पद कहकर चुप हो जाता है। गद्य कहीं-कहीं और नाममात्र को है। उदाहरण के लिए—

लोक-लाज पै :

कवित्त—नीर में क्यों नीर त्यों समाई बूंद सागर में
तिल में सुमन बास मो गई सु मो गई ॥
× × ×
रूप उजियारे गुनवारे लाल प्यारे आवें,
तो ही सों भयी है होनी होयगी सु होयगी ॥

इसी प्रकार टिप्पणकार ने 'गिरधर भजो पै' 'सगुण गोपिका प्रेम पै' 'रसिक जन रसना पै' 'भैन मनै पै' 'बिकाया म्हां तो पै' 'बारबार पै' 'सावे प्राम साथ पै' 'बरस पठायो पै' 'स्याम पै' 'बताइयै पै' 'समू वसियै पै' 'अकबर आई पै' 'पद सुखवास पै' 'विदा होने पै' स्पष्टीकरण प्रस्तुत किए हैं।

(२) संवत् १९०१ में किसी हरिदास द्वारा नैनवां (बूंदी) में लिपिबद्ध एक और 'टिप्पण' में भक्तमाल तथा प्रियादास की टीका में आए मीरां-सम्बन्धी उल्लेखों पर इसी प्रकार से स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने वाले छंद मिलते हैं।

मीरां के जीवन और काव्य के सम्बन्ध में इन टिप्पणों में कोई नई या महत्त्वपूर्ण बात ज्ञात नहीं होती। इनसे केवल इतना निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इनके रचयिता मीरां को 'प्रेमलक्षणा भक्ति' के पथ का साधक मानते थे।

राघोदास कृत भक्तमाल :

राघवदासजी 'बड़े सुन्दरदासजी' के शिष्य प्रह्लाददास के पौत्र-शिष्य थे।[1] इन्होंने भक्तमाल आषाढ़ शुक्ल ३ संवत् १७१७ को पूर्ण की थी।[2] इस कृति पर नाभादास के भक्तमाल का बहुत प्रभाव है पर राघवदासजी ने संत-संप्रदाय की सामग्री को आग्रहपूर्वक रखा है क्योंकि इनकी दृष्टि अनिवार्यतः संतमत की थी।[3] ये 'संत-संप्रदाय' की दृष्टि से मीरां के जीवन पर प्रकाश डालने वाले प्रथम व्यक्ति हैं। उनके द्वारा संत-संप्रदाय में प्रचलित वार्ताओं और संतों की भावना का अंकित किया जाना स्वाभाविक ही है। निर्गुणवादी राघवदास जी तथा सगुण संप्रदाय के भक्तों द्वारा किए गए उल्लेखों में से तुलना द्वारा सांप्रदायिक प्ररणा से रचे गए अंशों को सरलतापूर्वक छांटा जा सकता है। इस दृष्टि से राघवदास के मीरां-सम्बन्धी उल्लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ये निम्नलिखित हैं

मीरांबाई को बरनन :

मूल छप्पय —लोक बेद कुल जगत सुख तजि मीरां श्री हरि भजे।
गोपिन की सी प्रीति रीति कलिकाल दिखाई।
रसिकरायजस गाई, निडर रही संत-समाई।
रानें रोस उपाइ जहर की प्याली दीन्हीं।
रोम दुख्यौ नहीं एक मानि चरनामृत लीन्हीं।

---

(१) उत्तरी भारत की संत-परंपरा, परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ ४३१
(२) भक्तमाल के अन्त में राघोदास ने स्वयं रचनाकाल दे दिया है—
संवत् सत्रह सौ सतहत्तरा सुकल पक्ष बिचार।
तिथि तृतिया आषाढ़ सुकल राघो कियो बिचार॥
(३) अपने भक्तमाल में इन्होंने चार सगुण भक्ति-सम्प्रदायों के आचार्यों के समान ही नानक, कबीर, दादू और जगन के लिए "ये चारि महंत चहूं चक्कवै" कहा है और निर्गुणमत का विस्तृत परिचय दिया है।

गौबति भक्ति चुराई कैं पति सो गिरिधर ही भजे।
लोक वेद कुल जगत सुप मुचि मीरां श्री हरि भजे।

मनहर

राम जी की भक्ति न भावे काहू दुष्टन कौं
मीरां भई वैष्णव जहर दीन्हों जानिकैं।
राना कहे मारे जाव मारि डारी याहि धाव
धाय करे कीरतन संत बैठे आनिकैं॥
प्रेम भरि पीया विस पद गावे अहनिस नैन
व्याप्यौ नैकहूं न लीन्हौ सुप मानिकै।
रायो कहे रानी सुपि वैरी सब राज-लोक,
मीरांबाई गगम भरोसौ चक्रपानि कैं॥[1]

उक्त 'मूल छप्पय और मनहर' से निम्नलिखित सूचनाएं मिलती है—

(१) लोक-वेद कुल और जगत-सुख छोड़कर मीरां ने श्रीहरि भजे। उन्होंने रसिकराय का रस गाया, पति के समान गिरिधर को माना और कलिकाल में गोपियों की सी प्रीति दिखलाई, अर्थात् मीरां रसेश गिरिधर की माधुर्य भाव की भक्त थी।

(२) राणा द्वारा जानबूझ कर मीरां को विष दिया गया था। उसका कारण उनका वैष्णव होना था। मीरां उस विष से अप्रभावित रहीं।

(३) मीरां ने भक्ति की नौबत बजाई। वे संत-सभा में निडर रहीं पर मुख्य रूप से राणा और सामान्यतः समस्त लोक मीरां का विरोधी हो गया था। उन्हें केवल चक्रपाणि (भगवान्) का भरोसा था।

राघौदास जी की भक्तमाल पर चतुरदास या चत्रदास की टीका

छोटे सुन्दरदास की सातवीं पीढ़ी ने चतरदास ने भादों बदी १४ संवत् १८५१ को राघवदास की भक्तमाल पर अपनी टीका लिखी। इन्होंने लिखा तो यह है कि जिस प्रकार नारायणदास के भक्तमाल पर प्रियादास ने टीका लिखी उसी प्रकार राघवदास की कृति पर मैंने लिखी पर वस्तुतः यह टीका प्रियादास की टीका के १० कवित्तों का १० सवैयों में रूपान्तरमात्र है, यहां

(१) स्वर्गीय हरिनारायण पुरोहितजी के संग्रह की हस्तलिखित प्रति से।

तक कि कवित्त के प्रत्येक चरण की सामग्री सवैया के एक चरण में और उसी क्रम से रखने का प्रयास किया गया है। अतएव मौलिक सामग्री की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व नहीं है। चनदास संत-मत के थे और इनके समय में मीरां को संत-मत का भी घोषित करने का प्रयत्न किया जाने लगा था पर फिर भी इन्होंने परंपरागत अनुश्रुतियों का ही अनुसरण किया था। अतः गरीबदास के समय से प्रारंभ होने वाली संत-संप्रदाय की अनश्रुतियों में से प्राचीन तथा नवीन अंशों को अलग करने में इनके सवैये विशेष उपादेय हैं।

चनदास जी ने मीरां के संबंध में निम्नांकित १० सवैये लिखे हैं —

टीका इंदव छंद

मात पिता जननी पुर मेड़त प्रीति लगी हरि पीहर मांहीं।
रीझहि चाह सगाइ करावत ब्याहन आवत भावत मांही॥
फेर फिरावत बात सुहावत यों मन मैं पति साँच न चाही।
देत लखे पितमात आभूषन नैन भरे जन मोहि न चाही॥१॥

जो गिरिधारिहि लाल सिंहासन बेस अभूषन नैन उठावी।
मातपिता सु सुता मति है प्रिय रोम वये प्रभु सिंधु सहावी॥
पाइ महासुख देखत है सुख डोलहि मैं चमकार चलावी।
चौमहि पौचत मात पुजावत सास करावत मांटि पुरावी॥२॥

मात पुजाइ लई सुत पैं पुनि पूजि बहू अब सास कही है।
सीस नवै मम जो गिरिधारिहि आन न मानत नाथ यही है॥
होत सुहागिणि पाहिक पूजत टेक तजौ सिरनाइ मही है।
एक नवै हरि और न भावत मानत क्यूं नहिं बुद्धि नही है॥३॥

होइ उदास भरी डर सास गई पति पास कछू नहिं राखी।
मानत मैं सब फेरि मिनै कब केति कही फिरि भाखन पाछी॥
रोस करयौ नृप ठौर जुदी यह रीझि लई वह नाचन काछी।
नृत्य करै हर लाल धरै सतसंग करै सबई जग साखी॥४॥

भाइ नरेंद्र कही सुनि भाभिहि साधन संग निवारि मनीजे।
लाजत है नृप तात बड़ो कुल लाजत है बंस बेगि तजीजे॥

संत हमारहि जीवनप्राणम तारख दै कुल सरब मनीजे ।
बाई कही तब और पठावत सैं चरनामृत पान करीजै ।।५।।

सीस नवाई पीत भई बिष संतन छोड़न है दुख भारी ।
भूप कहै मृति धींस पठावहु आइ कभी पन बोलत भारी ।।
स्वामिहि सौं बतलात सुनी तब आइ कही अबहू सत धारी ।
सो सुनिकै तरवारि लई कर दौरि गयो पट खोलि निहारी ।।६।।

बोलत हीन गयो फत माँगत देहु बताइ न मारत तोही ।
देह परे कछु माँहि डरे चित नेत हरे बिन बाहुत मोही ।।
भूप लजाइ रह्यौ जड़ होइर उठि गयो तजिकैं उर कोही ।
देखि प्रताप न मानत पाप रहै उर ताप करै हरि मोही ।।७।।

सतन भेष कह्यौ बिषई नर माई कही मम संग करीजै ।
माल दई यह माइस बावहु माँगि लई अब भोजन लीजै ।।
सेज बिछावत साथ सभा बिधि टेरि लियौ तब कारिज कीजै ।
देखित ही मुख सेत भया पगि आइ नयौ अब सिष्या मनीजे ।।८।।

भूप अकब्बर रूप सुन्यौ अति तानहिसेन लिये चलि आयौ ।
देखि कुल्याल भयो छबि लालहि एक सबद बनाइ सुनायौ ।।
या बृज बीच मिली पग ही तिय देखतनैं नृप ताहि छुड़ायौ ।
कुंजन कुंज निहारि बिहारिहि भाइर देस सबैं मन पायौ ।।९।।

भूपति बुद्धि असुद्ध लखी अति द्वारवती बसि लाल लड़ाये ।
पैठि अचंभ होत भयौ नृप जानि महाकुप बिप्र पिठाये ।।
लेकरि आवहु मोहि बिदावहु बेगि गये समचार सुनाये ।
होन बिदा चलि ठाकुर पै मुख माँहि भई कुछ बीर रखाये ।।१०।।

इसके आधार पर केवल एक नवीन सूचना प्राप्त होती है कि राणा के पेट में अचंभर हुआ । अतएव उन्होंने मीरां को बुलवाया ।

संत दरिया साहब (बिहार वाले) :

दरिया साहब ने मीरां के कृष्ण–प्रेम में पागल होने का तथा उस प्रचलित

कहानी का उल्लेख किया है जिसमें कहा गया है कि मीरां को एक विष का प्याला दिया गया और वे उसे सहर्ष पी गईं।[1]

दरिया साहब बिहार के रहने वाले थे। इनका जीवन-काल संवत् १७३१ से संवत् १८३७ तक था।[2] दरिया साहब कृत उल्लेख में कोई नई सूचना नहीं है परन्तु इससे एक महत्वपूर्ण बात का संकेत मिलता है कि संवत् १८०० के आस-पास तक सतों में मीरां के कृष्ण-प्रेम (सगुण कृष्ण के प्रति माधुर्य-भाव) की बात ही प्रचलित थी। मीरां को ज्ञान का सोंटा पकड़ा कर मैंव के बांदने में खड़े करने का प्रयास उस समय तक व्यापक नहीं हुआ था।

नागरीदास :

नागरीदास कृत सिंगार-सागर के अंतर्गत पद-प्रसंग-माला में 'नामप्रिय स्याम सुजान तिनकी लीला पद संबद्ध करिकै वैष्णव गावत आए हैं तिनके कछूक पद प्रसंग'[3] (प्रसंग और उनसे सम्बन्धित पद) आए हैं। मीरां के संबन्ध में भी इसमें छ प्रसंग और तत्संबन्धी पद हैं। इसके अतिरिक्त पद-प्रबोध-माला के मंगलाचरण की स्तुति के पद में भी मीरां का उल्लेख है।

नागरीदास कृष्णगढ़ के महाराजा सावंतसिंह का ही हरि-संबंध का नाम था। इनका जन्म पौष कृष्ण १२ संवत् १७५६ को हुआ था। इनके ७३ ग्रंथ उपलब्ध हैं जिनमें से १८ में रचना-काल भी दिया है। इनमें मनोरथ मंजरी संवत् १७८० की और बनजनप्रशंसा संवत् १८११ की रचना है। शेष का रचना-काल इन्हीं दोनों संवतों के बीच पड़ता है।[4] अतः पद-प्रसंग-माला का रचना-काल संवत् १८०० के आस-पास मानने में विशेष त्रुटि की संभावना नहीं है।

---

(१) संतकवि दरिया, एक अनुशीलन, डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, पृष्ठ ७, टिप्पणी १७
(२) वही, पृष्ठ २
(३) नागर समुच्चय सिंगार सागर, पृष्ठ १८२
(४) वही श्री नागरीदासजी का जीवन-चरित्र, बाबू राधाकृष्णदासजी, पृष्ठ १२
(५) वही, पृष्ठ २४ ३१

यद्यपि नागरीदास के मीरां-सम्बन्धी उल्लेख मीरा के २०० वर्ष बाद के हैं पर वे अपने काल की मीरां-संबंधी अन्य सामग्री से अधिक विश्वसनीय हैं। इसके कारण इस प्रकार हैं —

(१) नागरीदासजी उसी राठौड़ वंश के थे जिसकी कि मीरां थीं। मीरां दूदाजी के पुत्र रत्नसिंह की पुत्री थी और नागरीदास दूदाजी के सगे भाई सूजाजी के वंशज थे।[1]

(२) भक्ति-काल के लिखित साहित्य की सुरक्षा के प्रमुख केन्द्र दो ही थे—राजकीय संग्रहालय और साम्प्रदायिक गद्दियाँ। नागरीदास एक राज्य के स्वामी थे और वह भी राजस्थान के एक राज्य के। दूसरे, वे स्वयं कृष्णभक्त थे और साधु-सन्तों से उनका विशेष संपर्क था। अतः अपने युग के अन्य लोगों की अपेक्षा उनके पास मीरां-संबन्धी सामग्री के प्राप्त करने के अधिक साधन थे।

(३) नागरीदास वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित थे और वल्लभ सम्प्रदाय के लोग मीरां के प्रति प्रशंसात्मक भाव नहीं रखते थे। इतना ही नहीं उनके लिए अपशब्दों का प्रयोग भी कर बैठते थे। अतः नागरीदास द्वारा मीरां की प्रशस्ति में अतिशयोक्तिपूर्ण बातें कहे जाने की संभावना नहीं है।

(४) नागरीदास स्वयं राठौड़ वंश के एक राजस्थानी राजा थे। वे राजस्थान की राजकीय परंपराओं से परिचित थे विशेषकर राठौड़ों की परंपराओं से। अतः मीरां के पारिवारिक संबन्धों के संबन्ध में उनके उल्लेख अन्य भक्तों और साधु-संतों के उल्लेखों की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय हैं। उस काल में संत लोग राज-परिवार की हर स्त्री को रानी और हर पुरुष को राजा कहते थे। नागरीदास ने इस प्रकार के उल्लेख सतर्कतापूर्वक किए हैं।

(५) नागरीदास ब्रज और राजस्थानी दोनों भाषाओं तथा उनके साहित्य के ज्ञाता थे। उनके संपर्क में भी अनेक कवि और पंडित थे।[2] वे स्वयं एक सुन्दर साहित्यकार थे। मीरां की रचनाएँ ब्रज-राजस्थानी साहित्य परंपरा की हैं।

इस प्रकार सभी दृष्टियों से मीरां के विषय में नागरीदास की सूचना के स्रोत और आधार उनके युग के अन्य भक्तों और कवियों की अपेक्षा

(१) मारवाड़ का इतिहास, रेउ पृष्ठ ८१-१४७ तथा
नागर समुच्चय श्री नागरीदासजी का जीवन-चरित्र, पृष्ठ ८ १२

(२) कवियों और पंडितों की एक सूची 'नागरीदास जी का जीवन-चरित्र' में बाबू राधाकृष्णदासजी ने पृष्ठ २१ पर दी है।

निश्चित रूप से अधिक मान्य और विश्वसनीय हैं।

नागरीदास की रचनाओं में मीरां सम्बन्धी उल्लेख निम्नांकित हैं—

(क) पद प्रबोधमाला का उल्लेख—

मेरे मेई वेद व्यास ॥
श्री हरिवंशरु व्यास गदाधर परमानन्द नन्ददास ॥
× × ×
तुलसीदास मीरां माधव अरु उमै नागरीदास ॥[1]

(ख) पद-प्रसंगमाला के उल्लेख—

(१) अब अन्य पद प्रसंग ॥ वचनिका ॥ मेड़तें मीरांबाई तिनकों राना के छोटे भाई सौं ब्याही यह प्रसिद्ध है ही सो कितनेक दिन उपरान्त काहू समै राना के वा भाई को देहान्त भयो अरु राना हुते सो मीरांबाई सौं दुख पाय रहे ही हैं, पै वैष्णवनि को सतसंग करिवे आदि वा समै राना ने कहाई, जो यह औसर है तुम भरता के संग सती होहु तब मीरांबाई भगवत रंग माते भये हैं, त्योंही भये रहे वा समै कछू भेद मानी नाहीं अरु वा बात के उत्तर कों एक विष्णुपद नयो बनाय राना कों लिपि पठ्यो पद बहुत प्रसिद्ध भयो ॥ सो यह यह पद ॥

मीरां के रङ्ग लाग्यो हरीको और रङ्ग सब अटक परी ॥
गिरधर गास्यां सती न होस्यां मन मोह्यो धननामी ॥
जेठ-बहू को नातो नहीं राणाजी म्हे सेवग थे स्वामी ॥
चूड़ो चोवड़ो तिलक गु माला सीलवर्त सिंगार ॥
और सिंगार भावै नहिं राणाजी यों गुरु ग्यान हमार ॥
कोई निंदो कोई बिंदो गुण गोविंद रा गास्यां ॥
जिण मारग वै संत पहूंचा तिण मारग म्हे जास्यां ॥
चोरी करां न जीव संतावां कांई करसी म्हारो कोई ॥
हसती चढि गधै नहीं चढां आवो बात न होई ॥
राज करंता नरक पड़ेसी भोमीड़ा जम कै सीसा ॥
गिरधर धणी कहूंबो गिरधर मात पिता सुत भाई ॥
थे थाहरें म्हे म्हां हारें तो राणा जी यों कहै मीरांबाई ॥

(२) पुन अन्य पद प्रसंग। मीरांबाई सौं राना अधिक दुख पाये रहैं, राना के घर की रीति तें इनके भिन्न रीत यह भगवत सम्बन्ध सत्संग विशेष

(१) नागर समुच्चय पद प्रबोध माला नागरीदास पृष्ठ १९४

कर। देह सम्बन्ध को नाता व्यौहार कछु न मानै राना बहुत असुखप्रद रह्यो निदान एक दिन विष को प्यालो उनको पठ्यो कह्यो चरनामृत को नाम लैकै दीजियो उनके प्रण है चरणामृत के नाम तें पीहैं सो ऐसें ही भयो जानि बूझ पीयो राना तो इनके मरिबे की राह देखत रह्यो अरु यह प्रेम-पूर्वक सुख सौं परमरंग मों एक भयो पद बनाय ठाकुर आगे गावत भये पद बहुत प्रसिद्ध भयो सो यह यह पद—

> राणेजू विष दीनो हम जानी ॥
> जान बूझि चरनामृत गुनि पियो नाँहि डरी मीरानी ॥
> कंचन कसत कसौटी जैसे तन रह्यो बारहु बानी ॥
> साधुन गिरधर न्याव कियो यह छान्यो दूध पानी ॥
> राना कोटक वारों जिहि पर हौं तिहि हाथ बिकानी ॥
> मीरां प्रभु गिरधर नागर कै चरन कमल लपटानी ॥२॥

पुन: अन्य पद प्रसंग ॥ राना को जोगे साईं मीरा को देह सम्बन्ध को भर्ता हो सो ताको परलोक भयो ता पीछै मीराबाई गंगादिक तीरथ करिकै घर सौं वृन्दावनहू आये तहाँ श्रीरूप गुसांई जी को प्रण स्त्री के न देखिबे को छुटाय सब सौं कुछ गोविन्ददेव सनमान साम्बर्ग करि द्वारिका को चले जहाँ वास करिबे कौं लिये तहाँ एक मारग में एक भयो पद बनायो बहुत प्रसिद्ध भयो सो यह यह पद—

> धन्य श्रीरणछोड़ दीन्यौ द्वारिका को वास ॥
> संख चक्र गदा पद्म दरसें मिटै जम की त्रास ॥
> सकल तीरथ गोमती के रहत नित निवास ॥
> संख झालर झाँझ बाजै सदा सुख की रास ॥
> तज्यो देस वेसहू तजि तज्यो राना राज ॥
> दास मीरां सरन आवत तुम्हें सब लाज ॥३॥

पुन: प्रसंग ॥ सो या भाँति मनोरथ करत यह पद गावत द्वारिका पहुँचे तहाँ कोई दिन रहे ता पीछै मीराबाई के संग ब्रह्मवादिक जे राना के लोक हैं, तिन कह्यो अब बहुत दिन भये हैं अब देस को चलो राना की आज्ञा है, ऐसे ही तीन दिन लौं कह्यो फिरि मीराबाई धरि बरता लियो तब मीरां

बाई ठाकुर रणछोड़जू सौं बिदा ह्वैबे को नाम लै मंदिर में अकेले ही आप महाआरति सहित एक नयो पद बनाय गायो सो वह यह पद—

हरि हरिहो जनकी भीर ।
द्रोपदी की लाज राखी तुम बढ़ायो चीर ॥
भक्ति कारन रूप नरसिंह धर्यो आप सरीर ।
हरिनकस्यप मारि लीनों धर्यो नाहिन धीर ॥
बूड़तै गज ग्राह तार्यो कियो बाहिर नीर ।
दास मीरां लाल गिरधर दुख जहां तहां पीर ॥१॥

सो यह पद गायें हू उत्तरें न दये, तब महाआरति प्रेमावेस सहित एक और पद बनाय गायो तबही ठाकुर आपमें उनकों याही सरीर तें लीन करि लीने देह हू न रही सो वा पद के गायें लीन भये सो वह यह पद—

सजन सुधि ज्यों जानैं त्यों लीजै ।
तुम बिन मेरे और न कोई कृपा रावरी कीजै ॥
द्यौस न भूख रैन नहिं निद्रा यह तन पल-पल छीजै ॥
मीरां प्रभु गिरधर नागर अब मिलि बिछुरनि नहिं कीजै ॥२॥

सो वे चोकन्नव निकट द्वार के इनकी परमचतुर वैष्णव सखी ने कंठ करि लीनी तथा लिपि कीने ते प्रसिद्ध भये ॥१॥

पुनः अन्य पद प्रसंग ॥ मीरांबाई की कई भांति की चरचा निंदकजन राना आगें बहुत करन लागे तब एक समै राना ने अपने अंतःपुर की एक स्त्री कों पठायो । कह्यो कि आधी राति उपरान्त जहां वे होंय तहां जसी जाइये काहू की हटकी मत रहिये । सो वाने ऐसें ही कियो मीरांबाई अटारी पर सोई सोई जागत ही सौंहैं चन्द्रमा कों देखि देखि हरि प्रीतम के अंतराय को बिरह सह सहत हीं उनकी भावना करि करि परी उदास देख ही उतने हीं वे आय ठाढ़ी भई ताकूं मीरांबाई कह्यो तनकेक बैठिये हमारो दुख सुनों या समै हमकू तुम बड़े श्रोता मिले सो जद्यपि यह बिजाती हौ परन्तु ज्यों कौऊ मति अधीर अनुरागी होय ताकू बिजाती सजाती को ग्यान नांही रहै, वहि अपने चित्त आई सो कहै ही कहै यातें वाके आगे वही बेर एक पद बनाय बनाय कैं गावन लगी सो पद सुनि इनकी अवस्था देखि वह आई हुती सो परम

अनुराग में मुरछित ह्वै गई इनकी ही निकटवर्ती परम वैष्णव भई, फिरि राना के अंतःपुर में न गई फिरि राना और काहू स्त्रीनि कों इनपैं पठाईं सोई नट जाइ, अब कहै उनपैं क्या-क्यो जामैं सो बावरी ह्वै जात हैं तातैं हम न जाहिंगी यह बात इनकी बहुत प्रसिद्ध भई सो पिछली रात के समैं या पद के सुनें तें राना की सहचरी की उनमत्त दसा ह्वै गई सो वह यह पद—

> भयी मेरी नींद नसानी हो।
> पिय को पंथ निहारतां सब रैन बिहानी ॥
> सखीयनि मिलि सीष दई मन एक न मानी ॥
> बिन देषे कल ना परें जिय ऐसी ठानी ॥
> अंग छीन ब्याकुल भई मुष पिय पिय बानी ॥
> अंतर बेदन बिरह की वहि पीर न जानी ॥
> ज्यों चातक घन कौं रटे मछरी जिन पानी ॥
> मीरां ब्याकुल बिरहिनी सुधि बुधि बिसरानी ॥६॥[1]

वल्लभ-सम्प्रदाय का वार्ता-साहित्य

वल्लभ-सम्प्रदाय में प्रचलित वार्ता-संकलनों में से दो में मीरां-सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं। इनमें से एक संकलन 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' और दूसरा 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' नाम से प्रख्यात है।

इन वार्ताओं के रचयिता और रचना-काल के विषय में बहुत मतभेद है। वल्लभ संप्रदाय के अंतर्गत ही दो मत प्रचलित हैं—

(क) विद्या-विभाग (कांकरोली) के संचालक श्री कंठमणि शास्त्री के अनुसार वार्ता-साहित्य के तीन संस्करण हुए हैं। पहला संस्करण श्री गोकुल नाथजी के कथा-प्रवचनों के रूप में प्राप्त होता है। इसका काल संवत् १६४२ से संवत् १६६० तक है। इस समय तक इन वार्ताओं का वर्गीकरण ८४ और २५२ वैष्णवन की वार्ताओं के रूप में नहीं हुआ था। दूसरा संस्करण इन वार्ताओं के ८४ और २५२ नामों के साथ संयुक्त होकर वर्गीकृत क्रमबद्ध रूप का है। यह कार्य गोकुलनाथजी के जीवन-काल में ही उन्हीं के तत्वावधान में श्री हरिरायजी ने सम्पादित किया था। अतः इन वार्ताओं पर 'श्री गोकुल नाथजी कृत' लिखा जाने लगा। इस संस्करण का काल संवत् १६६४ से सं०

(१) नागर समुच्चय, नागरीदास, पृष्ठ १६६-१६७

१७५१ तक है। तीसरा संस्करण श्री गोकुलनाथ जी के पश्चात् श्री हरिराय जी द्वारा हुआ। इसमें उन्होंने 'भाव प्रकाश' नामक टीका और जोड़ दी। इस संस्करण का काल संवत् १७५२ से संवत् १७८० तक है।[1]

(ख) वल्लभ संप्रदाय के एक अन्य सक्रिय साहित्यिक कार्यकर्ता और वार्ता-साहित्य के पंडित श्री द्वारकादास परीख का मत है कि ये वार्ताएँ वल्लभाचार्यजी के समय में (सं० १५३५ से १५८७ वि० तक) कदाचित् मौखिक रूप में जन-समाज में प्रचलित थीं। बाद में गुसाईं श्री विट्ठलनाथजी के समय में (संवत् १५७२ से संवत् १६४२ तक) वे ब्रजभाषा के गद्य-पद्यात्मक रूप में लेख-बद्ध हुईं। श्री गुसाईंजी के सेवक कृष्णभट्ट उर्ध्वमिवाजी ने सर्वप्रथम इन्हें ब्रजभाषा के गद्य के रूप में लेख-बद्ध किया था। परंतु उनके उस लेख-बद्ध ग्रंथ में न तो ८४ संख्यात्मक वार्ता का क्रमिक रूप था और न केवल आचार्यजी के ही सेवकों के प्रसंग थे। इस पोथी के आधार पर ही गोकुलनाथजी ने ८४ एवं २५२ वैष्णवन की वार्ताओं का निर्माण किया।[2]

इस प्रकार संप्रदाय की दृष्टि से इस विषय में दो मत उपलब्ध हैं। एक के अनुसार वार्ताएँ संवत् १७५२ तक और दूसरे के अनुसार सवत् १६४२ या १६४१ तक लिपिबद्ध हुई थी।[3] संप्रदाय में इन वार्ताओं को भक्तिभाव की दृष्टि से पूज्य ही नहीं घटनाओं के उल्लेखों की दृष्टि से प्रामाणिक और विश्वसनीय भी माना जाता है। संप्रदाय के बाहर के कुछ विद्वान् (डॉ० हरिहरनाथ टंडन आदि) भी इन वार्ताओं को लगभग इतना ही प्राचीन और प्रामाणिक मानते हैं।[4]

यह तो भलीभाँति सिद्ध हो चुका है कि 'दो सौ बावन वार्ता' का लेखक 'चौरासी वार्ता' के लेखक से भिन्न है और '२५२ वार्ता' गोकुलनाथजी की कृति नहीं है क्योंकि इसमें संवत् १७१६ तक की घटनाओं के उल्लेख आते हैं।[5]

---

(१) प्राचीन वार्ता-रहस्य द्वितीय भाग, कण्ठमणि शास्त्री द्वारा लिखित भूमिका।

(२) दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता संपादक शर्मा तथा परीख द्वितीय खण्ड विश्लेषणात्मक अध्ययन, पृष्ठ ५

(३) प्राचीन वार्ता रहस्य प्रथम भाग की गुजराती 'प्रस्तावना' में द्वारकादास पारीख ने वार्ताओं का रचना-काल संवत् १६४२ से सं० १६४१ तक माना है।

(४) जनभारती सं० १९५५–५४ वैष्णवन की वार्ता की प्रामाणिकता–पृष्ठ ६–११

(५) डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दुस्तानी सन् १९३२, पृष्ठ १४२–१७७

इन वार्ताओं में कुछ ऐसे प्रसंग भी हैं, जो नागरीदास कृत पदप्रसंगमाला की रचना के बाद में लिपिबद्ध हुए हैं। यहाँ इसका विस्तृत विवरण अनावश्यक है क्योंकि डॉ० माताप्रसाद गुप्त और चन्द्रबली पाण्डेय इस तथ्य को सप्रमाण प्रस्तुत कर चुके हैं।[1]

वस्तुतः गोकुलनाथजी के समय तक ये वार्ताएँ मौखिक रूप में ही प्रचलित रही थीं। वल्लभाचार्य जी से इनका सम्बन्ध कदाचित् इसलिए जोड़ा जाता है कि वे ब्रह्म-संबन्ध के समय मंत्र का भावार्थ और बातचीत या वार्ता करते थे।[2] गोकुलनाथजी ने भी इन्हें लिखा नहीं। उन्होंने केवल "श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभु नामावली" लिखी थी जिसमें ८४ वैष्णवों का उल्लेख है। एक बार दामोदरदास सम्भरवाला की वार्ता का प्रसंग छिड़ा जिसमें एक वैष्णव ने विनती की कि 'आज कोई भगवद् वार्ता नहीं करो'। गोकुलनाथजी ने अपने श्रीमुख से आज्ञा की कि आज से मैं भगवदीयों की वार्ता कहूँगा जो कि ठाकुरजी को अत्यन्त प्रिय है। इतना कहकर यह ८४ वैष्णवनी वार्ता कहेवानो प्रारंभ कर्यो।[3] इस उल्लेख से भी यही पता चलता है कि गोकुलनाथजी ने वार्ताएँ कही थीं और न भी ८४ वार्ताएँ २५२ वार्ताओं का रूप उनके सामने भी नहीं था।

पद प्रसंगमाला में वर्णित प्रसंगों से २५२ वार्ता के प्रसंगों की तुलना करने से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका संग्रह और संपादन हरिरायजी के बाद तक चलता रहा। उनके जीवन-काल में यह कार्य पूरा नहीं हुआ था।

कट्टर वल्लभ-संप्रदायी गुजराती कवि दयाराम ने 'चौरासी वैष्णव' नाम से एक कविता लिखी है, २५२ वैष्णवों के विषय में वे मौन हैं। नागरीदास भी वल्लभ कुल के भक्त थे। उन्होंने कलिवैराग्यवल्ली में भक्तमाहात्म्य में 'वल्लभ चौरासी भक्त' की चर्चा की है, पर २५२ भक्तों का कहीं उल्लेख भी नहीं किया। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि नागरीदास और दयाराम के समय तक

(१) डॉ० माताप्रसाद गुप्त तुलसीदास पृष्ठ ७९–८४
चन्द्रबली पाण्डेय विचार विमर्श, पृष्ठ १४३–१७७

(२) "आ वार्तालाप श्रावण सुदी ११नी मध्य रात्रिमां थयो,—
ते समये श्री ठाकोरजीए श्रीमुखथी कहेलो ब्रह्म संबंधनो मंत्रनो भावार्थ तथा जे वार्ता थई तेनो श्री महाप्रभुए सिद्धान्त रहस्य नामनो ग्रंथ कर्यो छे।"
—चौरासी वैष्णवनी वार्ता अहमदाबाद—गुजराती संस्करण पृष्ठ ४

(३) वही पृष्ठ २

हैं, उन बिना हमारे सर्वस्व त्याग करनो उनके चरणारविंद को आश्रय राखनो ऐसी वृत्ति बहुतेरी होयगी । वे रामदास श्री आचार्यजी महाप्रभुन के ऐसे कृपापात्र भगवदीय हैं, तातें इनकी वार्ता कहाँ ताईं लिखिये ॥ प्रसंग ॥ ॥ १ ॥ वैष्णव ॥ ५४ ॥

(३) अब कृष्णदास अधिकारी तिनकी वार्ता[1]

सो वे कृष्णदास शूद्र एक बेर द्वारिका गये हुते सो श्री रणछोड़ जी के दर्शन करिके वहाँ से चले सो आपन मीराबाई के गाँव आये सो वे कृष्णदास मीराबाई के घर गये तहाँ हरिवंश व्यास आदिदै विशेषसह वैष्णव हुए सो काहू को आये आठ दिन काहू को आये दस दिन काहू को आये पन्द्रह दिन भये हुते तिनकी बिदा न भई हुती और कृष्णदास ने तो आवत ही कही जो हूँ तो चलूंगो तब मीराबाई ने कही जो बैठो तब कितनेक मोहोर श्रीनाथजी को देन लागी सो कृष्णदास ने न लीनी और कह्यो जो तू श्री आचार्यजी महाप्रभुन की सेवक नाहीं होत तातें तेरी भेंट हम हाथ तें छूवेंगे नाहीं सो ऐसे कहि कै कृष्णदास उहाँ तें उठि चले सो आगे सब आये तब एक वैष्णव ने कह्यो जु तुमने श्रीनाथ जी की भेंट नाहीं लीनी तब कृष्णदास ने कह्यो जो भेंट की कहा है पर मीराबाई के यहाँ जितने सेवक बैठे हुते तिन सबन की नाक नीचे करके भेंट फेरी है इतने इकठौरे कहाँ मिलते यह हूँ जानेंगे जो एक बेर शूद्र भी आचार्यजी महाप्रभुन को सेवक आयो हुतो ताने भेंट न लीनी तो तिनके गुरु की कहा बात होयगी ॥ ★

---

(१) वही पृष्ठ १४२

★(१) ८४ वार्ता के डाकोर संस्करण (संवत् १९६०) में उक्त प्रसंग इसी रूप में मिलते हैं।

(२) 'प्राचीन वार्ता रहस्य' द्वितीय भाग (संवत् १९९८) में कृष्णदास अधिकारी की वार्ता में हरिवंश और व्यास का उल्लेख नहीं मिलता।

(३) "८४ वैष्णवनी वार्ता" अहमदाबाद संस्करण (चतुर्थ आवृत्ति संवत् १९९०) के उल्लेख में निम्नलिखित अन्तर मिलता है—

(क) गोविंद दुबे की वार्ता में दूसरे प्रसंग में गुसाईं द्वारा भेजा हुआ निम्नांकित श्लोक भी उद्धृत है—

भगवत् पदपद्म पराग जुषो नहि मुक्ततरं भरणेऽपि तराम्
इतराश्रयमर्त्य गजराज सुतो नहि रासोमभ्युदरी कुरुते ॥

इन उद्धरणों के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

(१) मीरांबाई वल्लभाचार्य विट्ठल हरिवंश व्यास कृष्णदास अधिकारी गोविंद दुबे और रामदास पुरोहित की समकालीन थी ।

(२) मीरांबाई के पुरोहित रामदास थे जिन्होंने मीरां के वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित न होने के कारण उनकी वृत्ति त्याग दी ।

पिछले पृष्ठ का शेषांश :

उसमें सार के रूप में गुसांईंजी की इस आज्ञा के कारण को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि 'मीरांबाई मर्यादा मार्गीय हुती याते तिनको अंगीकार श्री महाप्रभुजी द्वारसों न हुतो'—

पृष्ठ ६४-६५

(ख) इस संस्करण में रामदास की वार्ता में 'रांड और कलम को मुंह' जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं है । रामदास ने केवल इतना कहा है, 'या कोनु पद हे ? प्रात श्री ठाकुर मुख हु कोई वखते बोलिए नहिं ।'

पृष्ठ ११७

(ग) कृष्णदास अधिकारी की वार्ता में मीरांबाई को स्पष्टतः 'अन्यमार्गीय' कहा गया है ।

(४) राजवाडे संशोधन मण्डल धुलिया में जो '८४ वैष्णव' की वार्तावलि लेखक को मिली उसमें उक्त प्रसंग इस प्रकार है—

[वार्तावली में ७२ वार्ताएँ पूरी हैं । ७३वीं की केवल १ पंक्ति लिखी है ।]

रामदास मीरांबाई के पुरोहित

श्री प्रभुजी के पद गाते सो ॥
तब कही ठाकुर के भाव तब ॥
कहे वारी की ये कौन के है ए ॥
सो कहे फेर ता गाम ते निकसे ॥—वार्ता ४७वीं

गोविंद दुबे सांचोरे ब्राह्मणी के

मीरांबाई के घर बहुत दिन रहे । सुन यह श्लोक पठाए जो ॥
भगवत् पदमनरागा सुयो नहि मुक्तरं भरतोऽमितराम्
इतराभ्मयई भजराम भयो नहि रासजमप्युपरि क्रुहसे ॥
यह पढ़त उठ चले । —वार्ता १४ प्रसंग २

(३) मीरां के यहाँ 'ठाकुरजी की मूर्ति की पूजा होती थी अर्थात् वे सगुणवादी मूर्ति पूजक वैष्णव थीं।

(४) मीरांबाई ने आचार्यजी महाप्रभु (वल्लभाचार्य) की शिष्यता स्वीकार नहीं की थी। सम्प्रदाय के अनेक व्यक्तियों के नाना प्रकार के प्रयत्नों के बावजूद मीरां वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित नहीं हुईं।

(५) कृष्णदास और गोविंद दुबे मीरां से उनके गाँव में मिले थे। अतः यह घटना उनके द्वारका-प्रवास से पूर्व की है।

(६) मीरां अत्यंत संयत उदार (साम्प्रदायिक संकीर्णता से मुक्त) धर्म परायण और भक्तों का आदर करने वाली नारी थी। वे अपने संकल्पों में दृढ़ और विचारों में अटल थी। क्रोध और द्वेष को उन्होंने जीत लिया था। पुष्टि मार्गियों ने सभी प्रकार की भली-बुरी बातें उनसे कहीं पर वे न उनके विचारों को डिगा सके और न उनकी साधुता को। रामदास द्वारा दी गई गालियों और कृष्णदास द्वारा जान-बूझकर किए गए अपमान के बदले में भी उन्होंने निश्छल आतिथ्य और श्रीनाथ जी के लिए भेंट के अतिरिक्त और कुछ देने की बात नहीं सोची।

(७) मीरांबाई द्वारका-गमन के पूर्व ही वैष्णवों में विख्यात हो गई थीं। हित हरिवंश जैसे संस्कृत के पंडित ब्रजभाषा के कवि और एक प्रसिद्ध संप्रदाय के प्रवर्तक तक उनके यहाँ चर्चा के लिए पहुँचते थे। स्वयं कृष्णदास-जैसे व्यक्ति भी उनकी ओर से उदासीन नहीं हो सके।

२५२ वैष्णवन की वार्ता

इसमें दो उल्लेख ऐसे मिलते हैं जिनका मीरां के जीवन से सम्बन्ध हो सकता है। एक में तो मीरां का स्पष्ट उल्लेख है। दूसरे में 'मेरता निवासी जैमल की बेन' (बहन) का उल्लेख है, जिसे बहुत-से विद्वानों ने मीरां मान लिया है, पर वस्तुतः २५२ वार्ता में उल्लिखित 'जैमल' मीरां के चाचा वीरम देव के पुत्र जैमल नहीं मालदेव के पुत्र 'जैमल' थे। अतएव २५२ वार्ताओं में उल्लिखित जैमल की बेन मीरांबाई नहीं थी।[1] इस प्रकार इस वार्ता में विचारणीय उल्लेख एक ही है, जो इस प्रकार है—

(१) देखिए यही ग्रंथ, 'जीवन वृत्त'

(१) श्री गुसांईजी के सेवक अजबकुंवर बाई तिनकी वार्ता :

सो अ कुंवरिबाई मेड़ते में रहती हुती मीरांबाई की देवरानी हुती और वहाँ एक दिन श्री गोसांई जी पधारे तब अजब कुंवर को साक्षात पूर्णपुरुषोत्तम के दर्शन भये।[1]

× × ×

आप वार्ता में मीरां सम्बन्धी कोई उल्लेख नहीं है।

गोस्वामी हरिराय जी प्रणीत दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता (तीन जन्म की लीला भावना वाली) में अजब कुंवरि बाई का प्रसंग कुछ और विस्तार में मिलता है और इसमें कुछ अतिरिक्त उल्लेख भी उपलब्ध होते हैं।[2] इस ग्रन्थ में इस प्रसंग का मीरां संबन्धी अंश इस प्रकार है—

वार्ता प्रसंग :

सो वह अजब कुंवरि बाई बाल विधवा हुती। सो मीरांबाई के पास रहती। सो मीरांबाई अजब कुंवरि बाई के नाम सिंहाड़ में रहती। और मीरां बाई के दूसरी सिंहाड़ हुती। पर अजब कुंवरि बाई और मीरांबाई एक ठौर घर में रहतीं।

सो एक समै श्री गुसांईजी सिंहाड़ पधारे। तब बाग में उतरे। तब मीरांबाई दरसन को गईं। तब अजब कुंवरि हू साथ गईं। तब श्री गुसांईजी को अजब कुंवरि ने साक्षात् पूरन पुरुषोत्तम देखे। तब मन में आई, जो हों इनकी सेवकिनि होऊं तो भली है। पाछे भेट धरि के दरसन करिके तुरत ही मीरांबाई ता फिरीं तब गोसांईजी ने कही जो यह भेट तो हम नाहीं राखें। हमारे काम की नाहीं। तब और वैष्णव ने मीरांबाई सों कही, जो ये तो अपने सेवक बिना काहू की भेंट राखें नहीं हैं। तो पाछे भेट फेरि दीनी। तब अजब कुंवरि बाई ने कही मीरांबाई सों जो तुम कहो तो हों इनकी सेवकिनि होऊं। तब मीरांबाई ने नाहीं करी। ता पाछे दोऊ घर को गईं। तब अजब कुंवरि बाई को महा विरह ताप भयो और ज्वर आयो। तब मीरांबाई ने पूछ्यो जो तोको कहा भयो? अब ही तो अच्छी हुती। तब अजब कुंवरि ने कह्यो जो हौं तो गोसाईं जी की सेवकिनि होऊंगी। मैं तो उनको दरसन करत साक्षात् श्री

(१) २५२ वैष्णवन की वार्ता डाकोर-संस्करण पृष्ठ १०५–११०

(२) गो० श्री व्रजभूषण शर्मा तथा द्वारकादास परीख द्वारा संपादित तथा शुद्धाद्वैत एकेडमी कांकरोली द्वारा प्रकाशित—दूसरा खण्ड ७, पृष्ठ ७१

कृष्ण देवे। तातें ताप भयो। तब मीरांबाई ने कही जो तेरी इच्छा। पाछे भजन कुंवरि सावधान होई के श्री गुसाईंजी सों बिनती कराई। + +

शेष वार्ता में मीरां संबन्धी कोई उल्लेख नहीं है।

इस वार्ता से यही पता चलता है कि मीरां ने वल्लभ संप्रदाय में दीक्षा नहीं ली थी। इसके सामान्य संस्करण के आधार पर कुंवरबाई मीरांबाई की देवरानी थी और दोनों मेड़ता में रहती थीं पर तीन जन्म की लीला भावना वाली वार्ता के आधार पर दोनों का यह सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। इसमें दोनों मेड़ता नहीं सिंहाड़ निवासिनी बताई गई हैं। जैसा कि पीछे कहा गया है, २५२ वार्ताओं के उल्लेख अधिक विश्वसनीय नहीं हैं। ये प्रसंगतियाँ भी इसी मत का पोषण करती हैं।

हरीदास का पद :

'राजस्थानी भाग ३ जुलाई अंक १ में प्रो० नरोत्तम स्वामी ने 'हरीदास' नामक किसी संत का एक पद प्रकाशित किया है। पद इस प्रकार है—

एक राणी गढ़ चीतौड़ा की।
मेड़तणी निज भगति कुमारी भोजराज की जोड़ा की।
हिमक मिसक साल दुसाला बैठण चाकी मोड़ा की।
मसा सुख छाँड़ि भई बैरागिणि साधी नरपति जोड़ा की।
साहण पाहण रथ पालकी कमी न हसती घोड़ा की।
सब सुख छाँड़ि जनक मैं चली लागी लगन रणछोड़ा की।
ताल बजावै गोविंद गुण गावै नाच तजी बकसोड़ा की।
नवा नवा भोजन भाँति भाँति का हरिहि सार रसोड़ा की।
करि करि भोजन साध जिमावै भाजी करत पिरोड़ा की।
मन धन सिर साधां कै अरपण प्रीति नहीं मन थोड़ा की।
हरीदास मीरां बड भागिणि सब राण्या सिरमोड़ा की।

इस उल्लेख से निम्नलिखित सूचनाएँ मिलती हैं—

(१) मीरां मेड़तणी थी साथ ही वे भोजराज की पत्नी और चितौड़ गढ़ की रानी थीं।

(२) वे तरुणावस्था में समस्त सुख त्याग कर बैरागिन हो गई।

(१) उन्होंने रास मचाई, गोविन्द के गुण गाए और रणछोड़जी से प्रेम किया तथा मन धन और सिर साधुओं को अर्पित किया।

पद के साथ टिप्पण के रूप में प्रो० स्वामी ने लिखा है कि "बीकानेर स्थ शान्ति आश्रम के सरस्वती भवन में एक प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ है जिसमें संत और भक्त कवियों के भजनों का संग्रह है। यह पद उसी संग्रह से लिया गया है। उसमें जिन महात्माओं के पद हैं, वे सभी प्राचीन हैं। अतः ये हरिदास भी काफी प्राचीन होंगे।"

बीकानेर जाने पर भी लेखक को प्रो० स्वामीजी की अस्वस्थता के के कारण इस पोथी के दर्शन नहीं हुए। राजस्थान के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज भाग ४ में भी अगरचंद नाहटा ने 'स्वामी नरोत्तमदासजी के संग्रह' की एक पोथी का उल्लेख किया है।[1] इसमें भी प्राचीन महात्माओं के पद आदि संगृहीत हैं, जिनमें हरदासजी के (हरिदास) भी ५ पद मौजूद हैं। यदि प्रो० नरोत्तम स्वामी द्वारा उल्लिखित पोथी यही है, तो इसका लिपि-काल *"संवत् १८३६ वैसाख बदी शनिवार"* है[2] और इस प्रकार *हरिदास कृत* उक्त उल्लेख १५० वर्ष से अधिक प्राचीन ठहरता है।

हरीदासजी राजस्थान के संत थे यह बात पद की भाषा से स्पष्ट है। वे राजस्थान के संत-समाज में प्रचलित मीरां-सम्बन्धी धारणाओं और अनुश्रुतियों से अवश्य परिचित होंगे।

उन्होंने मीरां के पति का नाम भोजराज दिया है (यह मीरां के पति के नाम का प्राचीनतम ज्ञात उल्लेख है) और उन्हें मेड़तणी कहा है, जो इतिहास की कसौटी पर सत्य सिद्ध होता है। साथ ही संत होने पर भी उन्होंने मीरां को गोविन्द का गुण गानेवाली तथा रणछोड़ की भक्त कहा है, जो उनके निष्पक्ष और उदार दृष्टिकोण का परिचायक है। बाद के अधिकांश संत तो मीरां को ज्ञानी सिद्ध करने का प्रयास करते रहे हैं।

रामदान लालस कृत "भीम प्रकाश"

रामदान लालस ने 'भीम प्रकाश' नामक ग्रंथ महाराणा भीमसिंह के अनुरोध से सं० १८६१ में लिखा और महाराणा को सुनाया था। इसकी एक प्रति सेठ सूरजमल नागरमल पुस्तकालय कलकत्ता में सुरक्षित है।

---

(१) पृष्ठ ४१ ४३
(२) वही, पृष्ठ ४२

इसमें महाराणा सांगा के पुत्रों की नामावली के साथ ही यह उल्लेख है।

भोजराज बैठो अंग कुँवर पदे अत कीध।
मेड़तणी मीराँ महल प्रेमी भगत प्रसीध॥[1]

इस वक्तव्य से निम्नांकित सूचनाएँ मिलती हैं—

(१) भोजराज राणा (सांगा) का ज्येष्ठ पुत्र था और वह राणा के सामने ही स्वर्गवासी हो गया था।

(२) प्रसिद्ध प्रेमी भक्त मेड़तणी मीराँ उसकी पत्नी थी।

'भीम प्रकाश' इतिहास-ग्रंथ नहीं है। जैसा कि मेवाड़ के इतिहास से स्पष्ट है, मेवाड़ के राज-परिवार के लेखों में भोजराज-सम्बन्धी कोई विवरण नहीं रहा। इस उल्लेख का एकमात्र स्रोत देवीदान बड़वा की बहियाँ हैं जिनकी विश्वसनीयता के सामने राजस्थान के इतिहासकार प्रश्नवाचक लगा चुके हैं।[2] भीमप्रकाश का लेखक भी कदाचित् उक्त उल्लेख के लिए देवीदान बड़वा की बही का ऋणी है। अतः इसकी सूचना का उपयोग अत्यन्त सतर्कता से करने की आवश्यकता है।

कुँवरी के दोहे

शाही लक्ष्मी लाइब्रेरी मारवाड़ के एक गुटके में मीराँ-चरित्र नाम से छः दोहे दिए हुए हैं। दोहों की छाप से पता चलता है कि ये दोहे किसी कुँवरी बाई नामक कवयित्री के लिखे हुए हैं। यह कुँवरी कौन और कहाँ की थी इस बात का पता नहीं है पर इस पोथी में एक स्थान पर वैशाख सुदी ३ संवत् १८५३ दिया हुआ है, जो कदाचित् पोथी का लिपि-काल है। अतः कुँवरी के इन दोहों का रचना-काल निश्चित रूप से १५० वर्ष से अधिक है।

दोहे इस प्रकार हैं—

मीराँ हरि की लाड़ली भगत मिली भरपूर।
सांधा सूं सनमुख रही पापी सूं अति दूर॥

---

(१) पूरनमल नाहरमल पुस्तकालय कलकत्ता की हस्तलिखित प्रति पृष्ठ ३
(२) वीर विनोद (भाग १, पृष्ठ ३७१) तथा उदयपुर-राज्य का इतिहास (पृष्ठ ३८४) दोनों में भोजराज-सम्बन्धी विवरण देवीदान की बहियों से लिए गए हैं।
(३) वीरविनोद (भाग १), पृष्ठ ३२३

राणा विष ताकौं दयो, पीयो मैं हरि नाम ।
राणा कीना भगत भुप राख्यो नहिं भव काम ।।
जेठ कह्यो देवर कह्यो सास ननद समझाय ।
मीरां महलन तज दिए, गोविंद का गुन गाय ।।
पुष्कर न्हाई मगन मन बिन्द्राबन रसपेत ।
गई द्वारिका अन्त में श्री रणछोड़ निकेत ।।
मइयणो के मन रही एकै गिरिधर नेह ।
रोम-रोम में रमि रह्यो ज्यौं बादरि बस मह ।।
कान्हा चरनन में परी और न मोय सुहाय ।
डुँगरी दासी कृष्ण री दरसण दीजो आय ।।

इससे निम्नांकित सूचनाएँ मिलती हैं—

(१) मीरां साधु-संगत करती थीं कृष्ण से उन्हें अत्यन्त प्रेम था। उनके मन में एकमात्र गिरिधर की ही चाह थी।

(२) देवर-जेठ सास-ननद सभी ने उनको समझाया पर उन्होंने भक्ति-पथ नहीं त्यागा महल तज दिए।

(३) राणा ने उन्हें विष दिया।

(४) व पुष्कर और वृन्दावन गई थीं। अन्त में द्वारका चली गईं।

गरीबदास :

गरीबदास रोहतक जिले की तहसील झज्जर के 'छुड़ानी' नामक गाँव में वि० सं० १७७४ बैसाख सुदी १५ को उत्पन्न हुए थे।[१] इनकी रचनाओं का संग्रह श्री स्वामी ब्रह्मानन्द गरीबदासी रमताराम ने संवत् १९८१ में 'ग्रंथ साहिब अर्थात् सद्गुरु श्री गरीबदासजी महाराज की बानी' के नाम से बड़ौदा से प्रकाशित कराया था। इसमें मीरां-सम्बन्धी निम्नलिखित उल्लेख मिलते हैं—

(क) गरीब जं मीरां राठोड़ कूं राखी नहीं उधार।
पकर्‌या लोहा ज्ञान का काट्यौ कनक सिंगार ।।४०।।
गरीब मीरां हाथ सुतार था पर गावै ह्यी नाम।

(१) उत्तरी भारत की संत-परम्परा परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ ६०७

पत्थर की भी प्रतिमा जामें गई समाय ॥४१॥[1]

(ख) मीरांबाई और कमाली । सीलमी नाचै दै दै तारी ॥[2]

(ग) नानक दादू तुलसी सौती भाव भरे हैं कुर्सी ।
अनन्त कोटि अघगामी, कहाँ तक बिरद बखानों स्वामी ॥
कर्मा मीरांबाई, मुकुट कमाली कुमारी ।
पूरबी पद प्रवीना ताका अगम अगाध अस्थाना ।[3]

(घ) मीरांबाई के कारन लाये जहर का प्याला प्याय रे ।
पीवत ही अमृत हो जाया हाय भया सरद ही मारे ॥[4]

गरीबदास के ये कथन ई० १८०० के आस-पास के हैं । इससे निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

'मीरां राठौड़ वंश की थीं । ताली दे दे कर नाचती थीं । मारने के लिए उन्हें विष दिया गया था जो अमृत हो गया । अन्त में वे पत्थर की प्रतिमा में समा गई थीं । वे ज्ञानमार्गी थीं ।

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि मीरां को ज्ञानमार्गी कहनेवाला प्रथम उल्लेख गरीबदास का ही उपलब्ध हुआ है । इससे पूर्व के रामदास जैसे संत मत के प्रचारक भी मीरां को विशेष श्रीकृष्ण की प्रेम-भाव की भक्त मानते थे । गरीबदास के कुछ ही पूर्व के दरिया साहब (बिहारवाले) मीरां को कृष्ण भक्त ही घोषित कर चुके थे । वस्तुतः मीरां को संत-मत का अनुयायी कहने की परम्परा संवत् १८   के आस-पास ही जन्म लेती है ।

महीपति कृत 'भक्तलीलामृत' :

महीपति ने शक संवत् १६९६ (१७७४ ई०) फाल्गुन कृष्णा चतुर्थी को प्रवरा नदी के दक्षिण में उससे १० मील दूर ताहाराबाद नामक स्थान में भक्तलीलामृत नामक ग्रंथ पूर्ण किया था ।[5] इस ग्रंथ में प्रियादास की टीका की

---

(१) ग्रंथ साहिब अर्थात् सद्गुरु श्री गरीबदास जी की बानी (साखी) पृष्ठ १७०
(२) वही (रमैणी), पृष्ठ ४६१
(३) ,, (रागमारू) पृष्ठ १८
(४) ,, (रागमालावरी), पृष्ठ ८६
(५) महीपति कृत भक्तलीलामृत (अंग्रेजी अनुवाद) अबोट, गोडबोले तथा एडवर्ड्स १९३५ पृष्ठ ४३१

तरह अनेक भक्तों के जीवन चरित्र संकलित हैं। इसके अधिकांश विवरण जन श्रुतियों पर आधारित हैं।

इसमें मीरां के सम्बन्ध में तीन उल्लेख हैं जिनका आशय निम्नांकित है—

(१) शेषशायी मीरां के सहायक बने।[1]

(२) श्री हरि ने मीरां के प्राणों की रक्षा की थी।[2]

(३) मीरां के पिता ने जब मीरां को विष दिया तो शारंगपाणि ने उसे पी लिया था उनका समस्त शरीर नीला पड़ गया था।[3]

भक्तलीलामृत के उक्त मीरां-सम्बन्धी उल्लेखों में एक बात नवीन और विचारणीय है और वह यह है कि मीरां के पिता ने मीरां को विष दिया। सीपीनामा की छाप के साथ उपलब्ध मराठी में लिखे 'मीरां चरित्र' में भी इसी आशय का उल्लेख है। मीरां पदों का स्पष्ट साक्ष्य है कि विष राणा द्वारा दिया गया था[4] और मीरां के पिता राणा नहीं थे। यह उपाधि राजस्थान भर में केवल चित्तौड़ और उदयपुर के राजाओं की थी जिनके परिवार में मीरां ब्याही गई थीं।

सीपीनामा कृत चरित्र-मीरांबाई या मीरां चरित्र :

धुलिया के रामदासी संशोधन नामक संग्रहालय की एक हस्तलिखित पोथी में "चरित्र मीरांबाई" नामक एक छोटी-सी रचना दी हुई है।[5] यह पोथी

(1) Jayadeva Swami, Kamabai Narsi Mehta, Mirabai Rajai Gonai all of whom made the recliner on the serpent subservient to them .. ... "

वही पृष्ठ ५२१ ५२७

(2) He who became poison himself at the request of Prahlad and also saved the life of Mirabai, he, Shri Hari

वही पृष्ठ ११६-११७

(3) When Mirabai was given a deadly poison by her royal father thou ! oh holder of Sharang Bow didst drink it and thy entire body became green thereby

वही पृष्ठ ७१

(४) शास्त्रीय, पद १० नागर समुच्चय पद प्रसंगमाला, पृष्ठ १८४

(५) धाडांक १२१७

१४० पृष्ठों की है। इसमें 'रामदास कृत कबीर चरित्र' तथा कई अन्य भक्त कवियों के चरित्र भी संकलित हैं। संग्रहकर्ता को यह पोथी 'विदर्भ' में मिली थी।

पोथी में कहीं लिपि-काल नहीं दिया गया पर उसे देखकर अनुमान होता है कि यह लगभग १५०-२०० वर्ष पुरानी होगी।

'चरित्र मीरांबाई' में अन्त के रूप में निम्नांकित पंक्तियां हैं —

संता चा दास बोले सोपीनामा
त्याने कीला प्रेमा सत्य भव ॥
इती मीरांबाई चरित्र सम्पूर्णमस्तु ।
विठल हरी विठल हरी विठल हरी ॥

इसके आधार पर यह चरित्र संत नामदेव कृत ठहरता है, परन्तु इस रचना में संत नामा का उल्लेख अत्यन्त आदर के साथ हुआ है 'नामा सखे जेवि आवडि गोविन्द'। संत एकनाथ का उल्लेख भी उतने ही आदर के साथ हुआ है — एकनाथा घरी वाहा तैल पानी। अतः यह रचना संत एकनाथ से पहले वर्तमान संत 'नामा' की कदापि नहीं हो सकती।[1] एकनाथ जी का काल सं० १६०४ के १६६६ के बीच माना जाता है। अतएव यह अनुमान असंगत नहीं है कि संवत् १६६६ के पश्चात् कभी वारकारी संप्रदाय के किसी भक्त ने मीरां के जीवन-वृत्त पर अपने संप्रदाय की भावना का रंग चढ़ाकर 'मीरांबाई चरित्र' लिखा है और उसे आदरास्पद बनाने के लिए प्रसिद्ध संत 'नामा छीपी' की छाप उसमें डाल दी है। नामा कृत न होने पर भी यह रचना १५० २ ० वर्ष पुरानी तो अवश्य है।

मीरां-चरित्र से निम्नांकित सूचनाएँ मिलती हैं :

(१) मीरांबाई राजा की पुत्री थीं। उनके माता-पिता कृष्ण-सेवा करते थे। वे बचपन में गुणवती और भावमयी थीं। संत उसके यहाँ आते-जाते थे। कृष्णार्पित होकर उन्होंने द्वारकानाथ का वरण किया। बचपन में ही मन को ईश्वर-चिन्तन में लगा दिया और भिक्षा की मांगिनी बनीं।[2]

---

(१) नामदेव का जन्म-काल संवत् कार्तिक सुदी ११ शके ११९२ (संवत् १३२६) उत्तरी भारत की संत परंपरा, परशुराम चतुर्वेदी पृष्ठ ११०
श्री एकनाथयांची अभंगाची गाथा — प्रस्तावना, पृष्ठ १ १

(२) रोजीपाचि कन्या नाम मिरांबाई। श्रीकृष्णचे पाई अर्थ लिखा ॥ १ ॥
माये बाप तिये करीती कृष्ण-सेवा। भाविके वैवा पुजितासी ॥ २ ॥

(२) विवाह के पूर्व मीरां और उनके पिता में इस विषय में चर्चा हुई। मीरां ने विवाह का विरोध किया क्योंकि उन्होंने तो चक्रपाणि को वर लिया था।[1]

पिछले पृष्ठ की टिप्पणी का शेषांश—

सवे मिराबाई बाल असे नित। देवलास चीत कृष्ण-रूपि ॥ ३ ॥
मीरा गुणकनी बालप्याची कानि। प्रावडले मनि माये बापा ॥ ४ ॥
हमनची देवा कराया सोबाळ। हरेद्धे वेल्हाळ मिराबाई ॥ ५ ॥
मायें बाप मन केलें कृष्णार्पण। प्राम्बले मन फार तिचे ॥ ६ ॥
करीता का प्राता ग्रारोग्या मथा। समाधान चित्तस्य म्हाले माम्हे॥ ७ ॥
प्रावडिने करी देवाचे चितन। भावे भार्गवानें प्रेमे डोले ॥ ८ ॥
सत प्रानि साधु येती चिर्तमासी। प्रसव मानसी होत तिच्या ॥ ९ ॥
सताचे ते पाई मिरा असे लीन। प्रहो-रात्र ध्यान देवाजिये ॥१०॥
प्रम्मे मिराबाई भक्तिीची प्रावडि। लागलीसे गोडी देवाजीची ॥११॥
सज्जन प्रम्तरी संतोष मानिती। विरक्त निर्विती तीव्र लागी ॥१२॥
समारंभ ऐसा होतो नित्या नित्य। प्रानंद भरीत मायें बाप ॥१३॥

(१) राजियाने कन्या देखोनि रूप वर। वया वाढीस वर करमिया ॥१४॥
बोले मिराबाई ऐका तुम्ही ताता। करीला म्या प्राता चक्र-पाणि ॥१५॥
जनमे तात्तुनि केले कृष्णार्पण। ते कावो स्मरण विसरले ॥१६॥
त्याने केला प्रसे माझा प्रगिकार। नको पाहु वर दुजा प्राता ॥१७॥
देवाविन मज नावडे प्रापीक। मोठे असे सुख देवापाई ॥१८॥
पगार गोष्टी त्याची बनिता ते नय। बोमु प्राता काये येका मुखे ॥१९॥
देम्हा माता पीता करीती उत्तर। बोम्य प्रवतार देव आला ॥२०॥
नामी रूपी त्याचे प्रसो प्राचे चित्त। प्रर्थ सर्व होत प्रर्पण्याचा ॥२१॥
बोलूभुनि रूप कराया संसार। सर्व हा वेव्हार प्रसत्याचा ॥२२॥
ऐसेकुनिया ऐसे बोले मीराबाई। स्वहिताचे मेई सांगतसे ॥२३॥
प्रापी जन्मे केले प्रभुत प्रासेम। नावडे त्या गुन स्वास-कोषी ॥२४॥
भुंगीसी लागली साखरेची गोडी। प्रावडिने चठि पालीतसे ॥२५॥
राजहंस पंक्षी मोतीयाचा चारा। प्रानिक चित्त रा न सेवीती ॥२६॥
तैसा म्या वरीला प्रसे ता गोविंदा। नको करू बोध प्रानिकाचा ॥२७॥
देवाविन काहीं नेनें मि प्रानिक। समदि जेन लोक मामे बाप ॥२८॥

(शेष प्रागले पृष्ठ पर)

(१) रानुमाई स्वयं मीरांबाई को कीर्तन में ले जाती थीं। लोगों में घोर अपवाद फैल गया अतएव राजा ने अपनी पत्नी द्वारा कन्या मीरांबाई को विष भेजा। विष पीने से देव-मूर्ति नीली पड़ गई। तब लोगों ने समझा कि मीरां जगन्माता का रूप है।[1]

पिछले पृष्ठ के टिप्पणी का शेषांश—

तुम्ही धनाचा लोभ धरिला मनामाजी। संशय हा मनी न धरावा ॥२९॥
मानिकाची हुस्य असाची का लोभ। मोहा हा साधव नारायेण ॥३०॥
नाम असे ज्याचे देवाजीच्या पाइ। मेळलिया रासि हृदयात ॥३१॥
त्याचा सर्व धंदा करी चक्रपाणी। बोलीले पुराणि व्यासादिक ॥३२॥
सर्वसे पाची बाल नका वक चिंता। सर्व हा जाणता नारायेन ॥३३॥
नामासवे केलि मायकि मोकिल्य। कैसे त्यासी लोभ म्हणावोसे ॥३४॥
मेघनाचा परी वाहतीत पाणी। कैसा जगन्मानि लोभ झाला ॥३५॥
कबिराचे मागो बीनित असे झोले। जनाचे राऊळ सेत सेन्हे ॥३६॥
मानिक हि काय कैसे भरला धरी। कासे त्याची मोरी धनुं असा ॥३७॥
राजा म्हणे मीरा समजली पुर्ण। परीक्षेन हुकेन लाविलासी ॥३८॥
म्हणोनिया त्याने कैसी बंदावस्ती। प्रवेश तो संती न होयच ॥३९॥
मीरांबाई म्हणे माझो पांडुरंगा। काहो संत तया अनंतरलो ॥४०॥
संताचे संगती आनन्द सोहळा। वाजवाम डोला काहो भज ॥४१॥

(१) कनवाजु मोमि साधली विठाई। नेत मीरांबाई कीर्तनासी ॥४२॥
धूत जाती वार्ता तेव्हा राजीमासी। जाले कीर्तनासी मीरांबाई ॥४३॥
क्रोमावलि नृप बोले क्या कांतिसा। देई तु कन्येला विष प्याला ॥४४॥
सवकीस्त्री नाम सांडीयेली ईन। परी लोक हुशेन लावीतासी ॥४५॥
देवी कानी प्याला भवनिया नीचं। आली मंदिरास तेव्हा तीच्या ॥४६॥
देई मिराबाई लावीले हुचेन। सर्व ऐसे लोक बोलतासी ॥४७॥
म्होनो निया नृपे दिसहा विष प्याला। कृताती लाविला डाम तुमा ॥४८॥
बोले मीरांबाई साधल्या मनन्ता। तु येक आमला पांडुरंगा ॥४९॥
येता तरी बाम्हो आता माझ्या नाम। निवारी हुशेन राजी माचे ॥५०॥
मीरा त्याचे घोटी बाली अपवीत्र। बोलती सर्वत्र लोक ऐसे ॥५१॥
म्हणोनिया नृपे दिसहा वीष प्याला। हे लोक तुज का पांडुरंगा ॥५२॥

(शेष अगले पृष्ठ पर)

मीरां-चरित्र में पति-परिवार द्वारा दी गई यंत्रणाओं का उल्लेख बिलकुल नहीं है। इसके अनुसार विष मीरां के पिता की आज्ञा से उनकी माताजी ने उन्हें दिया था।

वस्तुतः महीपति कृत भक्तिलीलामृत में किए गए पिता द्वारा विष देने के उल्लेख का ही विस्तार उक्त 'मीरां-चरित्र' में मिलता है। माता द्वारा विष भिजवाने की कल्पना स्वाभाविकता की दृष्टि से 'चरित्रकार' द्वारा बाद में की गई है। अन्य प्रमाणों के अतिरिक्त मीरां के अपने कथन इस घटना के राणा से संबन्धित होने के प्रबल साक्षी हैं। इसके अतिरिक्त अलौकिक घटनाओं और साम्प्रदायिक भावना को और निकाल देने पर उक्त 'चरित्र' में मीरां के जीवन-वृत्त से संबन्धित कोई उपादेय सामग्री नहीं रहती।

मीरांबाई की परची [1]

श्री अगरचन्द नाहटा से "मीरांबाई की परची" नामक ग्रंथ की एक

पिछले पृष्ठ के टिप्पण का शेषांश—

कौतुक हो तैसे राखी पाणी लाज। वारंवार तुज करणे सांगु ॥५३॥
करूनिया तेव्हां कृष्णाचे चिंतन। प्याली भावार्थे वीष प्याला ॥५४॥
नाहि बाधा झाली तयाची तेव्हां। मुर्ति झाली निळी देवाजीची ॥५५॥
त्रिलोकीचे तेव्हां येउनिया नृप। पाहुनी अलौकिक जन लोक ॥५६॥
धन्य मीरांबाई बोलिती वचन। जन्मले निधान वंश्या माजि ॥५७॥
मीरां वनमाली, नव्हेची वेगळी। कृष्णाचे काली संतोकेला ॥५८॥
बोले मीरांबाई माझे येकनाली। का तुम्ही बाजनी सोसी त्रास ॥५९॥
प्रेम प्रभु गिर धारा लाली चे धुरा। माझ्य कर क्षमा तुम्ही बापा ॥६०॥
सावळ सकुमारे गोजिरे वेल्हाळ। बीठोब से मन पाहावया ॥६१॥
मस्ता की मावळी पुरवि मारामेन। पुर्वस्त काल देव जाले ॥६२॥
मिली रेहा भसे मयामी ते कंठी। हिन्दुस्थान प्रान्ती पाहूनी वैस ॥६३॥
धन्य मीरांबाई धन्य तीची भक्ति। करीपरली स्तुति साधुसंत ॥६४॥
संताचा तो दास बोले सोपी नामा। त्याने बोलुा प्रेमा सत्य मज ॥६५॥
ईती मीरांबाई चरित्र सपुर्णमस्तु। विठल हरी विठल हरी विठल हरी ॥६६॥

(१) फार्बस सभा बम्बई में एक गुटके में (संख्या ५०) 'मीरांबाई नो परचो' नामक एक गुजराती रचना संगृहीत है। रचना-काल तथा रचनाकार का नाम उसमें नहीं दिया गया।

(१) रखुमाई स्वयं मीरांबाई को कीर्तन में ले जाती थीं। लोगों में घोर अपवाद फैल गया अतएव राजा ने अपनी पत्नी द्वारा कन्या मीरांबाई को विष भेजा। विष पीने से देव-मूर्ति नीली पड़ गई। तब लोगों ने समझा कि मीरां जगदम्बा का रूप है।[1]

पिछले पृष्ठ के टिप्पणी का शेषांश—

तुम्ही नृपाला योग्य वाटे वर पाहणी। संयोग हा मनी न करावा ॥२९॥
मानिकाशी तुल्य प्रसादी का योग्य। मोठा हा सावध नारायेन ॥३०॥
तरी असे त्याचे देवाजीच्या पाई। मेळनिया राशि हृदयात ॥३१॥
त्याचा सर्व धंदा करी जगन्माता। बोलीले पुराणि व्यासादिक ॥३२॥
सर्वांचे पायी वास नका धरू चिंता। सर्व हा जाणता नारायेन ॥३३॥
मायाबापे बोलि मानवि गोविन्द। ऐसे त्यासी योग्य म्हणताती ॥३४॥
देवमाया घरी वाहतेस पाणी। ऐसा जगन्माता योग्य जाला ॥३५॥
कबिराचे मागो वीणित असे शेले। जनाबाई राउळीत सेत सेन्ही ॥३६॥
मानिक हि काय केले भक्ता घरी। काये त्याची थोरी वर्णु आता ॥३७॥
राजा म्हणे मीरा समजली पुर्ण। परीयेन दुधेन जाणिलासी ॥३८॥
म्हणोनिया त्याने केली बंदावस्ती। प्रवेस तो संती न होयचा ॥३९॥
मीरांबाई म्हणे मायो पांडुरंगा। कधी संत तथा भजनासी ॥४०॥
संताचे संगती आनन्द सोहळा। राजवाडा डोळा कधी मज ॥४१॥

(१) जननपासु मोठि झाली लिलाई। नेत मीरांबाई किर्तनासी ॥४२॥
मुत जाली वार्ता तेव्हा राजीयासी। जासे किर्तनासी मीरांबाई ॥४३॥
कोपाचेनि नृप बोले ज्या कांतेला। देई तु नेऊन विस प्याला ॥४४॥
नवकीकाची लाज सांडीयेली ईन। परी येन दुधेन जाणिलासी ॥४५॥
तेची काली प्याला मरणिया वीणे। जाली मंदिरास तेव्हा तीच्या ॥४६॥
येई मिराबाई आधीचे दुधेन। सर्व ऐसे येन बोलताती ॥४७॥
म्होनी नियामुपे दिल्हा विस प्यालन। तुजासी लाविला डाग तुवा ॥४८॥
बोले मीरांबाई तावक्या जनन्ता। तु येक जाणता पांडुरंगा ॥४९॥
येता तरी जायी आता माझा मान। निवारी दुधेन राजी याचे ॥५०॥
मीरा त्याचे पोटी जाली अपवीत्र। बोलती सर्वत्र येन ऐसे ॥५१॥
म्हणोनिया नृपे दिल्हा वीस प्याला। हे लोक तुज का पांडुरंगा ॥५२॥

(शेष अगले पृष्ठ पर)

मीरां-चरित्र में पति-परिवार द्वारा दी गई यंत्रणाओं का उल्लेख बिलकुल नहीं है। इसके अनुसार विष मीरां के पिता की आज्ञा से उनकी माताजी ने उन्हें दिया था।

वस्तुतः महीपति कृत भक्तिलीलामृत में किए गए पिता द्वारा विष देने के उल्लेख का ही विस्तार उक्त 'मीरां-चरित्र' में मिलता है। माता द्वारा विष भिजवाने की कल्पना स्वाभाविकता की दृष्टि से 'चरित्रकार' द्वारा बाद में की गई है। अन्य प्रमाणों के अतिरिक्त मीरां के अपने कथन इस घटना के राणा से संबन्धित होने के प्रबल साक्षी हैं। इसके अतिरिक्त अलौकिक घटनाओं और साम्प्रदायिक भावना को और निकाल देने पर उक्त 'चरित्र' में मीरां के जीवन वृत्त से संबन्धित कोई उपादेय सामग्री नहीं रहती।

मीरांबाई की परची [1]

श्री अगरचन्द नाहटा से "मीरांबाई की परची" नामक ग्रंथ की एक

पिछले पृष्ठ के टिप्पण का शेषांश—

कसेल हो तैसे राखी पाखी लाज। वारंवार तुज काये सांगु ॥५३॥
कटूनिया देह्यां कृष्णाचे चिंतन। प्याली आवडीचें वीरा प्यासा ॥५४॥
नाहि बाधा झाली तयाची देहेसी। मुर्ति झाली मिली देवाजीची ॥५५॥
त्रिलोकीसे देह्यां येऊनिया भूप। पाहाती आणिक लोक लोक ॥५६॥
धन्य मीरांबाई बैरिती चेरम। जन्मसे निधान बैस्या मानि ॥५७॥
मीरां बनमाली, मयेहुरी देमली। हृदयाते काली संतीकेला ॥५८॥
बोले मीरांबाई माझी चेकमाणी। का तुम्ही बाचमी सोसी तसा ॥५९॥
प्रेम प्रभु निर बाहु ताली चे म्हा। मामा कर वमा तुम्हीं पाचा ॥६०॥
सावल सकुमारे मोजरे चेरम। बोढीन से प्राण पखुवया ॥६१॥
भक्ता धी प्रावडी पुरवि नारायेन। पुर्वबत वाम देव वाले ॥६२॥
मिली देता भसे प्रखनी से कंठी। हिन्दुस्थान प्राणी पाहुली कंम ॥६३॥
धन्य मीरांबाई धन्य तीची भक्ति। करीपसती स्तुती सत्पुर्सत ॥६४॥
संताचा तो दास बोले सीपी नामा। त्याचे दीसहा प्रेमा सन्य मज ॥६५॥
इती मीरांबाई चरित्र सपुर्नमस्तु। विठल हरी विठल हरी विठल हरी ॥६६॥

(१) फोबस सभा बम्बई में एक गुटके में (संख्या ५०) 'मीरांबाई नो परचो' नामक एक गुजराती रचना संगृहीत है। रचना-काल तथा रचनाकार का नाम उसमें नहीं दिया गया।

प्रतिलिपि लेखक को प्राप्त हुई है। यह रचना प्रो० नरोत्तमदास स्वामी को जयपुर में कहीं मिली थी। प्रति में अन्तिम पृष्ठ प्राप्त नहीं है, जिससे उसके लेखक और लेखन-काल के सम्बन्ध में प्राय ग्रंथ के अन्त में उपलब्ध होनेवाली सूचनाएँ अप्राप्त हैं। इधर लेखक को रामसनेही संप्रदाय के "सुखसारणजी महाराज" नामक साधु द्वारा प्रणीत "मीरांबाई की परची" का पता लगा है, जिसमे ११५ पदों में मीरां का जीवन चरित्र वर्णित है। अभी तक इस ग्रंथ की प्रति उपलब्ध नहीं हो सकी पर अनुमान यह है कि प्रस्तुत परची उक्त रचना ही है। नाहटाजी ने इस प्रति को स्वयं देखा है और उनका कथन है कि 'प्रति के कागज तथा स्याही से यह आधुनिक लिखी हुई ज्ञात होती है। परची का प्रारंभ इस प्रकार हुआ है—

> बंदू सतगुरु साचा देव ज्यां मोय दीयी भक्ति को भेव ॥
> बंदू राम राम महाराज सुमर्‍यां सरै मनोरथ काज ॥
> बंदू अनन्त कोटि निज संत भाव भंत भव मटो अनन्त ॥
> राम सतगुरु किरपा कीज्यो करूं भगत जस आज्ञा कीज्यो ॥

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि यह रचना रामसनेही सम्प्रदाय के किसी संत की है, जिसने संप्रदाय के प्रवर्तक संत रामचरण के इस कथन का कि 'राम मेमी गुरु जानिये गुरु मई जानू राम। गुरु मूर्ति को ध्यान उर, रसना उचरै राम। प्रारंभ से ही ध्यान रखा है। आगे चलकर मीरां द्वारा "राम-राम" रटने की बात को साग्रह प्रस्तुत करके उन के मुख से "साचा संत रामजी मेरा" कहलाकर और अन्त मे 'रामसंत गुरुदेव' कहकर जाने या अनजाने उक्त मत के पक्ष में ही प्रमाण प्रस्तुत कर दिए हैं।

रामसनेही-संप्रदाय के प्रवर्तक रामचरण जी थे जिनका जीवन-काल संवत् १७७६ से १८५५ वि० तक माना जाता है। उन्होंने १८२५ वि० में राम सनेही-संप्रदाय की स्थापना की थी। अतएव इतना निश्चित है कि 'मीरां की परची' की रचना संवत् १८२५ वि० के पूर्व की नहीं है। संभवतः संवत् १८५५ अर्थात् गुरु रामचरण जी की मृत्यु के उपरान्त ही कभी इस परची की रचना हुई होगी। यह भी असंभव नहीं है कि यह रचना विक्रम की २ वीं शताब्दी की ही हो।

परची की प्राप्त खण्डित प्रति में २१२ पद्य हैं। २१३ वें पद्य की एक अधूरी पंक्ति भी मिलती है। २०४ पदों मे मीरां का जीवन-चरित्र (पूर्व जन्म से लेकर मूर्ति में समा जाने तक) दिया हुआ है। बाद में राणा द्वारा मंदिर बनवाकर उसमें उनकी मूर्ति के पधराने की इच्छा का उल्लेख करके तीन पदों

में परची पढ़ने-सुनने और राम-भक्ति के फल की ओर संकेत कर दिया गया है।

इस परची में निम्नलिखित सूचनाएँ मिलती हैं—

(१) मीरां ने भरत खण्ड के मरुधर देश के मेड़ता नगर में भगति कमाई। वे राव दूदा के पुत्र रतन (सिंह) के जिन्होंने कुड़की नगर बसाया था घर में जन्मी थीं। उनके मनापा नामक एक बहन थी भाई कोई नहीं था।

(२) वे पूर्व जन्म में बरसाने के विप्र की पत्नी थीं जो कृष्ण-प्रेम में तन तजकर मीरां के रूप में जन्मीं। जीवन के प्रारंभ से ही हरि प्रेम और भक्ति साधना में उनका मन रमने लगा। वे हरि-सेवा मन्दिर में नृत्य संत सत्संग स्मरण गुनगुन-ध्यान-व्रत करने लगीं। माँ ने कोमल अवस्था में यह सब न करने का आग्रह किया परन्तु मीरां न मानीं।

(३) मीरां का विवाह "सीसोदो वर" के साथ हुआ और वह महराणी चित्तौड़ गढ़ के परिवार में पटरानी बनीं। मीरां ने इस विवाह का विरोध पहले भी किया और विवाह के उपरान्त भी। भारत के सामने गिरिधर ने महल में आकर मीरां से परिणय किया और उन्हें सदैव मीरां अपना पति मानती रहीं।

(४) विवाह के पश्चात् ही कुलदेवी की पूजा से इनकार करने के कारण वे सास के रोष का भाजन बनीं। सास ने अपने पति से शिकायत की जिससे राणा कुपित हुआ।

(५) ज्यों-ज्यों राणा मीरां को मारने का प्रयत्न करता त्यों-त्यों मीरां के अलौकिक प्रताप से अविश्वसनीय-सी घटनाएँ घटती गईं जैसे सेज पर मीरां के साथ गिरिधर बैठे दिखाई पड़े तलवार लेकर मारने पर एक सिंह ने राणा को पलायन के लिए विवश कर दिया चित्तौड़ के प्रत्येक मंदिर में मीरां ही दिखाई पड़ीं—आदि।

(६) दयाराम पण्डा द्वारा विष दिया गया। मीरां प्रिय-विरह का ध्यान करके उसे पी गईं। विष व्यर्थ रहा। फिर काला नाग पिटारे में रखकर दिया गया जो हार हो गया।

(७) मीरां के जेठ ने उन्हें समझाया। उनकी ननद ऊदा ने भक्ति छोड़ने की राय दी। देवरानी-जेठानी सबने कहा पर मीरां नहीं मानी। परमात्मा को पति मानकर भक्ति-साधना (इस प्रसंग में संत-मत की साधना का ही वर्णन विशेष है) करती रहीं।

(८) वे आग्रहपूर्वक द्वारका गईं। वहाँ उन्होंने मंदिरों में दर्शन किए।

विप्र उनके साथ थे। जब वे मंदिर में स्थित मूर्ति में समा गईं तो विप्रों ने रोना धोना प्रारम्भ किया। मीरां फिर प्रगट हुईं और यह कहकर कि मैं मूर्ति में समा गई हूँ, अन्तर्धान हो गईं। राणा को यह समाचार मिला तो उसने मीरां के आध्यात्मिक महत्व को समझा और मंदिर बनवाकर उसमें मीरां की मूर्ति की प्रतिष्ठा का निर्णय किया।

दयाराम :

गुजरात के प्रसिद्ध कवि दयाराम कृत (सन् १७६७-१८५२ ई०) निम्नांकित तीन रचनाओं में मीरां-सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं—

(क) मीरां चरित्र
(ख) भक्ति वेल
(ग) चोराशी वैष्णव

(क) मीरां-चरित्र अस्सी पंक्तियों की एक लघु रचना है।[1]

मुंशी देवीप्रसाद कृत 'मीरांबाई' के प्रकाशित होने के पूर्व अधिकांश गुजराती और कुछ हिन्दी लेखकों ने दयाराम की इस रचना का अनुसरण किया है।[2]

काल की दृष्टि से यह रचना विशेष प्राचीन नहीं है, साथ ही इसमें आए हुए ऐतिहासिक घटनाओं से सम्बन्धित विवरण इतिहास की कसौटी पर प्रामाणिक सिद्ध नहीं होते।

इसमें राजस्थानी इतिहास से सम्बन्धित दो प्रमुख उल्लेख हैं—

(१) मीरां जैमलसिंह राठौड़ की पुत्री थी।[3]

(२) उनका विवाह उदेपुर (उदयपुर) के राणा से हुआ था।[4]

---

(१) डाही लक्ष्मी लाइब्रेरी नाडियाद में सुरक्षित प्रति (पंडल १० ग्रंथ ८) प्रकाशित मीरां चरित्र में केवल ७४ पंक्तियाँ हैं; दयाराम कृत काव्य-संग्रह, संपादक नंदकिशोर, पृष्ठ १२१ १२१

(२) मीरांबाई का जीवन-चरित्र, कार्तिक प्रसाद खत्री (हिन्दी) में इसका अनुसरण है। 'दयाराम पछीना तमाम लेखकों मीरांनु जीवन चरित्र लखवामा कर्नल टोडनो तथा दयारामनो आधार लीधेलो जणाय छे—मीरांबाई का० नि० मेहता, पृष्ठ ३

(३) जैमलसिंह छकोरनी दीकरी रे, मुजो मीरंता एनु नाम।

(४) उदेपुरनो तो राणो राजीयो रे, करतो मम्पकुंवरजीशुं नेह।

मीरां के मायके और ससुराल दोनों स्थानों के इतिहासों से यह सिद्ध है कि मीरां रत्नसिंह की पुत्री थीं वैष्णव की नहीं।[1] एक वैष्णव (माधवदास-पुत्र) ने पुष्टिमार्ग स्वीकार कर लिया था और दयाराम भी इसी मत के कट्टर अनुयायी थे। 'मीरां-चरित्र' में अन्त में इन्होंने इस रचना का पुष्टिमार्ग द्वारा प्रतिपादित प्रममलक्षणाभक्ति का प्रयोग कहा है और कदाचित् इसीलिए मीरां का सम्बन्ध वैष्णव से जोड़ दिया है। जैसा कि आगे स्पष्ट किया गया है, पुष्टिमार्ग में दीक्षा लेने वाले वैष्णव मीरां के भाई वैष्णव से भिन्न थे।

उदयपुर की स्थापना संवत् १६१६ चैत्र सुदी ७ को प्रतापसिंह के जन्म के पश्चात् (मीरां की मृत्यु के बाद) हुई थी। अतएव मीरां का विवाह उदयपुर के किसी राणा से सम्भव ही नहीं था। उदयपुर के निर्माता राणा उदयसिंह का जन्म १५७८ की भादों सुदी १२ का हुआ था[2] और मीरां का विवाह उससे पूर्व ही संवत् १५७३ में हो चुका था।

दयाराम कृत 'मीरां चरित्र' में अधिकांश सामग्री प्रियादास की टीका की परम्परा की है[4] और अब लोक-गीतों में मिलती है। इसके अतिरिक्त अन्य नवीन आख्यान उपलब्ध इसमें नहीं है। अतः 'मीरां के जीवन' की रूप-रेखा प्रस्तुत करने के लिए स्वतन्त्र रूप से इस ग्रंथ की कोई उपादेयता नहीं है। इस रचना से यह निश्चित निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि इसकी रचना के समय तक मीरां की महत्ता कट्टर वल्लभ-सम्प्रदायी भी मानने लगे थे।

(ख) और(ग) 'भक्तवेल' और 'चौरासी वैष्णव' में भी मीरां-सम्बन्धी दो उल्लेख हैं—

---

(१) उदयपुर राज्य का इतिहास, ओझा, पृष्ठ ३३८
जयमल-वंश-प्रकाश ठाकुर गोपालसिंह राठोड़ मेड़तिया, पृष्ठ ७१
(२) उदयपुर का इतिहास ओझा पृष्ठ ४०८-४०९
(३) राजपूताने का इतिहास जगदीशसिंह गहलौत, पृष्ठ २२७
(४) यही प्रबंध- 'जीवन-वृत्त' प्रकरण
(५) कुछ साधारण अन्तर है जैसे—इसमें राणा की सास अपने पति से नहीं पुत्र से शिकायत करती है। (पद ६) देवी का नाम पार्वती दिया है। (पद ४) मीरां के ऊपर तलवार उठाने पर चमत्कारों में वृद्धि है, (कड़िया २३-२४) इत्यादि।

(१) कृष्ण ने मीरां का जहर पिया ।[1]

(२) रामदास मीरां का पुरोहित था ।[2]

प्रथम उल्लेख सर्वमान्य सत्य है और दूसरे की पुष्टि वार्ता साहित्य से होती है । रामदास के वंशजों की परम्परागत मान्यता और भक्तमाल के देवाजी सम्बन्धी उल्लेख इसके साक्षी हैं ।

राधाबाई कृत मीरां-माहात्म्य

राधाबाई बड़ौदा में रहनेवाली एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मणी थी जिसने अवधूत नाम से दीक्षा ली थी । इसने संवत् १९०० के आसपास[3] मीरां माहात्म्य शीर्षक से अभंग की चाल का १०१ कड़ियों का एक परचा लिखा था ।[4] इसकी भाषा गुजराती और मराठी मिश्रित है । एक कृष्ण भक्त नारी द्वारा एक दूसरी कृष्ण भक्त नारी के विषय में लिखे जाने के कारण इस रचना का कुछ महत्व है । नवीन सूचनाओं की दृष्टि से यह उपादेय नहीं है । इसमें निम्नांकित बातें उपलब्ध होती हैं—

(१) माता ने (मीरांबाई को) छोड़ दिया भाई ने सगाई की । (कड़ी १०)

(२) नवरा (वर) भौंरे की तरह रूठ गया उसको मीरां ने त्याग दिया और एक चतुराई में मन लगाया (१२ १३ कड़ी)

(३) १६ वर्ष की होने पर यौवन ने झकझोरा रूप के मतोल हुई । (२४ कड़ी)

(४) साधु-संगति और कृष्ण भजन करती थी । त्रिभुवन भूप के रूप पर मीरां मोही थी । (३० ३७)

---

(१) दयाराम कृत काव्य-संग्रह, ११२, भक्तवेल पद २१ 'जमे मीरांनु झेर पीधुं ।'

(२) वही—१९६ चोराशी वैष्णव, पंक्ति ११ 'रामदास मीरांना मोहीत रे'

(३) अनुमान का आधार है—अवधूत के पास आने का समय संवत् १८९० तथा काशी-यात्रा का सं० १९१०

(४) प्राचीन काव्य-माला ग्रंथ ६ पृष्ठ १७२

प्रारंभ मीरांबाई नाम भज्यो श्याम सुन्दर
भूमि तजी नाम, बापु साईं को

× × ×

अन्त मदनूर पुरी, पिता चकवरी,
सीता नाहि अपूरी, राधी राधेरमणा ।

(५) खड्ग लेकर राणा मारने आया था मीरां की बात सुनकर लौट गया, (५५-६१) मीरां को राणा की बहन ने समझाया (६२ ६६)
(६) दस-बीस महलों में राणा को एक मीरां ही दिखाई दी। राणा ने जहर दिया मीरां ने उसे पी लिया और वह अमृत हो गया (७१, ७८-८४)
(७) मीरां ने द्वारिका का मार्ग लिया और वहाँ 'रंग भोग किया सब लोगों ने उसे देखा' (८६, ८८)

असवंत

विद्यासभा पद अहमदाबाद के संवत् १६६५ में लिपिबद्ध एक गुटके में असवन्त नामक किसी कवि का एक पद दिया हुआ है। कवि प्रभाती के रूप में अपने 'राम परमवन' को जगाने के लिए पद गाता है। उसी पद में मीरां के सम्बन्ध में निम्नांकित दो पंक्तियाँ हैं

प्राछी बलेवी प्रत लाडू यूं खांड समेत मीठाई हो।
छाडें बघरी चौरा सुराई मीरांबाई ले भाई हो।

ये पंक्तियां मीरां के जीवन के विषय में कोई उपयोगी सूचना नहीं देतीं। केवल उनकी प्रसिद्धि की व्यंजना करती हैं।

मीरां-जंमाजी-संवाद

नरसिंहपुर से प्राप्त एक गुटके में मीरां-जंमाजी-संवाद के रूप में लिखी हुई एक १५ पंक्तियों की कविता है।[१] जंमाजी कहते हैं कि 'मीरां तू सोई विसनू सोई विसनू जाप'। उन्हें वे ब्रह्म की अनन्तता और अपार शक्ति का महत्व बताते हैं। मीरां का कहना है कि 'स्याम सलोनो सांवरो सोह है प्राण अधार, पर अंतिम छंद में मीरां मान लेती है कि 'सचि तुम मुनिनाथ'। गीत की अभिव्यक्ति से स्पष्ट है कि इसका रचयिता कोई विश्नोई सम्प्रदाय का व्यक्ति है, जिसने अपने सम्प्रदाय के प्रचार के लिए मीरां-जंमाजी-संवाद लिखा है। यह

(१) गीत का प्रारंभ :
जंमाजी : मीरां तू नास सत का जाप, सोई विसनू सोई विसनू जाप।
मीरां : जमाजी मन माए मीरां गिरधारी प्रभू मान में करती सोई जाप।
× × ×
अंत : मीरां : सांचो सुन्दर सांवरो सांचे तुम मुनिनाथ
सांचो देव निरंजना, सतनाम प्रभ साथ।
मीरां सत्य नाम कर जाप॥

व्यक्ति अत्यन्त सामान्य बौद्धिक स्तर का है। इसने अपने संप्रदाय के प्रवर्तक गुरु के लिए 'तुम' शब्द का प्रयोग मीरां द्वारा उस समय कराया है, जब वह उनके ज्ञान की बात मान लेती है। अन्य सम्प्रदायों में भी ऐसा हो चुका है। रामसनेही आदि सम्प्रदायों में मीरां के 'यदुवीर' 'रघुवीर' और 'श्याम' 'राम' बन गए हैं। अस्तु। इस गीत से मीरां के जीवन के संबंध में कोई उपयोगी सूचना नहीं मिलती। इस बात का पता चलता है कि किस प्रकार विभिन्न सम्प्रदाय वाले मीरां को अपनी ओर खींचते रहे हैं।

भक्ति-माहात्म चरित्र

बाबू व्रजरत्नदास ने मीरां-माधुरी में 'भक्ति माहात्म-चरित्र' नामक संस्कृत ग्रंथ से मीरां के सम्बन्ध में कुछ पंक्तियां उद्धृत की हैं।[1] उनके अनुसार यह हस्तलिखित पुस्तक खंडित थी। 'चरित्र' के रचना-काल और लिपिकाल दोनों अज्ञात हैं। ग्रंथकार के विषय में भी कुछ पता नहीं है। इससे निम्नांकित सूचनाएं उपलब्ध हैं।[2]

(१) जयमल्ल ने मीरां का विवाह राणा के पुत्र से किया था। मीरां शिबिका में गिरिधर को साथ ले गयीं।

(२) ग्राम-देवता की पूजा का विरोध मीरां ने किया और सौभाग्य बढ़ने की बात सुनकर कहा कि यह मेरा पति नहीं है और यदि मरेगा तो मेरा सौभाग्य बढ़ेगा। आपके ग्राम में इतनी विधवाएं क्यों हैं?—यह सुनकर सास क्रोध में आ गयी।

(३) पत्नी की शिकायत पर राणा ने रुष्ट होकर अलग घर में मीरां को रखवा दिया पर वहां वे साधु-संपर्क तथा भजन करने लगीं जिससे परिवार वाले दुखी हुए।

(४) अन्त में ननद ने कहा—भाभी तुमने दोनों कुलों में कलंक लगाया है, क्योंकि निर्लज्जता पूर्वक वैष्णवों के सामने गाती हो।

---

(१) मीरां-माधुरी, पृष्ठ ६० ६२

(२) शिबिके गिरिधरं देवं पतिं कृत्वा व्यवस्थितम्॥
जयमल्लस्ततो मीरां सुमुहूर्ते ददौ मुदा।
राणापुत्राय वीराय धनानि विविधानि च॥
ततः स मीरां नीत्वा स्वं भवनं चलितोऽभवत्।

—शेष अगले पृष्ठ पर

पिछले पृष्ठ के टिप्पणी का शेषांश—

मीरां गिरिधरं त्यक्त्वा नार्मतु प्रसहतेऽस्यसा ॥
प्रस्थान समये मीरां रुदती मूर्छिताऽपतत् ।
ततस्तु पितरौ तस्याः समागत्यवमूचतु ॥
किमस्ति हृदये मीरे तद्वदाशोवदानुधा ।
इति श्रुत्वाऽब्रवीन्मीरासमुन्मीस्य विलोचने ॥
इमं गिरिधरं देहि नीत्वा तं यामि हर्षिता ।
नोचेदवैव मरणं भविष्यति न संशयः ॥
इति श्रुत्वा वचस्तस्याः पितरावतिमोहितौ ।
वदतुस्तं गिरिधर पुत्री तोषयतावुभौ ॥
अथ मीरा गिरिधरं शिबिकायां निधायतं ।
हर्षिता प्रययौ पत्युर्गेहं सैन्यसमन्विता ॥
तत्रश्वश्रूः समासाद्य मीरया सहवाऽस्यत्र ।
ग्रामदेवी समीपे तु निनायातिप्रमोदिता ॥
पुत्रेण पूजयित्वा तां देवी मीरामथाब्रवीत् ।
स्नुषे संपूज्य मनसा ग्रामदेवीं नमस्कुरु ॥
इति श्वश्रू वचः श्रुत्वा मीरां प्राह कृतांजलिः ।
विना गिरिधरं चान्यं नमस्कुर्यामहं नहि ॥
इति श्रुत्वा पुनः श्वश्रुराह सौभाग्यदेवतं ।
भविष्यति ततस्त्वंतु नमस्कुरु न संशयः ॥
इति श्रुत्वा पुनः प्राह मीरां श्वश्रू न मे पतिः ।
मरिष्यति ततो नित्यं सौभाग्यं वर्धते मम ॥
किन्ते मा विधवाः संति ग्रामे तव कर्यीश्वरा ।
इति श्रुत्वा तदा श्वश्रू कोपेन स्फुरिताधरा ॥
वधू पत्नी परित्यज्य पतिं संनिधिमागता ।
उवाच तं महा क्रुद्धा स्नुषानीता त्वया गृहे ॥
यथेव न श्रुणोत्युक्तो किमेवाग्रे करिष्यति ।
अहं तु नैव वक्ष्यामि किंचिदस्यै हिताहितं ॥
इति श्रुत्वा ततो राजा नृपः क्रुद्धो विचारयन् ।
मारणेऽस्याः कर्मकस्मात् स्त्रीवधवाचातिदारुणः ॥
तस्मात्त्वचिद् गृहे रम्या भोजनाच्छादनादिभिः ।

—शेष अगले पृष्ठ पर

चरणदास :

ये डेहरे निवासी चरणदासी संप्रदाय के प्रवर्तक संत थे। (जन्म संवत् १७६० मृत्यु सं० १८३९) इनके एक संग्रह-ग्रंथ 'शब्द' में 'भक्त का धर्म' शीर्षक के अन्तर्गत दिए पद की निम्नांकित पंक्तियों में मीरां-सम्बन्धी उल्लेख है—

'बाई मीरां चली प्रेम सनमुख भली
छोड़ दई लाज-कुल नाहिं माना'

दयादास :

परिचय अनुपलब्ध है। संभव है कि ये चरणदासी संप्रदाय की दयाबाई के शिष्य हों या ठाकुर दयाराम रामसनेही दयाराम दादूपंथी दयाराम दादूपंथी दयालदास मलूकपंथी दयालदास में से ही कोई व्यक्ति हों। मीरां द्वारा 'राम' कह विष पीने का उल्लेख इनके संत-मत के आग्रह को व्यक्त करता है।[1]

पिछले पृष्ठ के टिप्पणी का शेषांश—

विज्ञातव्या नवै येऽस्याः प्राबल्यस्यास्तकर्षणम् ॥
इति निश्चित्य सा मीरां स्थापयामास मंदिरे ।
स्थापितश्चरणदासी द्वारपालान् सुधार्मिकान् ॥
मीरा गिरिधरं नित्यं पूजयन्ती पतिव्रता ।
नवेद किंचिच्चरितं स्वश्वा वा श्वशुरस्य च ॥
पूजयन्ती गिरिधरं निर्लज्जाः साधुभिः सह ।
प्रनर्तिता कुलाचारे निमग्नाऽनन्यसागरे ॥
तदा राणादयः सर्वे तदाचारेण दूषिताः ।
कुले कलंकभूतेयं भविष्यति कदा पुनः ॥
एवं विचिंतयंतस्ते लेभिरे शर्म न क्वचित् ।
मीरानर्तनचैकस्मिन् दिनेऽभ्येत्यप्रवीक्ष्यता ॥
भ्रातृजाये, किमेवं त्वं कुलाकलंकिनी ।
भूत्वा नाट्यति निर्लज्जा वैष्णवानां पुरःस्थिता ॥

(१) विष का प्याला घोरिके राणा भेज्यो छान ।
मीरा अचयो राम कहि हो गयो सुधा समान ॥

जनसिंह्मन :

रामरसिकावली में जनसिंह्मन कृत एक पद दिया हुआ है। इसमें मीरां के रणछोड़ जी के मंदिर में विलीन हो जाने की घटना का उल्लेख है। पद इस प्रकार है —

> माई छ राजा रणछोड़ तारणे मारे, माई धुं। टेक।
> हित सुं ब्राह्मण भेज दिया रे, माधो ने मड़वणी बहोड़।
> परम संकट दियो ब्राह्मण बैठो मंदिर में दौड़॥ माई॰
> आपणी दिम राखि साँवरा विनती करूं कर जोड़।
> प्रेमों पाछी जाऊं जगत में लागे मने मोटी खोड़॥ माई॰
> भयो प्रकाश मंदिर में भारी उगा सूरज करोड़।
> ऐसा रूप देखि कृष्ण को मांई मंदिर मे दौड़॥ माई॰
> नीर खीर ज्यों मिल भया सबनी परमानंद की मोड़
> 'जनसिंह्मन' दांची यु जगत में बसि मीरां राठौड़॥[1] माई॰

इस पद से मीरां के अंतिम क्षणों की घटना पर प्रकाश पड़ता है। इस पद का लेखक सतर्क व्यक्ति है क्योंकि गुजराती समाज में कुछ दिनों तक भजन कीर्तन करने वाली मीरां से गुजरात के मंदिर में गुजराती मिश्रित हिंदी में पद गवाया है।

नन्दराम

बाबू ब्रजरत्नदास ने नन्दराम नामक व्यक्ति द्वारा लिखा मीरां-सम्बन्धी एक बारहमासा उद्धृत किया है।[2] नन्दराम का परिचय अप्राप्त है। खोज रिपोर्ट (जिल्द १) में एक नन्दराम का उल्लेख है जो अम्बावति वासी खंडेलवाल जगराम के कृष्णोपासक पुत्र थे। इन्होंने कार्तिक शुक्ल संवत् १७७४ में एक पचीसी लिखी थी। संभव है कि पचीसी के लेखक नदराम और बारहमासाकार नन्दराम एक ही व्यक्ति हों।

नन्ददास के उल्लेखों में निम्नांकित सूचनाएँ उपलब्ध हैं—

---

(१) राम रसिकावली, महाराज रघुराजसिंह, पृष्ठ ८७८
(२) मीरां-माधुरी पृष्ठ १६

(१) मीरां मारवाड़ के मेड़ता नगर के राठौड़ कुल की थीं और चितौड़गढ़ में इनका विवाह जेठ में हुआ था। विवाह के लिए स्वयंवर रचा गया था।[1]

(२) मीरां की कृष्ण भक्ति प्रेमरूपा थी। मीरां ने विवाह के बाद राणा से कहा 'मैं तुम्हें भाई मानती हूँ।'[2]

(३) राणा ने तलवार दिखाई, श्याम चूंटी पर लटकाया विष दिया जो अमृत हो गया।[3]

उक्त उल्लेखों में कई बातें अविश्वसनीय हैं। मीरां के युग में स्वयंवर की प्रथा ही नहीं थी। विवाह के बाद मीरां ने पति से भ्राता कहा हो यह स्वाभाविक नहीं लगता। अन्यत्र कहीं इस बात का उल्लेख नहीं है। शेष प्रचलित बातें ही मन्दराम ने कही हैं। अतः इस बारहमासा में मीरां-जीवन-चरित्र के अध्ययन की कोई विश्वसनीय मौलिक सामग्री नहीं है।

सुन्दरदास कायस्थ :

ये १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में वर्तमान थे। इन्होंने कृष्णलीला पर बहुत-से पद तथा संतों की वंदना लिखी है।

मीरांबाई-वंदना में निम्नांकित पंक्तियाँ हैं—

चौपै—श्री मीरां को करौं प्रणाम। हरि के भक्तन में सरनाम ॥
तिनकी प्रेम बरनि नहिं जाम। सागर तामें ज्ञात समाय ॥

---

(१) मारवाड़ गढ़ मेड़तो उत्तम कुल राठौड़।
जनमी मीरां भक्त कृष्ण की ब्याही गढ़ चितौड़ ॥ (छंद १)
× × ×
जेठ मास शुभ लगन तात मेरी ब्याह की त्यारी।
× × ×
रच्यो सुयंवर तात बात मेरी सुनो कृष्ण है काम ॥ (छंद ३)
(२) सीसोद्यो भूख्यो फिरै सख्यो में थाने समर्थ भ्रात ॥ (छंद ४)
× × ×
प्रेम भक्ति सु मात कृपाकर, गुण गिरिधर का गावे ॥ (छंद ५)
(३) भरकर प्यालो जहर को, उस मन्दर में बरवायो ॥
कपट भाव कर श्याम की ऊंचे सूंटी पर लटकायो। (छंद ६)
× × ×
राणो ल्यायो खड्ग तैय कर, मन काम कूरा बनासी। (छंद ११)

जिनको प्रेम भयो सागर उमड्यो। देखन देखन आरस घुमड्यो ॥
परमामृत कहि विष दियो डारि। भव गह महि साम्यो वारि ॥
जिन किरपा ते भक्ति मैं पायौं। संगहि संग सुख में पायौं ॥
इसके साथ ही मीराँ के एक पद का भी उल्लेख है।

छोटमदास

ये गुजराती के एक सामान्य कवि थे। छोटमदास कृत एक 'मीराँ नो गरबो' लेखक को मिला है।[1] इसका अधिकांश मीराँ की रचना के रूप में ही प्रचलित है। इसमें दयाराम के उल्लेखों की परम्परा का अनुसरण नहीं है। जो उल्लेख है, स्वतन्त्र है। अतः इसका अपना महत्त्व है। ११ पंक्तियों की यह रचना 'राग गरबी' में है। मीराँ स्वयं इस गीत में वक्ता है। उसके मुख से कवि ने कहलवाया कि 'मुझे सासरे में सुख नहीं है, मायके में मेरा मान नहीं राणा रोष में भरा है। हे गोविन्द तुम मेरे साक्षी हो।

इससे मीराँ-जीवन के विषय में यह पता चला है कि—

(१) वे पारिवारिक जीवन से असंतुष्ट थीं। सासरे-मायके कहीं उन्हें सुख नहीं था।
(२) वे द्वारका में परलोक सिधारीं।
(३) वे रणछोड़जी की भक्त थीं।

श्रीपधन :

मीराँ-माधुरी में श्रीएधन का एक पद उद्धृत है। कवि का परिचय अनुपलब्ध है। पद इस प्रकार है—

राणा जी जर दीयो सू मैं जाणी।
कुमत उर भगन में जारे नीक सो जारे जाणी।
राणो जी विष का प्यालो भलो भेज्यो मीराँ राणी।

---

(१) 'प्रभु जी पावन पगली रही हुं पुरता प्रेमनी रे—
मारा छेल छबीला मन्दर मां मावार,
कमी परम करे छे मीराँ रांकडी रे,
तमे दासी तणांए दुख म्हारी दूर करो रे।
इत्यादि।

बसन बीजय बेहाल करी है मोपे कछू न सरीयो री ।
सनता सखीवे हाहाकर छूटी पायन सीस धरीयो री ।
'प्रीयाघन' तम महरीयो मोरी समर भार परीयो ।[1]

बख्तावर :

राग कल्पद्रुम में बख्तावर छाप के निम्नांकित दो पद दिए हुए हैं—

(१) मेवाणी मीरां छे पतवार ।
बसमी माटीरो मद चोखो छे भर दे सुमत कसवार ।
मैन पियासा पीवत मति क्य रस काम कोम दियो बार ।
बखतावर मीरां बडभागिन घर बैठां ही पाए मुरार ।[2]

(२) मीरा मैलाके रंग छायो ।
कोट भाण बांके महलां वीसे मानन्द मत ही उमायो ।
शिव सनकादिक और ब्रह्मादिक बेद पुराण में गायो ।
बखतावर मीरां बडभागी घर बैठे वर पायो ।[3]

हरिदास दर्जी :

मीरां-एक अध्ययन में श्रीमती शबनम ने निम्नलिखित पद को मीरां की रचनाओं के अन्तर्गत उद्धृत किया है, पर जैसा कि छाप से स्पष्ट है, यह पद हरिदास दर्जी लिखित है । पद इस प्रकार है—

"मीरां ए श्याम बरम की गांठडी हीरा रतन बढ़ायो जी ।
सोम मारी निवरा करे सायों में मत बायो जी ।

---

(१) मीरां-माधुरी, पृष्ठ ४१
(२) खण्ड १ पृष्ठ १४२ पद १
(३) वही, पृष्ठ १६६ पद ३
शोध-पत्रिका भाग ३, अंक ४ (जून १९५२) में भी बखतावर का मीरां-सम्बन्धी एक पद दिया हुआ है, जो इस प्रकार है—
म्राज तो मेड़तणी मीरां के राज, महलां रंग छायो ।
सहस किरण ज्यु सूरज उगियो, मानो ससि निरधर आयो ।
सुरनर ज्यां का ध्यान धरत है बेद पुराणां गायो ।
कहु 'बखतावर' मीरां बडभागण घर बैठी श्याम मनायो ।

कुण मुरेक सम्भायो घर को धणी छोड्यो जी।
लोग थांरी निन्दा करें साधां में मत जावो जी।
कने कहामी बाई माहरी
कने कहोली बाई बोरी जी
कुण थांरे पगलिया चापसी
कुण बुझे थारे मन री बात
बुड़ी टेढ़ी म्हांरी मामड़ी
मीरां भरया मे ससार।
पावड़ी पगमियां चापसी मासा बुझ मन की बात।
हरिदास दर्जी की बिनती जी धोता बसतर सिमायो जी।
वेष मगारो मीरां चढ़ गई, मासा हियो मत हारो जी।
बागां में बोसी कोयली बन में दादुर मोर
मीरां ने गिरधर मिलिया नागर नन्द किशोर।"[1]

चेतराम के मीरां-संबन्धी भजन

'राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज' (तृतीय भाग) में उदयसिंह भटनागर ने चेतराम नामक कवि के तीन भजन दिए हैं। ये भजन रामद्वारा वाली बावड़ी उदयपुर में संगृहीत एक गुटके में हैं। यह गुटका राम सनेही संप्रदाय का है। इसमें चेतराम के भजनों के अतिरिक्त जन गोपाल कृत प्रह्लाद चरित्र ध्रु चरित्र मोहमद की कथा (अपूर्ण) रामचरणजी की 'अर्मैंवाणी' आदि रचनाएँ, मंगदास की अनेकार्थमाला और अनेक नाममाला भी लिपिबद्ध हैं।

इस गुटके का लिपि-काल अज्ञात् है और चेतराम का रचना-काल भी। रामचरणजी महाराज का जीवन-काल संवत् १७७६-१८५५ है।[2] चेतराम के भजनों में मीरां को राम की (कृष्ण की नहीं) सेविका भक्त और संत के रूप में रखने का प्रयत्न किया है। लेखक की दृष्टि रामसनेही संप्रदाय की है। अतः इस गुटके का लिपि-काल संवत् १८५५ के बाद ही किसी समय का होगा। देखने से गुटका १०० वर्ष से अधिक पुराना नहीं लगता।

---

(१) 'मीरां-एक अध्ययन' पृष्ठ २१६
(२) उत्तरी भारत की संत परंपरा पृष्ठ ६२०

चेतराम के इन गीतों में मीरां के जीवन से सम्बन्धित कोई विशेष नई सामग्री उपलब्ध नहीं होती पर उनका महत्व एक और दृष्टि से है—मीरां छाप से उपलब्ध कई गीतों की पंक्तियाँ ज्यों-की-त्यों अथवा सामान्य परिवर्तन के साथ मिलती हैं। *अतः इनसे तुलना और साम्य के कारण ही मीमांसा* करके अनेक स्थलों पर प्रामाणिकता के प्रश्नों को सुलझाया जा सकता है।

इन गीतों में निम्नांकित सूचनाएँ मिलती हैं—[1]

पहला भजन (१) मीरां की ननद ने मीरां को समझाया कि 'साधु-संगत छोड़ दो कुल को खोड़ मत लगाओ। इससे पीहर, ससरो और *हिवबोऋणि लजाता है।*

(२) मीरां ने निडरतापूर्वक इस प्रकार की बातें कहीं—'भगति बिना ठकुराइत फूटी—राणो म्हारो कांई करसी—साथ हमारे कुटुंब कबीलो' आदि।

(३) *ननद ने विष का प्याला मीरां को दिया, राणा द्वारा यह* भेजा गया था। विष पीकर भी मीरां मरी नहीं 'भगत की बस मिला और दुष्ट पछताता रहा'।

दूसरा भजन (४) राणा ने कोप करके तलवार चलाई, मीरां महल से उतरीं *तो राणा ने हाथ पकड़ लिया।*

(५) मीरां रूठकर चली गई शृंगार छोड़कर उन्होंने जपा-तिलक धारण कर लिया।

तीसरा भजन (६) मीरां ने सब कुछ त्यागा 'राणा जैसा वर भी त्यागा और सबको छोड़कर राम की शरण गही।

लोक-गीतों में मीरां-सम्बन्धी उल्लेख

लोक-गीतों से तात्पर्य उन गेय रचनाओं से है, जो जनता की स्मृति के सहारे जीवित ही नहीं रही हैं, वरन् जिनमें अनेक अज्ञात् नाम जन कवियों का आशु कवित्व भी मिल गया और जो लोक-हृदय की सीधी अभिव्यक्ति है।

लोक-गीतों के अनेक रूपांतर मिलते हैं। उनमें क्या-क्या परिवर्तन हुए, उसका कोई लेखा नहीं रहता। उनके प्राचीन लिखित रूप प्राप्त न होने के कारण उन रूपान्तरों को पूर्वापर क्रम से रखना सम्भव नहीं है। अतएव उनके द्वारा प्रस्तुत सामग्री की प्राचीनता के विषय में अनुमान लगाना अनुचित है।

---

(१) राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज तृतीय भाग, उदयसिंह भटनागर, पृष्ठ २३३-२३८

होता। पर लोक-गीत एक दिन में नहीं बनते और सामह मान निराधार भी नहीं होते। कभी-कभी तो उनके पीछे शताब्दियों की परम्परा रहती है। अत लोक-गीतों के साक्ष्य का हर दशा में पूर्णत अप्रामाणिक और अनुपयोगी कहकर उपेक्षित कर देना भी उचित नहीं है। जहाँ पर लोक-गीतों का विशेषकर विभिन्न प्रदेशों के लोक-गीतों का वक्तव्य इतिहास अथवा अन्य प्राचीन साक्ष्य से मेल खाता है, वहाँ वह वक्तव्य उन्हें अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय सिद्ध करने में सहायक हो सकता है और जहाँ लोक-गीतों तथा अन्य सामग्री के वक्तव्यों में विरोध है, वहाँ भी विरोध के कारणों का विवेचन करने पर कुछ प्रच्छन्न अज्ञात सत्यों पर प्रकाश पड़ने की सम्भावना रहती है।

मीराँबाई से सम्बन्धित बहुत-से लोक-गीत मिलते हैं। इन्हें साधारणतः दो वर्गों में रखा जा सकता है—

(१) मीराँ के पदों के 'धार्मों' वाक्यांशों या चरणों के विस्तार के रूप में उपलब्ध लोक-गीत। कभी-कभी पदगत किसी अनूठी 'भावना' या 'घटना' का भी लोक-गीत का रूप मिल गया है।

(२) स्वतन्त्र रूप से भी दो प्रकार के लोक-गीतों की रचना हुई—

(क) जनता मीराँ के सम्बन्ध में जो कुछ सोचती या मानती रहती है, उसे लोक का स्वर गीतों का रूप देता रहा है।

(ख) कभी-कभी विदेश शासन के अपने प्रति अत्याचार के विरोध और अमानवीय बन्धनों के प्रति विद्रोह के स्फुलिंग मीराँ-नाम का सहारा पाकर प्रच्छन्न रूप से लोक-गीत बनकर व्यक्त होते रहे हैं।

विभिन्न प्रान्तों के लोक-गीतों में मीराँ-सम्बन्धी अनेक उल्लेखों के सम्बन्ध में उनकी विपुलता के अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण बात यह है कि वे प्राय मीराँ के प्रति प्रशंसात्मक भाव व्यक्त करते हैं। उनसे ये निष्कर्ष सरलता से निकाले जा सकते हैं—

(१) रूढ़िग्रस्त परम्परावादी सामंतीय समाज मीराँ के कर्मों से क्षुब्ध था। उसने प्रारम्भ में काफी समय तक मीराँ को अपने परिवार का कलंक समझा और अपने प्रदेश के इतिहासों में उनका नाम तक को नहीं आने दिया। पर जनता ने मीराँ के राजकीय सुख-वैभव के त्याग और भक्ति की भाव-साधना को प्रशंसात्मक भाव से ग्रहण किया। इसका एकमात्र कारण यही हो

सकता है कि मीरां ने सामंतीय अहंकार की उपेक्षा करके जनता की मूक आकांक्षाओं को संतोष दिया था।

(२) सूर और तुलसी जैसे महान् कवि भी लोक-गीतों के इतने लोक प्रिय विषय नहीं बने जितनी कि मीरां। इसका अर्थ यह है कि इन कवियों की कृतियों के महान् होने पर भी लोक-हृदय उनके व्यक्तित्व में वह आकर्षण न पा सका। वस्तुतः मीरां के व्यक्तित्व और वैयक्तिक कार्यों में कुछ ऐसा मनोहारी सौंदर्य अवश्य था जो अनायास ही जन-काव्य का विषय बन गया और वह था उनके चरित्र की अपराजेय निर्भय आत्मशक्ति का सौंदर्य जिसकी व्यंजना उनके द्वारा किए गए सम्प्रदायवाद और पुरुष की मनमानी के प्रति मूक विद्रोह द्वारा हुई।

लोक-गीतों में मीरांबाई के जीवन के सम्बन्ध में सैकड़ों छोटी-मोटी बातों का पता चलता है, पर उनके विषय में मतभेद होने की सम्भावना बहुत अधिक है। अतः यहाँ केवल उन प्रमुख तथ्यों का उल्लेख किया जा रहा है, जो अनेक गीतों में उपलब्ध हैं अथवा किसी अन्य दृष्टि से विशेष विचारणीय हैं। वे सूचनाएँ निम्नांकित हैं—

(१) मीरां मेड़तणी थीं।[1] वे राठौड़ थीं। उनका सम्बन्ध सीसोदो (सिसोदिया) वंश और चित्तौड़गढ़ से भी था।[2]

(२) मीरां ने सबके बरजने पर भी 'मोसर हार' और 'दिखणी (दक्षिणी) चीर' त्यागकर 'तुलसी की माला' और 'भगवां वस्तर' धारण करके

---

(१) क—'चित्त इमरत कर बाटूमो ए मेड़तणी।' शोध पत्रिका भाग १ अंक ४ मनोहर शर्मा का लेख 'मीरां के भक्तों के भजन', पृष्ठ १७७
ख—'रे मोठीडा कोई मीरां मेड़तणी भगवा ले लिया जी म्हारा राज' 'मीरां की लीला' नामक लोक-गीत से उद्धृत वही, पृष्ठ १८२
ग 'सारिखडा क्यों कोई म्हारी मेड़तणी भगवा पहिर लियां।' मीरां- एक अध्ययन (लोक-गीत परम्परा से प्राप्त कुछ पद)—श्रीमती पद्मावती, पृष्ठ १२७

(२) 'सीसोदा समझ्यो नहीं तजी जब मीरां राठौड़।
तीन्यों भागी मेड़तो से कोड़ चोखो गढ़ चित्तौड़' ॥
——शोध पत्रिका, भाग १ अंक ४, पृष्ठ १७८

किए थे।[1] बरजने वालों में 'कुंवर पाटवी' भी था।[2]

(३) राणा ने मीरां के पास विष का प्याला भेजा जिसे वे चरणामृत मानकर पी गईं।[3]

(४) राणा ने मीरां के पास 'सर्प का पिटारा' भेजा। मीरां ने उसे गले में डाल लिया और वह नौसर हार बन गया।

(५) राणा ने मीरां पर खड्ग चलाया और मीरा एक की हजार हो गईं।[5]

(६) मीरां जी 'पुष्कर' नहाने गई थीं।[6]

(७) मीरां जी जूनागढ़ के मार्ग से गई थीं।

---

(१) सायब बरजै ए मीरांबाई अरणामरणु।
कोई भगवा बस्तर छोड़ हरि के भजना में॥
भगवा बस्तर ए माम्बड़ मीरो ना छूटै।
कोई छोड़्या दिखणी चीर हरि के भजना में॥
वीरोजी बरजै ए मीरांबाई आपरा।
कोई तुलसीरी माला छोड़ हरि के भजना में॥
तुलसी की माला थो वीरा म्हारा न छूटै।
कोई छोड़्या नौसर हार हरि के भजना में॥ वही, पृष्ठ १७६

(२) "कुंवर पाटवी थाने बरजे धिक-धिक कहै संसार॥" वही, पृष्ठ १८१

(३) जहर प्याली भेजियो रै, दी मीरां के हाथ।
कर चरणामृत पी गई रै, तुम चाखों रघुनाथ॥ वही, पृष्ठ १८०

(४) साँप पिटारो भेजियो रै दी मीरां नै हाथ।
मीरां गल बिच पहरियो रै बण गयो नौसर हार॥ वही पृष्ठ १८०

(५) 'राणाजी खड्ग संभारिया,
लै खांडो तरवार।
किसड़ी मीरां नै राणो जी मारसी,
हो गई एक हजार।'
मीरां- एक अध्ययन—श्रीमती पद्मावती शबनम लोक परम्परा से प्राप्त पद
पृष्ठ २५४

(६) 'गुरु की तारण हारी रै चली है पुष्कर न्हाण।'

(७) 'राणाजी बहूणो रै जूनागढ़ रो मारग रै' वही पृष्ठ २५७

(८) ब्रज की होली के अवसर पर कृष्ण की 'रस-लीला' के प्रति मीरां का मधुर भाव था।[1]

(९) मीरां 'लाल गिरिधर' की दासी थी। उसका हृदय हरि के प्रति प्रणय भाव और वियोग की व्यथा से संसिक्त था।[2]

(१०) मीरां को (राणा के आदमियों ने) द्वारका जाकर घर-घर ढूंढ़ा वे 'मंदिर' से नहीं टली।[3]

अनुश्रुतियाँ और मीरां :

मीरां ने राज-परिवार के वैभव-सुख को त्यागकर भक्ति का कंटकाकीर्ण मार्ग अपनाया था। अतः सामान्य जनता के मन में उसके प्रति आदर और स्नेह का कोमल भाव था जिसने कालान्तर में उसके व्यक्तित्व को अनेक अलौकिक कथाओं का केन्द्र बना दिया। मीरां के जीवन-वृत्त और काव्य के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए इन कथाओं का अपने में विशेष महत्व नहीं है पर इनसे लोक-हृदय पर पड़े मीरां के व्यक्तित्व के प्रभाव की व्यंजना अवश्य होती है।

लेखक ने मीरां के मायके (मेड़ता), ससुराल (चित्तौड़) डाकोर आदि से अनेक अनुश्रुतियों को एकत्र किया है उदाहरण के लिए कुछ नीचे दी जा रही हैं—

(१) नदी में एक दोना बहता हुआ आया। उसमें से मीरां प्रगट हुई। रत्नसिंह को इस बात का पता शिवजी ने पहले ही एक साधु के रूप में आकर दे दिया था। (मेड़ता की चारभुजा मंडली के सदस्यों से उपलब्ध)

(२) मेड़ता के ग्राम देवता चतुर्भुजा जी (चारभुजाजी) ने मीरां के हाथ से दूध पिया था।—(पुरुषोत्तमजी पुरोहित से उपलब्ध)

(३) मीरां मालकोट में पैदा हुई थी—(मालकोट के द्वार पर रहनेवाले से प्राप्त)

(४) मीरां डाकोर होकर ही द्वारका गई थी—(डाकोर से प्राप्त)

(५) राणा ने मीरां के पास सांप भेजा वह 'सालिगराम' बन गया था

(१,२) पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ, ब्रज का लोक-साहित्य डा० सत्येन्द्र पृष्ठ ८९८ तथा १००१

(३) 'जाय द्वारका घर-घर ढूंढ़ी मंदर सूं न टली'

— प्रेम पत्रिका भाग ३, अंक ४, पृष्ठ १०७

फूल का हार बन गया—(मेड़ता और चित्तौड़गढ़ दोनों जगह प्रचलित)—इत्यादि।

इनमें से कुछ जनश्रुतियाँ तो प्रकाशित ग्रंथों में भी स्थान पा गई हैं। ये प्राय: मीराँ के महत्व की जनता-द्वारा स्वीकृति की द्योतक हैं ऐतिहासिक सत्य की नहीं।

इतिहास ग्रन्थ :

मीराँ-संबन्धी उल्लेख जिन इतिहास-ग्रंथों में मिलते हैं उन्हें दो वर्गों में रखा जा सकता है—(१) राजनीतिक तथा (२) साहित्यिक इतिहास।

राजनीतिक इतिहास राजनीतिक इतिहास प्राय: उन्हीं व्यक्तियों के विशेष विवरण प्रस्तुत करते हैं, जिनका राजनीति की दृष्टि से कुछ महत्व होता है। मीराँ का राजनीतिक महत्व शून्य था। अत: देश के प्राचीन राजनीतिक इतिहासों में मीराँ-सम्बन्धी उल्लेख भी नहीं मिलते। फिर भी मीराँ के जीवन से प्रत्यक्षत: और अप्रत्यक्षत: संबन्धित अनेक तथ्यों के जानने के लिए ये इतिहास अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। अतएव प्रस्तुत अध्ययन के लिए उपादेय इतिहासों में से प्राचीन और महत्वपूर्ण ग्रंथों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

(१) राजस्थान के राजपूतों से सम्बन्धित सबसे अधिक प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री का प्राचीनतम उपलब्ध संग्रह है, मुँहणोत नैणसी की ख्यात। नैणसी (जन्म सं० १६६७) जोधपुर-नरेश महाराज जसवंतसिंह का दीवान था। उसने ऐतिहासिक घटनाओं के विवरण प्रयत्नपूर्वक एकत्र किए थे। ओझाजी का कहना है कि वि० सं० १३०० के बाद से नैणसी के समय तक के राजपूतों के इतिहास के लिए तो मुसलमानों की लिखी हुई तवारीखों से भी नैणसी की ख्यात कहीं-कहीं विशेष महत्व की है। जहाँ-कहीं प्राचीन शोध से प्राप्त सामग्री इतिहास की पूर्ति नहीं कर सकती वहाँ 'नैणसी की ख्यात' ही कुछ सहारा देती है।[1] ओझाजी ही नहीं कविराजा श्यामलदास का मत भी इसी प्रकार का है।[2]

---

(१) मुँहणोत नैणसी की ख्यात प्रथम भाग, मुँहणोत नैणसी का परिचय पृष्ठ ७

(२) वीर-विनोद, भाग १ पृष्ठ ४२३—"हमने जो बयान ऊपर लिखा है वह नैणसी मेहता मारवाड़ी की लिखी हुई दो सौ वर्ष पहले की एक पुस्तक से लिखा है।"

यद्यपि नैणसी ने मीरां का कहीं उल्लेख नहीं किया पर मीरां के पितृकुल और पतिकुल की अनेक घटनाओं पर उसने प्रकाश डाला है उदाहरण के लिए राणा सांगा राणा रत्नसिंह, राणा विक्रम आदि के परिचय जिनसे अप्रत्यक्षतः मीरां के जीवन-चरित्र से सम्बन्धित अनेक उल्लेखों के सत्यासत्य की परीक्षा होती है। बाद में लिखे गए इतिहासों की बहुत-सी सामग्री का तो मूल स्रोत ही नैणसी की ख्यात है। अतः मीरां का उल्लेख न होने पर भी मीरां के जीवन-सम्बन्धी अध्ययन के लिए इस ग्रंथ का महत्व असामान्य है।

(५) *एनल्स एंड एंटीक्विटी ऑव राजस्थान*

इतिहास ग्रन्थों में लेफ्टिनेन्ट कर्नल जेम्स टॉड कृत "ऐनल्स एंड ऐंटिक्विटी ऑव राजस्थान" अपने ढंग का यह अनूठा ग्रन्थ है, जिसमें राजस्थान की बहुत-सी अप्रकाशित ऐतिहासिक सामग्री को प्रथम बार एक स्थान पर प्रकाशित कराया गया है। ग्रंथ के प्रथम संस्करण के समर्पण से पता चलता है कि यह २० जून सन् १८२६ तक पूरा हो गया था। इसका प्रथम भाग सन् १८२६ में और दूसरा सन् १८३२ में अंगरेजी में प्रकाशित हुआ। मीरां की जीवनी की दृष्टि से इस ग्रंथ का बहुत महत्व है क्योंकि इस ग्रंथ के बाद मीरां के सम्बन्ध में लिखे अनेक ग्रंथों और लेखों में इसकी सामग्री का उपयोग उसे प्रामाणिक मानकर बड़ी निश्चिन्तता के साथ किया गया है और आज तक मीरां के सम्बन्ध में जो अनेक भ्रान्तियाँ शोधकों का सिरदर्द बनी हुई हैं, उनमें से कई का मूल उत्स भी टॉड की यही कृति है।

टॉड के "राजस्थान" में मीरां के सम्बन्ध में निम्नलिखित सूचनाएँ हैं—

(१) मीरां मारवाड़ के राणा कुंभा की पत्नी थी। वे सौंदर्य और स्वच्छंद पवित्रता के लिए अपने युग की सबसे प्रसिद्ध राजकुमारी थीं। उन्होंने बहुत-से गीत लिखे जो भक्तों में प्रचलित हैं। मीरां के काव्यत्व से उनके पति को प्रेरणा मिली या कुंभा से उन्हें काव्य-सौन्दर्य उपलब्ध हुआ यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। भक्ति के अतिरेक और स्वच्छंदता के कारण अनेक प्रवाद मूलक कथाओं को जन्म मिल गया।[1]

(१) 'ऐनल्स एंड एंटीक्विटी ऑव राजस्थान' टॉड (कुक्स एडिशन का संस्करण) ऐनल्स ऑव मेवाड़, पृष्ठ ३१२-३१३।

(२) वे मरुधर वीर मेड़तिया राठौड़ों की शाखा के प्रवर्तक दूदाजी की पुत्री थीं।[1]

'ऐनल्स एंड ऐंटीक्विटी ऑफ राजस्थान' में मीरां के सम्बन्धों के विषय में जो बातें कही गई हैं, उनकी परीक्षा सरलता से की जा सकती है। टॉड के अनुसार मीरां मेड़तिया दूदा की पुत्री और चित्तौड़ के राणा कुंभा की पत्नी थीं। वैसे तो मीरां दूदा के पुत्र रत्नसिंह की पुत्री अर्थात् दूदा की नातिनी थीं। यदि टॉड की बात को सही मानकर ही उनके दोनों कथनों की संगति मिलाने का प्रयत्न करें तो भी उनका अन्तर्विरोध तुरन्त सामने आ जाता है।

राणा कुंभा वि० सं० १४६० में चित्तोड़ के राजसिंहासन पर बैठे[2] और सं० १५२५ में उसके पुत्र उदयसिंह ने उन्हें कटार से अचानक मार डाला।[3] राव दूदा का जन्म वि० सं० १४६७ की आश्विन सुदी १२ को हुआ था।[4] इस प्रकार राणा कुम्भा की मृत्यु के समय दूदाजी २८ वर्ष के थे। यदि मीरांबाई को दूदा की प्रथम सन्तान भी मान लें और यह मान लें कि लगभग १८-२० वर्ष की आयु में उनके घर मीरां का जन्म हुआ था तो भी मीरां कुंभा की मृत्यु के समय ८-१० वर्ष की ठहरती हैं। आयु के इस अनुपात के साथ मीरां और कुंभा के जिन पारस्परिक साहित्यिक सम्बन्धों की चर्चा टॉड ने की है, वह तो असम्भव है ही दोनों के विवाह-सम्बन्ध की संभावना भी शून्य है, और विशेषकर उस परिस्थिति में जब कि राणा कुंभा जीवन के अन्तिम दिनों में उन्माद रोग से पीड़ित थे। इस प्रकार स्पष्ट है कि टॉड के ही मीरां-सम्बन्धी दो कथन परस्पर विरोधी हैं और एक साथ दोनों सही नहीं हो सकते।

इतना ही नहीं, राणा कुंभा के जीवन के सम्बन्ध में कई अन्य अप्रामाणिक बातें भी टॉड ने कही हैं। कई ऐसी अन्य घटनाओं का भी सम्बन्ध उनसे जोड़ दिया है, जो इतिहास की दृष्टि से असिद्ध हैं। यहाँ विस्तार से उनका उल्लेख अनावश्यक है क्योंकि ओझाजी अपने उदयपुर के इतिहास में इन घटनाओं पर प्रमाण से सविस्तर विचार करके निर्णय दे चुके हैं।[5]

टॉड अँगरेजी राज्य की ओर से राजस्थान की राजपूत रियासतों में

(१) वही, पृष्ठ १७
(२) उदयपुर राज्य का इतिहास, ओझा, पृष्ठ २७५
(३) वही पृष्ठ ३२२
(४) मारवाड़ का इतिहास, रेउ, पृष्ठ १०३
(५) उदयपुर राज्य का इतिहास, ओझा, पृष्ठ ३११

पोलिटिकल एजेन्ट थे। उन्होंने 'चारण भाटों की ख्यातों वंश-कथाओं और वंशावलियों के आधार पर अपने गुरु यतिपति ज्ञानचन्द्र की सहायता से इस ग्रंथ को लिखा था।'[१] इससे इस ग्रंथ में अनेक काल्पनिक बातों का आ जाना स्वाभाविक ही था। शिलालेख ताम्रपत्र जिनके आदि ठीक-ठीक न पढ़ने से और मुता नैणसी की ख्यात जैसे उपयोगी ग्रंथ के उस समय अप्राप्त होने के कारण उनके ग्रंथ में अन्य अनेक अशुद्धियाँ भी रह गई हैं।

अतः टॉड के उल्लेख प्रामाणिक साक्ष्य की कोटि में नहीं रखे जा सकते।

(२) रासमाला—एलेक्ज़ेण्डर किन्लॉक् फ़ॉर्बस ने जो कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ऑनरेबुल सिविल सर्विस के अधिकारी थे 'रासमाला हिन्दू ऐनल्स ऑफ़ दी प्रॉविन्स ऑफ़ गुजरात इन वैस्टर्न इण्डिया' नामक ग्रंथ लिखा। यह ग्रंथ पहली बार लन्दन से सन् १८२६ में दो भागों में प्रकाशित हुआ था। रचना-काल की दृष्टि से तो इस ग्रंथ का महत्व है ही इसलिए भी यह कृति महत्वपूर्ण है कि गुजरात के बहुत-से प्राचीन लेखक इस ग्रंथ से अनेक सूचनाएँ ज्यों की त्यों उद्धृत करते रहे हैं। मीरांबाई के संबन्ध में रासमाला में एक ही उल्लेख है, वह भी राणा कुंभा के प्रसंग में किया गया है। उल्लेख इस प्रकार है—'वह स्वयं कवि थे और प्रसिद्ध राठोर राजकुमारी मीरां नामक कवयित्री के पति थे।'[२]

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि फ़ॉर्बस ने टॉड का ही अनुसरण किया है। टॉड के उल्लेखों के विषय में जो निष्कर्ष है, वह यहाँ भी उसी रूप में लागू होता है। इस पुस्तक के संपादक श्री एच॰ जी॰ रालिंसन का कथन ठीक ही है कि 'इतिहास के रूप में निस्सन्देह रासमाला में दोष है। इसका लेखक पुरातत्वविद् था और गुजरात के प्राचीन इतिहास के विषय में कहने के लिए उसके पास कुछ नहीं था। पौराणिक गाथाओं की उलझनें वह नहीं सुलझा सका और कुछ बातों के विषय में तो वह पूरी तरह से गलत था।'[३]

कर्नल टॉड के पश्चात् राजस्थान का इतिहास लिखने के कई प्रयत्न

---

(१) राजपूताने का इतिहास पहलोत भूमिका, पृष्ठ २५

(2) He was himself a poet and the husband of a poetess, the celebrated Rathor Princess Meerabai.

रासमाला (भाग १) फार्बस अध्याय ६, पृष्ठ ३३७

(३) वही, लेखक की भूमिका के नीचे की संपादकीय टिप्पणी, पृष्ठ १९

हुए,[1] परन्तु ये काव्यात्मक थे या टॉड के 'राजस्थान' तथा अँगरेजी सरकार की भावुकिक रिपोर्टों पर आधारित थे। अतः इनका महत्त्व विशेष नहीं है।

(४) वीर-विनोद—राजस्थान की उदयपुर रियासत का प्रथम विस्तृत और प्रामाणिक इतिहास लिखा गया वीर विनोद। इसे राणा सज्जनसिंह की प्रेरणा से मेवाड़ के इतिहास-विभाग के अध्यक्ष कविराजा श्यामलदास ने लिखा था और संवत् १९४२ में इसका छपना प्रारंभ हुआ। इसकी थोड़ी ही प्रतियाँ बाहर आई थीं कि इसे महाराणा ने बन्द कर लिया। अब यह ग्रंथ फिर उपलब्ध हो गया है।

वीर-विनोद में मीरां-संबन्धी उल्लेख निम्नलिखित हैं—

'इन महाराणा के ७ राजकुमार थे भोजराज कर्ण रत्नसिंह, पर्वतसिंह, कृष्णदास विक्रमादित्य और उदयसिंह, जिनमें से भोजराज कर्ण, पर्वतसिंह और कृष्णदास तो कुँवर पदे ही में परलोक वास कर गए।

महाराणा सांगा के पाटवी याने सबसे बड़े पुत्र भोजराज थे जिनके मेड़तिया राजा वीरमदेव के छोटे भाई की बेटी और जयमल्ल की बहिन ब्याही गयी थी। इन राजकुमार का देहान्त महाराणा की मौजूदगी में हो चुका था। इसलिए राजकुमार रत्नसिंह जो राठौड़ भामी की बेटी महारानी धनाबाई के पेट से पैदा हुए थे भोजराज के मरने के बाद राज्य के वारिस ठहरे।'[2]

'इन महाराणा ने जोधपुर के राव जोधा के पोते राव सूजा के बेटे कुँवर बाघा की तीन बेटियों से शादी की थी। ये तीनों बाघा की राणी चहुवान पुहुपावती से पैदा हुई थीं। इनमें से धनाबाई के पेट से बड़े कुँवर रत्नसिंह पैदा हुए और बूंदी के राव भांडा की पोती और नरबद की बेटी महाराणी कमवती बाई से महाराणा विक्रमादित्य और उदयसिंह पैदा हुए। इन महाराणा के सबसे बड़े राजकुमार भोजराज थे जिनकी शादी मेड़ता के राजा वीरमदेव के छोटे भाई रत्नसिंह की बेटी व जयमल के काका की बेटी मीरांबाई के साथ

(१) क—बूँदी राज्य के चारण कवि सूर्यमल मिश्रण वंशभास्कर (काव्य ग्रंथ) रचना-संवत् १८९९, सं० १९६६ में प्रकाशित

ख—भरतपुर के अदालती मुंशी बाबू ज्वालासहाय माथुर, 'वाक्ये राजपूताना' (संवत् १९६१ में प्रकाशित)

(२) वीर विनोद भाग १ 'महाराणा संग्रामसिंह' अध्याय पृष्ठ ३६२

हुई थी लेकिन उक्त राजकुमार का देहान्त महाराणा सांगा के सामने ही हो गया था। कर्नल टॉड वगैरह कितने ही मुवर्रिखों ने मीरांबाई को महाराणाकुंभा की राणी लिखा है, लेकिन यह बात गलत है, क्योंकि मीरांबाई का भाई जयमल्ल तो विक्रमी १६२४ (हि० ९७५-ई०१५६७) में अकबर की लड़ाई में चित्तौड़ में मारा गया और महाराणा कुम्भा का देहान्त विक्रमी १५२५ (हि० ८७३ ई० १४६८) में हो गया था, फिर न मालूम कर्नल टॉड ने यह बात अपनी किताब में कहाँ से दर्ज की। सोचना चाहिए कि महाराणा कुम्भा के वक्त दूदा को मेड़ता ही नहीं मिला था फिर दूदा की पोती मीरांबाई 'मेड़तणी' कुम्भा की राणी किस तरह हो सकी है।[1]

महाराणा कुम्भा के देहान्त के ५९ वर्ष पीछे बाबर और राणा सांगा की लड़ाई में मीरांबाई का बाप रत्नसिंह मारा गया तो महाराणा कुम्भा के वक्त में (टॉड साहब का लिखना ही ठीक समझा जाय तो) रत्नसिंह की अवस्था चालीस वर्ष से कम न होगी इस हिसाब से मारे जाने के वक्त सौ वर्ष के करीब होनी चाहिए, और इतनी उमर के आदमी का बहादुरी के साथ लड़ाई में मारा जाना असंभव है।[2]

'महाराणा सांगा के सात पुत्र हुए।१-पूर्णमल्ल २-भोजराज ३-पर्वतसिंह ४-रत्नसिंह, ५-विक्रमादित्य ६-कृष्णसिंह और उदयसिंह। पूर्णमल्ल भोजराज पर्वतसिंह और कृष्णसिंह चार तो महाराणा सांगा के सामने ही परलोक सिधारे, इनमें से दूसरे भोजराज जो सोलंकी रायमल्ल की बेटी के गर्भ से जन्मे थे उनका विवाह मेड़ता के राव दूदा जोधावत के पांचवें बेटे रत्नसिंह की बेटी मीरांबाई के साथ हुआ था। मीरांबाई बड़ी धार्मिक और साधु संतों का सम्मान करनेवाली थी। यह विराग के गीत बनाती और गाती इससे उनका नाम अब तक बहुत प्रसिद्ध है।'[3]

'महाराणा रत्नसिंह, जो जोधपुर के राव बाघा सूजावत की बेटी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे वि० १५८४ कार्तिक शुक्ल ५ को चित्तौड़ की गादी पर बैठे।'[4]

---

(१) वीर-विनोद भाग १ पृष्ठ ३७१ तथा महाराणा रत्नसिंह अध्याय,पृष्ठ १, पाद-टिप्पणी १
(२) वही फुटनोट २
(३) वीर-विनोद महाराणा रत्नसिंह पृष्ठ १
(४) वही पृष्ठ १

'महाराणा कुम्भा से १०० वर्ष पीछे मीरांबाई के चचेरे भाई जयमल्ल का मारा जाना लिखा है, इस हालत में जयमल्ल की बड़ी बहन मीरांबाई कुम्भा की राणी किस तरह समझी जावें।'

"मीरांबाई महाराणा विक्रमादित्य और उदयसिंह के समय तक जीती रहीं और महाराणा ने उसको जो दुःख दिया वह उसकी कविता में स्पष्ट है। कर्नल टॉड ने धोखा खाया है—मीरांबाई का मंदिर कुंभ श्याम के समीप होने के कारण—परन्तु हमारे यहाँ, व मेड़तिया राठौरों की व जोधपुर की तवारीखों में मीरांबाई को भोजराज की राणी लिखा है।"[3]

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वीर-विनोद की सामग्री साधारणतः विश्वसनीय है, पर कहीं पर लेखक ने किसी बात को किसी चारण या भाट की बही के आधार पर ही लिखा है और उसके पक्ष में प्राप्त अन्य सामग्री का उपयोग नहीं किया है, वहाँ उनके उल्लेखों की परीक्षा करके ही ग्रहण करना उचित होगा। उदाहरण के लिए 'मीरांबाई के पति भोजराज का कुँवर पाटवी होने का उल्लेख' लिया जा सकता है। यह उल्लेख वैजीदास बड़वा की ख्यात से लिया है। अन्य स्रोतों की सामग्री से इसकी असत्यता सिद्ध हो जाती है। इस विषय में अन्य स्रोतों की सूचना कदाचित् वीर-विनोदकार को उपलब्ध नहीं थी। अतः बड़वों की पोथियों के उल्लेखों की अविश्वसनीयता को असंदिग्ध मानते हुए भी उन्होंने यह उल्लेख कर दिया है। जीवनी-खण्ड में इस बात पर विस्तार से विचार किया गया है।'

वीर विनोद के पश्चात् :

वीर-विनोद के पश्चात् राजस्थान की विभिन्न रियासतों के अनेक इतिहास लिखे गये जैसे—मौलवी मुहम्मदउल्लाहउद्दौ (बिजनौर) कृत 'तौहफ़ै राजस्थान' (सं० १९४९) चारण रामनाथ रतनू (चन्दपुरा) कृत इतिहास राजस्थान (सं० १९४८) मुंशी देवीप्रसाद कायस्थ कृत जयपुर, उदयपुर, बीकानेर आदि राज्यों के कुछ राजाओं की जीवनियाँ (सं० १९२० के लगभग) और बाबू रामनारायण दूगड़ कृत 'राजस्थान रत्नाकर' (सं० १९६९ १९७०)। प्रस्तुत विषय की दृष्टि से सबसे अधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे गए—

(१) वही फुटनोट ३
(२) वही, फुटनोट ४
(३) पृष्ठ १४२-१४७

(क) गौरीशंकर हीराचंद ओझा कृत 'उदयपुर राज्य का इतिहास', दो जिल्द। पहली जिल्द वि० सं० १९८५, द्वितीय सं० १९९९
(ख) विश्वेश्वरनाथ रेउ कृत 'मारवाड़ का इतिहास' २ भाग—प्रथम सन् १९३८ द्वितीय सन् १९४०)
(ग) जगदीशसिंह गहलोत कृत 'राजपूताने का इतिहास' (प्रथम भाग सन् १९३७)
(घ) ठाकुर गोपालसिंह राठौर मेड़तिया कृत जयमल वंश-प्रकाश
(ङ) हर बिलास सारदा कृत 'महाराणा सांगा' (सं० १९८१)
(च) ठा० चतुरसिंह वर्मा कृत 'चतुर-कुल चरित' (सन् १९०२)

इनके अतिरिक्त अन्य इतिहास-ग्रंथ भी हैं, जिनसे मीरां के जीवन की अनेक घटनाओं और उनसे सम्बन्धित व्यक्तियों पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रकाश पड़ता है और मीरां के जीवनवृत्त के पुनर्निर्माण में सहायता मिलती है, परन्तु इन समस्त ग्रन्थों का उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं है और न अपनी समग्रता में ये हमारे अध्ययन के आधार हैं। इनकी आवश्यक सामग्री का यथास्थान उल्लेख कर दिया गया है।

हिन्दी-साहित्य के तीन प्राचीनतम इतिहास

हिन्दी-साहित्य का प्राचीनतम इतिहास फ्रांसीसी विद्वान् गार्सां द तासी कृत 'इस्त्वार द ला लितरेत्यूर ऐंदूई ऐंदूस्तानी' है। इसका पहला संस्करण दो भागों में क्रमशः सन् १८३९ तथा सन् १८४७ में पेरिस से प्रकाशित हुआ था। यह रचना फ्रेंच भाषा में थी। हिन्दी में सबसे पहले हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखने वाले विद्वान् थे शिवसिंह सेंगर। उनका इतिहास 'शिवसिंह सरोज' सन् १८७७ में प्रकाशित हुआ था। इसके बारह वर्ष पश्चात् सन् १८८९ में सर जार्ज ग्रियर्सन कृत 'दी मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव हिन्दुस्तान' नाम से हिन्दी साहित्य का एक संक्षिप्त इतिहास अंग्रेजी में प्रकाशित हुआ। यही तीन हिन्दी-साहित्य के प्राचीनतम प्रकाशित इतिहास हैं। रचना-काल दृष्टि से ये तीनों १९वीं शताब्दी के ग्रंथ हैं।

(१) तासी ने अपने इतिहास में 'मीरां या मीरांबाई' शीर्षक के अन्तर्गत मीरां के जीवन-वृत्त को संक्षेप में लिखा है।[1] अन्त में उन्होंने दो पदों का अनुवाद भी दिया है। तासी के मीरां सम्बन्धी उल्लेखों का विवेचन करते

---

(१) हिंदुई साहित्य का इतिहास मूल लेखक-गार्सां द तासी अनुवादक—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय पृष्ठ २१२-२१८

पर उनके आधार निम्नांकित ग्रंथ ठहरते हैं—

(१) नाभादास कृत भक्तमाल और उसपर प्रियादास की 'भक्तिरस बोधिनी' टीका।

(२) टॉड के 'ऐनल्स ऑव राजस्थान' तथा 'ट्रैविल्स्'।

(३) प्रिन्सेप की 'यूसफुल टेबिल्स्'।

(४) एच० ये० विल्सन कृत 'मिमोयर्स ऑन द रिलिजस सेक्ट्स ऑव द हिन्दूज' तथा 'एशियाटिक रिसर्चेज'।

तासी ने ऊपर के ग्रंथों के अतिरिक्त कोई नई सामग्री नहीं दी। एकाध स्थल पर प्रियादास की टीका के उल्लेख को तनिक तोड़-मोड़ कर प्रस्तुत कर दिया है, जैसे—टीका के अनुसार एक विषई कुटिल साधु वेष धरकर मीरां के पास अंग-संग करने की मांग लेकर गया था और उसका कहना था कि उसे गिरिधर लाल ने यह आज्ञा दी है। तासी के अनुसार 'स्वामी की आज्ञा का जिक्र करके एक भेडिये ने मीरां के पास जाकर अंग-संग करने की बात कही।

(२) शिवसिंह सेंगर ने अपने इतिहास 'शिवसिंह सरोज' में मीरां का उल्लेख तीन स्थानों पर किया है।[1] स्वयं लेखक का कथन यह है कि 'तुलसीदास कायस्थ कृत भक्तमाल और तारीख चित्तौड़ को मिलाने पर उसे दोनों में अन्तर मिला। अतः उसने दूसरे आधार पर मीरां का जीवन चरित्र लिखा। मीरां-सम्बन्धी उल्लेख को देखने से यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि 'सरोज' का आधारभूत ग्रंथ'तारीख चित्तौड़'टॉड का 'ऐनल्स ऐंड ऐंटीक्विटीज ऑव राजस्थान' ही है। यही एक इतिहास है जिसका उल्लेख सरोजकार ने बड़े आदर के साथ भूमिका में सहायक ग्रंथों में किया है। मीरां की रचनाओं के रूप में एक दोहा और एक सवैया दिया हुआ है। सवैया देव का लिखा हुआ है। वह कई भक्तमालों में भी उद्धृत है। तासी द्वारा प्रस्तुत मीरां का परिचय शिवसिंह सेंगर की अपेक्षा अधिक विस्तृत और आलोचनात्मक है। उसमें उपयोग भी अधिक सामग्री का हुआ है।

(३) जार्ज ग्रियर्सन ने "द मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव हिन्दुस्तान" में मीरांबाई का तीन जगह उल्लेख किया है।[2] एक ग्रन्थ साहब में आए कवियों की

(१) शिवसिंह सरोज पृष्ठ १० २७६-७७, ४६१

(२) संख्या २३ पृष्ठ १३ 'कुंभकरण' पृष्ठ १३ संख्या २० पृष्ठ १२

सूची में दूसरे 'कुंभकरण' के परिचय के साथ और तीसरे, स्वयं मीरांबाई के परिचय में। मीरांबाई के परिचय के लिए प्रयुक्त आधारभूत सामग्री इस प्रकार है—

(१) ऐनल्स एण्ड ऐंटीक्विटी ऑव राजस्थान टॉड
(२) 'उदयपुर' तथा 'सैक्ट्स ऑव हिंदूज' विल्सन
(३) शिवसिंह-सरोज शिवसिंह सेंगर

यद्यपि सूची में भक्तमाल गोसाईं चरित आदि का भी उल्लेख है, परन्तु मीरां के विषय में विवरण प्रस्तुत करने में इनकी सहायता नहीं ली गई। कुछ भी हो ग्रियर्सन उक्त ग्रंथों की सीमा से बाहर नहीं गए। अतः उनकी सामग्री पर अलग से विचार करना अनावश्यक है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि उक्त इतिहास-लेखकों ने मीरां की जीवनी प्रस्तुत करने में *टॉड विल्सन ग्रियर्सन* और *नाभादास* की रचनाओं का ही प्रयोग किया है। प्रस्तुत कृति में इन लेखकों की कृतियों की सामग्री का सीधे उपयोग किया गया है।

अन्य प्रमुख इतिहास

उक्त तीन इतिहासों के बाद हिन्दी-साहित्य की धारा का अनेक दृष्टियों से अध्ययन प्रस्तुत हुआ। कुछ इतिहास विशेष कालों को लेकर लिखे गए और उनमें स्वभावतः विस्तार अधिक रहे, मगर अधिकांश इतिहास संपूर्ण धारा की झाँकी (आलोचनात्मक और परिचयात्मक) प्रस्तुत करते रहे। इनमें जहाँ भक्ति-काल का विवेचन हुआ है, मीरांबाई का उल्लेख अवश्य आया है। गुजराती लेखक मीरां को गुजराती की कवयित्री मानते रहे हैं। अतएव गुजराती साहित्य के इतिहासों में भी मीरां के जीवन-चरित्र तथा काव्य पर प्रकाश डाला गया है। इन समस्त इतिहासों का उल्लेख यहाँ संभव नहीं है। मुख्य इतिहास जिनके द्वारा मीरां के जीवन के अध्ययन में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से महत्व पूर्ण योग मिलता है, कालक्रम से इस प्रकार है—

(१) माइलस्टोन्स इन गुजराती लिटरेचर—के० एम० झवेरी सन् १९१४
(२) मिश्रबंधु विनोद—मिश्रबंधु (४ भाग) प्रथम तीन भाग सं० १९७० में प्रकाशित चौथा सं० १९९१
(३) हिन्दी साहित्य का इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रथम

संस्करण सं० १९८१ संशोधित संस्करण सं० १९९७

(४) हिन्दी भाषा और साहित्य—डॉ० श्यामसुन्दर दास (सं० १९-८७) सं० २००१ में 'हिन्दी साहित्य' नाम का परिवर्तित तथा परिमार्जित संस्करण

(५) हिंदी भाषा और उसके साहित्य का विकास—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रकाशन-काल ग्रंथ में नहीं दिया है)

(६) हिन्दी साहित्य का इतिहास—डॉ० रसाल (स० १९८८)

(७) गुजरात एंड इट्स लिटरेचर—कन्हैयालाल एम० मुंशी (प्रथम संस्करण १९३५ ई०)

(८) हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—(सं० ७५०-१७५०) डॉ० रामकुमार वर्मा (प्रथम संस्करण सन् १९३८ तृतीय परिवर्धित तथा संशोधित संस्करण सन् १९५४)

(९) हिन्दी-साहित्य की भूमिका—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी (सन् १९४०)

(१०) राजस्थान का पिंगल साहित्य—पं० मोतीलाल मेनारिया (१९५२ ई० संशोधित संस्करण सन् १९५८)

(११) कवि-चरित—क० का० शास्त्री (सन् १९५२, दूसरा संस्करण)

(१२) हिन्दी-साहित्य—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी (सन् १९५५)

इतिहासेतर ग्रन्थ

इसके अतिरिक्त मीरांबाई के विषय में जीवनी और काव्य को लेकर हिन्दी गुजराती मराठी और बंगला में अनेक परिचयात्मक तथा आलोचनात्मक ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं, लेखों की संख्या भी कम नहीं है। मीरां के पदों के संग्रहों की भूमिकाओं के रूप में भी बहुत-सी सामग्री बिखरी पड़ी है। इन सब का उल्लेख यहाँ संभव नहीं है। यथास्थान इनका उल्लेख कर दिया गया है।

शिलालेख :

मीरां के सम्बन्ध में कोई प्राचीन शिलालेख नहीं मिलता। मीरां की जीवनी के निर्धारण में जिन शिलालेखों की चर्चा की गई है, उनका विचार कर लेना आवश्यक है। ये शिलालेख हैं—

(१) आमेर के जगदीशजी के मन्दिर का शिलालेख :

भक्त-नामावली के संपादक श्री राधाकृष्णदास के अनुसार आमेर[1] में स्थित जगत शिरोमणि जी के मन्दिर में गरुड़ की संगमरमर की मूर्ति की चौकी पर निम्नलिखित लेख अंकित है —

"सं० १६११ फागु सुदी साता संघ का सुभवार मोहीय ईसर की से"

'सं० १७१९ मि० सावन सुदी ८—दास रो बेटा—दुबे भैरु'"[2]

इन लेखों के आधार पर उक्त संपादक ने अनुमान लगाया है कि संवत् १६११ में चित्तौड़ में मीरांबाई के इष्टदेव की मूर्ति स्थापित की गई और १७१९ में यही मूर्ति आमेर में प्रतिष्ठित हुई। बाद के कई मान्य विद्वानों ने इन उल्लेखों के आधार पर मीरां के जीवन-काल और उनके आराध्य गिरिधर की मूर्ति के सम्बन्ध में आश्चर्यजनक निष्कर्ष निकाले हैं।[3]

वस्तुत गरुड़ की मूर्ति की चौकी पर निम्नांकित लेख खुदा हुआ है—

"संवत् १८७७ फागुन सुदी सप्तमी बसंत का सुभवार मोहीय ईसर चौसे"

राधाकृष्णदासजी ने गलती से १८ को १६ तथा ७७ को ११ पढ़ लिया और आगे चलकर विद्वानों की एक बड़ी संख्या १८७७ को १६११ मानकर अनेक काल्पनिक मान्यताएँ गढ़ती रही।

गरुड़जी की इस छतरी के बाहरी भाग में ऊपर की ओर कुछ अक्षर खुदे हुए हैं जो अब अस्पष्ट और अपाठ्य हो गए हैं। छतरी के सामने नीचे की ओर निम्नांकित दो पंक्तियाँ और खुदी हैं—

(क) चरन सरन बाबा राम गोपाल की काम

(ख) चरन सरन तुलसी बाबी परी

इनके अतिरिक्त मन्दिर के भीतर कई "चरन-सरन" खुदी हुई हैं। इनमें विभिन्न पुजारियों के नामादि खुदे हैं। सबसे प्राचीन "चरन सरन" संवत् १८५० की है।

"चरन सरन" के उल्लेखों से मीरां के विषय में सूचना मिलने का

---

(१) महावीरसिंह गहलोत ने "मीरां-जीवनी और काव्य" में "आमेर में इस शिलालेख का वर्तमान होना लिखा है, जो वस्तुतः सही नहीं है।

(२) डॉ० श्रीकृष्णलाल—मीरांबाई पृष्ठ ५० से उद्धृत
विचार विमर्श चन्द्रबली पाण्डेय, पृष्ठ ७८

(३) मीरांबाई पृष्ठ ५१

कोई प्रश्न ही नहीं है। गरुड़ की मूर्ति के आसन पर खुदा हुआ लेख भी इस दृष्टि से अनुपयोगी है। लेख के अक्षर भद्दे हैं एवं सीधी पंक्ति में भी नहीं हैं जब कि गरुड़ की मूर्ति अत्यन्त सुन्दर है। दोनों को देखकर कोई नहीं कह सकता कि इतनी सुन्दर मूर्ति बनानेवाले कलाकारों और उसका निर्माण करानेवाले राजा का कलात्मक बोध शून्य होगा। दूसरी बात यह है कि अक्षर चौकी के सामने वाले खड़े तल पर नहीं हैं (जैसा कि प्रायः चौकियों में होता है) चौकी के पड़े तल पर हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मूर्ति की स्थापना के पश्चात् किसी अनुपात कलाबोध से हीन व्यक्ति ने यह कारीगरी दिखाई है। अतः इस लेख की उपादेयता शून्य है।

(२) मेड़ते की मीरां की मूर्ति पर खुदा लेख -

मेड़ते में चतुर्भुजा जी के मन्दिर में मीरां की मूर्ति है। इस पर मीरां का जन्म-संवत् १५५५ विवाह-संवत् १५७३ और निर्वाण-संवत् १६०३ खुदा हुआ है। हो सकता है कि भविष्य में इन संवतों को इसलिए महत्त्व दिया जाने लगे क्योंकि ये मीरां के पूजा-स्थल से संबद्ध हैं। इससे धीरे-धीरे स्थानीय जन श्रुतियों को भी जन्म मिल सकता है।

डीडवाना के सेठ मनीराम रामकुमार बांगड़जी ने हाल ही में जब मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया था तभी उन्होंने यह मूर्ति बनवाई थी। सेठजी से लेखक को ज्ञात हुआ कि इन मूर्तियों पर जब जन्म-मरण की तिथियां और संवत् खुदवाने का प्रश्न आया तो इन तिथियों को जानने की जटिल समस्या प्रस्तुत हो गई और इन्हें जानने का कोई विश्वसनीय आधार नहीं मिला।

(३) कुछ लोगों का अनुमान है कि बदनोर में मीरां का कोई शिलालेख है। उदयपुर के कविराजा मोहनसिंह जी को इस बात की सूचना मिली थी। बदनोर में वस्तुतः मीरां से सम्बन्ध रखनेवाला कोई शिलालेख नहीं है।

दान-पत्र:

गदाधर नामक पुरोहित को मीरां द्वारा दान-पत्र देने की भी चर्चा की जाती है। गहलोत जी का कथन है कि उन्होंने दान-पत्र का उल्लेख नहीं देखा था। अभी तक कोई दान-पत्र प्रकाश में नहीं आया। मीरां ने जिस परिस्थिति में चित्तौड़ छोड़ा था उसमें उनके द्वारा किसी को दान-पत्र देने की सम्भावना नहीं है।

किशनगढ़ संग्रह का चित्र

किशनगढ़ के चित्र-संग्रह में सूरदास मीरां कबीर, हितहरिवंश वल्लभाचार्य आदि के चित्र भी थे जिन्हें डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल प्रथम बार प्रकाश में लाए। इन चित्रों में आरती के अवसर का मीरां और साथ में अन्य भक्तों का एक सामूहिक चित्र भी है। डॉ० अग्रवाल से लेखक को ज्ञात हुआ कि कदाचित् ये चित्र प्राचीनतर चित्रों की प्रतिकृतियां हैं। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध चित्र-कला विचारद श्री एरिक डिकिन्सन का किशनगढ़ चित्र-संग्रह के विषय में निम्नांकित वक्तव्य उल्लेखनीय है—

'चित्रों के बस्ते बराबर सामने आते-जाते थे—पहले की 'सबीहा' या प्रतिकृति की श्रेणी जो संख्या में सबसे अधिक थी। इसमें प्रसिद्ध संत, दरवेश मालक राजा-महाराजा नवाब-बादशाह और नायिकाओं के चित्र थे। भिन्न समयों पर किशनगढ़ की चित्रशाला में ये चित्र लिखे गए थे और काफी विश्वसनीय थे किन्तु ये कृतियाँ राजपूत कालीन चित्रकला की 'राजस्थानी' सबीहों की भांति ही थीं।'[1]

ऊपर के उद्धरण से इतना तो स्पष्ट है कि किशनगढ़ संग्रह के संत दरवेशों के चित्र (जिनमें मीरां का चित्र भी आ जाता है) सबीहा अर्थात् प्रतिकृति हैं और विश्वसनीय हैं।

मीरां का उक्त चित्र लगभग २०० वर्ष प्राचीन है। अगर यह चित्र प्रतिकृति है तो यह मानना पड़ेगा कि इसका मूल्य २०० वर्ष प्राचीन सामग्री से अधिक है। इस संग्रह के राजा और उमराओं के चित्रों में उदयपुर, जोधपुर और जयपुर का विशेष स्थान था। इस आधार पर डिकिन्सन का कहना है कि सम्भवतः इनमें से कुछ चित्र प्रेमोपहार के रूप में किशनगढ़ आए होंगे। मीरां जोधपुर के राठौड़ों की मेड़तिया शाखा की थीं और चित्तौड़ के राणाओं के उस राजघराने में उनका विवाह हुआ था जिसने उदयपुर को बसाया और अपनी राजधानी बनाया था। अतः जोधपुर और उदयपुर से उपहार स्वरूप प्रेषित चित्रों में मीरां के चित्र के सम्मिलित रहने की सम्भावना अन्य भक्तों और संतों की सबीहों की अपेक्षा कहीं अधिक है। इस स्थिति में प्रस्तुत चित्र की विश्वसनीयता और बढ़ जाती है।

मीरां के इस चित्र से निम्नांकित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

---

(१) पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ—'किशनगढ़ चित्र-शैली में बनी-ठनी राधा' पृष्ठ ७२६

(१) मीरां सगुण भाव की उपासिका थीं। वे पूजा-अर्चन करतीं तिलक लगातीं और माला फेरती थीं।

(२) वे पर्दा नहीं करती थीं उसकी विरोधी भी थीं। भारती के समय पुरुषों की उपस्थिति और साथ ही पूजा करने वाली स्त्रियों का मुँह खोलकर निस्संकोच भाव से उपस्थित रहना पर्दे के सम्बन्ध में उनकी और उनके साथ की स्त्रियों की सामान्य मान्यता की ओर संकेत करता है।

(३) वे सादा वस्त्र पहनती थीं। राजसी ठाठ उन्होंने त्याग दिया था।

(४) उनमें साम्प्रदायिकता नहीं थी। भारती के समय बैठे भक्तों के तिलकों की विभिन्नता इस बात की ओर संकेत करती है।

प्रशस्ति-पत्र

मीरां का महत्व राजकीय स्थिति के बल पर नहीं भक्ति के कारण था। न उन्होंने दान-पत्र दिए थे न महल बनवाए थे। घर के लोग भी उनसे रुष्ट थे। अतः उनकी कीर्ति को शिलालेखों या ताम्र-पत्रों में सुरक्षित करने की संभावना कम ही है।

वि० सं० १६०५ वैशाख शुक्ल १२ को जगत शिरोमणि के मंदिर की 'बड़ी पोलि दरवाजे के बाहर' प्रतिष्ठा हुई। इस मंदिर के प्रशस्ति-पत्र में मीरां का उल्लेख है। पत्र का मीरां-सम्बन्धी अंश इस प्रकार है—

पूर्वे श्री चित्रकूटे क्षितिविदितगिरीनधर्मेण। विधंये श्रोस्त्रीमृन्मेदपाट द्विपदमहमराष्ट्रमपेसम्भूतभूमौ ॥ मीराराज्ञीशिरस्यस्तबहुनृपनयसिंहपुष्ट्यम्बरीस्या वीर्ये स्वस्वापितासांवृत्तमपुरवरे मंदिरे स्वर्णमूर्ये ॥२७॥

काल की दृष्टि से यह सामग्री नवीन है। इससे पुरानी प्रामाणिक सामग्री के प्राप्त होने के कारण इसका महत्व अधिक नहीं है। फिर इससे मीरां के जीवन पर कोई महत्वपूर्ण प्रकाश भी नहीं पड़ता।

अन्तःसाक्ष्य

मीरां का प्रत्येक पद उनकी किसी न किसी भावना को अभिव्यक्त करता है और इसलिए प्रत्येक पद मीरां के अन्तर्जगत का परिचय देकर उनके जीवन-वृत्त की सामग्री प्रस्तुत करता है। किन्तु, कुछ पद ऐसे भी हैं जिनमें मीरां के जीवन से सम्बंधित किसी प्रमुख घटना पर प्रकाश पड़ता है। यहाँ पर उनके पदों पर आधारित ऐसी ही प्रमुख बातों का उल्लेख किया जा रहा है। वे इस प्रकार हैं—

वैधव्य जग सुहाग मिथ्या री सजाणी होंवा हो मिट जासी[1]
गिरधर गास्यां सती न होस्यां मन मोह्यो घननामी[2]

विष-पान राणै जू विष दीनो हम जानी[3]
विषरो प्यालो राणा भेज्यां पीय मगन हूयां[4]

कालानाग कालानाग पिटार्‌या भेज्यां सालिगराम पिछाणीरी[5]

राणा सूरजवंश सिंघासन राजा पंडित फिरता द्वारा
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, राणो भगत संभारा[6]
जेठ-बहु को नातो नाही राणाजी
हो सेवक थे स्वामी[7]

सास लोग कह्यां मीरां भई बावरी सासू कह्यां कुलनासी री[8]

राणा-राज्य का परित्याग तज धूया नगर मरेस[9]
तज्यो देसरा देस हू तथि
तज्यो राणा राज[10]

वैराग्य माया छाड्यां बंधां छाड्यां छांड्यां सगा सूयां[11]
मूठा कुटुम्ब प्यारी[12]

आराध्य म्हारांरी गिरधर गोपाल दूसरा न कूया[13]

साधना भगति रसीली जाची[14]
प्रेम भगति रो पैंडा म्हारो और न जाणा रीत[15]
अँसुवा जल सींच प्रेम बेलि बूयां[16]

सेवा चरणामृत रो नेम सकारे नित उठ दरसन जास्यां
हरि मंदिर मा निरत करावां घूंघरया घमकास्यो[17]

साधु-संगत साधां संग बैठ-बैठ लोक लाज खोई[18]

---

(१) वि० सं० पद ३ (२) नागरीदास पद १ (३) वही, पद २
(४) वि० स० पद १० (५) डाकोर, पद ११ (६) वही, पद ११
(७) नागरीदास पद १ (८) डाकोर, पद ४७ (९) डाकोर, पद ५७
(१०) नागरीदास, पद ३ (११) डाकोर, पद १ (१२) वही पद ४३
(१३) वही, पद १ (१४) काशी पद ७३ (१५) डाकोर पद१६
(१६) वही, पद १ (१७) काशी पद १०१ (१८) वि० सं० ––

रूप-रेखा

पिछले पृष्ठों में कवयित्री मीरांबाई के 'जीवन-वृत्त' के अध्ययन की आधारभूत सामग्री की समीक्षा की गई है। जो सामग्री किसी सीमा तक प्रामाणिक या विश्वसनीय मानी जा सकती है उसी के आधार पर मीरांबाई के जीवन की रूपरेखा निर्धारित करने का प्रयत्न इस अध्याय में किया जा रहा है।

जन्म-तिथि :

मीरांबाई की जन्म-तिथि के संबन्ध में कोई मीरां-कालीन प्रामाणिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। कवयित्री की कृतियों में भी ऐसा कोई उल्लेख नहीं है, जिसके आधार पर उनकी जन्म-तिथि निश्चय के साथ निर्धारित की जा सके।

आचार्य ललिताप्रसाद सुकुल द्वारा प्रकाशित 'डाकोर की प्रति' में (१७) वी संख्या के पद में प्रथम पंक्ति है 'रास पूर्णो जणमिया री राधका अवतार'[१] इस पंक्ति के उल्लेख के आधार पर सुकुलजी ने "रास पूना" को मीरां की जन्म-तिथि माना है। वर्ष का उल्लेख उन्होंने नहीं किया। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि इस विशेष दिन ही मीरां के अवतरित होने में कुछ रहस्य है 'कृष्ण का जन्म हुआ था भादों की अँधेरी रात की अष्टमी को राम ने अवतार लिया था चैत मास के शुक्ल पक्ष में नवमी को, अर्थात् यदि पृथ्वी पर आधा प्रकाश था तो आधा अंधकार भी था—ये दोनों ईश्वरीय अवतार थे। किन्तु इन अवतारों को छोड़कर दैवी विभूतियों के अवतरित होने के समय उनसे भिन्न देखे जाते हैं। बुद्ध पृथ्वी पर अपना समस्त प्रकाश-पुंज लेकर आये थे वैशाख पूर्णिमा को कबीर ज्येष्ठ की पूर्णिमा को और मीरांबाई रास पूर्णिमा को।'[२] उसी अंक के एक अन्य लेख में कुमारी उर्मिला

(१) मीरा-स्मृति ग्रंथ—मीरां पदावली पृष्ठ १६

(२) व्रजभारती—वर्ष २ अंक ४ (सं० २०११) बंगीय हिन्दी-परिषद् "दृष्टि पथ-मीरां"—लेख-पृष्ठ २

भंडारी एम० ए० ने दूसरे शब्दों में शुक्लजी के इसी मत को दुहराया है।[1]

मीरां के इस विशेष दिन जन्म लेने के रहस्य का जो उद्घाटन शुक्लजी ने किया है उसमें उनकी भक्ति-भावना, सहज श्रद्धा और अलौकिक के प्रति तर्कातीत विश्वास की अभिव्यक्ति है, कार्य कारण का कोई बुद्धिगम्य संबन्ध उसमें नहीं है। संसार के अन्य सर्वमान्य महान् पुरुषों और अवतारों की जन्म-तिथियों पर दृष्टिपात करने से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि महापुरुष पूर्णिमा को ही (जब सब ओर प्रकाश होता है) जन्म नहीं लेते[2] और समस्त अवतारों के जन्म "आधी अँधेरी और आधी उजेली" रातों वाली तिथियों को ही नहीं हुए।

अनेक प्रमाणों से यह भी स्पष्ट है कि उक्त पद पदावली में बाद में जोड़ा हुआ है। अतएव उसका साक्ष्य विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।[3]

एक दूसरी परंपरा मीरां का जन्म संवत् १५७३ वि० को मानती है। मिश्र बंधुओं ने अपने "विनोद" में इसका उल्लेख किया है।[4] एनीबेसेन्ट भी इसी मत की है।[5] आगे चलकर पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी मीरां के जन्म का वर्ष यही माना है।[6] शुक्ल जी का मत 'मिश्रबंधु-विनोद' के उल्लेख पर ही आधारित है। इस सूचना के मूल आधार के विषय में विनोदकार मौन हैं और शुक्लजी भी।

इस मत को सही मानने पर मीरां की विवाह-तिथि (१२ वर्ष की आयु पर इनका-विवाह हुआ था) संवत् १५८५ वि० ठहरती है और यह एक सिद्ध ऐतिहासिक सत्य है कि मीरां के पति भोजराज अपने पिता की मृत्यु के पूर्व (अर्थात् माघ सुदी ९ वि० १५८४ के पूर्व) ही इहलोक-लीला समाप्त कर चुके थे। इसी प्रकार अन्य ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर

---

(१) वही, 'भूलें न भूलें' लेख—पृष्ठ १४

(२) तुलसीदास का जन्म भादों सुदी ११ को हुआ था—तुलसीदास डॉ०माताप्रसाद गुप्त पृष्ठ १४०, हितहरिवंश का जन्म वैशाख सुक्ल ११ को सूर्योदय-काल में हुआ था—राधावल्लभ-संप्रदाय सिद्धांत और साहित्य, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, पृष्ठ ६१

(३) विस्तृत विवेचन के लिए देखिए—तीसरा अध्याय (रचनाएं)

(४) मिश्रबन्धु-विनोद भाग १ पृष्ठ २२५

(५) मीरांबाई—भा० वि० मेहता से उद्धृत—पृष्ठ ५

(६) हिन्दी साहित्य का इतिहास,—रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १८४

परीक्षा करने पर भी एमीवेमेन्ट विनोदकार और गुप्तजी के उक्त मत का निरसन हो जाता है।

गौ० ही० ओझा मुं० देवीप्रसाद हरविलास सारदा आदि राजस्थानी इतिहास के मान्य विद्वानों ने ख्यातों के इस उल्लेख को एक मत से स्वीकार किया है कि भोजराज का विवाह सं० १५७३ में हुआ था।[1] मेड़तियों का इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि वीरमदेव ने वि० सं० १५७३ में अपने कनिष्ठ भ्राता रत्नसिंह जी की पुत्री मीरांबाई का विवाह किया।[2] इसकी से उक्त विद्वानों ने इस विवाह-संवत् को ही जन्म-संवत् मान लिया है।

विद्वानों का एक वर्ग मीरां को राणा कुंभा की पत्नी मानता आया है। इस मत के विद्वानों ने मीरां का जन्म-काल भी इस बात को ध्यान में रखकर निर्धारित किया है। वस्तुतः इस मान्यता की कोई निश्चित परम्परा नहीं है। परिस्थितियों के आधार पर इसका अनुमान किया गया है। इस वर्ग के विद्वानों के द्वारा दिए गए संवतों में वैभिन्य इस बात को तुरन्त स्पष्ट कर देता है।[3]

इसी प्रबन्ध में 'मीरांबाई के पति' शीर्षक के अन्तर्गत स्पष्ट किया गया है कि मीरां राणा सांगा के पुत्र भोजराज की पत्नी थीं, राणा कुंभा की

---

(१) उदयपुर राज्य का इतिहास ओझा—पृष्ठ ३६४, मीरांबाई का जीवन चरित्र, मुं० देवीप्रसाद, पृष्ठ ६, फुटनोट १ महाराणा सांगा, हर विलास सारदा, पृष्ठ ८८, फुटनोट

(२) जयमल-वंश-प्रकाश ठा० गोपालसिंह राठोड़ पृ० ६।

(३) मगनलाल नरोत्तमदास पटेल महाजन मण्डल : संवत् १४८०
केशवजी विश्वनाथ सती मण्डल संवत् १३८० (कदाचित् भूल से १४८० के स्थान पर १३८० छप गया है।)
गोवर्धनराम त्रिपाठी : संवत् १४६० विक्रमी
न्हानालाल कवि संवत् १४७५ विक्रमी
इच्छाराम सूर्यराम देसाई, बृहत् काव्य दोहन भाग ९ संवत् १४२६ विक्रमी
काशुभराम ज्योतिषी-आकारमाला : संवत् १४६०
महाराष्ट्र ज्ञान-कोष (म) ११ : संवत् १४६४
ग्रियर्सन, वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव हिंदुस्तान : (१४२० ई०) १४७७ विक्रमी
शिवसिंह, शिवसिंह सरोज १४७५ विक्रमी
कार्तिकप्रसाद खत्री, मीरांबाई का जीवन-चरित्र : १४७५ विक्रमी
इत्यादि :

नहीं । अतएव उन्हें कुंभा-पत्नी मानकर निर्धारित किए गए संवतों का मूलाधार ही अवास्तविक और असिद्ध है । मीरां के जन्म की ये तिथियाँ किसी प्रकार मान्य नहीं कही जा सकती ।

भाटों द्वारा उल्लेख :

(क) जोधपुर के इतिहासकार श्रीजगदीशसिंहजी गहलोत को राठोड़ों के रामीसंगा भाटों (ब्रह्मभट्टों) की हस्तलिखित बहियों से पता चला कि मीरांबाई राठोड़ का जन्म वि० सं० १५५५ श्रावण सुदी १ शुक्रवार को हुआ था । वहीं किसी अन्य बही से उन्हें ज्ञात हुआ कि मीरां का जन्म वि० सं० १५६१ श्रावण सुदी १ शुक्रवार को हुआ था ।[1]

(ख) ग्वालियर स्टेट के राज-ज्योतिषी पंडित बनवारीलाल के अनुसार "मीरांबाई का जन्म वि० सं० १५५७ वैसाख शुक्ल ३ प्रातःकाल हुआ था" ।[2] पुरोहितजी के संग्रह से प्राप्त इस सूचना के विषय में सूर्य नारायण चतुर्वेदी से भी लेखक ने चर्चा की । उन्होंने बताया कि ग्वालियर ही नहीं एक अन्य स्रोत से भी इसकी पुष्टि हुई है । चतुर्वेदीजी उस समय अत्यन्त रुग्ण थे और वह बीमारी उनका जीवन लेकर ही टली । अतः विशेष विस्तृत विवरण उनसे नहीं मिल सका ।

(ग) धर्मनियावास, कलपुरा (मारवाड़) निवासी मेड़तिया चौहानों के कुल-कुलगुरों तथा ओकेराव के उनके भाट के अनुसार मीरां का जन्म वैसाख सुदी ३ को सं० १५५५ में हुआ था ।[3]

उक्त उल्लेखों से निम्नलिखित ४ तिथियाँ मिलती हैं—

(१) श्रावण सुदी १ शुक्रवार संवत् १५५५
(२) श्रावण सुदी १ शुक्रवार संवत् १५६१
(३) वैसाख शुक्ल ३ संवत् १५५७
(४) वैसाख शुक्ल ३ संवत् १५५५

---

(१) भारत इतिहास-संशोधक मण्डल, स्वर्ण ग्रंथमाला क्रमांक ७८ सुखवीरसिंह गहलोत 'मीरां की जन्मतिथि-एक निर्णय'—पृष्ठ ११

(२) हरिनारायण पुरोहित के नाम बैरिस्टर बैज के पत्र के आधार पर (जयपुर स्थित उनके वैयक्तिक संग्रह से)

(३) मीरा स्मृति-ग्रंथ—मीरां के जीवन-वृत्त का स्थानीय साक्ष्य विद्यार्णव शर्मा झीझवाला पृष्ठ ५०

(३) और (४) तिथियों में दिन नहीं दिया गया। अतः गणना द्वारा इनकी शुद्धता-अशुद्धता पर विचार नहीं किया जा सकता। इनमें दी गई 'वैसाख सुक्ल तीज' तिथि का मेड़ता में महत्वपूर्ण माना जाता है। वस्तुतः यह तिथि मीरां की जन्म-तिथि नहीं है मेड़तिया राठोड़ों के आदि पुरुष, मीरां के पितामह दूदाजी द्वारा मेड़ता बसाने और राठोड़ों की मेड़तिया शाखा का श्रीगणेश करने की तिथि है।[1] केवल इसीलिए मेड़तियों और उनके चारण-भाटों के लिए यह तिथि महत्वपूर्ण है। पुरुषोत्तमदास पुरोहित ने इसीलिए अपना 'मीरांबाई' नाटक 'मीरां के ठाकुर जयमल के सहायक, मेड़तियों के इष्टदेव एवं मेड़तानगर में वामदेव श्री चतुर्भुजनाथ महाराज के चरणारविन्द में वैशाख शुक्ल अक्षय तृतीया ही को भक्तिपूर्वक समर्पित किया है।

इस दिन ग्रामदेवता के मन्दिर में रात भर जागरण और कीर्तन होता है। सामान्यतः चतुर्भुजजी की स्तुति के गीत और मीरां के पद गाए जाते हैं। कभी-कभी 'चारण-मण्डली" जैसी संस्थाएँ 'मीरांबाई' या जयमल-संबन्धी नाटक भी खेलती हैं। मेड़ता में यह दिन विशेष रूप से श्री चतुर्भुजजी के मन्दिर में ही मनाया जाता है। यहाँ इस दिन के महत्व और उत्सव को देखकर कुछ लोगों ने उसके मूल कारण को खोजने और जानने का कष्ट किए बिना ही इसे मीरांबाई की जन्म-तिथि के रूप में प्रचारित करने का प्रयास किया और दुःख की बात यह हुई कि राजस्थान के हरिनारायण पुरोहित तथा सूर्यनारायण चतुर्वेदी जैसे मीरां-साहित्य के विद्वानों ने उसे बिना छान-बीन के स्वीकार भी कर लिया। नए मेड़ता ने आदिकालीन इतिहास के उपस्थित पृष्ठ ही नहीं मेड़ता में इस दिन को आनन्दपूर्वक मनाने वाले प्रमुख सामाजिक कार्यकर्ता भी इस बात को जानते हैं कि यह दिन मीरां का जन्म-दिवस नहीं है, नए मेड़ता का स्थापना-दिवस है। इसीलिए मेड़ता स्थित चतुर्भुजजी के मन्दिर में हाल ही में प्रतिष्ठित मीरां की मूर्ति के ऊपर उनके जन्म संवत् के साथ इस तिथि का उल्लेख नहीं करवाया गया।

श्रावण सुदी १ शुक्रवार संवत् १५५५—यह तिथि गणना करने पर अशुद्ध ठहरती है। संवत् १५५५ विक्रमीय को श्रावण सुदी १ के दिन शनिवार था, शुक्रवार नहीं। शुक्रवार को साढ़ेतीस घटक या १२ बजकर १५ मिनट तक

---

(१) 'सं० १५१६ की वैशाख शुक्ल तृतीया को मेड़ता बसाया गया था'—
जयमल-वंश-प्रकाश पृष्ठ ५९

अमावस्या थी।[1]

अतः श्रावण सुदी ५ शुक्रवार संवत् १५५५ को मीराँ की जन्म-तिथि किसी प्रकार नहीं मानी जा सकती।

श्रावण सुदी १ शुक्रवार संवत् १५६१—गणना करने पर शुद्ध उतरती है। संवत् १५६१ में श्रावण के शुक्ल पक्ष में १ तिथि गुरुवार को ४८ घटक अर्थात् संध्या के ७ १० बजे से लेकर शुक्रवार को ४२॥ घटक अर्थात् संध्या के ५ बजे तक थी। अतः यह शुक्रवार को ही मानी गई होगी।[2]

मीराँ से संबन्धित तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं पर विचार करने पर भी संवत् १५६१ में मीराँ का जन्म मानना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

(१) मीराँ के पिता रत्नसिंह का जन्म संवत् १५३८ के पूर्व नहीं हुआ था। अनुमान यह है कि वे संवत् १५४०-४१ के आसपास जन्मे थे।[3]

रत्नसिंह के बड़े भाई और मेड़ता की गद्दी के युवराज वीरमदेव का विवाह १८ वर्ष की आयु में संवत् १५५३ में हुआ था। रत्नसिंह आयुक्रम से अपने भाइयों में चौथे थे। यदि उनका विवाह भी लगभग १८ वर्ष की आयु में हुआ हो तो वह संवत् १५५८-५९ में पड़ता है। इसे अधिक-से-अधिक १-२ वर्ष और पीछे हटाया जा सकता है। यह बात भी प्रसिद्ध है कि मीराँ का जन्म काफ़ी पूजा-पाठ और मनौतियों के पश्चात् हुआ था। अतएव उनका जन्म संवत् १५५५ या १५५७ में मानना तर्क-संगत नहीं कहा जा सकता उसकी सम्भावना संवत् १५६१ में ही हो सकती है।

(२) मीराँ का विवाह निश्चित रूप से संवत् १५७३ वि० में हुआ था और यह प्रसिद्ध है कि विवाह के समय मीराँ की आयु १२ वर्ष की थी।

(३) आगे यह सिद्ध किया गया है कि भोजराज का जन्म सं० १५५४

---

(१) एन इण्डियन एफेमेरिस जिल्द ५, सन् १९२२, एल० के० पिल्लै, पृष्ठ सं० १५५५ का

(२) वही सं० १५६१ का
कनिंघम द्वारा तैयार किए 'टेबुल्स' के आधार पर गणना करने पर भी यही परिणाम आते हैं।

(३) रत्नसिंह के सबसे बड़े भाई वीरमदेव का जन्म सं० १५३४ में हुआ था और रत्नसिंह आयु-क्रम में चौथे थे।

(४) जयमल-वंश-प्रकाश पृष्ठ ९८

१२ या उसके पश्चात् हुआ था। वर-कन्या की आयु में अन्तर अवश्य रहता है। अतएव सं० १५६१ को मीराँ की जन्म-तिथि मानना अधिक तर्क-संगत है।

इस प्रकार विभिन्न स्रोतों से प्राप्त सामग्री के विश्लेषण तिथि-गणना तथा ऐतिहासिक घटनाओं के साक्ष्य के आधार पर मीराँ की जन्म-तिथि श्रावण सुदी १ शुक्रवार संवत् १५६१ निर्धारित होती है।

मीराँ का जन्मस्थान और प्रारंभिक निवास-स्थल :

कोमेराव गाँव के मेड़तियों के भाट पाबूदानसिंहजी तथा स्थानीय जनश्रुति[1] के अनुसार मीराँ का जन्म कुड़की नामक ग्राम में हुआ था। दूदाजी ने मीराँ के पिता रत्नसिंह को खर्च के लिए १२ गाँव दिए थे। कुड़की उनका केन्द्र था। वहाँ पहाड़ी पर एक छोटा-सा किला है। कहा जाता है कि इसी किले में मीराँ जन्मी थीं।

मालकोट सम्बन्धी भ्रम[2]

मेड़ता के मालदेव दुर्ग के द्वार-रक्षक ने (दुर्ग के द्वार पर एक कोठरी में रहनेवाले उस व्यक्ति से यहाँ तात्पर्य है, जिसकी नियुक्ति वहाँ है द्वार-रक्षण का प्रश्न उस टूटे दुर्ग में नहीं है) सन् १९५४ में लेखक को बताया कि मीराँ उसी दुर्ग में पैदा हुई थीं और वहाँ एक मकान था जो नष्ट भ्रष्ट हो गया है। उसके अनुसार "मीराँ की माताजी की मृत्यु बहुत बचपन में ही हो गई थी इसलिए उन्हें उनकी मौसी के पास कुड़की ले गए।" ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात असंभव है, क्योंकि मालदेव ने मालदुर्ग का निर्माण मेड़ता-विजय के पश्चात् संवत् १५९४ ९६ में किया था।[3] उस समय मीराँ इस लोक में भी नहीं थीं।

मीराँ के पिता रत्नसिंह के अपने बड़े भाई वीरमदेव के साथ अनेक लड़ाइयों में जाने का साक्ष्य उपलब्ध है। रत्नसिंह के पिता (दूदाजी) तथा बड़े

---

(१) मीरा-स्मृति-ग्रंथ—मीराँ के जीवन का स्थानीय साक्ष्य विद्यानन्द शर्मा जोधपुर पृष्ठ ५२

(२) यह स्पष्टीकरण इसलिए आवश्यक है कि कुछ मीराँ-जीवन-चरित्र के प्रसिद्ध लेखकों तथा लेखिकाएँ ने इसका व्यापक जनश्रुति के रूप में उल्लेख किया है

(३) मारवाड़ का इतिहास रेउ, पृष्ठ १४३

भाई (वीरमदेव) का परिवार मेड़ता में ही था और मेड़ता कुड़की से केवल १८ मील दूर है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि मीरां प्रायः मेड़ता जाकर रहती होगी। अगर उनकी माँ के उनके शैशव में दिवंगत होने की अनुश्रुति को सत्य माना जाय तो इसकी संभावना और बढ़ जाती है। मंदिर के पीछे प्राचीन महल है, जहाँ आज प्राइमरी स्कूल है। वहीं दूदा का परिवार रहता था विशेषकर स्त्रियां। महल का सीधा संबन्ध मंदिर से था जिससे राज-परिवार की स्त्रियाँ रनवास से सीधी मंदिर में आ-जा सकती थी। कहा जाता है कि मीरां भी यहीं रहती थी।

मुख्य मंदिर के सामनेवाले द्वार के ऊपर तीन कमरे से बने हैं। मेड़ता में यह बात प्रसिद्ध है कि यहां बैठकर मीरां कीर्तन किया करती थीं। बैसाख सुदी ३ को यहां अब भी विशेष कीर्तन होता है और मीरां के भजन गाए जाते हैं। डीडवाना के मंगनीराम रामकुमार बांगड़जी ने इस मंदिर का जीर्णोद्धार कर उसमें द्वार के पास ही मीरां की मूर्ति स्थापित करवा दी है।

मीरां का पितृ-कुल

मारवाड़ के राठौड़ और उनकी मेड़तिया शाखा :

मीरां मेड़तिया राठौड़ वंश की थीं। ये मेड़तिया राठौड़ राजपूतों की उस शाखा के थे जो जोधपुर से आकर मेड़ते में बस गई थी। इस प्रकार यह शाखा मारवाड़ी राठोड़ों की एक उपशाखा थी।

मारवाड़ के राठौड़

राठोड़ों के आदि पुरुष कौन थे यह कहना कठिन है किन्तु उनकी मारवाड़ी शाखा के मूल पुरुष राव सीहाजी थे जो कन्नौज के राजा जयचन्द्र के पौत्र थे।[1] इन्होंने विक्रम की १४वीं शताब्दी के प्रारंभ में पाली (मारवाड़) में अपना राज्य स्थापित किया था।[2] इनके पश्चात् राव आसथानजी राव धूहड़जी राव रायपालजी राव कनपालजी राव जालणसीजी राव छाड़ाजी राव तीड़ाजी राव सलखाजी राव वीरमजी राव चूंडाजी राव कान्हाजी राव सत्ताजी राव रिड़मलजी क्रमशः राठोड़-राज्य के स्वामी हुए। तत्पश्चात् गद्दी

(१) जर्नल ऑव द बंगाल एशियाटिक सोसाइटी (१९२०) नं० ६, पृष्ठ २७१
(२) रेउ, मारवाड़ का इतिहास भाग १ पृष्ठ ३७

का अधिकार मेड़तिया शाखा के प्रवर्तक दूदाजी के पिताजी राव जोधाजी को प्राप्त हुआ जिन्होंने जोधपुर की नींव डाली।[1]

मेड़तिया राठोड़ शाखा का प्रारंभ

राव दूदाजी :

मेड़तिया शाखा के प्रवर्तक राव दूदाजी राव जोधाजी के चतुर्थ पुत्र थे। इनका जन्म वि० संवत् १४९७ में अषाढ़ शुक्ल ११ बुधवार को मारवाड़ की तत्कालीन राजधानी मंडोवर में हुआ था।[2] इनके जन्म के दो वर्ष पूर्व ही इनके पितामह राव रणमलजी चित्तौड़ के किले में कपट से मारे जा चुके थे। इनकी पैतृक राजधानी मंडोवर पर भी राणा कुंभा का अधिकार हो गया था। अतः इनके पिता राव जोधाजी ने अपने पैतृक राज्य की प्राप्ति के लिए पुनः प्रयत्न प्रारंभ किया और संवत् १५१० में मंडोवर से ६ मील दक्षिण में नया किला बनवाना प्रारंभ किया और उसी के पास अपने नाम पर जोधपुर नगर बसाया।[3] तत्पश्चात् वि० संवत् १५१८ में उन्होंने अपने पुत्र वरसिंह और दूदा को मेड़ता पर अधिकार करने के लिए भेजा। मेड़ता उन दिनों मालव के सुलतान महमूद खिलजी के अधिकार में था। दोनों भाइयों ने उक्त नगर के साथ ही उस प्रान्त के ३६० गाँवों पर भी अधिकार कर लिया। तभी उन्होंने प्राचीन बस्ती के दक्षिण में नया मेड़ता नगर बसाया[4] और संवत् १५१९ की बैसाख शुक्ल तृतीया से दूदाजी अपने भ्राता वरसिंहजी सहित सपरिवार मेड़ते में आकर रहने लगे।[5] इस प्रकार, संवत् १५१९ में राठोड़ों की मेड़तिया शाखा का प्रारंभ हुआ।

राव दूदाजी के दो पत्नियाँ थीं—एक सीसोदनी चन्द्रकुँवरी और दूसरी चौहान मृगकुँवरी। दोनों रानियों से रावजी के ५ पुत्र और १ पुत्री गुलाब कुँवरी उत्पन्न हुई। राव दूदाजी के पुत्र आयु क्रम से इस प्रकार थे—[6]

---

(१) वही पृष्ठ १७८

(२) जयमल-वंश-प्रकाश ठाकुर गोपालसिंह राठोड़ ३, पृष्ठ १२

(३) मारवाड़ का इतिहास, रेउ (प्रथम भाग) पृष्ठ ५६

(४) वही पृष्ठ ६६

(५) जयमल-वंश प्रकाश, पृष्ठ ५७ ६१

(६) वही पृष्ठ ७१

(१) वीरमदेव—जन्म १५३४ गद्दी १५७२ मृत्यु १६००-वि०। राव दूदाजी के बाद मेड़ते के स्वामी हुए। इन्हीं के ज्येष्ठ पुत्र इतिहास-प्रसिद्ध वीर जयमल थे जिन्हें इनके बाद मेड़ते का राज्य मिला।

(२) रायसल—रायसलोत शाखा के मूल पुरुष

(३) पंचायण—संतानहीन

(४) रत्नसिंह—मीरांबाई के पिता

(५) रायमल—रायमलोत शाखा के मूल पुरुष

मीरों के पिता :

मेड़तिया राठोड़ों के कुलपुरुषों तथा जोधपुर के उनके भाट के यहाँ प्राचीन बहियों के उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि मीरां दूदा के पुत्र रत्नसिंह की पुत्री थी। मारवाड़[1] और मेवाड़[2] के सरकारी इतिहासों से इस बात की पुष्टि होती है। टॉड ने मीरांबाई को राव दूदा की पुत्री कहा है,[3] परन्तु टॉड का ज्ञान मेड़तिया राठोड़ों के विषय में नगण्य-सा था। उन्होंने इस शाखा के मूल पुरुष दूदा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उसके एक पुत्र था वीरम जिसके दो पुत्रों (जैमल और जगमल) ने जैमलोत और जगमलोत शाखाएँ चलाईं,[4] जबकि दूदा के ५ पुत्र थे और १ पुत्री। दूदा की पुत्री का नाम भी गुलाबकुँवरी था[5] मीरांबाई नहीं।

टॉड साहब मीरां को राणा कुंभा की पत्नी कह चुके थे और इसलिए उन्हें कुंभा की समकालीनता प्रदान करने के लिए मीरां को एक पीढ़ी ऊपर चढ़ा देना स्वाभाविक था।

मीरांबाई मेड़तिया राठोड़ थी और राठोड़ों की मेड़तिया शाखा का प्रारंभ दूदाजी से ही हुआ था। अतः टॉड साहब मीरां को दूदा के पिता जोधा

---

(१) विश्वेश्वरनाथ रेउ—मारवाड़ का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ १०३ फुटनोट संख्या-५

(२) गौ० ही० ओझा—उदयपुर का इतिहास, पृष्ठ ३५८
वीर-विनोद भाग १ 'महाराणा सग्रामसिंह' अध्याय, पृष्ठ २६२

(३) जेम्स टॉड—ऐनल्स एंड एंटीक्विटी ऑव राजस्थान संपादक क्रूक, दूसरी जिल्द, पृष्ठ १७

(४) वही—(रिमार्क्स) पृष्ठ १६५

(५) जयमल-वंश-प्रकाश, ठाकुर गोपालसिंह राठोड़, मेड़तिया, पृष्ठ ७१

की पुत्री' नहीं बता सके वरना वे कदाचित् यही करते क्योंकि काल क्रम की दृष्टि से कुंभा और चोंडा बराबर के थे। दूदा तो कुंभाजी के राज्याभिषेक के भी ७ वर्ष बाद उत्पन्न हुए थे।

एक भ्रम

मुंशी देवीप्रसाद ने 'मीराबाई का जीवन-चरित्र' नामक ग्रंथ में लिखा है कि मेवाड़ के महकमे तवारीख के अध्यक्ष कविराजा श्यामलदासजी से मीरां सम्बन्धी पूछताछ करने पर उन्होंने जवाब दिया कि 'मीराबाई का कोई सही हाल सिवाय इसके हमको मालूम न हुआ कि वे दूदाजी के पोते मेड़तिया राठोड़ रत्नसिंह की बेटी थीं—इत्यादि' वहीं फुटनोट में उन्होंने आगे कहा है कि 'गौरीशंकरजी ने भी यही लिखा है कि—'मीरांबाई महाराणा सांगा के दूसरे बेटे भोजराज की राणी और मेड़ते के राव दूदाजी के बेटे रत्नसिंह की बेटी थी—।' इन दो उद्धरणों को लेकर श्रीमती शबनम ने निष्कर्ष निकाला है कि 'जहाँ एक के आधार पर मीरां राव दूदा की पौत्री सिद्ध होती है वहीं दूसरे के आधार पर प्रपौत्री सिद्ध हो जाती है।'

इस विषय में निम्नलिखित बातें द्रष्टव्य हैं—

(१) उक्त कथनों से भी यह निष्कर्ष निस्संदेह रूप से निकलता है कि मेड़तणी मीरां रत्नसिंह की पुत्री थीं। इस विषय में कोई मतभेद कहीं नहीं है। श्रीमती शबनम द्वारा प्रस्तुत उद्धरणों में भी नहीं है। प्रश्न केवल यह उठ सकता है कि रत्नसिंह राव दूदा के पुत्र थे या पौत्र।

(२) कविराजा श्यामलदास के 'जवाब' का जो उल्लेख मुंशी देवी

---

(१) ओझा, 'उदयपुर राज्य का इतिहास', कुंभा की गद्दीनशीनी (सं० १४९०), पृष्ठ २७९
(कर्नल टॉड ने इसमें भी भूल की है। उन्होंने राज्याभिषेक का संवत् १४७९ दिया है)

विशेष : गुजराती कवि दयाराम ने जैमल (जयमल) को मीरां का पिता कहा है। जयमल के वंश का इतिहास अप्रकट नहीं है। उनकी पुत्रियों में कहीं मीरां नाम नहीं है। दूसरे, संवत् १५६४ में जन्म लेने वाला व्यक्ति संवत् १५६१ में उत्पन्न होने वाली मीरां का पिता कैसे हो सकता है?

(२) मीरांबाई का जीवन-चरित्र पृष्ठ २, फुटनोट

(३) मीरां एक अध्ययन, श्रीमती शबनम पृष्ठ २६

प्रसाद ने किया है, वह मौखिक ही था जबकि ओझाजी का उत्तर लिखित था। स्पष्ट है कि मौखिक बात कहने-सुनने या उद्धृत करने में कहीं पुत्र की जगह पोते अथवा चौथा की जगह दूदा की मामूली-सी भूल हो गई है, क्योंकि अपने इतिहास में सांवलदास जी ने स्पष्टतः लिखा है कि—'इनमें से (२) भोजराज जो सोलंकी रायमल्ल की बेटी के गर्भ से जन्मे थे उनका विवाह मेड़ता के राव दूदा जोधावत चौथे बेटे रत्नसिंह की बेटी मीरांबाई के साथ हुआ था। यही नहीं इसी इतिहास में अन्य कई स्थानों पर भी इसी आशय के उल्लेख हैं।[1]

(३) मेड़ते के इतिहास की सामग्री का चित्तौड़ या उदयपुर में मिलना इतना स्वाभाविक नहीं है जितना मेड़ता राज्य में। मारवाड़ और मेवाड़ के इतिहासों में रत्नसिंह के नाम का उल्लेख भी बड़ी चीज है। ये मेड़ते जैसी छोटी रियासत के १२ गाँव के जागीरदार मात्र थे। इन बड़े राज्यों के इतिहास में रत्नसिंह का विशेष परिचय न मिलना ही स्वाभाविक है। अतः इस विषय में मेवाड़ की अपेक्षा मेड़ता के राज्य-वंश के स्थानीय इतिहास अधिक विश्वसनीय हैं और वहाँ के इतिहास का इस सम्बन्ध में असंदिग्ध मत है कि मीरां दूदा के पुत्र रत्नसिंह की पुत्री थीं।[2]

मीरां के पिता रत्नसिंह जी राव दूदाजी के चौथे पुत्र थे।[3] दूदाजी के प्रथम पुत्र वीरमदेव जी का जन्म सं० १५३४ में हुआ था। दूदाजी के दो पत्नियाँ थीं। अतः रत्नसिंह का जन्म सं० १५३७ में या उसके बाद ही कभी हुआ होगा। इनको निर्वाह के लिए मेड़ता राज्य से कुड़की बाजोली आदि १२ गाँव दिए गए।[4] वि० सं० १५८४ चैत्र शुक्ल १४ को खानवे में राणा साँगा और बाबर के बीच हुए युद्ध में साँगा की ओर से युद्ध करते हुए ये वीरगति को प्राप्त हुए।[5]

---

(१) वीर विनोद, 'महाराणा रत्नसिंह,' पृष्ठ १
वही 'महाराणा संग्रामसिंह, पृष्ठ ३७१
वही 'महाराणा रत्नसिंह, पृष्ठ ३ फुटनोट ३

(२) जयमल-वंश-प्रकाश गोपालसिंह राठौड़ पृष्ठ ७१

(३) वही, पृष्ठ ७१

(४) वही पृष्ठ ६१

(५) उदयपुर राज्य का इतिहास, ओझा पृष्ठ ३६६

(६) जयमल-वंश-प्रकाश, गोपालसिंह राठौड़ पृष्ठ ७२

मीराँ की माता

राजस्थान के इतिहास में केवल उन्हीं स्त्रियों के परिचय मिलते हैं जो या तो राजाओं की प्रमुख पत्नियाँ थीं या जिनके कारण कुछ राजनीतिक उथल-पुथल हुए थे। कहीं-कहीं ख्यातों में राजाओं की पत्नियों की सूचियाँ भी दी गई हैं। मीराँ की माँ १२ गाँव के एक छोटे-से जागीरदार की पत्नी थीं अतः उनका परिचय किसी इतिहास में न मिलना ही स्वाभाविक है। स्थानीय किवदंतियों के आधार पर डीडवाना के विद्यानंद शर्मा ने लिखा है कि 'मीराँ बाई की माता का नाम कुसुम कुँवर था। वे टांकणी राजपूत थीं। मीराँबाई के नाना कैसनसिंहजी थे। मीराँ की माता कहाँ की थीं इसका उन्हें पता नहीं लगा।[1] हरिनारायण पुरोहित के अनुसार "मीराँबाई की माता का नाम वीरकुँवरि और नाना का नाम सुलतानसिंह था। ये जाति से झाला राजपूत थे। गोंमदा गाँव में ब्याहे थे।[2] वस्तुतः उक्त कथनों का कोई विश्वसनीय पुष्ट आधार नहीं है और मीराँबाई की माता के जीवन का ऐतिहासिक विवरण अंधकार में है।

मेड़ता में प्रचलित है कि मीराँ केवल दो ही वर्ष की थीं कि उनकी माँ का देहान्त हो गया।[1] तब राव दूदा ने मीराँ को मेड़ते में अपने पास बुला लिया। प्रियादास कृत 'श्री भक्तमाल की भक्तिरसबोधिनी टीका' में मीराँ के विवाह के समय इनके 'माता-पिता' के वर्तमान होने की व्यंजना होती है।[4] अन्य प्राचीन प्रमाण इस विषय में मौन हैं। मीराँ-छाप के कुछ पदों में 'माई' को संबोधन किया गया है। इनमें 'माई' शब्द से किसी साथ की सहानुभूति पूर्ण नारी या सखि या अंतरंग सहचरी की ओर संकेत होता है जन्मदात्री माँ की ओर नहीं। कुछ विद्वान् तो माई का प्रयोग इनकी दासी-सखी ललिता के लिए होने का अनुमान करते हैं।[5]

---

(१) मीराँ-स्मृति-ग्रंथ परिशिष्ट, पृष्ठ ५१

(२) मीराँ-एक अध्ययन श्रीमती पद्मावती शबनम पृष्ठ २६

(३) भावर्या भक्त अर्थात् मीराँबाई पुरुषोत्तमदास पुरोहित, भूमिका, पृ० २

(४) श्री भक्तमाल सटीक रूपकला पृष्ठ ७१४

(५) मीराँ-स्मृति-ग्रंथ—पदावली परिचय ललिताप्रसाद सुकुल पृष्ठ ए

भाई-बहन :

मीराँबाई अपने पिता की इकलौती संतान थीं ।[1] अतः मीराँबाई के सगे भाई-बहनों का प्रश्न ही नहीं उठता । मीराँ के पिता रत्नसिंह पाँच भाई थे । इनमें से तीसरे पंचायणजी के कोई संतान नहीं थी । रायमलजी तथा रायसलजी के पुत्र-पुत्रियाँ हुईं जिनसे क्रमशः रायमलोत और रायसलोत शाखाएँ चलीं पर ये लोग मेड़ता से बाहर की जागीरों के अधिकारी होकर चले गए अथवा अन्य राज्यों में सेवा करने लगे ।

राव वीरमदेवजी मेड़ता में ही रहे । उनसे मीराँ का अपेक्षाकृत अधिक सम्पर्क था । उनके ३ पुत्रियाँ और १३ पुत्र हुए थे ।[2] ये ही मीराँ के भाई बहन थे ।

इनमें से कई का मीराँ से संपर्क रहा होगा क्योंकि वे विवाह के पूर्व मेड़ता में ही रहती थीं और विष-पान की घटना के पश्चात् फिर वहीं लौटकर आ गई थीं ।

---

(१) हरिनारायण पुरोहित को मीराँ के एक 'गोपाल' नामक भाई की सूचना कहीं से मिली थी । इस सूचना को सत्य सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है । मीराँ के पूर्व उनकी एक बहन के जन्म के संबन्ध में भी किंवदंती मिलती है । मीराँ की परची में मीराँबाई की बहन का नाम अनोपा दिया हुआ है । इसका भी आधार असिद्ध है ।

(२) राव वीरमदेव के निम्नलिखित संतानें थीं—

(क) पुत्रियाँ
१ श्याम कुँवरि—रावत सांगाजी सीसोदिया से विवाहित
२ फूल कुँवरि—रावत बत्ताजी सीसोदिया से विवाहित
३ अभय कुँवरि—राव रायमदेव चौहान से विवाहित

(ख) पुत्र
१ जयमलजी—मेड़ता के राजा, मीराँ से घनिष्ठ संपर्क और विशेष स्नेह

२ ईश्वरदासजी	८ पृथ्वीराजजी
३ जगमालजी	९ सारंगदेवजी
४ चाँदाजी	१० प्रतापसिंहजी
५ करणजी	११ मांडणजी
६ अचलाजी	१२ सिवाजी
७ बीकाजी	१३ खेम करणजी

जयमल :

इन भाइयों में जयमल का मीराँ से विशेष संपर्क था। ये स्वयं प्रसिद्ध वैष्णव भक्त थे। (श्री भक्तमाल में नाभादासजी ने कहा है कि चतुर्भुज भगवान 'जयमल' के युद्ध में स्वयं अश्व पर चढ़कर आए थे।[1] प्रियादास ने तो इन की भक्ति की विशेष प्रशंसा की है।[2]) अतः दोनों की प्रकृति का मिलना स्वाभाविक था। जयमल का जन्म संवत् १५६४ में हुआ था।[3] आयु में ये मीराँ से थोड़े ही छोटे थे। मीराँ के विवाह के बाद में भी जयमल और मीराँ के *आत्मीय संबन्धों का पता चलता है। कहा जाता है कि जयमल से प्रसन्न* होकर मीराँ ने इन्हें वरदान दिया था कि 'बहुत बड़ो तेरो परिवार। नहीं होय *कबियां में हार*'' (अर्थात् तेरा परिवार बहुत बड़े और युद्ध में हार न हो) यह भी प्रसिद्ध है कि मीराँ के देवर राणा उदयसिंह ने जयमल के कहने पर ही मीराँ को द्वारका से बुलाने के लिए ब्राह्मण भेजे थे।

मीराँ के परिवार की धार्मिक प्रवृत्ति :

मीराँ का पालन जिस परिवार में हुआ उसमें धार्मिक भावना विशेष प्रबल थी। उन के दादा वीरमदेव के पुत्र जयमल की भक्ति-भावना की प्रशंसा तो प्रसिद्ध भक्तों ने भी की है। उनके पितामह दूदाजी भी बहुत धर्मात्मा व्यक्ति थे और उनकी धर्म भावना अत्यन्त उदार और असांप्रदायिक थी। वे परम उदार वैष्णव थे। उन्होंने मेड़ता में चतुर्भुजाजी के मंदिर का निर्माण कराया था। मेड़तिया शाखा के राठोड़ भक्तक चतुर्भुजाजी का इष्ट रखते हैं। साथ ही, दूदाजी भगवती चामुंडा के भी भक्त थे। ऐसी कथा प्रचलित है कि जब वे *मरुस्थलों से भाग रहे थे तब पीपाड़ ग्राम में बाल-स्वरूप भगवती जगदंबा का* उनको दर्शन हुआ था। उसी समय से वहाँ से तीनकोस दूर तासका गाँव में भग वती निवास करने लगीं।[4] जोधपुर के गजेटियर में महात्मा चंमा द्वारा दूदाजी को ऐसी लकड़ी देने का उल्लेख है जिससे उन्होंने युद्ध किया था।[5]

---

(१) भक्तकला—श्री भक्तमाल, पृष्ठ ४१०
(२) वही, पृष्ठ ४११ ४०
(३) जयमल-वंश-प्रकाश ठाकुर गोपालसिंह राठोड़, मेड़तिया, पृष्ठ ७०
(४) मीरांबाई का जीवन-चरित्र, मुं देवीप्रसाद, पृष्ठ २६
(५) वही, पृष्ठ ७१
(६) पृष्ठ ५५

इन घटनाओं पर से अलौकिकता का आवरण हटा दिया जाय तो दूदाजी का देवी की उपासना करने और महात्माओं से संपर्क रखने की बात सिद्ध होती है।

राठोड़ वंश वैसे भी अपनी श्रेष्ठता के लिए प्रसिद्ध है। एक प्राचीन दोहा है–

मरद जमा लंका गढ़ां मेर पहाड़ां मोड़ ।
रूंखां में चन्दन भलो राजकुली राठोड़ ॥

इससे राठोड़ वंश के प्रति जनता के सामान्य सम्मान के भाव की व्यंजना होती है।

मीराँ का शैशव :

मीरा के शैशव के विषय में जनश्रुतियों और भक्तों के अनुरंजित उल्लेखों के अतिरिक्त अन्य कोई विश्वसनीय सामग्री उपलब्ध नहीं है। मीराँ को भक्ति-भाव की ओर प्रेरित करने और गोपाल की मूर्ति की उपलब्धि के विषय में दो घटनाओं के उल्लेख मिलते हैं। एक के अनुसार वे किसी बारात को देखकर पूछ बैठीं कि 'मेरा वर कौन है?' माँ उस अजान अबोध बालिका से क्या कहती उन्होंने गोपाल की मूर्ति की ओर संकेत कर दिया। तभी से मीराँ ने गिरिधर को मन और प्राण सौंप दिए और उनकी हो गई।[1] एक दूसरी घटना किसी साधु के राव के यहाँ आने के संबन्ध में है। कहा जाता है कि मीराँ उनके गोपाल की मूर्ति पर मुग्ध हो गई। साधु ने प्रारंभ में तो देव मूर्ति नहीं दी, पर जब उन्हें स्वयं भगवान् ने स्वप्न में प्रेरणा दी, तो वे मूर्ति मीराँ को दे गए।[2] मराठी 'मीराँ चरित्र' में माता-पिता द्वारा उनके कृष्णार्पित किए जाने का उल्लेख है।[3]

मीराँ को गिरिधर की मूर्ति के बचपन में प्राप्त होने की घटना का उल्लेख व्यापक रूप में उपलब्ध होता है। मतभेद केवल सूक्ष्म विस्तारों के संबन्ध में है। अतः इसके सत्य होने की संभावना अधिक है। मीराँ को यह

---

(१) मीराँबाई की पदावली श्री परशुराम चतुर्वेदी (सं० २०१४), भूमिका पृष्ठ २१
(२) वही पृष्ठ २१
(३) धुलिया रामदासी संशोधित मण्डळ १८१७—अंक १९

मूर्ति किससे मिली थी इस संबन्ध में माधवेन्द्र पुरी[1] और देवाजी[2] के नाम उपलब्ध हुए हैं। पर जैसा कि 'गुरु' प्रकरण में कहा गया है, देवाजी का सम्पर्क चित्तौड़ में हुआ था। मेड़ता में उनके द्वारा मूर्ति दिए जाने की घटना संभव नहीं है। माधवेन्द्रपुरी के जीवन-वृत्त के पूर्ण विस्तार नहीं मिलते पर मूर्ति का माधवेन्द्रपुरी या उनके शिष्य माधव से उपलब्ध होना असंभव नहीं है। व्रज में गिरिधर गोपाल की पूजा के प्रचार का श्रेय इन्हीं माधवेन्द्रपुरी को था।

मीरां जीवन में कटुता के विरुद्ध अनवरत संघर्ष करके भी अपने मन को मधुर बनाए रहीं इसका कारण उनकी आत्मशक्ति प्रकृति और प्रारंभिक शिक्षा थी। यह शिक्षा कटु संघर्ष के प्रति निरन्तर अपराजित भाव जीवन के प्रति स्वतंत्र दृष्टिकोण मानसिक दृढ़ता और उदारता की थी। साहित्य और संगीत का प्रारंभिक ज्ञान भी उन्हें मिला ही होगा जो उनकी भक्ति-भावना की मनोरम अभिव्यक्ति की योग्यता का सहज संगी बन गया था। धर्म के विषय में उनके पितामह दूदाजी अत्यन्त उदार थे। वे वैष्णव थे पर संतों का आदर करते थे। मीरां में यह प्रवृत्ति उनकी प्रारम्भिक शिक्षा के फलस्वरूप ही जगी थी।

इसके अतिरिक्त मीरां के बचपन की कई अलौकिक घटनाओं के उल्लेख मिलते हैं जैसे 'चतुर्भुजजी ने मीरां के हाथ से दूध पी लिया'[3] आदि पर ये घटनाएँ भक्तों की श्रद्धामयी कल्पना का निर्माण है। इससे केवल इतना निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मीरां बचपन से ही भक्ति की ओर विशेष प्रवृत्त थी।

विवाह

गिरिधर का वरण करके मीरां चिरसुहागिनी बन गई थी। आध्यात्मिक क्षेत्र के इस सत्य को भावुक भक्तों ने मीरां के भौतिक जीवन में भी घटित कर दिया है। उनके अनुसार भोजराज का विवाह मीरां के तन से हुआ था उनका मन तो गिरिधारी की मंजुल मूर्ति पर मुग्ध होकर, उसके सम्मुख

---

(१) उदयपुर के जगदीशजी के मंदिर के पुजारियों से

(२) आमेर के जगत शिरोमणि के पुजारियों (देवाजी के वंशज) से

(३) (क) आदर्श भक्त अर्थात् मीरांबाई, पं० पुरुषोत्तमदास पुरोहित बी० ए०, भूमिका, पृष्ठ ९

(ख) डाकोर स्थित चतुर्भुजजी के मन्दिर की जनश्रुति

प्रियतम भाव से समर्पित हो गया था।

मीरां प्रकृति से ही भक्तिमयी थीं। १२ वर्ष की अनुभवहीन, कल्पनाशील वय में विवाह की वेदी पर बैठा दी जानेवाली यह कन्या कदाचित् विवाह के मधुर मर्म को नहीं समझती होगी। उस समय गिरिधर की प्रिय मूर्ति को साथ रखने का आग्रह उसकी सहज बुद्धि के लिए अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। भक्तों ने उस घटना की आदर्शमूलक व्याख्या कर ली है।[1] यहाँ तक कि 'नारद को बुलवाकर एकान्त में उनका विवाह कृष्ण से करवा दिया है।'[2] इतना सत्य अवश्य है कि मीरां बचपन में भक्त प्रकृति की थीं। उनके मन में कृष्ण-प्रेम था, हृदय में उस प्रेम को लेकर वे चित्तौड़ गईं। साथ ही अपने आराध्य की मूर्ति भी नित्य-पूजा के लिए ले गईं। मीरां के विवाह के संबन्ध में जो विस्तार भक्तों और संतों द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं, वे अपने विवरणों की नहीं मूल आशय की दृष्टि से सत्य हैं और उनका तात्पर्य इतना ही है कि मीरां प्रारम्भ से ही कृष्णानुरक्ति लीन हो गई थीं।

१२ गाँव के जागीर के स्वामी की पुत्री मीरां का विवाह अपने समय के एक शक्तिशाली प्रतिष्ठित राज्य के राजकुमार से हुआ था। सामान्यतः देखने पर यह बात कुछ अस्वाभाविक-सी लगती है। डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने यही प्रश्न लेखक के सामने सन् १९५१ में रखा था। मीरां के इस परिवार में विवाहित किए जाने के कारण इस प्रकार हैं—

(१) कन्या के रूप में मीरां के गुण तथा रूप की प्रशंसा थी।[3] नारी को उपभोग्या मानने वाले सामन्तों में रूप-सौंदर्य का महत्व असाधारण था।

(२) मीरां राठोड़ वंश की थीं और क्षत्रियों में यह वंश अत्यन्त प्रतिष्ठित माना जाता था। राठोड़ों तथा सीसोदियों में आपस में विवाह सम्बन्ध बहुत दिनों से प्रचलित था। राठोड़ राव रणमल की बहन हंसाबाई का विवाह

---

(१) विस्तार के लिए देखिए, भक्तमाल, प्रियादास की टीका, पृष्ठ ७१ मीरां माहात्म्य रामाबाई, छंद १०-१७; राघोदास के भक्तमाल की चतरदास कृत टीका छंद १-२

(२) मीरांबाई की परची (अगरचन्द नाहटा से उपलब्ध प्रतिलिपि)

(३) मीरां-माहात्म्य, रामाबाई, कड़ी २४;
'कागूपाणा, मिराबाई परम सुन्दर ी' श्री निलोबा महाराज, सकल संत गाथा पृ० ९१;
'मीरां गुणवती लावण्याची खाणि'—मीरां चरित्र, छंद ४

राणा माला से[१] राव जोधा की पुत्री शृंगारदेवी का राणा रायमल से[२] तथा उनके पोते बाघा सूजावत की पुत्री धनाई का विवाह राणा सांगा से हुआ था।[३]

(३) उक्त दोनों कारणों के अतिरिक्त मीराँ भोजराज-परिणय में तत्कालीन राजकीय परिस्थिति का विशेष हाथ था। राणा साँगा के परिवार में आंतरिक कलह थी। उनकी रानियों में भी कई प्रकार की विरोधी आकांक्षाएँ पल्लवित हो गई थीं। उदयसिंह और विक्रम की माता रानी करमेती तथा रत्नसिंह की माता धनाई में गहरी अनबन थी। दूसरे, राणा साँगा 'हिन्दूपति' तो अवश्य बन गए थे पर उन्हें अपने व्यापक सम्मान शक्ति और राज्य की रक्षा के लिए सेना ही नहीं कूटनीति की भी आवश्यकता थी। उस समय राणा के सबसे शक्तिशाली विरोधी राजपूत राजा जोधपुर के राठोड़ थे जो राणा मोकल के समय से चित्तोड़ पर हावी थे और सांगा के समय में उनके परिवार के कई व्यक्तियों ने अपने छोटे-बड़े राज्य समस्त पश्चिमी राजस्थान में स्थापित कर लिए थे। राणा सांगा की चतुरता इस बात में थी कि राठोड़ परिवार के सब राज्यों को एकत्र और संगठित न होने दें। मेड़ता का राज नीतिक महत्व उसकी स्थिति ही नहीं दूदाजी के पराक्रम और अपनी कूट नीतिज्ञता के कारण भी था। अतएव राणा सांगा मेड़ता से विवाह-संबंध स्थापित करके उसे राजनीतिक मैत्री तथा पारिवारिक संबंध-सूत्र में बाँध लेना चाहते थे और हुआ भी यही। मीराँ के विवाह के पश्चात् मेड़ता के राजा मारवाड़ राज्य के विरुद्ध मेवाड़ के राणाओं का साथ देते रहे और इनका फल यह हुआ कि उन्हें मेड़ता के राज्य से सदैव के लिए हाथ धोना पड़ा। इतना ही नहीं मीराँ के पिता रत्नसिंह तथा चचेरे भाई जयमल दोनों मेवाड़ की ओर से युद्ध करते हुए स्वर्गवासी हुए।

---

(१) उदयपुर राज्य का इतिहास ओझा, पृष्ठ २७०
(२) बंगाल एशियाटिक सोसाइटी जर्नल जिल्द ६६ भाग १ पृष्ठ ८२
(३) वीर विनोद—भाग १ पृष्ठ ३७१
(४) —जयमल-वंश-प्रकाश, पृष्ठ ११६ १२१
—जोधपुर के राव मालदेव तथा मेड़ता के राव वीरमदेव और उनके पुत्र जयमल के आपसी संघर्ष के विस्तृत विवरण के लिए देखिए, मारवाड़ का इतिहास रेउ 'राव मालदेव' अध्याय।
—मेवाड़ और मेड़ते के आपसी सहयोग के लिए देखिए—उदयपुर राज्य का इतिहास—ओझा, पृष्ठ ३८८ ४२३।

इस प्रकार मीरां-भोजराज परिणय के निर्णय में राणा की उस राजनीतिक दूरदर्शिता तथा कूटनीतिज्ञता का विशेष हाथ था जिसका लक्ष्य राठौड़ों की केन्द्रीय शक्ति को दुर्बल और एक महत्वपूर्ण वीर राठोड़ राज्य परिवार को अपना सहयोगी बनाना था। राणा इसमें सफल हुए।

तिथि :

मीरां के विवाह की तिथि के विषय में राजस्थान में कोई मतभेद नहीं है क्योंकि राणा सांगा के पुत्र भोजराज के विवाह की तिथि चारणों और भाटों में सब जगह एक ही मिलती है। यह तिथि है संवत् १५७३। बाद के विद्वानों में मीरां को कुंभा-पत्नी मानने वालों ने इस विवाह-तिथि को स्वीकार नहीं किया। पर मीरां कुंभा की पत्नी नहीं थी अतः इस मत का मूलाधार ही सही नहीं है। अमाथनाथ वसु ने सं० १५१७ में मीरां का विवाह माना है। इसका कोई आधार नहीं है। मीरां का विवाह उनके ताऊ वीरमदेव के गद्दी के दूसरे वर्ष ही किया था। दूदाजी उस समय इस लोक में नहीं थे। दूदाजी की मृत्यु संवत् १५७२ में हुई थी और इसी वर्ष वीरमदेव सिंहासन पर बैठे।[1]

मीरां का श्वसुर-कुल

मीरां चित्तौड़ के राणा के यहाँ ब्याही गई थी। माना जाता है कि यह परिवार रामचन्द्रजी के ज्येष्ठ पुत्र कुश का वंशज सूर्यवंशी क्षत्रिय है। कुश के वंश के अंतिम राजा सुमित्रा तक की नामावली पुराणों में दी हुई है। इस वंश में वि० सं० ६२५ के आस-पास मेवाड़ में गुहिल नाम का प्रतापी राजा हुआ जिसके नाम से इसका वंश 'गुहिल-वंश' कहलाया। पश्चात् इस वंश की एक शाखा सीसोदा गाँव में रही जिससे उक्त शाखावाले उस गाँव के नाम पर सीसोदिए कहलाए।[2] मीरां के पति-परिवार के लोग इसी शाखा के वंशधर थे। इनका आधुनिक इतिहास प्रायः महाराणा हम्मीर से प्रारंभ होता है। इनके पश्चात् क्रमशः क्षेमसिंह, लाखसिंह (लाखा) मोकल कुंभकर्ण (कुंभा) उदयकर्ण (ऊदा) रायमल और संग्रामसिंह (सांगा) मेवाड़ के

---

१ जयमल-वंश-प्रकाश पृष्ठ ७१

२ उदयपुर राज्य का इतिहास—ओझा पृष्ठ १२-१६।

अधिपति हुए।[1] सांगाजी राजनीति और धर्म के मर्मज्ञ थे और वीरता के बल पर महान् बने थे।

ख्यातों की ख्यातों के अनुसार महाराणा सांगा ने २८ विवाह किए थे जिनसे उनके सात पुत्र हुए—भोजराज, करणसिंह, रत्नसिंह, विक्रमादित्य, उदय सिंह, पर्वतसिंह और कृष्णसिंह।[2] यही भोजराज मीरां के पति थे। उनके विषय में आगे सविस्तर विचार किया है। अनेक लोक-गीतों में मीरां की किसी ऊदां नामक ननद का उल्लेख मिलता है। उसने मीरां को राह पर लाने (राह से हटाने) का बहुत प्रयत्न किया था। ईडर के राजा रायमल के साथ महाराणा सांगा ने अपनी पुत्री की सगाई कर दी थी।[3] जगदीशसिंह गहलोत का कहना है कि इन्हीं ईडर के राव रायमल की पत्नी ऊदां मीरां की ननद थीं। लोक-गीतों से इस बात की अधिक पुष्टि होती है। ख्यातों में राणा सांगा की चार पुत्रियों के नाम मिलते हैं—(१) कुंवरबाई (२) गंगाबाई (३) पद्मा बाई तथा (४) राजबाई। इसमें ऊदाबाई का नाम कहीं नहीं है।

मीरांबाई के पति :

मीरांबाई के पति कौन थे इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तीन मत प्रचलित हैं—

(१) महाराणा कुंभा
(२) महाराणा कुंभा के युवराज
(३) भोजराज

पहला मत सबसे पहले कर्नल जेम्स टॉड ने व्यक्त किया।[5] उसके पश्चात् केवल अंगरेजी ग्रंथों के आधार पर मीरां का जीवन-वृत्त लिखनेवाले अधिकतर विद्वानों ने टॉड के ग्रंथ का ही अनुसरण किया और उनके नाम का उल्लेख करके और कहीं बिना उल्लेख के ही उनके मत का दुहरा दिया

(१) राजपूताने का इतिहास, पहला भाग, पृष्ठ २०२ २२२
(२) उदयपुर राज्य का इतिहास पृष्ठ ३५४-३५५
(३) महाराणा सांगा, हर विलास सारदा, पृष्ठ ५३ ५४
(४) मीरांबाई का जीवन और काव्य गहलोत पृष्ठ ९४
(५) टॉड, ऐनल्स एंड ऐंटीक्विटी ऑव राजस्थान (क्रुक द्वारा संपादित) पहली जिल्द पृष्ठ ३३७

है।[1] मीरांबाई के संबन्ध में लिखनेवाले हिन्दी के विद्वान् और विदुषियों में बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री[2] श्रीमती पद्मावती शबनम[3] और प्रोफेसर शंभुप्रसाद बहुगुणा[4] का झुकाव इसी ओर है।

खत्रीजी ने तो अपने उल्लेख के पक्ष में कोई तर्क नहीं दिया। श्रीमती शबनम तथा प्रोफेसर बहुगुणा अपने अध्ययन के फलस्वरूप जिस 'संभावना' पर (*मीरां के पति राणा कुंभा थे*) पहुँचे हैं, उसके पक्ष में दिए उनके तर्कों का सार तथा मंतव्य इस प्रकार है—

(१) मीरां को 'मेड़तणी' के रूप में प्रस्तुत करनेवाले मीरां-छाप के पदों की विवेचना करने पर उनकी 'प्रामाणिकता में संदेह' को पर्याप्त स्थान मिल जाता है। अतः 'मेड़तणी' के आधार पर मीरां के पितृकुल की विवेचना असंगत ही ठहरती है।[5] [अतः मीरां को मेड़ता बसने के पूर्व का (महाराणा

---

(१) (अ) मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान, ग्रियर्सन, पृष्ठ १२
(ब) महाराष्ट्रीय ज्ञान-कोष (क) पृष्ठ ५५२ (महाराणा कुंभा के प्रकरण में)
(स) शिवसिंह-सरोज पृष्ठ ४७५
(द) आख्या सागर रत्नों (न्हानालाल दलपतराम कवि, पृष्ठ ८, नए मत का भी उल्लेख किया है, पृष्ठ १०)
(र) बृहत् काव्य-दोहन—भाग ९ (इच्छाराम सूर्यराम देसाई)
(ल) जूनुं नर्मगद्य (नर्मद) कवि-चरित्र—मीरांबाई, पृष्ठ ४२७
इनके अतिरिक्त, "रा० आनंद शंकर ध्रुव, रा० ब० रमणभाई नीलकण्ठ, सौ० विद्या बहेनी नीलकंठ, रा० कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी विगेरे मीरां ने कुंभानी राणी माने छे—मीरांबाई (मा० नि० मेहता) पृष्ठ ४

(२) मीरांबाई का जीवन-चरित्र पृष्ठ ५

(३) मीरां—एक अध्ययन—शबनम, पृष्ठ १८ १९
"मेरे विचार में अद्यावधि प्राप्त सामग्री के सभी पहलुओं की गंभीर विवेचना करने पर यही स्पष्ट हो उठता है कि प्राप्त सामग्री के आधार पर कर्नल टॉड के कथन का निश्चयात्मक रूपेण खण्डन संभव नहीं, बहुत संभव है कि मीरां राणा कुंभा की ही राणी थी।"

(४) मीरा-स्मृति-ग्रंथ ("कानन कोकिल मीरां" लेख के आधार पर, पृष्ठ ४६ ४७ ४८ पर)

(५) मीरां-एक अध्ययन, शबनम, २२-२३

कुंभा का समकालीन) माना जा सकता है।]

(२) लोक-गीतों में मेड़तणी शब्द मीरां के लिए प्रयुक्त हुआ है पर मेड़ता की स्त्रियाँ रूप गुण व शील के लिए प्रसिद्ध होती थीं। अतएव मेड़तणी शब्द प्रशंसा-सूचक अर्थ में रूढ़ होकर प्रचलित हो गया। कुछ गीतों में घर की बुजुर्ग स्त्रियाँ या ननद अपनी बहू या भावज के लिए 'मेड़तणी' का प्रयोग विशेष रूप से करती पायी जाती हैं।[1] अतः लोक-गीतों के इस शब्द का अर्थ 'मेड़ता' वासी न होकर 'रूप-शील-गुण वाली' होगा। (अतः मेड़ता बसने की तारीख के पूर्व भी मीरां की स्थिति मानी जा सकती है।)

(३) अगर 'मेड़तणी' का अर्थ 'मेड़तावासी' भी हो तो भी मीरां का जन्म मेड़ता (वर्तमान नगर बसने के पूर्व का माना जा सकता है, क्योंकि दूदाजी ने 'मेड़ता' नहीं बसाया था, 'नया मेड़ता' बसाया था। इस प्रकार मेड़ता संवत् १५१८ (नए मेड़ता बसने का वर्ष) से पूर्व भी था और इसलिए मेड़तणी मीरां की स्थिति संवत् १५१८ के पूर्व भी मानी जा सकती है।

(४) मीरां को राणा कुंभा का समकालीन मान लेने पर अन्य विषम समस्याओं का भी हल हो जाता है।[2] संगीत-नृत्य-काव्य-रस-शिक्षा का कुंभ स्वामी तथा आदिवाराह के मंदिरों का मीरां के मन्दिर कहलाने तथा भवानी पूजा के लिए बहू मीरां को सास द्वारा बाध्य किए जाने का कारण भी विदित हो जाता है। इसके अतिरिक्त जनश्रुतियों के द्वारा प्राप्त सामग्री के साथ संगति भी बैठ जाती है।[3]

(५) कुछ गुजराती और बंगाल के इतिहास और पुरातत्व के विद्वानों ने कर्नल टॉड का समर्थन किया है।[4]

मीरां का राणा कुंभा की पत्नी मानने वाले पुरातत्व के विद्वानों के नामों का उल्लेख न प्रो० प्रभुगुप्ता ने किया है और न श्रीमती शबनम ने। गुजराती और बंगाल के इतिहास और पुरातत्व के विद्वानों ने कम-से-कम

---

(१) वही २०

(२) मीरा स्मृति-ग्रंथ 'जनम जोगिण मीरां', पृष्ठ ३९

(३) मीरां—एक अध्ययन शबनम पृष्ठ १८

(४) मीरा स्मृति ग्रंथ 'जनम जोगिण मीरां', पृष्ठ ४६

(५) वही, पृष्ठ ४७

(६) वही पृष्ठ ४४

गुजराती' और मराठी के अधिकांश ग्रंथकारों ने इस बात को स्पष्टतः स्वीकार किया है कि उन्होंने मीरां को कुंभा-पत्नी कर्नल टॉड के कथन के आधार पर ही लिखा है। इस सूचना का अन्य कोई स्वतन्त्र स्रोत नहीं है। वस्तुतः इन ग्रंथकारों ने किसी तर्क के साथ टॉड का समर्थन नहीं किया है, उनका अनुकरण मात्र किया है। अतएव उनको उद्धृत करने से इस मत की पुष्टि नहीं होती।

उक्त तर्कों से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि मीरांबाई का कुल-निर्णय उनके मेड़तणी होने के आधार पर नहीं करना चाहिए। उनके अनुसार मीरां मेड़तणी नहीं थी अगर थी तो मेड़तावासिनी नहीं सुन्दरी के के अर्थ में उनके लिए इस शब्द का प्रयोग होता था और अगर मेड़तणी का अर्थ 'मेड़ता की' लिया भी जाय तो दूदाजी के मेड़ता बसाने के पूर्व भी मेड़ता था और वहां की स्त्रियां मेड़तणी कहलाती थीं। इस प्रकार उनके कहने का तात्पर्य यह है कि नया मेड़ता बसने के पूर्व मीरां के वर्तमान होने में कोई बाधा नहीं है।

वस्तुतः ये समस्त तर्क अभावात्मक हैं। इनसे कहीं यह सिद्ध नहीं होता कि मीरां राणा कुंभा की पत्नी थी। मीरां मेड़ते की थीं यह तो उनके राठौड़ों की मेड़तिया शाखा के इतिहास से ही प्रकट है। नाभादास प्रियादास दयाराम जैसे विभिन्न प्रान्तों के और विभिन्न संप्रदायों के व्यक्तियों के उल्लेख इसके साक्षी हैं। 'मेड़तणी' शब्द का प्रयोग सुन्दरी या रूप-ग्रीव वाली' के लिए प्रसिद्ध नहीं है, कम से कम मीरां अपने पति-गृह में मेड़ता की होने के कारण ही मेड़तणी कहलाती थी क्योंकि उनके ससुराल वाले उनके 'रूप-शील' से बहुत प्रसन्न नहीं थे।

यदि श्रीमती शबनम के कथनानुसार मीरां को 'मेड़तणी' के रूप में प्रस्तुत करने वाले पद प्रक्षिप्त भी मान लिए जाएँ तब भी यह सिद्ध नहीं होता कि मीरां राणा कुंभा की पत्नी थी या उनकी समकालीन थी। मीरां कृत न होने पर भी मीरां के नाम से प्रचलित गीतों में उन के 'मेड़तणी' होने का उल्लेख यह बताता है कि लोक में मीरां को 'मेड़तणी' मानने वाले मत की एक परम्परा चलती रही है, जनता या जन-कवि मीरां को मेड़तणी मानते रहे हैं और इसीलिए मीरां की छाप लगाकर पद लिखते या प्रचलित करते समय उन्हें 'मेड़तणी' कहते रहे हैं।

---

(१) मीरांबाई, बा०नि० महता पृष्ठ १

प्रो० बहुगुणा का यह कथन सत्य है कि 'दूदाजी ने नया मेड़ता बसाया मेड़ता नहीं। पर इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं है कि मेड़तणी मीरां का जन्म नए मेड़ता के बसने के पूर्व हुआ था। मीरां ने मेड़ता के राठौड़ राजवंश में (रत्नसिंह के यहाँ) जन्म लिया था। अतः मीरां की जन्म-तिथि का निर्धारण नए-पुराने मेड़ते के बसने पर नहीं राठौड़ों की मेड़तिया शाखा के प्रारम्भ होने के आधार पर करना चाहिए। मेड़ता में इस राजवंश की शाखा का प्रारम्भ दूदा के नए मेड़ता बसाने और उसमें अपना राज्य स्थापित करने के बाद ही हुआ था।[1] अतएव नए मेड़ता के बसने और वहाँ राठौड़ों के राज्य प्रारम्भ होने के पूर्व राठौड़ राजवंश की मेड़तिया शाखा ही नहीं थी तब मेड़तणी राठौड़ मीरां का जन्म उसके पूर्व मानना किसी प्रकार तर्क संगत नहीं कहा जा सकता।

इस विषय में निम्नलिखित बातें और विचारणीय हैं—

(१) महाराणा कुंभा द्वारा बनवाए कीर्ति-स्तम्भ की प्रशस्ति में कुंभलदेवी का[2] और उनकी अपनी लिखी हुई 'गीत गोविन्द' की रसिकप्रिया टीका में 'अपूर्व देवी' का नाम 'प्रिया और महारानी' के रूप उल्लिखित है।[3] मीरां को कुंभा की पत्नी मानने वाले विद्वान् मानते हैं कि मीरां 'स्वच्छंद पवित्रता के सौंदर्य में अपने युग की सबसे प्रसिद्ध रानी थीं और उनके काव्य की प्रेरणा ही नहीं काव्य-कला के क्षेत्र में उनकी प्रथम शिक्षिका थीं।'[4] अगर मीरां जैसी विदुषी धर्मपरायणा और संगीत तथा काव्य की मर्मज्ञा महाराणा कुंभा की पत्नी होतीं और उन्होंने राणा को काव्य-रचना की प्रेरणा और शिक्षा दी होती तो कीर्ति-स्तम्भ की प्रशस्ति में और विशेषकर राणा द्वारा प्रणीत 'रसिक-प्रिया टीका' में मीरां का उल्लेख अवश्य होता। यह बात भी नहीं है कि राणा कुंभा ने किसी पत्नी का उल्लेख नहीं किया। इनमें ऐसी दो पत्नियों के नाम मिलते हैं जो काव्य-कला संगीत-विद्या धर्मपरायणता और रूप-सौंदर्य

---

(१) वि०सं० १५१८ में मेड़ता बसाया गया था। मारवाड़ का इतिहास रेउ, पृष्ठ ९५। ख्यातों में इस घटना का काल सं० १५१९ दिया हुआ है।
(२) यस्याभंगुरगुरुत्व पदवी कुम्भेलदेवी प्रिया ॥१५०॥ कीर्तिस्तंभ का लेख
(३) महाराणी श्रीअपूर्वदेवी हृदयाभिनायेन महाराजाधिराज महाराज श्री कुंभकर्णमहीमहेन्द्रेण—॥ 'गीतगोविंद' की रसिकप्रिया टीका पृष्ठ १७४
(४) ऐनल्स एंड एंटीक्विटीज ऑफ राजस्थान टॉड जिल्द १ पृष्ठ ३३७
(५) मॉडर्न वर्नाक्युलर ऑफ हिन्दुस्तान ग्रियर्सन पृष्ठ १३

किसी गुण में मीरां की छाँह भी नहीं छू सकती। ऐसी स्थिति में मीरां का अनुल्लेख अकारण नहीं हो सकता।

(२) भाटों की ख्यातों के अनुसार महाराणा कुंभा की रानियों के नाम 'प्यार कुँवर' 'अपरमदे' हरकुँवर' और 'नारणदे' मिलते हैं।[1] इन्हें प्रामाणिक मानने पर तो इसमें संदेह ही नहीं रहता कि मीरां राणा कुंभा की पत्नी नहीं थीं। पर ये नाम बहुत विश्वसनीय नहीं हैं। फिर भी इससे यह पता लगता है कि इन नामों को किसी सही या गलत आधार पर, लिखने वाले राजस्थानी किंवदंतियों और जनश्रुतियों की मौखिक परम्पराओं से विशेष परिचित 'व्यक्तियों' के सामने भी मीरांबाई को राणा कुंभा की पत्नी के रूप में मान लेने का कोई आधार नहीं था। अगर उनके राणा कुंभा की पत्नी होने की जनश्रुति भी होती तो इस विषय की तथाकथित 'प्राचीन सामग्री' बनाकर भाट लोग अवश्य प्रस्तुत कर देते मीरां के परिचित प्रसिद्ध नाम को छोड़कर अन्य वास्तविक या काल्पनिक नामों का उल्लेख न करते।

(३) महाराणा कुंभा का निधन उनके हत्यारे पुत्र ऊदा द्वारा संवत् १५२५ में हुआ था। मीरांबाई दूदा के पुत्र रत्नसिंह की पुत्री थी। रत्नसिंह के बड़े भाई और राव दूदाजी के ज्येष्ठ पुत्र वीरमदेव का जन्म संवत् १५३४ वि० मार्गसिर सुदि १४ को हुआ था।[2] इस प्रकार, मीरांबाई के ताऊ का जन्म राणा कुंभा की मृत्यु के ९ वर्ष बाद हुआ था। ऐसी दशा में मीरांबाई का महाराणा कुंभा की पत्नी होना सर्वथा असंभव है।

(४) धार्मिक तथा साहित्यिक उल्लेखों का साक्ष्य भी मीरां के कुंभा कालीन होने के विरोध में पड़ता है। उदाहरण के लिए —

(क) मीरां हरिवंश व्यास कृष्णदास की समकालीन थीं।[3] ब्रज में आकर जीवगोस्वामी से भी मिली थीं। इन सबका जीवन-काल १६वीं शताब्दी विक्रमीय के उत्तरार्ध में पड़ता है और राणा कुंभा का काल १६वीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश के आगे नहीं जाता।

(ख) नागरीदास ने (जो राठौड़ वंश के थे) मीरां को राणा ने छोटे

---

(१) उदयपुर का इतिहास ओझा पृष्ठ ३२२, पाद-टिप्पण संख्या–१

(२) मारवाड़ का इतिहास रेउ पृष्ठ ११८ पाद-टिप्पण १

(३) ८४ वैष्णवन की वार्त्ता महावीर प्रसाद गुजराती संस्करण पृष्ठ १८९

(४) श्रीभक्तमाल रूपकला ७२१

भाई की पत्नी होने और मीराँ के पति के अल्पवय में ही स्वर्गवासी हो जाने का उल्लेख किया है।[1] कुंभा स्वयं राणा थे किसी राणा के छोटे भाई नहीं और ३५ वर्ष तक राज्य करते रहे थे।[2]

(५) मीराँ के एक पद में उल्लेख है— 'राणा भगत संहारा'।[3] इतिहास की साक्षी है कि राणा कुंभा भगत संहारक नहीं थे वे तो स्वयं कवि थे तथा साहित्यिकों कलाकारों और भक्तों का विशेष सम्मान करते थे।

(६) इस मत का एकमात्र मूल स्रोत कर्नल टॉड का उल्लेख है। टॉड ने किसी आधार का उल्लेख नहीं किया। तत्कालीन इतिहास लोकगीत और जनश्रुतियाँ धार्मिक तथा साहित्यिक उल्लेख और मीराँ के पद सभी उक्त पक्ष के विरोध की व्यंजना करते हैं।

जैसा कि राजस्थान के प्रसिद्ध पंडितों का अनुमान है, कुंभस्याम के मंदिर के समीप के मंदिर के लिए 'मीरांबाई का मंदिर' नाम का प्रचलन ही टॉड की इस कल्पना का मूल आधार था। चित्तौड़गढ़ में दोनों मंदिर पास-पास हैं। कुंभस्याम का मंदिर अपेक्षाकृत काफी बड़ा है। दोनों की बनावट में कुछ साम्य है। मीराँ उस मंदिर में प्रायः जाती थीं और इसीलिए मीराँ के संबंध के लोग उसे मीरांबाई का मंदिर कहने लगे थे। बाद में उसका यही नाम प्रचलित हो गया। राणा कुंभा ने ही दोनों मंदिर बनवाए थे। राणा कुंभा और मीराँ-दोनों साहित्य और संगीत में रुचि रखते थे धार्मिक प्रवृत्ति के थे। इस बात ने अनुमान को बल दिया। जिसे आज जनता में मीरांबाई का मंदिर कहा जाता है, वह वस्तुतः आदिवराह का मंदिर है।[5]

कर्नल टॉड ने राजा मानसिंह के शासनकाल में राजपूताना-सम्बन्धी सामग्री का सर्वे किया था। इतिहास की सामग्री का अधिकांश यह कर्नल राजा मानसिंह के दरबारियों और प्रसिद्ध भाटों आदि से भी मिला था। इनमें से एक दरबारी धर्मदत्तजी जोशी ने (गोविंद-संबंधी मीराँ कृत पदों के आधार पर ही)

---

(१) नागर समुच्चय नागरीदास पृष्ठ १६३

(२) उदयपुर राज्य का इतिहास ओझा, पृष्ठ २७१ ३२४

(३) डाकोर की प्रति पद-संख्या ५१

(४) उदयपुर राज्य का इतिहास, ओझा, पृष्ठ ३०८-३११
—राजपूताने का इतिहास जगदीशसिंह गहलोत, पृष्ठ २११-२१२

(५) चित्तौड़ कीर्ति-स्तंभ का लेख छंद ११
—हरविलास सारदा महाराणा कुंभा पृष्ठ १८६

भरी सभा में साहस के साथ 'मीरां को गीत गोविंद की टीकाकार' घोषित किया। जैसा कि वीर-विनोदकार का कथन है, टॉड की अधिकांश सामग्री इन्हीं चारणों-भाटों की बहियों या कथनों के आधार पर लिखी गई है। टॉड ने मीरां को 'गीत गोविंद की टीका' का रचयिता कहकर, धमुदत्त जोशी के मत को ही दुहरा दिया है। कदाचित् मीरां के 'गीत गोविंद की टीका' की रचयिता होने की कल्पना के समान ही मीरां के कुंभा-पत्नी होने की कल्पना के आविष्कर्त्ता भी यही दुस्साहसी धमुदत्तजी जोशी हैं और उन्हीं से ये दोनों कल्पनाएं सूचनाओं के रूप में टॉड को प्राप्त हुई थीं जिन्हें उन्होंने सत्य मानकर बिना आधार की चर्चा किए अपने इतिहास में अंकित कर दिया है।

द्वितीय मत :

दूसरे मत का आधार जे० एन० फर्कुहर का उल्लेख है।[1] उसके अनुसार मीरांबाई का विवाह राणा कुंभा के पुत्र और मेवाड़ के युवराज के साथ हुआ था जो अपने पिता के सामने ही मर चुके थे। डॉ० फर्कुहर का कथन है कि उनको यह सूचना 'मेवाड़-परिवार' के 'Palace records' से उदयपुर के रिवरेंड डॉ० जेम्स शेफर्ड द्वारा मिली थी।

यहां 'मेवाड़ के राज-परिवार के records के उल्लेख से इस मत का प्रभाव अधिक पड़ता है, पर स्ट्रैटम ने मेवाड़ के स्थानीय लेखों और सूचनाओं के आधार पर दूसरा ही निष्कर्ष दिया है। वीर-विनोदकार, ओझा आदि विद्वानों के समक्ष भी राज-परिवार के records थे मगर उन्होंने भी फर्कुहर के इस मत से भिन्न मत व्यक्त किया है।

इस मत में एक बात स्पष्ट है कि मीरां के पति के सम्बन्ध में दो किंवदंतियाँ आपस में घुल-मिल गई हैं—(१) टॉड द्वारा प्रकाशित 'मीरां के कुंभा-पत्नी' होने की (२) वेबीराम शर्मा द्वारा प्रचारित 'मीरां के पति भोजराज के युवराज होने और अपने पिता के जीवन-काल में ही परलोक सिधारने की।

---

(1) Mirabai, a princess of the house of Merta in Jodhpur became the wife of heir-apparent to the Mewar throne, but he died before the assassination of his father the great Kumbha Rana in 1469
जे०एन० फर्कुहर-एन आउटलाइन ऑव द रिलीजस लिटरेचर ऑव इंडिया पृष्ठ ३०६

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है मीराँ के पिता के बड़े भाई वीरमदेव का जन्म राणा कुंभा की मृत्यु के नौ वर्ष बाद हुआ था। अतः राणा कुंभा के सामने ही परलोक सिधार जाने वाले इनके पुत्र की बहू तो मीराँबाई किसी प्रकार नहीं हो सकती।

राणा कुंभा का युवराज पाटवी कुमार, ऊदा था।[1] वह कटार से पिता का काम तमाम करके सं० १५२१ में सिंहासन पर बैठा था।[2] वह राणा कुंभा के जीवन-काल में परलोक नहीं सिधारा था। राव ऊदा के छोटे भाई रायमल से मारवाड़ के राजा राव जोधा की पुत्री—राव दूदा की बहन (मीराँबाई के पिता की बुआ) का विवाह हुआ था।[3] ऊदा ने भी कुँवर बाघा राठोड़ की बेटी के साथ विवाह किया था।[4] मीराँ राठोड़ थीं। श्री चेफर्ड महोदय 'राठोड़ की बेटी' का अर्थ मीराँ समझ गए या फिर दूदा की बहन को मीराँ समझ बैठे और मनमाने एक नए मत के जन्मदाता बन गए।

वस्तुतः मीराँबाई चित्तौड़ के राणा सांगा के पुत्र भोजराज की पत्नी थीं। इस बात को प्रमाणित करने के लिए विभिन्न परम्पराओं की सामग्री उपलब्ध है। संतों के कथन साहित्यकारों के उल्लेख चारणों या भाटों की बहियाँ और स्थानीय साक्ष्य सभी इस मत की पुष्टि करते हैं।

(१) संत परम्परा के उल्लेख—संत हरिदास के पद में स्पष्टतः कहा गया है—'एक राणी गढ़ चित्तौड़ की।

मेड़तणी निज भगति कुमावै भोजराजजी का जोड़ा की॥'[5]

(२) साहित्यिक उल्लेख—नागरमल पुस्तकालय कलकत्ता में सुरक्षित रामदास लालस कृत 'भीम प्रकाश' की हस्तलिखित पोथी (रचना-काल १८२६ वि०) में महाराणा सांगा के पुत्रों की नामावली के साथ दिया गया है—

भोजराज जठो अभंग कुँवर पदे मृत कीम

मेड़तणी मीराँ महल प्रेमी भगत प्रसीस[6]

---

(१) मुहणोत नैणसी की ख्यात प्रथम भाग पृष्ठ १६

(२) उदयपुर राज्य का इतिहास, ओझा, पृष्ठ ३२४

(३) पेमुडी बावड़ी की प्रशस्ति—वैसाख सुदि ३ बुधवार वि० सं० १५६ बंगाल एशियाटिक सोसायटी जर्नल भाग एक (१) पृष्ठ ७१-८२ में उद्धृत

(४) मुहणोत नैणसी की ख्यात ३६

(५) जर्नल ऑव राजस्थान रिसर्च सोसाइटी, भाग ३ अंक १

(६) राजस्थान का पिंगल साहित्य, मेनारिया पृष्ठ ५८

(३) मेवाड़ के बड़वा देवीदान जी ख्यात के उल्लेख—मेवाड़ के राजवंश में बड़वा देवीदानजी की बही में लिखे अनुसार उनका (महाराणा सांगा का) सबसे बड़ा कुँवर भोजराज (था) जिसका विवाह मेड़ते के राव वीरमदेव के छोटे भाई रत्नसिंह की बेटी प्रसिद्ध मीरांबाई से हुआ था।[1]

(४) इतिहासकारों की खोजें—वीर-विनोदकार के अनुसार 'हमारे यहाँ (मेवाड़) व मेड़तिया राठोड़ों की व जोधपुर की तवारीखों में मीरांबाई का भोजराज की राणी होना लिखा है।'[2] स्ट्रैटन ने चित्तौड़ में स्थानीय सामग्री की जाँच की थी। उसका निष्कर्ष भी यही था और इसीलिए उसने टॉड की भूल का सुधार किया। एच० बी० डब्लू० ने पुरातत्त्व विभाग की ओर से राजस्थान यात्रा का जो विवरण आर्केयोलॉजीकल सर्वे ऑफ इंडिया(सन् १८८३-८४) की रिपोर्ट में प्रकाशित कराया उसमें भी स्ट्रैटन के मत का समर्थन किया गया है।

(५) परिस्थिति जन्य साक्ष्य—मीरांबाई के पिता रत्नसिंह का जन्म संवत् १५४० के लगभग हुआ था। भोजराज के पिता राणा सांगा ने संवत् १५३९ में जन्म लिया था। अतः मीरां और भोजराज की समकालीनता में किसी प्रकार की अविश्वसनीयता का प्रश्न नहीं उठता जब कि न राणा कुंभा मीरां के समकालीन सिद्ध होते हैं और न ऊदा ही।

चाहे उक्त कोई एक स्रोत अपने में पूर्णतः विश्वसनीय न हो पर जहाँ पर विभिन्न स्वतंत्र स्रोतों की सूचनाएँ एक दूसरे से मेल खाती हैं तथा परिस्थिति जन्य साक्ष्य द्वारा उन्हें समर्थन भी मिलता है, वहाँ उनके विश्वसनीय न मानने का कोई कारण नहीं है। अतः भोजराज को ही मीरां का पति मानना समीचीन है।

क्या मीरां के पति भोजराज पाटवी कँवर थे ?

भोजराज के विषय में मेवाड़ का इतिहास विस्तार से कुछ नहीं कहता। एक निर्विवाद सूचना इस इतिहास से केवल यही मिलती है कि भोजराज राणा सांगा के जीवन काल में (अर्थात् संवत् १५८४ के पूर्व ही) इस संसार की लीला समाप्त कर चुके थे। एक और उल्लेख राजस्थान के आधुनिक इतिहासों में मिलता है और वह यह है कि 'भोजराज राणा सांगा के ज्येष्ठ

(१) महाराणा सांगा, हरविलास सारदा पृष्ठ ८८
(२) वीर विनोद, पृष्ठ २, फुटनोट

पुत्र थे।"[1] इस उल्लेख के विरोधी उल्लेख प्राचीनतर ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। अतः इस प्रश्न पर विचार कर लेना आवश्यक है।

[१] इस सूचना का स्रोत बड़वों की बहियाँ हैं जिनकी विश्वसनीयता वीर-विनोदकार के इस कथन से प्रकट है— 'कर्नल टॉड ने बहुत कुछ बड़वों की पोथियों से उठाकर नकल कर लिया है—इसलिए बहुत-सी अप्रामाणिक बातें भी उसमें आ गई हैं।'"[2] रामदान भाभम का उल्लेख संवत् १८९१ का है,[3] यह राव मानसिंह और कर्नल टॉड के समय का है।

[२] बड़वा देवीदान ने जो उल्लेख राणा की पत्नियों के विषय में किए हैं, उनमें इतनी अशुद्धियाँ हैं कि उन्हीं उल्लेखों को नहीं उनसे सम्बन्धित उल्लेखों को भी बिना परीक्षा किए हुए ग्रहण करना उचित नहीं लगता। उदाहरण के लिए—देवीदान की बही में राणा सांगा की २८ पत्नियों और उनके पिताओं के नाम दिए हैं।[4] उनमें से कई नाम राठौड़ कुल के प्रसिद्ध नाम हैं। इतिहास की कसौटी पर कसने पर उनकी असत्यता सिद्ध हो जाती है।

(क) अपने इतिहास-विभाग की खोज के आधार पर वीर-विनोदकार का कथन है कि 'इन महाराणा ने (राणा सांगा) जोधपुर के राव्जी के पोते राव सूजा के बेटे कुँवर बाघा की तीन बेटियों से शादी की थी। ये तीनों बाघा की रानी चहुवान पुहपावती से पैदा हुई थीं। बड़वा देवीदान की सूची के अनुसार एक भी राणी बाघा की पुत्री नहीं ठहरती।

(ख) राणा की ११ वी रानी का नाम धन कुँवर और उस रानी के पिता का नाम 'राव सियाजी का बेटा राव मानजी' दिया हुआ है।[5]

मुँहणोत नैणसी की ख्यात के अनुसार धनाई या धनकुँवर कुँवर बाघा सूजावत राठौड़ की पुत्री थी[6] मानजी की नहीं। और मारवाड़ का इतिहास इस बात का साक्षी है कि ये कुँवर बाघा राव जोधा के प्रपौत्र और राव

---

(१) वीर-विनोद, पृष्ठ ३६२। ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास पृष्ठ ३९८ सारदा, महाराणा सांगा, पृष्ठ ८७

(२) वीर-विनोद भाग १ पृष्ठ ३२१

(३) राजस्थान का पिंगल साहित्य मेनारिया, पृष्ठ ५८

(४) सूची के लिए देखिए, महाराणा सांगा, हरबिलास सारदा, पृष्ठ ८७-८८

(५) महाराणा सांगा, पृष्ठ ८०, फुटनोट में उद्धृत सूची से

(६) पृष्ठ ४७, 'वीर-विनोद' में भी यही मत ठीक माना गया है, पृष्ठ ३७१

मुजाजी के पुत्र थे[1] सिंयाजी के पुत्र नहीं। इस बात को यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है कि मुँहणोत नणसी का उल्लेख बड़वों के उल्लेखों की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय है।

(ग) राठोड़ जोधाजी की पुत्री धनबाई का नाम भी राणा सांगा की पत्नियों की इस सूची में है। सांगा का जन्म संवत् १५३९ वि० को हुआ था। राव जोधा संवत् १४७२ में पैदा हुए थे।[2] इस प्रकार सांगा के जन्म के समय जोधाजी की आयु ६७ वर्ष की थी। जोधाजी संवत् १५४५ में स्वर्गवासी हुए। इसलिए अगर उनके किसी पुत्री का जन्म लगभग ७० वर्ष की आयु में हुआ हो तभी यह बात सम्भव है वरना नहीं। मगर ७० वर्ष की आयु में सन्तानोत्पत्ति की संभावना कितनी होती है?

(घ) ऊपर के दोनों सम्बन्धों की तुलना की जाय तब तो उनकी असंगति तुरन्त स्पष्ट हो जाती है—पहले के अनुसार राणा की एक पत्नी जोधा के पौत्र (पुत्र के पुत्र) कुँवर बाघा की पुत्री थी। इसी के अनुसार, राणा की एक पत्नी जोधा की पुत्री थी। दोनों सम्बन्ध एक साथ कहाँ तक संभव है?[3]

इसी प्रकार रानी-सम्बन्धी कई अन्य उल्लेखों की असंगतियों के आधार पर उनकी अप्रामाणिकता सिद्ध की जा सकती है। यहाँ इन विस्तारों की आवश्यकता नहीं है। उक्त विवेचन का तात्पर्य केवल इतना है कि बड़वा देवीदान की बही के उल्लेख कम-से-कम राणा की रानियों आदि के सम्बन्ध में प्रामाणिक और विश्वसनीय नहीं हैं। और जब रानियों के नामों आदि में इतनी जबरदस्त भूलें हैं तब उन्हीं के साथ दिए राजकुमारों के जन्म क्रम को विश्वसनीय कैसे

(१) मारवाड़ का इतिहास रेउ, ११०

(२) वही, पृष्ठ ८३

(३) नैणसी का उल्लेख सही न मानें और धनकुँवर को सिंयाजी के पुत्र की पुत्री मान लें तो भी स्थिति लगभग वैसी ही होगी। मारवाड़ में दो राव सीहा हुए हैं। एक थे जोधाजी के पूर्वज जिनका स्वर्गवास सं० १३३० में ही हो गया था। (रेउ कृत मारवाड़ का इतिहास पृष्ठ ४०) निश्चित रूप से इनके पुत्र की पुत्री महाराणा सांगा (जन्म सं० १५३९, मृत्यु १५८४) की पत्नी नहीं हो सकती। दूसरे सीहा राव सूजा के भाई वरसिंह के पुत्र थे। (मारवाड़ का इतिहास, रेउ पृष्ठ ६) उनको सांगा के श्वसुर मानने पर संबंध इस प्रकार होगा—जोधा के पुत्र वरसिंह के पुत्र सीहा के पुत्र राव माल की पुत्री राणा सांगा की पत्नी।

माना जा सकता है।

[३] राणा सांगा का जन्म वैशाख बदी नवमी संवत् १५३९ तथा[1] उनके पुत्र रत्नसिंह का जन्म संवत् १५५१ वैशाख बदी ८ को हुआ था।[2] इसका अर्थ यह है कि रत्नसिंह के पेट में आने पर राणा सांगा की आयु ११ वर्ष और २ महीने थी। अब अगर भोजराज को रत्नसिंह से आयु में बड़ा मानें तो यह मानना पड़ेगा कि राणा सांगा १४ वर्ष की आयु में दो पुत्रों के पिता हो चुके थे और उनके १२।१३ वर्ष पर, या उससे भी कम अवस्था में पुत्र हो चुका था। राणा सांगा की पत्नी की आयु तो राणा की आयु से कम ही कदाचित् ८-९ वर्ष की होगी। इस बात पर विचार करने से ऊपर के उल्लेख की असत्यता तुरन्त स्पष्ट हो जाती है।

[४] यह निर्विवाद है कि भोजराज की मृत्यु, विवाह के पश्चात् अपने पिता राणा सांगा के जीवन-काल में हो गई थी। अतः वह कभी संवत् १५७३ और १५८४ के बीच हुई होगी। अगर भोजराज को ज्येष्ठ पुत्र मान लिया जाय तो उनका जन्म संवत् १५५२ (क्योंकि रत्नसिंह वैशाख संवत् १५५१ में जन्मे थे) या उसस पूर्व ही मानना होगा। इस प्रकार चित्तौड़ के टीकायत का २१ वर्ष तक अविवाहित रहना सिद्ध होता है। उस समय चित्तौड़ के टीकायत का इतनी आयु तक अविवाहित रहना कल्पना के परे की बात है।

[५] मेवाड़ के महकमे तवारीख के प्रारंभ में जाँच करने पर महामहोपाध्याय कविराज सांवलदासजी ने मुंशी देवीप्रसाद को यही सूचना दी थी कि मीरांबाई 'राणा सांगा के कुँवर भोजराज' को ब्याही थीं।[3] कविराज के बाद उनके सहायक पं० गौरीशंकर ओझा से लिखा-पढ़ी करने पर मुंशी देवीप्रसाद को यह उत्तर मिला था—"और सब जगह मशहूर है मीरांबाई महाराणा सांगा के दूसरे बेटे भोजराज की राणी और मेड़ते के राव दूदाजी के बेटे राव रत्नसिंह की पुत्री थी।"[4]

कविराजा सांवलदास के कथन के उक्त उल्लेख से स्पष्ट है कि मेवाड़ की पुरानी परम्परा भोजराज को राणा सांगा का कुँवर ही मानती थी पाटवी

---

(१) नैणसी की ख्यात, पृष्ठ ४७

(२) राणा रत्नसिंह का जीवन-चरित्र मुंशी देवीप्रसाद, पृष्ठ ४५। ओझा उदयपुर राज्य का इतिहास पृष्ठ ३८८

(३) मीरांबाई का जीवन-चरित्र, पृष्ठ २ फुटनोट—पहला पैराग्राफ

(४) वही, दूसरा पैराग्राफ

कुँवर नहीं, ओझाजी ने तो स्पष्ट लिखा था कि भोजराज दूसरे पुत्र थे और इसकी पुष्टि में उन्होंने व्यापक (सब ओर मशहूर) रूप से प्रचलित जनश्रुति का उल्लेख किया है।

बाद में वैदीदान की ख्यात के उल्लेख को देखकर इन विद्वानों ने अपने इतिहासों में भोजराज को पाटवी कुँवर कहा। चूँकि भोजराज राणा साँगा के सामने स्वर्गवासी हो चुके थे अतः उनके 'पाटवी कुँवर' मानने या न मानने से मेवाड़ के इतिहास में कोई समस्या नहीं उठती इतिहास के अन्य घटना-क्रमों के निर्धारण पर असर नहीं पड़ता। इसलिए इस बात की विशेष परीक्षा नहीं की गई।

राजस्थानी इतिहास के प्राचीनतम (लगभग ३०० वर्ष पुराने) प्रामाणिक ग्रंथ (जिसकी महत्ता के विषय में श्यामलदास तथा ओझा के मतों का उल्लेख पीछे किया जा चुका है।) मुँहणोत नैणसी की ख्यात में स्पष्ट उल्लेख है कि "रत्नसिंह टीकायत के अतिरिक्त विक्रमादित्य, उदयसिंह भोजराज और कर्णनामधी और भी पुत्र राणा (साँगा) के थे।"[1] इस उद्धरण के विवेचन की आवश्यकता नहीं है। उसमें रत्नसिंह के टीकायत (युवराज) होने तथा अन्य सामान्य राजकुमारों में भोजराज का उल्लेख इस बात का असंदिग्ध सूचक है कि रत्नसिंह (टीकायत) सबसे बड़ा था और अन्य (जिनमें भोजराज भी सम्मिलित हैं) उसके छोटे भाई थे।

नैणसी का यह उल्लेख बड़वों के उल्लेख की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय है, और विशेषकर उस दशा में जबकि राजस्थान की एक रियासत के राजा सावंतसिंह (नागरीदास) के २०० वर्ष से अधिक प्राचीन और स्वतंत्र परम्परा के उल्लेखों से उसकी पुष्टि होती है। नागरीदासजी ने लिखा है—"मेड़ते मीरांबाई तिनको राना के छोटे भाई सौं ब्याही—"[2]

नागरीदास ने मीरांबाई का जो पद उद्धृत किया है, उसमें भी मीरां और तत्कालीन राणा के सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है। मीरां राणा को

(१) मुँहणोत नैणसी की ख्यात प्रथम भाग पृष्ठ ४७—इसी पृष्ठ पर एक स्थान पर और रत्नसिंह के टीकायत होने का उल्लेख है—"एक दिन रानी ने दीवाणजी से अर्ज की कि दीवाण थारो सर्व सलामत रहै परन्तु विक्रमादित्य और उदयसिंह बालिक है। राजसी (आपके) टीकायत और राज्य का स्वामी रत्नसिंह"

(२) नागर समुच्चय पद-प्रसंग-माला, पृष्ठ १६३

सम्बोधित करके कहती हैं—

'जेठ-बहू को नातो नाहीं राणाजी म्हे सेवक थे स्वामी'—यदि मीराँ के पति भोजराज राणा सांगा के प्रथम पुत्र होते तो मीराँ के 'जेठ' के वर्तमान होने का प्रश्न ही नहीं होता और उक्त उद्धरण में 'जेठ-बहू' न होकर 'देवर भाभी' होना चाहिए था।[1]

'कुंवरी के दोहे'[2] और 'मीरांबाई की परची'[3] के भी मीराँ-सम्बन्धी उल्लेख उनके 'जेठ और देवरों' के वर्तमान होने की सूचना देते हैं।

इस प्रकार यह निश्चित है कि मीराँ के पति भोजराज 'जेठे कुँवर' नहीं थे। उनसे बड़े रत्नसिंह (टीकायत और बाद में राणा) थे।

मीराँ के देवर मीराँ के जेठ रत्नसिंह थे। राणा साँगा की मृत्यु के पश्चात् ये ही चित्तोड़ के राणा हुए। इनके पश्चात् इनके दो भाई और क्रमशः चित्तोड़ की गद्दी पर बैठे—

(१) विक्रमादित्य—जन्म संवत् १५७४[4]
(२) उदयसिंह—जन्म संवत् १५७९[5]

ये दोनों मीराँ के विवाह के बाद जन्मे थे। अतः इनके मीराँ के देवर होने में किसी प्रकार के संदेह की गुंजायश नहीं है।

---

(१) उक्त पंक्तियों में "जेठ-बहू" का अर्थ बाबू ब्रजरत्नदास ने 'जेठ और बहू' न लगाकर 'ज्येष्ठ बहू' लगाया है। वे लिखते हैं —
"महाराणा साँगा के ज्येष्ठ पुत्र की पत्नी होने के कारण उनकी कुल-वधुओं में यह सबसे ज्येष्ठ थीं, पर पति की मृत्यु हो जाने के कारण वह उस उच्च पद से गिर गई थीं। ज्येष्ठ बहू का नाता ही कहाँ रह गया था।" स्पष्ट है कि ब्रजरत्नदासजी ने कहवा देवीदान के उल्लेख को पूर्ण सत्य मानकर उसके पुष्ट के और अधिक विश्वसनीय उल्लेखों के अर्थ की खींचतान की है। 'जेठ-बहू' और 'जेठी बहू' में अन्तर स्पष्ट है। बड़ी बहू के लिए 'जेठी बहू' होता है 'जेठ बहू' नहीं।
दूसरे, बहू शब्द का प्रयोग बड़े लोग-सास-ससुर, जेठ आदि करते हैं देवर 'भाभी' शब्द का प्रयोग करते हैं बहू का नहीं।
(२) 'जेठ कह्यो, देवर कह्यो सास ननद समझाय'
(३) वही ग्रंथ पृष्ठ ७१
(४) उदयपुर राज्य का इतिहास, पृष्ठ ४०१
(५) वही पृष्ठ ४०१

वैधव्य और संघर्ष

वैवाहिक लौकिक विवाह का सुख मीरां के भाग्य में नहीं था, यौवन के प्रस्फुट में ही उनके सौभाग्य का सिंदूर लुट गया। कुँवर भोजराज की इहलोक-लीला का तरुणाई में ही अन्त हो गया।

भोजराज की मृत्यु उनके पिता राणा सांगा के सामने ही हुई थी और राणा सांगा संवत् १५८४ तक ही इस लोक में थे। अतएव भोजराज की मृत्यु संवत् १५७३ और १५८४ के बीच ही कभी हुई होगी। अनुमान से इसे संवत् १५७८ के आसपास माना जा सकता है।

पद्मावती शबनम ने इस विषय में एक 'अत्यन्त मौलिक' मत रखा है। उनका कथन है कि 'जयपुर की तथाकथित विधवा युवराज्ञी प्रातःस्मरणीया साधमारखा मीरां के कठोर संघर्षमय जीवन व उनके पदों में व्यक्त अनुभूतियों के आधार पर ही यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मीरां विधवा नहीं थीं। ऐसा लगता है कि मीरां के पदों में जिस राणा का वर्णन मिलता है, वह उनके पति ही थे देवर नहीं—'[1] शबनम जी ने जिन पदों को उद्धृत किया है, उनमें से कई लोकगीत हैं और कई कथोपकथन के रूप में लिखे मीरां-लीला वालों के गीत हैं। दूसरे, शबनमजी जाने या अनजाने इस बात को मानकर चलती हैं कि मीरां कदाचित् राणा कुंभा की पत्नी थीं। पिछले पृष्ठों में यह सिद्ध किया जा चुका है कि भोजराज ही मीरां के पति थे और राजस्थान के इतिहास का इस विषय में असंदिग्ध साक्ष्य है कि वे राणा सांगा के जीवन-काल में ही परलोक सिधार गए थे। अतएव यहाँ इस बात की परीक्षा अनावश्यक है।

सती न होना पति के मरने पर राजस्थान में सती होने की प्रथा मीरां के समय में थी। शैशव से ही पति के साथ रहने के कारण कभी-कभी तो वियोग असह्य हो जाता था और सती होते समय प्रणय और बलिदान की भावना के कारण उनको गौरव और दिव्य संतोष की अनुभूति होती थी पर स्त्रियों के सती होने का एक सामाजिक कारण भी था कि वैधव्य हिंदू नारी के लिए सबसे बड़ा अभिशाप बन गया था। विधवा का जीवन जीने योग्य नहीं रह जाता था। पति की मृत्यु के समय मीरां के सामने भी यही प्रश्न उठा। संभव है कि राणा सांगा ने उनसे कहा हो या भविष्य में होने वाले राणा रत्नसिंह ने संकेत किया हो पर मीरां सती नहीं हुईं। इसके लिए उनका व्रज और द्वारका-वास का जीवन असंदिग्ध प्रमाण है। मीरां ने स्वयं भी कहा है—

---

(१) मीरां, एक अध्ययन, पृष्ठ ६४

> "मीरां के रंग लग्यो हरि को और संग सब अटक परी
> गिरधर गास्यां सती न होस्यां मन मोह्यो घननामी
> जेठ-बहू को नातो नाहीं राणा[1] जी म्हे सेवग थे स्वामी ॥"[2]

मीरां के जीवन में संघर्ष :

मीरां के पति भोजराज अपने पिता महाराणा साँगा के जीवन-काल में ही परलोक सिधार गये थे। तभी से उनके जीवन में विषाद का प्रवेश हुआ। संवत् १५८४ तक उन्हें राणा परिवार में कोई विशेष कष्ट नहीं हुआ क्योंकि एक तो राणा साँगा स्वयं अत्यन्त उदार और स्नेहशील व्यक्ति थे दूसरे मीरांबाई के पिता रत्नसिंह जीवित थे और वे राणा के अत्यन्त विश्वस्त वीर सहायकों में थे। संवत् १५८४ में चैत्र शुक्ल १४ को बयाने में साँगा-बाबर-युद्ध में रत्नसिंह काम आये और उसी युद्ध में घायल होने के कारण साँगा का स्वर्गवास हुआ। अतः मीरां के भौतिक जीवन में विषादपूर्ण संघर्ष और विषमताओं की कटु कहानी का संवत् १५८४ के बाद कटुतर अध्याय प्रारम्भ हुआ। इस संघर्ष के कारण निम्न-लिखित थे —

(१) मीरां का रूप यौवन तथा वैधव्य मीरां में रूप, यौवन और वैधव्य तीनों एकत्र हो गए थे। यह सामंजस्य लोगों की दृष्टि में गफ़्लत और संदेह की चिनगारियों को अनायास ही जन्म देता था। संकीर्ण और अहंकारी राणा के लिए तो चिन्ता का विषय बन गया था।

(२) मीरां का स्वतंत्र स्वभाव मीरां के प्राणों में बड़ी शक्ति थी। उन्होंने किसी प्रकार की क्रूर विषमता के सामने शीश नहीं झुकाया किसी परिस्थिति से समझौता नहीं किया। सबकी सुनी मगर की मन की। राणा ने सती होने को कहा साधुओं की संगति छोड़ने के लिए समझाया मगर मीरां ने बात इस कान से सुनी और उस कान से निकाल दी। अतः राणा का चिढ़ जाना स्वाभाविक था।

(३) साधु-सन्तों का सम्पर्क, मीरां के स्वभाव की स्वतंत्रता भी कटुता उत्पन्न न करती यदि वे साधु-भक्तों के संग उठती-बैठती नहीं। उनका जीवन रनवासों की मानवती रानियों की तरह घटनाहीन (कम से कम बाहरवालों की

---

(१) नागरीदास ने राणा शब्द का प्रयोग किया है और वह भी मीरां के जेठ रत्नसिंह के लिए। कदाचित् उनका तात्पर्य होने वाले राणा से है।

(२) नागर समुच्चय, पदप्रसंगमाला, पृष्ठ १८१

दृष्टि में) बीत जाता। राजकीय मर्यादा को तोड़कर जिस प्रकार मीरां साधु-संतों का संपर्क करती थी वह राज-परिवारों के लोगों को सह्य नहीं था। साधुओं को दान-दक्षिणा देना मंदिर बनवाना एक बात है मगर उनके साथ बैठकर भजन और कभी-कभी उनकी उपस्थिति में गिरिधर के सामने नृत्य आदि करना बिलकुल अलग बात है। इससे राजकीय मर्यादा को चोट पहुँचती थी, साथ ही राज-परिवार की एक बहू के साधुओं से अनुचित और अनैतिक सम्बन्ध होने की चर्चा होती थी, जो राज-परिवार के जिम्मेदार लोगों को अपमानजनक लगती थी। यह अपमानजन्य खीज और रोष अंततः मीरां पर ही उतरा, क्योंकि वे ही उसका मूल कारण थी।

एक भ्रम

गुजरात में मीरांबाई से राणा के अप्रसन्न होने का एक और कारण प्रसिद्ध है। अकबर बादशाह मीरां की भक्ति को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। इतना ही नहीं, उसने अपनी गले की कंठी मीरा को भेंट कर दी। यह बात राणा के कानों तक पहुँची। इस बातने राणा की क्रोधाग्नि में घृत का काम किया। यह कथा वस्तुतः अकबर मीरां मिलने के प्रियादास वाले प्रसिद्ध उल्लेख का विकास मात्र है। इसी प्रबंध में यह सिद्ध किया गया है कि 'मीरां और अकबर के मिलने का प्रसंग' काल्पनिक है। अतः उक्त घटना के सत्य होने का कोई प्रश्न ही नहीं है।

(४) राणा की अनुदार नीति संवत् १५८४ के बाद जो राणा गद्दी पर बैठे थे उनमें विक्रम विशेषकर अपनी अनुदार-अदूरदर्शी नीति के लिए कुख्यात हैं। विलास, झूठी शान और निरर्थक अहंकार उसकी विशेषताएँ थी। अतः पारिवारिक समस्याओं को उलझाने का कारण भी वही थे।

(५) राजनीतिक दलबंदी　मीरां राजनीति के कुचक्र से मुक्त थी पर उनके वैधव्य के आस-पास का समय मेवाड़ के राज-परिवार में आन्तरिक षड्यंत्रों और राज-शक्ति की छीना-झपटी के कारण प्रतारणा और प्रवंचना का काल था। ऐसे समय में अविश्वास, शंका तथा सन्देह महत्वाकांक्षी षड्यंत्र कारियों के अनिवार्य संगी बन जाते हैं। राणा सांगा के समय में ही रानियों में दो-वर्ग अत्यन्त सक्रिय थे। एक था हाड़ा राव नर्बद की पुत्री करमेती (कर्मवती) और उसके भाई सूरजमल का और दूसरा पाटवी कुँवर रत्नसिंह की माँ और राठोड़ राव सूजावत की पुत्री धनाई (धनबाई)[1] का। इनमें अविश्वास इस सीमा

(१) मुँहणोत नैणसी की ख्यात के आधार पर

तक पहुँच गया था कि करमेती रानी ने अपने दो पुत्रों (विक्रम और उदय) के लिए राणा से अलग जागीर माँगी थी और रत्नसिंह के राणा होने पर अपने एक विश्वस्त संबंधी-मरदार मसोक द्वारा बाबर तक की सहायता से रत्नसिंह को अपदस्थ करने के लिए षड्यन्त्र रचने का प्रयास किया था[1]।

रत्नसिंह का प्रयत्न भी यही था कि किसी प्रकार करमती और उसके भाई सूरजमल को समाप्त करके रणथंभार को फिर अपने हाथ में ले आयें और इसी प्रयत्न में ई० १५८८ में उसकी मृत्यु हुई।

मीरां उसी राठौड़ परिवार की थीं जिसकी कि राणा रत्नसिंह की माँ। अतएव करमेती रानी उनको भी राठोड़ दल का एक अंग मानती थीं। उनके प्रति जनता का प्रशंसात्मक भाव और श्रद्धा परिवार की आन्तरिक राजनीति में फँसी हुई रानियाँ और उनसे संबंधित व्यक्तियों को शकालु बना रही थी और वे किसी न किसी बहाने मीरां को समाप्त कर देना चाहते थे। मीरां को मारने का खुला प्रयत्न करमती के पुत्र राणा विक्रम भी नहीं कर सके और मारने के अनेक प्रयत्नों के बावजूद मीरां बची रहीं इससे पता चलता है कि राज-परिवार में मीरां के प्रशंसक, शुभचिंतक और सहायक थे जो मीरां की रक्षा के प्रति प्रकट या अप्रकट रूप से सतर्क थे। उदयसिंह के समय में इस स्थिति में परिवर्तन आ गया था पर उसके बहुत पूर्व ही मीरां चित्तौड़ छोड़ चुकी थीं।

यहाँ इस बात के उल्लेख का आशय केवल यही है कि मीरां और राणा के विरोध का कारण राजनीतिक समर्थों भी बहुत कुछ अंशों में थी। मीरां के साथ ससुराल में हुए संघर्ष के तीन चरण थे —

(१) विवाह के पश्चात् भोजराज की मृत्यु तक

(२) पति की मृत्यु के पश्चात् राणा सांगा की मृत्यु के पूर्व तक

(३) राणा सांगा की मृत्यु के पश्चात्

प्रारंभिक संघर्ष का एक रूप नाभादास और प्रियादास की टीकाओं में मिलता है। कदाचित् सांप्रदायिक भावना से प्रेरित होकर तत्सम्बन्धी उल्लेख किए गए हैं। नाभादास के अनुसार मीरां विवाह के बाद जैसे ही ससुराल में पहुँचती हैं वैसे ही यह घटना घटती है। माँ (मीरां की सास) अपने कुल से माता (देवी) की पूजा कराती हैं, फिर बहू से पूजा के लिए कहती हैं मगर बहू का उत्तर है— सीस नवै मम श्री गिरिधारिहि, आन न मानत माथ वही है।

(१) तुजुके बाबरी, अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ११२-१३
उदयपुर राज्य का इतिहास, ओझा, पृष्ठ ३८१

दृष्टि में) भीख पाता। राजकीय मर्यादा को तोड़कर जिस प्रकार मीरा साधु-संतों का संपर्क करती थी वह राज-परिवारों के लोगों को सह्य नहीं था। साधुओं को दान-दक्षिणा देना मंदिर बनवाना एक बात है मगर उनके साथ बैठकर भजन और कभी-कभी उनकी उपस्थिति में गिरिधर के सामने नृत्य आदि करना बिलकुल अलग बात है। इससे राजकीय मर्यादा को चोट पहुँचती थी, साथ ही, राज-परिवार की एक बहू के साधुओं से अनुचित और अनैतिक सम्बन्ध होने की चर्चा होती थी, जो राज-परिवार के जिम्मेदार लोगों को अपमानजनक लगती थी। यह अपमानजन्य खीज और रोष अंततः मीरा पर ही उतरा क्योंकि वे ही उसका मूल कारण थीं।

एक भ्रम

गुजरात में मीराबाई से राणा के अप्रसन्न होने का एक और कारण प्रसिद्ध है। अकबर बादशाह मीरा की भक्ति को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। इतना ही नहीं, उसने अपने गले की कंठी मीरा को भेंट कर दी। यह बात राणा के कानों तक पहुँची। इस बातने राणा की क्रोधाग्नि में घृत का काम किया। यह कथा वस्तुतः अकबर मीरा मिलने के प्रियादास वाले प्रसिद्ध उल्लेख का विकास मात्र है। इसी प्रबंध में यह सिद्ध किया गया है कि 'मीरा और अकबर के मिलने का प्रसंग' काल्पनिक है। अतः उक्त घटना के सत्य होने का कोई प्रश्न ही नहीं है।

(४) राणा की अनुदार नीति संवत् १५८४ के बाद जो राणा गद्दी पर बैठे थे उनमें विक्रम विशेषकर अपनी अनुदार-अदूरदर्शी नीति के लिए कुख्यात हैं। विलास झूठी शान और निरर्थक अहंकार उसकी विशेषताएँ थी। अतः पारिवारिक समस्याओं को समझने का कारण भी वही थे।

(५) राजनीतिक दलबंदी मीरा राजनीति के कुचक्र से मुक्त थीं, पर उनके वैधव्य के आस-पास का समय मेवाड़ के राज-परिवार में आन्तरिक षड्यंत्रों और राज-शक्ति की छीना-झपटी के कारण प्रतारणा और प्रवंचना का काल था। ऐसे समय में अविश्वास, शंका तथा सन्देह आकांक्षाशील षड्यंत्रकारियों के अनिवार्य संगी बन जाते हैं। राणा सांगा के समय में ही रानियों में दो-दलें अत्यन्त सक्रिय थे। एक था हाड़ा राव नर्मद की पुत्री करमेती (कर्मवती) और उसके भाई सूरजमल का और दूसरा पाटवी कुँवर रत्नसिंह की माँ और राठोड़ राव सूजावत की पुत्री धनाई (धनबाई)[1] का। इनमें अविश्वास इस सीमा

(१) मुंहणोत नैणसी की ख्यात के आधार पर

तक पहुँच गया था कि करमेती रानी ने अपने दो पुत्रों (विक्रम और उदय) के लिए राणा से अलग जागीर माँगी थी और रत्नसिंह के राणा होने पर अपने एक विश्वस्त संबंधी-सरदार अशोक द्वारा बाबर तक की सहायता से रत्नसिंह को अपदस्थ करने के लिए षड्यंत्र रचने का प्रयास किया था[१]।

रत्नसिंह का प्रयत्न भी यही था कि किसी प्रकार करमेती और उसके भाई सूरजमल को समाप्त करके रणथंभोर को फिर अपने हाथ में ले आयें और इसी प्रयत्न में सं० १५८८ में उसकी मृत्यु हुई।

मीरां उसी राठोड़ परिवार की थीं जिसकी कि राणा रत्नसिंह की माँ। अतएव करमेती रानी उनको भी राठोड़ दल का एक अंग मानती थीं। उनके प्रति जनता का प्रशंसात्मक भाव और श्रद्धा परिवार की आन्तरिक राजनीति में फँसी हुई रानियों और उनसे संबंधित व्यक्तियों को शंकालु बना देती थी और वे किसी न किसी बहाने मीरां को समाप्त कर देना चाहते थे। मीरां को मारने का खुला प्रयत्न करमेती के पुत्र राणा विक्रम भी नहीं कर सके और मारने के अनेक प्रयत्नों के बावजूद मीरां बची रहीं इससे पता चलता है कि राज-परिवार में मीरां के प्रशंसक शुभचिंतक और सहायक थे जो मीरां की रक्षा के प्रति प्रकट या अप्रकट रूप से सतर्क थे। उदयसिंह के समय में इस स्थिति में परिवर्तन आ गया था, पर इसके बहुत पूर्व ही मीरां चित्तौड़ छोड़ चुकी थी।

यहाँ इस बात के उल्लेख का आशय केवल यही है कि मीरां और राणा के विरोध का कारण राजनीतिक दलबंदी भी बहुत कुछ अंशों में थी।

मीरां के साथ ससुराल में हुए संघर्ष के तीन चरण थे —

(१) विवाह के पश्चात् भोजराज की मृत्यु तक
(२) पति की मृत्यु के पश्चात् राणा सांगा की मृत्यु के पूर्व तक
(३) राणा सांगा की मृत्यु के पश्चात्

प्रारंभिक संघर्ष का एक रूप नाभादास और प्रियादास की टीकाओं में मिलता है। कदाचित् सांप्रदायिक भावना से प्रेरित होकर तत्संबन्धी उल्लेख किए गए हैं। नाभादास के अनुसार मीरां विवाह के बाद जैसे ही ससुराल में पहुँचती हैं *वैसे ही यह घटना घटती है।* 'माँ (मीरां की सास) अपने सुत से माता (देवी) की पूजा कराती हैं फिर बहू से पूजा के लिए कहती हैं मगर बहू का उत्तर है— 'सीस नवै मम श्री गिरिधारीहि, मान न मानत नाम वही है।

---

(१) तुजुके बाबरी अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ६१२ १३
उदयपुर राज्य का इतिहास, ओझा, पृष्ठ ३८९

कदाचित् उक्त घटना वैष्णवों और शैव-शाक्तों के विरोध से सम्बद्ध रही है। मीरां के बाबा दूदाजी परम् वैष्णव थे परन्तु उन्होंने देवी के मंदिर की भी स्थापना की थी और वे चतुर्भुजजी के साथ देवी की पूजा भी करते थे। उनकी देख-रेख में पली हुई मीरां बारह वर्ष की आयु में ही पति के घर में पहली बार जाकर इस प्रकार का बवंडर खड़ा कर सकती है यह बात संभव नहीं प्रतीत होती। इससे केवल इतना ही निष्कर्ष निकलता है कि मीरां अपने जीवन में ही परम वैष्णव के रूप में प्रसिद्ध हो गई थीं। शाक्तों को नीचा दिखाने के लिए वैष्णवों ने उनकी कीर्ति का इस प्रकार दुरुपयोग किया।

विवाह के कुछ समय बाद जब मीरां विधवा हो गई और उन्होंने अपना मन को पूर्णतः गिरिधर में लगा दिया तथा साधु-सन्तों के संपर्क में आने लगीं तब वास्तव में उनका जीवन-संघर्ष आरंभ हुआ। इस संघर्ष का विशद् वर्णन लोकगीतों और कथाओं में मिलता है, जिसकी विश्वसनीयता सीमित है। उनमें अनेक सासों की शिकायत अनेक ननदों की ताड़नायें और समझाना-बुझाना और अनेक बहुओं की व्यथाओं का वर्णन मीरां के प्रसंगों में जुड़ गया है।

ऐतिहासिक उल्लेखों से मिलान करने पर पता चलता है कि यह संघर्ष सामान्यतः मीरां और राणा के परिवार के लोगों में और विशेष रूप से (प्रकट रूप से जो जनता के सामने आया) मीरां और राणा के बीच में था।

संवत् १५८४ से पूर्व के संघर्ष में मीरां के विरोधी थे राणा रानी और पाटवी कुंवर। वे मीरां को बरजते थे कि बड़े घर की नारी होकर साधुओं के पास मत बैठो ताली बजा-बजाकर लोगों के सामने नृत्य मत करो गले में माला आदि पहनकर अपना भेष मत बिगाड़ो। ये राणा मीरां के ससुर महाराणा सांगा ही थे मगर ये रानी कौन थी इसका पता लगाना कठिन है। टेसीटाम की ख्यातों के *अनुसार महाराणा के २८ रानियाँ थीं। सभी मीरां की सासें थीं। हो सकता है* कि यहाँ तात्पर्य भोजराज की माँ सोलंकी रायमल की पुत्री कुँवरबाई या कुँवर पाटवी टीकायत रत्नसिंह की माँ झाला सूजावत की पुत्री धनाई से हो। कुँवर पाटवी तो निश्चित रूप से टीकायत रत्नसिंह ही थे। परन्तु जैसा कि पीछे कहा गया है संवत् १५८४ तक यह संघर्ष सामान्य रहा। राणा सांगा की मृत्यु के पश्चात् इसने उग्र रूप धारण कर लिया।

विष-पान

नागरीदास का कथन है कि 'मीरांबाई सों राना महीत दुख पाय रहे। राना के घर की रीति इनकी भिन्न रीत यह समझत सम्बन्ध सापराध विरोध करें,

देह-सम्बन्ध को नातो व्यवहार कछू न मानै राना बहुत समुझाय रह्यो। निदान एक विष को प्यालो इनको पठयो कह्यो चरनामृत को नाम लै कै दीजियो इनके प्रण है चरनामृत के नाम तें पी ही जायेंगे सो ऐसो ही भयो, जानि बूझि पियो राना तो इनके मुवै की राह देखत रह्यो उत यह साज मृदंग संग लैकै परम रंग सों एक नयो पद बनाय ठाकुर पागे गावत भये पद बहुत प्रसिद्ध भयो—'[1] मीरां बाई को विष देने की जिस घटना की ओर नागरीदास ने संकेत किया है वह मीरां के जीवन की सबसे प्रसिद्ध घटना है। लगभग सभी प्रकार के सन्तों और भक्तों के उल्लेखों तथा इतिहासों में इस घटना को स्थान दिया गया है। गुजराती कवि विष्णुदास ने अपनी संवत् १६२४ २८ के बीच की कृति 'कुंवरबाईनुं मोसालुं' में नरसिंह मेहता द्वारा इस घटना का उल्लेख करवाया[2] और मीरां के समकालीन महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत एकनाथ ने भी कहा — "विष पिलो मीरांबाई साठीं।"[3] इस बात को कबीर पंथी संत गरीबदास भी कहते हैं[4] और चैतन्य संप्रदायी भक्त प्रियादास भी।[5] इनके अतिरिक्त हितहरिवंशी संप्रदाय के ध्रुवदास दादू पंथी राघोदास [illegible] तथा चरणदासी दयाबाई आदि विभिन्न संप्रदाय के अनेक सन्तों और भक्तों ने भी उल्लेख किया है। इनके सविस्तर विवरण अध्ययन के आधार नामक अध्याय में दिए जा चुके हैं।

मीरां के पदों में भी इस बात को अनेक बार और अनेक रूपों में कहा गया है —

(१) "राणै जू विष दीनो हम जानी।
जानबूझि चरनामृत भनि पीयो नहिं कीनी औरीनी।
कंचन कसत कसौटी जैसे तन रह्यो बारह बानी।
मीरां प्रभु गिरिधर नागर कै चरन कमल लपटानी।'[6]

(२) म्हांरो री गिरधर गोपाल दूसरो न कूयो।
दूसरा ना कोयां साधां सकल लोक जूयां।

---

(१) नागर समुच्चय पदप्रसंगमाला, पृष्ठ १५१
(२) 'मीरांबाई ने बीख मकोल करे, बरर राजसु पीते भापने'
(३) सकल श्रीसंतगाथा—श्री एकनाथ यांची गाथा पृष्ठ १६८
(४) ग्रंथ साहिब अर्थात् सद्गुरु श्री गरीबदासजी की बानी पृष्ठ ८९
(५) भक्ति रस बोधिनी टीका, कविता संख्या ६
(६) पदप्रसंगमाला, मीरां सम्बन्धी दूसरा प्रसंग

राणा विषरो प्याला भेज्या पीय मगन ह्यां।
मीरां री लगन लग्यां होणा होय ह्यां।—[1]

(२) सांवरे रंग राची, गोपाल रंग राची।
कहो सखी किसिके छूटूं भई सुमन की माची।
काहो भयो वेणु ले हेर न दीनो नहीं नेह सुकाची।
मीरां प्रभु गिरधर लागत झूठी के सांची—

अतः यह एक निर्विवाद सत्य है कि राणा ने मीरां के लिए विष का प्याला भेजा था। वे इस विष के प्याले को पी गई थीं और कदाचित् जान-बूझकर पी गई थीं, क्योंकि वह 'चरणामृत' के नाम से दिया गया था। मीरां ने जीवन का सर्वस्व जिसके चरणों में अलौकिक अनुराग के भाव से अर्पित कर दिया था उसके 'चरणामृत' के नाम से जो कुछ भी मीरां को मिलता वह उन्हें अग्राह्य कैसे होता ?

विष का फल

विष-पान का प्रभाव मीरां पर वैसा नहीं हुआ जैसा प्रायः होता है। कुछ लोगों का कहना है कि इस विष से मीरांबाई का शरीरपात हो गया[2] परन्तु विष के अमृत हो जाने की व्यापक चर्चा से यह स्पष्ट है कि वे इस विष से मरी नहीं। विष-पान की घटना का उल्लेख करनेवाले मीरां के कई पद मिलते हैं। अगर वे विष की ज्वाला से मर गई होतीं तो इन पदों की रचना न कर सकतीं। इतना ही नहीं, नागरीदास द्वारा उद्धृत पद में तो उन्होंने स्पष्ट कहा है—

"जानि बूझि चरनामृत सुनि पियौ नहि बौरी भोरानी
कंचन कसत कसौटी जैसे तन रह्यो बारह बानी—"

और उसके आगे यह कहते हुए भी नहीं चूकीं कि 'आपुन गिरिधर ज्याय लियौ यह ज्यों मीन ब पानी'।

इस विष से वे कैसे बचीं यह पता नहीं है। इसका कारण विष की साधारणता, मीरां या उनके किसी शुभेच्छु की चतुरता या जैसा कि भक्त मानते हैं (आज विज्ञान इसे स्वीकार नहीं करता) उनकी अलौकिक शक्ति का सहज परिणाम था। इसी परिवार में राजकुमारी कृष्णा को भी विष दिया गया था। पहली बार वे विष की ज्वाला को झेल गईं, दूसरी बार विष विजयी हुआ और उनका

(१) डाकोर की प्रति, पद संख्या १
(२) मीरांबाई का जीवन-चरित्र, मुंशी देवीप्रसाद, पृष्ठ १४

स्वर्गवास हो गया। विष से बच जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सभी विष सदैव प्राणांतक सिद्ध नहीं होते।

इस विषय में भक्तों में प्रचलित है कि मीरांबाई के विष-पान की घटना से कृष्ण की मूर्ति नीली हो गई थी।[1] इस बात को ध्यान में रखकर कृष्णजी की कुछ मूर्तियों का निर्माण भी हो गया है। शिवराजपुर की मूर्ति इसका अच्छा उदाहरण है। यह बात समर्थ भगवान की भक्तवत्सलता के प्रति तर्कहीन अगाध विश्वास और उर्वर कल्पना पर आधारित है इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। संसार के हर व्यापार को कृष्ण-नियंत्रित माननेवाले सगुण भक्त के लिए मीरां के विष पीकर भी बच जाने का प्रत्यक्ष कारण इसके अतिरिक्त और कुछ मानना स्वाभाविक भी नहीं है।

यह विष मीरां को किस राणा ने दिया इस बात का निर्णय परिस्थिति द्वारा की गई व्यंजना के आधार पर ही किया जा सकता है क्योंकि इस सम्बन्ध में कोई विश्वस्त स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं है।

जैसा कि अभी कहा जा चुका है मीरां के जीवन में संघर्ष विशेष रूप से संवत् १५९४ के पश्चात् तीव्र और कटु हुआ।

संवत् १५९४ के पश्चात् मीरां के जीवन-काल में चित्तौड़ की गद्दी के स्वामित्व का काल-क्रम से विवरण इस प्रकार है—

(१) राणा रत्नसिंह[2]   संवत् १५८४ माघ सुदी १५ वि० गद्दी
                                          संवत् १५८८   मृत्यु

---

(१) 'मीरांबाई चरित्र' — ५५ वाँ छंद ' मूर्ति श्यामी निली देखाणीजी ' शुद्धाद्वैतवादी कांकरोली वासी श्री कण्ठमणि शास्त्री ने लेखक को बताया कि कृष्ण की मूर्ति के नीले होने की बात वल्लभ संप्रदाय में भी प्रचलित है। चूँकि मीरा ने विष-पान द्वारा कृष्ण को कष्ट दिया था इसलिए मीरां लांछित है। वल्लभ-संप्रदाय में मीरां के लांछित होने का कारण तो दूसरा ही था प्रस्तुत कारण वस्तुतः वल्लभ-दर्शन के आधुनिक तत्कालीन पंडित की कल्पित दलील है।

(२) ओझा—उदयपुर राज्य का इतिहास , पृष्ठ ३८८-४२२
टॉड ने रत्नसिंह की गद्दीनशीनी संवत् १५८६ में और देहान्त संवत् १५९१ में माना है, पर ये तिथियाँ राजस्थानी इतिहास की अन्य घटनाओं से मेल नहीं खातीं। अतः स्वीकार्य नहीं है।

(२) राणा विक्रमादित्य (विक्रमाजीत) संवत् १५८८ गद्दी
संवत् १५९३ मृत्यु
(३) बनवीर संवत् १५९३ गद्दी
संवत् १५९८ *मारा गया या भाग गया*
(४) राणा उदयसिंह संवत् १५९७ गद्दी
संवत् १६२८ फागुन सुदी १५ मृत्यु

स्पष्ट है कि इन्हीं में से किन्हीं राणा ने मीरां को विष दिया या दिलवाया होगा।

इनमें से बनवीर महाराणा रायमल के सुप्रसिद्ध कुँवर पृथ्वीराज का अनौरस (पासवानिया) पुत्र था और महाराणा विक्रमादित्य के प्रीतिपात्रों से मिलकर उनका मुसाहिब बन गया था। वि० सं० १५९३ में एक दिन उसने महाराणा को जो उस समय १९ वर्ष का था अपनी तलवार से मार डाला और निष्कंटक राज्य करने की इच्छा से उदयसिंह का भी वध करना चाहा।[१] उदयसिंह अपनी स्वामिभक्ता धाय पन्ना के त्यागपूर्ण चातुर्य के कारण बच गया और संवत् १५९७ में सरदारों की सहायता से पुनः अपने पैतृक राज्य का स्वामी बना।[२] यद्यपि बनवीर ने अपने को भी राणा बनवीर[३] के नाम से घोषित किया था परन्तु मेवाड़ के राज्य-परिवार और सामन्त-वर्ग ने उसे यह सम्मान नहीं दिया था। वे लोग अकुलीन समझकर उसके साथ खानपान का स्वच्छंद सम्बन्ध नहीं रखते थे। मेवाड़ के इतिहासों में भी बनवीर के राज्यकाल का विवरण उस रूप में नहीं है जिस रूप अन्य राणाओं का है। उसका उल्लेख राणा-राज्य-परंपरा की शृंखला के रूप में कम शृंखला के टूटने के रूप में अधिक माना गया है। फिर बनवीर को राणा के परिवार की स्त्रियों की वैयक्तिक नीति से कोई सरोकार न था वह तो राज नीति के मंच पर सहसा धूमकेतु की तरह उदय होकर विलीन हो गया।

---

(१) उदयपुर राज्य का इतिहास, ओझा पृष्ठ ४०१
(२) वही, पृष्ठ ४०४
(३) वीर विनोद, भाग २, पृष्ठ ६२-६३
(४) बनवीर द्वारा चलाए गए सिक्कों पर यही लेख मिलता है राजपूताने का इतिहास, गहलोत पृष्ठ २२७, व करेंसीज ऑव राजपूताना, वैब, पृष्ठ ७

राणा रत्नसिंह ने मीरां को विष दिया होगा इसकी संभावना बहुत कम ही है। कारण इस प्रकार हैं—

(१) विष की घटना मीरां-राणा विरोध की चरम सीमा थी। इसी के बाद मीरां ने चित्तौड़ छोड़ा था। इस विरोध और संघर्ष के परिपक्व होने में कुछ समय अवश्य लगा होगा। रत्नसिंह ने केवल संवत् १५८४ से संवत् १५८८ तक राज्य किया था। इसके पश्चात् विक्रम राणा हुआ।

(२) जिस दिन से वह गद्दी पर बैठा था उसी दिन से उसके मन में रणथंभोर की जागीर को मिटाने की चिन्ता लग गई थी। आंतरिक कुचक्रों में वह इतना लीन नहीं था। अपने छोटे भाइयों (विक्रम और उदय) के हाथ में रणथंभोर की ५०-६० लाख की जागीर का होना उसे बहुत अखरता था क्योंकि वह उसकी आन्तरिक इच्छा के विरुद्ध था।[1] उधर हाड़ी कर्मवती (रत्नसिंह की सौतेली माँ विक्रमादित्य तथा उदयसिंह की माँ) विक्रमादित्य को मेवाड़ का राजा बनाना चाहती थी जिसके लिए उसने सूरजमल से बातचीत कर बाबर को अपना सहायक बनाने का प्रबंध रचा।[2] इस सूरजमल को छलपूर्वक मारने के लिए राणा रत्नसिंह ने अपने चार वर्ष के राज्य-काल का बहुत-सा समय नष्ट कर दिया और अन्त में विक्रमीय संवत् १५८८ में इस राणा का देहान्त इसी संघर्ष में हो गया।[3] इस प्रकार राणा रत्नसिंह के अपने अल्प राज्य-काल में चित्तौड़ के आंतरिक पारिवारिक षड्यंत्र और कुचक्रों में पड़ने की अधिक गुंजाइश नहीं रह जाती।

(३) मीरां का रत्नसिंह द्वारा विष न दिए जाने की बात इसलिए भी सही प्रतीत होती है क्योंकि रत्नसिंह का मीरांबाई से अन्य राणाओं की अपेक्षा अधिक निकट का सम्बन्ध था। रत्नसिंह जोधा के पौत्र सूजावत बाघा की पुत्री धनाई से उत्पन्न हुए थे। मीरां इसी जोधराव के पौत्र रत्नसिंह की पुत्री थी। इस तरह रत्नसिंह की माँ और मीरां न केवल एक ही राठौड़ परिवार की थीं वरन् दूर के रिश्ते की बहिन भी थी। फिर, अंतःपुर की आंतरिक राजनीति में मीरां

---

(१) उदयपुर राज्य का इतिहास ओझा, पृष्ठ ३८८
(२) वही, पृष्ठ ३८९
(३) वहीं, पृष्ठ ३९१ बड़वे-भाटों की ख्यातों तथा अमर काव्य में इस घटना का संवत् १५८७ दिया है।

रत्नसिंह की माता के राठौड़ गुट की मानी जाती थी। अतः उसमें मीरां के लिए सहृदयता, आत्मीयता और सद्भावना विरोधी गुट की रानियों विशेषकर करमेती और उसके पुत्रों की अपेक्षा अधिक थी।

(४) इसके अतिरिक्त रत्नसिंह अपने पराक्रमी पिता-चाचा की तरह वीरोचित गुणों से पूर्ण थे। 'रण में जाना उन्हें पसन्द था, पर साथ ही वे शांति-प्रिय भी थे। वे मीठा बोलते थे शंकाधीन नहीं, विश्वासी प्रवृत्ति के थे।'

मीरां ने अपने पदों में राणा द्वारा विष देने की घटना के उल्लेख के साथ राणा की दो विशेषताओं (दोषों) पर विशेष बल दिया है —(१) राणा अमल संवारा (२) मूरखजन सिंघासण राजा।[1] राणा विक्रमादित्य के विषय में राजस्थान का इतिहास लगभग इसी प्रकार की बातें कहता है।[2] उसमें मूर्खता, निर्दयता और अविश्वासपूर्ण दुष्टता कूट-कूट कर भरी थी। विष देने के लिए क्रूरता और मूर्खता की आवश्यकता है वह विक्रमादित्य में पूर्णतः वर्तमान थी। दूसरे विष देने की घटना राणा-मीरां संघर्ष की चरम सीमा थी, जिसके उत्पन्न होने में कुछ समय तो लगा ही होगा। यह बात भी विक्रम के राज्यकाल में ही संभव थी। तीसरे, विक्रम की माँ करमेती मीरा को अन्तःपुर में बसे अपने राजनीतिक शत्रुदल (राठौड़) का स्तंभ मानती थी जो उसकी महत्त्वाकांक्षाओं की सबसे बड़ी बाधा थी। अतएव मीरां को विष देने या दिलवाने वाला करमेती-पुत्र राणा विक्रम ही सिद्ध होता है।

विष देने के कुकृत्य में दो व्यक्तियों के नाम और संबद्ध हैं —

(१) विष लानेवाला (लाकर मीरां को देने वाला) दयाराम पंडा।

(२) मीरां को विष देने के लिए महाराणा को 'सलाह' देनेवाला बीजावर्गी जाति का महाजन मुसाहिब।

---

(१) राजपूताने का इतिहास गहलोत, पृष्ठ २९४

(२) उदयपुर राज्य का इतिहास ओझा, ३९४४०१
"शासन के वह बिलकुल अयोग्य था। —अपने छिछोरेपन के कारण वह सरदारों की खिल्ली उड़ाया करता था—बहादुरशाह की प्रथम चढ़ाई से भी महाराणा का चालचलन कुछ न सुधरा — महाराणा अपनी बाल्यावस्था एवं बुरी संगति के कारण अपना चालचलन न सुधार सका।" इत्यादि।

दयाराम[1] का उल्लेख मीराँ-भजन के एक पद में है[2] और बीजावर्गी मुसाहब के उल्लेख के पीछे राजस्थान की एक बहुत बलवती जनश्रुति है[3] जो स्वयं बीजावर्गी जाति के लोगों में चली आ रही है और जिसे एक साहित्यिक के रूप में व्यक्त और गृहीत करके जनता ने अपना प्रत्यक्ष समर्थन भी प्रदान किया है। जनश्रुति इस प्रकार है— 'बीजावर्गी जाति का मुसाहब राणा का सलाहकार था। उसने राणा को सुझाया कि मीराँ का अन्त विष देकर सरलता से हो सकता है और उसके साथ उसके कारण उत्पन्न समस्याएँ स्वयं समाप्त हो जायेंगी। सलाह के साथ उसने इस काम की जिम्मेवारी स्वयं ली और मीराँ को चरणामृत के नाम से विष दे दिया। मीराँ को यह बात तुरन्त ज्ञात हो गई और उन्होंने उस बीजावर्गी को शाप दिया कि जिस माया के लिए तुम यह कुकृत्य किया है वह तेरे कुल में न रहेगी और जब रहेगी तो उसे भोगनेवाली सन्तान नहीं होगी। मेवाड़ के बीजावर्गी बनियों की दुरवस्था का कारण यही शाप माना जाता है। मारवाड़ के बीजावर्गियों में भी अभी तक यह विश्वास फैला है कि उनकी धन-जन की जो हानि होती है वह मीराँबाई के शाप का ही परिणाम है। राजस्थान में प्रचलित है कि —

'बीजावरगी बानियो दूजा गूजर गौड़
तीजो मिल जो साइयो करे टापरो चौड़'

(यदि बीजावर्गी बनिया दूसरा गूजर गौड़ तथा तीसरा सायमा ब्राह्मण आपस में मिल जायें तो पूरा घर चौपट कर दें।) इससे बीजावर्गियों की धूर्तता और चालाकी के विषय में लोकमत ज्ञात हो जाता है।

बीजावर्गी लोग प्रधानतः शैव हैं इनमें विष्णु के उपासक बहुत थोड़े हैं। हो सकता है मीराँ को बीजावर्गी द्वारा विष देने की जनश्रुति का आधार शैवों तथा वैष्णवों का आपसी संघर्ष हो। यह भी असंभव नहीं है कि शैव बीजा-

---

(१) मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ६७, शब्द ३२

एक मीराँ-भजन का पद है—

सीसोद्यो राणो प्यालो म्हाँने क्यूँ पठायो।
भली बुरी तो मैं नहिं कीन्हीं राणा क्यूँ है रिसायो।
कनक कटोरे लै विष घोल्यो दयाराम पंडो लायो।
मीराँ कहै प्रभु गिरिधर नागर जुग की बिरद बढ़ायो।

(२) बीजावर्गी महाजन व्यवसायी जाति के हैं। ये पंथ देखते हैं। ये लोग जयपुर के इलाके के रणथंभोर स्थान से मारवाड़ आये थे।

(३) मीराँबाई का चरित्र, मुंशी देवीप्रसाद, पृष्ठ ११

वर्गी ने वैष्णव मीरां के मरवाने में योग दिया हो। बीजावर्गियों में प्रचलित जन-श्रुति अधिक विश्वसनीय है क्योंकि उसमें अपने एक पूर्वज के अपराध की स्वीकृति है और प्रायः अनुश्रुतियों के जन्मदाता अपने विरुद्ध जनश्रुतियों को जन्म नहीं देते।

बीजावर्गियों के अनेक वंश राजस्थान में हैं, जैसे परवा बोटेवा नामकवान सिदवान इत्यादि।[1] यह अनुश्रुति नहीं बताती कि मीरां के विष-पान की घटना से किस वंश के बीजावर्गी का सम्बन्ध था।

अब प्रश्न उठता है कि बीजावर्गी और दयाराम पंडा का क्या सम्बन्ध है? बीजावर्गी व्यवसायी जाति है जो वैश्यों के अन्तर्गत आती है, पंडा ब्राह्मण होते हैं। कोई पंडा बीजावर्गी नहीं होता। अतः बीजावर्गी सलाहकार दयाराम से भिन्न व्यक्ति थे। अगर दूसरा उल्लेख भी सत्य माना जाय तो बात यों हो सकती है कि बीजावर्गी ने राणा को सलाह दी और स्वयं इस काम को दयाराम पंडा द्वारा कराया।

अन्य घटनायें।

नाग-प्रसंग विष के अतिरिक्त नाग-प्रसंग का उल्लेख भी अनेक लेखकों ने किया है।[2] कहते हैं कि एक दिन राणा ने एक डिब्बे में काला नाग बन्द करके किसी दासी के हाथ यह कहकर भिजवा दिया कि इसमें श्री सालिगराम की अपूर्व मूर्ति है। झट मीरां ने बड़ी श्रद्धा भक्ति से उस डिब्बे को ले मस्तिष्क से लगा लिया, और ज्योंही खोला तो यथार्थ में उस डिब्बे के अंदर दिव्य सालिगराम की मूर्ति निकली। इस बात के पक्ष में मीरां-छाप के कई पद भी उद्धृत किए जाते हैं।[3]

---

(१) राजस्थान की जातियाँ, बजरंगलाल लोहिया, पृष्ठ १६२

(२) मीरांबाई मा० शि० मेहता, पृष्ठ ४७-४८
मीरांबाई की शब्दावली और जीवन-चरित्र बे० प्रे० जीवन-चरित्र, पृष्ठ ४
श्री कार्तिकप्रसाद खत्री, मीरांबाई का जीवन-चरित्र पृष्ठ १८

(३) सांप पिटारो राणाजी भेज्यो, मीरां हाथ दियो जाय
हँस-हँस मीरां कंठ लगायो यो म्हारे नौसर हार
—मीरांबाई की पदावली, पं० परशुराम पद ४२

(ख) भेज्या नाग छोड़िया जी, छाड़ो मीरां के महल
—मीरां बृहद पद-संग्रह पृष्ठ ६६ (पद ४ से)

मीरां की स्वीकृत पदावली में भी इस सम्बन्ध में एक उल्लेख है —

'काला नाग पिटार्‍यां भेज्या सालिगराम पिछाना

मध्यकालीन राजस्थान में मारने के प्रसिद्ध ढंग में विष देना सर्प द्वारा कटवाना और तलवार या भाला आदि के प्रयोग ही प्रमुख थे। अतः मीरां को विष के साथ ही सर्प-दंशन द्वारा मरवाने का प्रयत्न आश्चर्य की बात नहीं है।

इन पदों में 'साँप' की घटना तीन रूपों में मिलती है—

(१) डिब्बे में काला नाग भेजा जो मीरां के देखते ही सालिगराम हो गया

(२) नाग को मीरां ने नौसर हार के रूप में देखा और

(३) नाग को मीरां ने सालिगराम कर माना।

राणा सांगा के पुत्र रतनसिंह ने अपनी बड़ी लड़की स्वरूपदेवी का विवाह राव मालदेव से किया। वह उसकी छोटी पुत्री के रूप-यौवन पर मुग्ध होकर उससे भी विवाह करना चाहता था। अतः रतनसिंह ने चुपके से राणा उदयसिंह को बुलाकर अपनी लड़की का विवाह उनसे कर दिया। स्वरूपदेवी ने जो उस समय मेड़ते में थी अपनी बहन को विदा करते समय दहेज में गहने देने चाहे परन्तु जल्दी में गहनों के डिब्बों के बदले राठौड़ों की कुल देवी नागणेची की मूर्ति वाला डिब्बा दे दिया—वह डिब्बा मीरां द्वारा खोला गया तो उसमें नागणेची की मूर्ति निकली, जिसको महारानी ने पूजन में रखा और तभी से उसको साल में दो बार पूजने का रिवाज चला आता है।[1]

(क) डब्बा खोली मीरां जब देख्यो हो गए सालिगराम
जयजय ध्वनि सब संत करत भई, कृपा करी घनश्याम
—मीरांबाई, मा० मि० मेहता पृष्ठ ४८

(ख) मेरे राणाजी मैं गोविंद गुण गाना।
डबिया में जिर काली नाग भेज्या मैं सालिगराम कर जाना।
मीरां प्रभु की प्रेम दिवानी, मैं सांवरिया वर पाना।
—मीरांबाई, पुरुषोत्तम पुरोहित पृष्ठ ९६-९७
डिब्बा में सालिगराम दीसत कछु नहियाँ
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर तुमहीं मोह लईयां—
मीरांबाई का जीवन चरित्र वर्मा, पृष्ठ १८

(१) वीर-विनोद भाग २, पृष्ठ १७-१८
उदयपुर राज्य का इतिहास, पृष्ठ ४०४-४०५

संभव है कि उल्लिखित नाथ-शिष्या नामदेवी (संक्षिप्त रूप नाम देवी) का शिष्या हो।

वैराग्य और भक्ति की तीव्रता

भक्तों और संतों ने मीरां को जन्मजात आदर्श भक्त के रूप में प्रतिष्ठित किया है और स्पष्टतः यह कहा है कि मीरां ने अपने लौकिक पति को मन से कभी स्वीकार नहीं किया। पर, सत्य यह है कि भोजराज की मृत्यु के पश्चात् मीरां के मन में वैराग्य की भावना तीव्रता के साथ उठी। उनके आसपास राज-परिवार में कुचक्रमय छल प्रपंच और अत्याचारों के जंजाल स्वार्थों के संघर्ष और पर-पीड़क प्रवृत्तियों का बोलबाला था। तरुणाई के पहले प्रहर में ही जीवन के रस और तृप्ति के द्वार संसार ने सदैव को बंद करके अमंगल के अभिशाप से जिसका नाता जोड़ दिया हो जिसको परिजन स्नेह के स्थान पर विष देने की सोचते हो और जिसके प्राणों में जीवन की दुर्दम्य अपराजेय शक्ति और अनुराग की अछूती अमिट प्यास भरी हो वह असत् की उपेक्षा कर उससे महत्तर, सुन्दरतर और अधिक स्थायी तथा सरस सत्य की ओर उन्मुख न हो तो क्या करे ? मीरां में भक्ति-भावना सहज और स्वाभाविक अवश्य थी शैशव में वह अंकुरित भी हो गई थी पर वह पल्लवित और पुष्पित हुई, वैधव्य के बाद।

मीरां ने स्वयं कहा है कि जग-सुहाग मिथ्या है क्योंकि वह होकर मिट जाता है थिर नहीं है।[1] अतएव उन्होंने ऐसे अविनाशी का वरण किया जिसे काल-व्याल न खा सके। जग-सुहाग के मिटने का विषादपूर्ण उल्लेख और काल-व्याल की पहुँच से बाहर के 'अविनाशी' को वरण करने की चर्चा इस बात का प्रबल प्रमाण है कि मीरां ने वैधव्य का दुख सहा था और काल-व्याल के प्रति उनमें असमर्थ रोष था, जिसके कारण उन्होंने अविनाशी के चरण पकड़े।

एक ही सांस में जब वे ये दो बातें कहती हैं —

(१) *लोकलाज कुल-बंधन झूंठा झूठा कुकरां ज्याती*

(२) म्हारी जनम-जनम री साथी थाने ना बिसर्‌या दिनरातीं[2]

तब कृष्णोन्मुख होकर उनसे आर्त स्वर में न बिसराने की प्रार्थना करने का रहस्य

---

(१) जग-सुहाग मिथ्या री सजनी होंवा हो मिट ज्यासी
वरन कर्‌यां हरि अविनाशी म्हारो काल-व्याल ना खासी
—डाकोर, पद ९९

(२) डाकोर, पद ११

छिपा नहीं रहता।

मीराँ ने हरि से यह भी प्रार्थना की है कि तुमने द्रौपदी की लाज रखी और बढ़ाया भक्त के कारण नरहरि रूप धारण किया डूबते हुए गजराज की रक्षा की —मेरी पीर हरो[1] मीराँ को पीर क्या थी? द्रौपदी की तरह उनके परिवार में उनका अपमान हो रहा था प्रह्लाद के समान उनके अपने कहलाने वाले लोग उन्हें मारना चाहते थे और गजराज की तरह भव-सागर की माया में एक पैर उनका फँस गया था। इसी ने उन्हें आर्त बनाकर प्रभु की ओर मोड़ा।

उक्त मीमांसा से दो निष्कर्ष निकलते हैं —

(१) मीराँ को वैधव्य की चोट का दुखद अनुभव था। (उन्हें काम-व्यास के प्रति रोष था।)

(२) वैधव्य-जन्य दुख और परिवार के कष्टकारक वातावरण ने उनमें विरक्ति जगा दी थी और वे विशेष रूप से ईश्वरोन्मुख हो गईं। (धीरे धीरे यह भावना उनकी सहज अनुराग-धारा में मिल कर तदाकार हो गई।)

मीराँ का चित्तौड़ त्याग :

राना-परिवार में मीराँ के संघर्ष की चरम सीमा थी विषपान जिससे वे बच गईं, परन्तु उस परिस्थिति में रहना उनके लिए सम्भव नहीं था। उनके पिता और ताऊ उस समय जीवित थे। अतएव उनके लिए मायके में चा जाना ही स्वाभाविक था। मीराँ चित्तौड़ छोड़कर मेड़ते में कब आईं, इसका निर्णय दो-तीन बातों से हो जाता है। एक तो मीराँ का कष्ट देने वाले मीराँ के अपने शब्दों में भगत संहारने वाले राना विक्रमादित्य थे। इनका राज्यकाल था वि० सं० १५८८ से सं० १५९१ तक। इसी बीच कभी मीराँ ने मेड़ते के लिए प्रस्थान किया था। दूसरे, संवत् १५९१ में बहादुरशाह ने दूसरी बार आक्रमण किया था।[2] यह युद्ध 'चित्तौड़ का दूसरा साका' नाम से प्रसिद्ध है। इस लड़ाई में कई हजार राजपूत मारे गए और बहुत-सी स्त्रियों ने अपने सतीत्व की रक्षा के लिए हाड़ी कर्मवती के साथ जौहर कर अपने प्राणों की आहुति दे दी।[3] ख्यातों आदि में १२००० राजपूतों

---

(१) डाकोर, पद ६६

(२) इसकी तिथि दी हुई नहीं है। इसके ठीक बाद बैसाख बदी ७, वि० सं० १५९२ को हुमायूँ ने बहादुरशाह का पीछा किया अतएव उक्त युद्ध का समय संवत १५९१ निर्धारित किया गया है।

(३) वीर-विनोद भाग २, पृष्ठ ३१

की लड़ाई में और १३००० स्त्रियों का जौहर में प्राण देना लिखा है।[1] यदि मीरां वहाँ होती तो अपनी सास कर्मवती के साथ जौहर में समाप्त हो जाती। कहा जाता है कि उस समय चित्तौड़ दुर्ग में राज-परिवार की स्त्रियां बची ही नहीं थीं, विधवा बच्ची मीरां का बचना तो असंभव था। अतः उसका चित्तौड़ दुर्ग त्यागकर मेड़ता जाने का समय संवत् १५९१ के पूर्व ही ठहरता है।

इधर विक्रम संवत् १५९१ में शमशेरुल्मुल्क[2] को पराजित करके जीते हुए अजमेर को न देने के कारण राव मालदेव ने अप्रसन्न होकर मेड़ता पर चढ़ाई कर दी, जिसके फलस्वरूप वीरमदेव को मेड़ता छोड़कर अजमेर जाना पड़ा।[3] अतएव मीरां के अपने ताऊ वीरमदेव के पास मेड़ता पहुँचने का समय संवत् १५९१ के पश्चात किसी प्रकार नहीं हो सकता। इस प्रकार परिस्थितियों को देखते हुए मीरां के चित्तौड़ छोड़कर मेड़ते आने का समय संवत् १५८९–९० के लगभग ठहरता है।

तीर्थयात्रा

डाकोर की यात्रा

मीरां-काव्य की कुछ पदावलियों में मीरां के डाकोर में रणछोड़जी के मंदिर से सम्बद्ध होने के प्रमाण मिलते हैं पर मीरां की स्वीकृत पदावली में इस आशय का कोई उल्लेख नहीं है और जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया गया है, ये रचनाएँ मीरां के बहुत बाद की हैं। अतएव डाकोर की पदावलियों के रूप में प्राप्त मीरां-काव्य के पदों के आधार पर तो मीरां की डाकोर-यात्रा के संबन्ध में कोई निष्कर्ष निकालना उचित नहीं है। पर इस संबन्ध में नागरीदास का एक उल्लेख विचारणीय है। उन्होंने लिखा है कि "मीरां गंगादिक तीरथ करने के बाद वृन्दावन आई।" डाकोर में एक सुन्दर जलाशय है जिसे गोमती गंगा कहा जाता है। मीरां का वृन्दावन के बाद, गंगा के किनारे किसी तीर्थस्थान पर जाने का कोई उल्लेख नहीं है। गंगा के किनारे उत्तर-प्रदेश के प्रसिद्ध तीर्थ हैं हरिद्वार, प्रयाग और काशी। मीरां इनमें से एक भी स्थान पर नहीं गई थी। अतएव नागरीदास द्वारा उल्लिखित

---

(१) उदयपुर राज्य का इतिहास ओझा, पृष्ठ ३९९ (फुटनोट ४)

(२) मुँहणोत नैणसी ने परमारों को पराजित करने का उल्लेख किया है, पर उससे प्रस्तुत निष्कर्ष पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता

(३) मारवाड़ का इतिहास रेउ, पृष्ठ ११८

मंगारिक से डाकोर की गोमती गंगा आदि की ओर संकेत मानना ही ठीक होगा। नागरीदास के उक्त उल्लेख के आधार पर मीरां के डाकोर जाने का समय वृन्दावन यात्रा के पूर्व और वैधव्य के बाद का ठहरता है। राजस्थान में एक परिपाटी है कि विधवा होने के पश्चात् पिता अथवा पितृ-कुल का कोई व्यक्ति लड़की को तीर्थ करवाने के बाद ही घर ले जाता है। अतएव वैधव्य के बाद मेड़ता जाने के पूर्व मीरां के लिए किसी तीर्थ-स्थान जाना आवश्यक था इस बात से उनके डाकोर जाने के उल्लेख की पुष्टि होती है।

पुष्कर-यात्रा

मीरां के पुष्कर जाने के संबंध में एक अत्यन्त व्यापक जनश्रुति है।[1] डूँगरी के दोहों में भी मीरां के पुष्कर नहाने का उल्लेख मिलता है।[2]

वृन्दावन की यात्रा

मीरां ने वृन्दावन की यात्रा की थी। इसके प्रमाण उनकी अपनी रचनाओं तथा अन्य भक्तों द्वारा किए गए उल्लेखों में मिलते हैं।[3] पति की मृत्यु के पश्चात् ही कभी वे वृन्दावन गई थीं। ललिता का भी उन्होंने बुला लिया था और वे दोनों आनन्दपूर्वक वृन्दावन के रसक्षेत्र के दर्शन करती फिरीं करताल लेकर नाचीं और विमल हृदय से भक्तों से मिलीं।[4] वहाँ से उन्होंने कुंज-कुंज निहारे और वन वन में अपने पद गाए।[5] इसी क्रम में उन्होंने जीव गोस्वामी को शिक्षा दी।

मीरां ने स्वयं भी कहा है "वृन्दावन बहुत नीका लगा क्योंकि वहाँ घर घर तुलसी और ठाकुर की पूजा होती है और गोविन्दजी के दर्शन उपलब्ध हैं।

---

(१) कुल की लाज ईसरी बेली हूँ, पुस्कर न्हाण' — शोध-पत्रिका, पृष्ठ १८०
पुस्कर जी में न्हाई जाय, राणी बेली घर छोड़ कै।
बिन्द्राबन में पहुँची जाय राणी बेली घर छोड़ कै।।
—वैयक्तिक संग्रह से

(२) पुस्कर न्हाई भगत भग, बिंद्राबन रसकेत

(३) पदप्रसंगमाला, नागरीदास, प्रसंग ३
"डाकोरे दरसन कीधा रे, गोमती गंगमा न्हाया"—विनोदमाला, अहमदाबाद, हस्तलिखित ग्रंथ-संख्या १६९७, डाकोरनी मरवी

(४) भक्त मीरांबाई, मुरलीदास, (वेलिर, ग्रंथपत्र के आधार)

(५) राघोदास कृत भक्तमाल की टीका, चतुरदास, रेखता वाँ छंद

इनके अतिरिक्त यमुना का निर्मल नीर, दूध-दही का भोजन और (सबसे बड़ी बात यह है कि) तुलसी का मुकुट धरकर वे (गिरधर) स्वयं वहाँ विराजमान हैं।[1]

पुष्कर तथा वृन्दावन यात्रा का समय

वृन्दावन में मीराँ की भेंट जीवगोस्वामी से हुई और जीवगोस्वामी वृन्दावन में संवत् १५९०–९१ में आए थे।[2] इसलिए मीराँ का ब्रज-गमन हर दशा में संवत् १५९०–९१ या उसके बाद की ही घटना है।

मीराँबाई चित्तौड़ के राणा के व्यवहार से असन्तुष्ट होकर मेड़ते आ गई थीं जहाँ उनके ताऊ वीरमदेव राज्य करते थे। संवत् १५९१ में राव मालदेव ने वीरमदेव से अप्रसन्न होकर जैता और कूंपा की अध्यक्षता में मेड़ते पर सेना भेज दी।[3] यह देखकर वीरमदेव भी युद्ध के लिए तैयार हो गए। परन्तु अन्त में लोगों के समझाने से वह मेड़ता छोड़कर अजमेर चले गए और मेड़ते पर मालदेव का अधिकार हो गया। वीरमदेवजी ने जिस प्रकार मेड़ता छोड़ा उससे स्पष्ट है कि वे सपरिवार अजमेर गए। उस समय मीराँ भी उनके साथ रही होंगी।

संवत् १५९१ के बाद वीरमदेव अजमेर में रहे परन्तु मालदेव ने उनका वहाँ भी पीछा नहीं छोड़ा और मारवाड़ के इतिहासकार रेउ के अनुसार उसी वर्ष मालदेव का अजमेर पर भी अधिकार हो गया। हरबिलास सारदा ने वि० सं० १५९२ में मालदेव का अजमेर पर अधिकार होना लिखा है।[4] कुछ भी हो इतना निर्विवाद है कि वीरमदेव का अजमेर पर बहुत थोड़े दिनों अधिकार रहा।

अतः संवत् १५९१ में मीराँ के सामने चार रास्ते थे—

(१) मेड़ते में रह जाना

---

(१) डाकोर पद ८

(२) यही अध्याय —मीराँ और जीवगोस्वामी के मिलने का समय

(३) डा० श्रीकृष्णलाल ने लिखा है कि "सं० १५९५ में जोधपुर के राव मालदेव ने वीरमदेव से मेड़ता छीन लिया और वे भागकर अजमेर चले गए।" पं० परशुराम चतुर्वेदी ने (मीराँबाई की पदावली—भूमिका पृ० २) भी यही तिथि लिखी है। सं० १५९५ तिथि का आधार दोनों में से किसी ने नहीं दिया। रेउ कृत मारवाड़ का इतिहास (पृ० ११९), सारदा कृत 'अजमेर' (पृ० १५७ फुटनोट) और ओझा कृत 'जोधपुर राज्य का इतिहास' (पृ० २८५) तीनों में संवत् १५९१ का उल्लेख है और इस विषय में इन विद्वानों का उल्लेख ही विश्वसनीय है।

(४) मारवाड़ का इतिहास, रेउ पृष्ठ ११८-११९, (५) वही, पृष्ठ ११९

(२) चित्तौड़ जाना
(३) वीरमदेव के साथ अजमेर जाना अथवा
(४) अन्यत्र कहीं जाना।

परिवार के साथ वीरमदेव के अजमेर जाने और उनके परम शत्रु मालदेव के मेड़ते के स्वामी बनने पर मीरां के लिए मेड़ते में रहने का प्रश्न ही नहीं था। विष देकर मारने का षड़यन्त्र करनेवाले राणा के यहाँ चित्तौड़ में मीरां लौटना नहीं चाहती थीं। अतः उनके सामने अंतिम दो ही मार्ग थे। वीरमदेव को मेड़ता जिन परिस्थितियों में सहसा छोड़ना पड़ा था उनमें मीरां का उनके साथ अजमेर जाना ही अधिक तर्क-संगत प्रतीत होता है। उनके पुष्कर जाने के उल्लेख से यह और भी प्रमाणित हो जाता है। वीरमदेव अजमेर में संवत् १५६१ में थे। इसी वर्ष मीरां ने पुष्करजी में स्नान किया होगा।

अजमेर में वीरमदेव थोड़े ही दिन रहे थे कि मालदेव के कारण उन्हें वहाँ से भी पलायन करना पड़ा।[1] इसके पश्चात् कुछ समय तक उन्हें इधर-उधर भटकना पड़ा। मेड़ता तो बहुत समय तक वे नहीं पहुँचे। यही समय था जब मीरां वृन्दावन की तीर्थ-यात्रा पर निकलीं। इस प्रकार मीरां की वृन्दावन की तीर्थ-यात्रा का काल संवत् १५६२ से प्रारंभ होता है। संवत् १५६०—६१ में जीव गोस्वामी भी वृन्दावन आ चुके थे। रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामी वहाँ थे ही। वृन्दावन में मीरां इन सबसे मिली थी। इस दृष्टि से भी मीरां का वृन्दावन जाने का समय संवत् १५६२ ठीक ही बैठता है।

द्वारका की यात्रा

अपने जीवन की संध्या में मीरां द्वारका में ही थी। यहाँ उनकी भौतिक जीवन-यात्रा का अंत हुआ था। प्रियादास नागरीदास वैष्णवदास आदि के उल्लेखों और मीरां के अपने पदों से मीरां का द्वारका जाना सिद्ध है।

(१) मारवाड़ का इतिहास रेउ, पृष्ठ ११६

मीरां के गुरु

मीरां के गुरु कौन थे, इस विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। मीरां की प्रसिद्धि होने पर अनेक सांप्रदायिक प्रचारकों और कुछ पुरोहित परिवारों ने मीरां के दीक्षा-गुरु के संबंध में अनेक कल्पनाओं और अनुमानों को सत्य के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। इससे समस्या और भी उलझ गई।

विभिन्न मतों द्वारा निम्नांकित व्यक्ति मीरां के गुरु अथवा साधना पथ पर प्रेरित करनेवाले माने गए हैं—

(क) १—रामानन्द २—रैदास
३—कोई रैदासी संत—(विट्ठल) ४—हरिदास वर्मा (रैदासी)

(ख) ५—माधवपुरी (माधवेन्द्र पुरी या माधव)
६—चैतन्य महाप्रभु ७—दास भक्त (रघुनाथ दास)
८—जीव गोस्वामी ९—रूप गोस्वामी

इस सम्बन्ध में दो नाम और विचारणीय हैं—

१—देवाजी २—गजाधर

दो विभिन्न मतों के अनुसार मीरां को अपने बचपन में गिरिधर की पूजावाली मूर्तियां देवाजी तथा गजाधर से मिली थीं। (क) और (ख) वर्गों के संत भक्तों और इन दोनों से सम्बन्धित अनुश्रुतियों में अन्तर यह है कि इनके द्वारा मीरां के दीक्षा ग्रहण करने की नहीं केवल मूर्तियां प्राप्त करने या प्रारंभिक संपर्क की बात की जाती है। अतः इन दोनों का उल्लेख अलग से किया गया है।

संप्रदाय की दृष्टि से विवेचन करने पर समस्त उल्लेख और अनुश्रुति समुच्चतः दो भागों में बाँटी जा सकती हैं। ये वस्तुतः दो अलग विचार-परंपराएँ हैं।

(१) मीरां को रामानन्द रैदास अथवा रैदास-संप्रदाय का माननेवाली परंपरा और

(२) मीरां को माधवेन्द्र पुरी द्वारा दीक्षित या चैतन्य-सम्प्रदाय का माननेवाली परंपरा।

रामानन्द

राजस्थान के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज भाग ३ में उदयसिंह भट नागर द्वारा प्रकाशित मीरां के पदों में निम्नांकित पद भी है—

रामजी पधारे बनि आज की घरी।
आज री घरी भी आज री घरी ॥ टेर ॥

गुरु रामानन्द अरु माधवाचारज भीमानंद मिलन हरी।।
मीरां के प्रभु हरि अविनाशी पकड़ि पायो प्याला प्रेम हरी।।[1]

इसी पद की अभिव्यक्ति से यह संकेत उपलब्ध होता है कि रामानन्द मीरां के गुरु थे और माधवाचारज तथा भीमानंद उनके समकालीन थे।

यह पद रामसनेही संप्रदाय के एक नवीन गुटके का है और मीरां द्वारा 'राम सनेही सांवरियो म्हांरी नगरी में उतर्‌यो आई'[2] कहलाने वाले रामसनेही संप्रदाय के संतों की रचना है। गुरु रामानन्द संवत् १४६१–६२ के लगभग इह लोक लीला समाप्त कर चुके थे।[3] माधवाचारज विजयनगर साम्राज्य के संस्थापक वेदभाष्यकर्ता श्री सायणाचार्य के ज्येष्ठ भ्राता थे।[4] सायणाचार्य का समय चतुर्दश शतक का मध्य भाग है।[5] भीमाजी का उल्लेख भी रामानन्द के समकालीन व्यक्तियों में किया जाता है।[6] अत इनमें से कोई मीरां के समकालीन भी नहीं ठहरते फिर मीरां के आध्यात्मिक विवाह के समय वे कैसे उपस्थित हो सकते थे?

संत रैदास

मीरां को सन्त रैदास की शिष्या माननेवाला मत अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित है। जे० एन० फर्कुहर[7] मीरांबाई की शब्दावली[8] के संपादक आदि अनेक विद्वान् इसी मत के पक्ष में हैं। श्री मा० शि० महेता[9] डा० बड़थ्वाल[10] प्रो० नरोत्तम स्वामी[11] का झुकाव भी इसी मत की ओर है।

---

(१) पृष्ठ २२२, पद १०, शबनम द्वारा संपादित मीरां बृहद पद-संग्रह, पृष्ठ ११६ में भी यह पद दिया हुआ है

(२) मीरां बृहद पद-संग्रह, शबनम, पृष्ठ ११६–११७

(३) रामानन्द की हिंदी रचनाएं, प्रधान संपादक-डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामानन्द का जीवन-चरित्र, पृष्ठ ४०

(४) भारतीय दर्शन, डा० बलदेव उपाध्याय पृष्ठ १६८

(५) भागवत संप्रदाय, डा० बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ १६८

(६) उत्तरी भारत की संत-परम्परा, पं० परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ १५८

(७) एन आउटलाइन ऑफ दी रिलीजस लिटरेचर ऑफ इंडिया, पृष्ठ ३०६

(८) जीवन-चरित्र, पृष्ठ २

(९) मीरांबाई, पृष्ठ ५७–५८

(१०) हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय पृष्ठ ४३८, परिशिष्ट १

(११) मीरां-मंदाकिनी प्रस्तावना, पृष्ठ ८

इस मत का मूल आधार मीरां-छाप के कुछ पदों की वे पंक्तियाँ हैं, जिनमें रैदास का गुरु रूप में उल्लेख है।

निम्नांकित दो बातों से भी अप्रत्यक्षतः इस मत को बल मिला है —

(१) मीरां के नाम से प्रचलित संत-मत की अभिव्यक्ति करनेवाले पदों से और

(२) चित्तौड़गढ़ में मीरां के मंदिर के सामने रैदास की छतरी के वर्तमान होने से।

इस विषय में निम्नांकित बातें विचारणीय हैं

[१] स्वीकृत पदावली में रैदास का गुरु रूप में उल्लेख करनेवाला एक भी पद नहीं है। फिर भी इस प्रश्न के महत्व के कारण उन पदों पर विचार कर लेना आवश्यक है, जो मीरां के नाम से प्रचलित है और जिनमें रैदास का उल्लेख है।

रैदास के उल्लेख मीरां-छाप के जिन पदों में हैं उनकी प्रस्तुत समस्या से सम्बन्धित पंक्तियाँ इस प्रकार हैं —

(१) काशी नगरना चोकमां मने गुरु मिला रोहीदास।[1]

(२) बाराणसी के घाट पै फिर गुरु मिल्या रैदास।[2]

(३) मीरां ने गोविन्द मिल्या जी गुरु मिल्या रैदास।[3]

(४) म्हारो गुरु रैदास है स्वामी म्हांरो हे।[4]

(५) रैदास संत मिले मोहि सतगुरु दीन्हा सुरत सहदानी।[5]

(६) गुरु मिल्या रैदास जी दीन्ही ज्ञान की गुटकी।[6]

(७) गुरु रैदास मिले मोहि पूरे, धुर से कलम भिड़ी।[7]

जिन पदों में ऊपर की पंक्तियाँ आई हैं उनमें से १ २, ३ और ४ की अप्रामाणिकता असंदिग्ध है।

---

(१) मीरां माधुरी, ब्रजरत्नदास, भूमिका

(२) एक गुजराती संत से प्राप्त

(३) मीरांबाई की पदावली पं० परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ १२–१३

(४) मीरां बृहद पद-संग्रह, सम्पादन, पृष्ठ ८

(५) मीरांबाई की शब्दावली और जीवन, बेल्वेडियर प्रेस, पृष्ठ ३०

(६) वही, पृष्ठ २९

(७) वही, पृष्ठ ११

प्रथम उल्लेख

"काशी नगरनां चौकमां गुरु मिल्या रैदास"—इस पंक्ति में मीरां के काशी जाने और वहाँ चौक में रैदास के मिलने का उल्लेख है। मीरांबाई पश्चिम में ब्रज-वृन्दावन तक गई थीं। उनके काशी जाने का कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। जहाँ तक काशी के चौक की स्थिति का सम्बन्ध है कई पीढ़ियों से काशी में निवास करनेवाले श्री ब्रजरत्नदासजी का निम्नलिखित वक्तव्य उल्लेखनीय है— "काशी का चौक अभी हाल का बना हुआ है। प्रायः दो शताब्दी पहले वहाँ तक महाश्मशान समाप्त होता था और अब श्मशान विनायक फाटक के पास मौजूद ही है। मुगल-काल में वहाँ अदालत स्थापित हुई थी जो महाल अब भी पुरानी अदालत कहा जाता है। चाँदनी चौक का छोटा रूप चौक भी मुगल-काल में प्रचलित हुआ है।"[1]

इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि मीरां के समय 'काशी के चौक' की स्थिति ही नहीं थी। २०० वर्ष पूर्व तक वह बना भी नहीं था। अतः रैदास का चौक में मिलने का उल्लेख मीरां के बहुत बाद का पिछले २०० वर्ष में कभी का है और काल्पनिक है।

दूसरे, ये पंक्तियाँ 'मीरां' शब्द के प्रयोग के कारण ही मीरां-कृत मान ली गई हैं। वस्तुतः यह पद मीरां का नहीं जीवण भक्त का है। द० म० त्रिपाठी ने बृहद् काव्य दोहन भाग ७ में भूमिका-स्वरूप दिए गए मीरांबाई निबंध में इन पंक्तियों को जीवण भक्त के पद के रूप में ही उद्धृत किया है।[2]

द्वितीय उल्लेख

"वाराणसी के घाट पै फिर गुरु मिला रैदास"—यह पंक्ति जगन्नाथ दामोदरदास त्रिपाठी 'सागर' नामक गुजराती संत-कवि की एक 'मीरा' नामक हिंदी कविता की है। 'सागर साहब संत भक्ता की परंपरा के ज्ञानमार्गी संत थे। १९३५ ई० में स्वर्गवासी हुए। बड़ौदे में उनके पुत्र अभी हैं। सन् १९५५ में मैं उनसे मिला था। उन्होंने अपने वैयक्तिक संग्रह में से सागर साहब का मीरां-संबन्धी निम्नांकित गीत दिया—

"मीरां हो गई मगन मीरां हो गई मगन।
देखा अन्तर्गगन यहाँ विगताविगत ॥
प्रभु विगताविगत गुरु विगताविगत
स्वयं विगताविगत मीरां हो गई मगन ॥ मीरां हो० ॥

---

(१) मीरां-माधुरी पृष्ठ ७५

(२) पृष्ठ १९

आगे पूजी मीरां भक्ति सगुण की
सेव देख्यां माया विलास
गोपालसी के घाट पै, फिर गुरु मिल्या रोहीदास है ॥
सांची-झांसी प्रीतु लगत-जगत ॥ मीरां हो० ॥
आगे पूजी मीरां बाह्य पुरुष को
अब तो जपे निर्गुण नाम"
सतगुरु-साहब मलक निरंजन मैं नाहीं - मैं नाहीं-रामे है ॥
सांची, लागी मिलत ज्योति जगत जमैत ॥ मीरां हो० ॥

यह पद सांवर साहब की मृत्यु के पश्चात् पिछले २० वर्षों में ही मीरां नाम के कारण उनके नाम से बोलने लगा है।

तृतीय उल्लेख

"मीरां ने गोविन्द मिल्याजी गुरु मिल्या रैदास" यह पंक्ति पं० परशुराम चतुर्वेदी द्वारा संपादित मीरां-पदावली में २६ वें पद की है। कथोपकथन के रूप में उपलब्ध मीरां-काव्य की वे रचनाएँ, जिनमें मीरां स्वयं एक पात्र है, मीरां की रचनाएँ नहीं हैं। यह पद 'मीरां और मीरां की सास' के कथोपकथन के रूप में किसी मीरां नाटक मण्डली की रचना है। हो सकता है कि लोक-गीत के रूप में भी यह प्रचलित रहा हो। मेड़ता के रामरंग मण्डली के लिए पुरुषोत्तमदास पुरोहित द्वारा लिखे गए मीरांबाई नाटक में भी यह अंश आया है।[1] इस रचना की छंद संगति और कथोपकथन के सामान्य औचित्य की दृष्टि से देखें, तो एक बात और स्पष्ट हो जाती है कि यह पूरी रचना भी एक व्यक्ति की नहीं है विशेषकर अन्तिम दो पंक्तियाँ तो निश्चित रूप से बाद की जोड़ी हुई लगती हैं।

तुकान्त	पंक्ति-संख्या		
	१	और	र, र
	२	और	
	३	देव	व, व
	४	भेव	
	५	काम	म म
	६	नाम	

(१) संत दूरस्य, पुष्प छठा, पृष्ठ ५५–५६

७	दास	स, स
८	भास	
९	पास	स, र
१०	सार	
११	काम	स र
१२	पार	
१३	नाम	म, स
१४	रैदास	

स्पष्ट है कि १३ वीं और १४ वीं पंक्तियों में किसी प्रकार का सामञ्जस्य नहीं है—न भावना में न शैली रचना में।

मीरां बृहद् पद-संग्रह में इस संवाद में लिखे मीरां के तथाकथित पद को मीरां और रास के संवाद के रूप में नहीं मीरां के अन्य सामान्य पदों के रूप में ही छापा है। इससे पता चलता है कि किस प्रकार कथोपकथन के रूप में लिखी रचना का धीरे धीरे नवीनीकरण हुआ और होता रहा है। फिर भी श्रीमती शबनम द्वारा प्रस्तुत पद की अभिव्यक्ति से स्पष्ट है कि इसमें दो व्यक्तियों के वार्तालाप को संयोजित किया गया है। इस पद का एक रूपान्तर भी श्रीमती शबनम ने दिया है, जिसमें अन्तिम पंक्ति है —"मीरां सरणी राम के म्हानें गुरु मिलिया रैदास"।[1] इस पद में वक्ता ननद और भाभी (मीरां) हैं। इसकी अप्रामाणिकता भी उसी प्रकार सिद्ध है जिस प्रकार कि इसके दूसरे रूप की।

चतुर्थ उल्लेख

'म्हारो गुरु रैदास है सबनी म्हारी पी' —यह उल्लेख जिस पद में आया है वह भी मीरां की रचना नहीं है एक लोक-गीत है, जिसमें मीरां के जीवन की प्रमुख घटनाओं को सरल गेय रूप में प्रस्तुत किया गया है। अन्य पुरुष में लगातार मीरां का उल्लेख तो इस बात का द्योतक है ही कि यह पद मीरां की रचना नहीं है। पद की अन्तिम पंक्ति से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है जिसमें इस चरित्र के पढ़ने-लिखने पर फल (मुक्ति) मिलने की बात उसी प्रकार कही गई है,[2] जैसे कि प्रायः धार्मिक ग्रंथों – विशेषकर महान् पुरुषों के जीवन-चरित्रों के अन्त में

(१) मीरां बृहद्-पदावली (काव्यसागर), पृष्ठ ६

(२) "पढ़-सुने फल होय लिख म्हारो चिरतारो", वही, पृष्ठ ८

कही जाती है। ध्यान से पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह रचना किसी व्यक्ति द्वारा लिखा गया मीरां-चरित्र है, मीरां का पद नहीं है।

शेष उल्लेख (५, ६, ७) भी जिन पदों के हैं वे मीरां के किसी प्राचीन संग्रह में उपलब्ध नहीं हैं। विभिन्न सम्प्रदायों की गद्दियों में संकलित या लिपि बद्ध या हस्तलिखित पोथियों या उनपर आधारित प्रकाशित संग्रहों को देखने पर पता चलता है कि वारकरी रामदासी और चैतन्य सम्प्रदाय की पोथियों में इनका पूर्ण अभाव है। साम्प्रदायिक विचारों से मुक्त साहित्यिक व्यक्तियों द्वारा लिपि-बद्ध प्राप्त पोथियों में भी ये पद नहीं हैं। इसके दो उदाहरण अविचलदास और विनोदचन्द्र आदि के हस्तलिखित संकलन हैं। रामसनेही सम्प्रदाय की जिस पोथी में इनमें से दो पद मिलते हैं वह पोथी प्रो॰ नरोत्तमदास स्वामी के पास सुरक्षित है और २० वीं शताब्दी की है।[१]

[२] मीरां-छाप के जिन पदों में "रैदास" का उल्लेख किया गया है उनमें यह बात पूरी कह दी गई है कि "रैदास मीरां के गुरु थे।" इससे भिन्न किसी अन्य प्रकार के रैदास का उल्लेख मीरां की प्रामाणिक रचनाओं में तो क्या मीरां-छाप के भी किसी अन्य पद में नहीं मिलता है। इससे पता चलता है कि जान-बूझकर एक विशेष उद्देश्य से इस आशय की पंक्तियों को बाद में जोड़ा गया है।

मीरां-छाप के ऐसे पद मिलते हैं, जिनमें मीरां से पूर्व के अनेक भक्तों का आदर के साथ उल्लेख किया गया है, मगर उनमें से किसी भी पद में रैदास का नाम नहीं है। नीचे दिए गए पद दृष्टव्य हैं —

सुन लीजे बिनती मोरी मैं सरन गही प्रभु तोरी।
तुम तो पतित अनेक उधारे भव-सागर से तार्यो।
मैं सबका तो नाम न जानों कोई-कोई भक्त बखानो।
अम्बरीक सुदामा नामा पहुँचायो निज धामा।
ध्रुव जो पाँच बरस को बालक दरस दियो घनस्यामा।
धना भक्त का खेत जमाया कबिरा बैल चरामा।
सेवरी के जूठे फल खाए, काज किए मन भाए।
सदना भी सेना नाई को तुम लीन्हा अपनाई।
कर्मा की खिचड़ी तुम खाई, गनिका पार लगाई।
मीरां प्रभु तुम्हरे रँग-राती जानत सब दुनियाई।[२]

---

(१) यही प्रबंध, 'रचनाएँ' शीर्षक अध्याय
(२) मीरांबाई की शब्दावली (बे॰ प्रे॰), पृष्ठ ७०, शब्द १७

धना, कबीर, सदना सैंना और कर्मा के ईश्वरीय सहायता प्राप्त होने की बात कहते हुए भी रैदास के विषय में मौन का क्या कारण है विशेषकर उस समय जब कि रैदास से सम्बन्धित इसी प्रकार की चमत्कारों के अनेक उल्लेख अनेक संतों द्वारा उनके आदर को बढ़ाने के लिए किए गए हैं। मीरां जिसे अपना गुरु मानती हैं उसका उल्लेख न करके उसके साथियों की प्रशंसा के गीत गाती हैं यह आश्चर्य की बात है।

एक और पद इसी प्रकार का है—

म्हांर नवा आवे रहीजो जी स्याम गोविन्द।
दास कबीर घर बलद जो लाया नामदेव का छान छवंद।
दास धना को खेत उपजायो गज की टेर सुनंद॥
भीलणी का बेर सुदामा का तंदुल भर मुठड़ी बुकंद।
करमाबाई को खीच अरोग्यो होई परसण पावंद॥
सहस गोप बिच स्याम बिराजे ज्यों तारा बिच चंद।
भव संतों का काज सुधारा मीरां दूर रहंद॥[१]

इसमें कबीर, नामदेव, धना और करमाबाई का उल्लेख है मगर रैदास की गायब हैं। इसी तरह मीरांबाई की शब्दावली' में एक और पद मीरां-छाप का है, जिसमें गज गीध अजामिल और गणिका आदि पौराणिक भक्तों के साथ सदना धना, पीपा के तारने का भी उल्लेख है।[२] एक अन्य पद में सदना का उल्लेख है।[३] नरसिंह, कबीर का उल्लेख करनेवाले पद भी हैं।[४] यदि मीरां रैदास की शिष्या होतीं तो अपने गुरु को बिना तारे न रहने देतीं।

एक अपवाद

मीरां-छाप का केवल एक पद ऐसा मिला है जिसमें अन्य भक्तों और संतों के साथ रैदास का नाम है, पर इसके प्राचीनतर पाठ से तुलना करने पर इसके प्रक्षिप्त अंश और विकृतियाँ स्वयं स्पष्ट हो जाती हैं।

पद इस प्रकार है—

---

(१) वही, पृष्ठ १६, शब्द १३
(२) मीरांबाई की शब्दावली पृष्ठ २, शब्द ४
(३) वही, पृष्ठ १२, शब्द ५
(४) श्री संतवाणी में मीरांबाई के पद, पृष्ठ-संख्या १०३

साधु की संगत पाइ बो। जाकी पूरन कमाई बो ॥ कृ० ॥
पिपा नामदेव और कबीरा। चौथी मीरांबाई बो ॥
केवल कथा भासक दासा। सेना जाति का नाई बो ॥
धना भगत रोहीदास चमारा। सजना जात कसाई बो ॥
त्रिलोचन घर रहत ब्रितिया। कुर्मा खिचड़ी खाई बो ॥
भिल्लणी के बोर सुदामा के चावल। रुचि-रुचि भोग लगाई है ॥
रंका-बंका सूरदास भाई। बिदुर की भाजी खाई है ॥
ध्रुव प्रहलाद और बिभीषण। उनकी क्या भलाई बो ॥
मीरां कहे प्रभु गिरिधर नागर। ज्योतिसे ज्योति मिलाई बो ॥[1]

इस पद का दूसरा पाठ

साधु की संगत पाई, ज्याकी पूरन कमाई।
पीपा नामदेव अरु कबीरा चवथी कमाबाई।
रैदास-बंका अरु प्रीतीमा, कर्मा की खिचड़ी खाई।
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर, ज्योत में जोत मिलाई ॥[2]

पहले पाठ में मीरांबाई स्वयं अपना नाम भी महान् संतों के साथ गिनाती हैं। भीष्म की इस तरह से पंक्तियाँ लगाने की मार्यादा मीरां-जैसी नारी से नहीं हो सकती। दूसरे पाठ में मीरांबाई के स्थान पर कमाबाई नाम है जो वर्तमान भूमिका में असंगत नहीं है। पिछले पद की निरर्थक-सी पंक्तियाँ जैसे ध्रुव प्रहलाद और बिभीषण उनकी क्या भलाई बो भी दूसरे पाठ में नहीं है। अतः दूसरा पाठ अधिक विश्वसनीय है और इस पाठ में रैदास का उल्लेख नहीं है।

[१] विशुद्ध संत-मत की दृष्टि से लिखे भक्तमालों में श्री रैदास-मीरां सम्बन्ध-सम्बन्धी अनुल्लेख और विरोधी संकेत हैं।

रैदास के मीरां के गुरु होने का उल्लेख न तो नाभादास ने अपनी भक्तमाल में किया है और न प्रियादास ने उस भक्तमाल की रसबोधिनी टीका में।[3] चित्तोड़ की झाली रानी के रैदास का शिष्यत्व ग्रहण करने की घटना के उल्लेख करनेवाले प्रियादास का चित्तोड़ की दूसरी और अधिक प्रसिद्ध रानी मीरां का उल्लेख न करना अकारण नहीं हो सकता। फिर भी यह कहा जा सकता है कि ये दोनों वैष्णव थे और इसलिए इन्होंने इस सत्य को दबा दिया होगा। मगर विशुद्ध संत मत से

(१) वही, पद-संख्या १४
(२) रामबासी संतोषम भूमिया, के एक हस्तलिखित ग्रंथ से
(३) भक्तमाल 'कल्पतरु' पृष्ठ ७१२–७२१

लिखी गई राघोदास की भक्तमाल और उसकी चतुरदास-कृत टीका में भी इस बात को नहीं कहा गया। इतना ही नहीं संत-मत के प्रचारक राघोदास के उल्लेख मीरां का रैदासी सम्प्रदाय का न होना ही प्रगट करते हैं। मीरां के सम्बन्ध में उनके कथन हैं—"गोपिन की-सी प्रीति-रीति कलिकाल दिखाई"

"नौबत भक्ति बुराई, पति-सा गिरिवर ही सजे।
"मीरां मई वैष्णुं बहुर दीन्हां जानि कै।"

रैदासी न 'गोपिन की-सी प्रीति-रीति' का अनुसरण करते थे और न गिरिधर का पति मानकर भक्ति की नौबत बजाते थे।

इसके अतिरिक्त चरणदास तथा दरिया साहब (बिहारवाले) के कथन भी उद्धृत किए जा सकते हैं जो इसी निष्कर्ष की पुष्टि करते हैं।

[४] संत राघोदास के उक्त उल्लेखों के अतिरिक्त मीरां के उन पदों के, जो लगभग १०० वर्ष पुरानी हस्तलिखित पोथियों में संगृहीत हैं विश्लेषण करने पर पता चलता है कि मीरां की आराधना और रैदास की साधना-पद्धति में जमीन आसमान का अन्तर है। एक 'वृन्दावन में विराजनेवाले श्याम सुन्दर गोपीनाथ की मुरली के माधुर्य पर निछावर है कटि पर पीतांबर अधर मुर्ली धारी गोकुल के वासी' की दासी है,[1] दूसरा 'उपजै ग्यान या करम नसाई'[2] का उपदेश करता है निर्गुण निराकार की साधना में रत रहता है।

[५] मीरां के जीवन की निर्विवाद रूप से मान्य घटनाएँ भी उनकी विचार-धारा पर प्रकाश डालती हैं। "वृन्दावन के रस-खेतों" में घूमनेवाली और अपने जीवन की सन्ध्या में 'रणछोड़' जी के मंदिर में शरण लेनेवाली मीरां सगुण कृष्ण की उपासिका के अतिरिक्त और क्या हो सकती है और, कोई सगुण कृष्ण का भक्त 'रैदासी' हो सकता है —यह बात समझ में नहीं आती।

[६] मीरां और रैदास के जीवन-कालों पर दृष्टिपात करने से इस भ्रम का निराकरण अंतिम रूप से हो जाता है। काल की दृष्टि से भी मीरां की रैदास से दीक्षा लेने की संभावना नहीं है।

(१) संवत् १६९५ की विद्यासभा की पोथी सं० ४७० क 'प्यारे गोकुल की निवासी' —टेकवाला पद

(२) संत-बानी, शब्द संग्रह (बे० प्रे०) रैदासजी, पृष्ठ १५

रैदास रामानन्द के शिष्य थे।[1] 'प्रसंग पारिजात' के अनुसार (यदि इसे प्रामाणिक माना जाय) रैदास रामानन्द कबीर, पीपा सेन आदि के साथ विद्यमान भी थे।[2] रामानन्द की मृत्यु सं० १४६७ और १५०५ के बीच में कभी (१४११–१२ वि० के लगभग) हुई थी।[3] अतः रैदास का वि० १५ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वर्तमान होना सिद्ध होता है। मीरां का जन्म १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ था।

रैदास चित्तौड़ की झाली रानी के गुरु थे। ये झाली रानी कुंभा की पत्नी थीं।[4] राणा कुंभा (राज्य-तिलक सं० १४९० में) की पत्नी को गुरु-मंत्र देनेवाले रैदास उस काल में पुराने जाने-माने सिद्ध सन्त रहे होंगे। अतः कुंभा के पौत्र सांगा की पुत्र-वधू[5] मीरां को रैदास से दीक्षा लेने का अवसर काल ने दिया होगा यह बात समझ में नहीं आती।

रैदास की छतरी' के मीरां के मंदिर के सामने होने के संबंध में दो बातें उल्लेखनीय हैं (१) मीरां का मंदिर वस्तुतः आदिवराह का मंदिर है और राणाकुंभा द्वारा बनवाया गया था (२) छतरी कुंभा की पत्नी झाली रानी ने बनवाई थी।

रैदास के मीरां के गुरु के रूप में प्रसिद्ध होने के कारण

रैदास मीरां के गुरु के रूप में क्यों प्रसिद्ध हुए, यह बात अकारण नहीं है। संतों तथा विशेषकर रैदासियों की साम्प्रदायिक भावना द्वारा इसे बल मिला पर वस्तुतः तीन सही या गलत जनश्रुतियों की परंपराओं के मिलने से इस बात का प्रचार हुआ। वे तीन जनश्रुतियाँ इस प्रकार हैं—

---

(१) भक्तमाल — अनन्तानन्द कबीर सुखा, सुरसुरा पद्मावती नरहरि।
पीपा भावानंद रैदास धना ॥"

(२) शंकरदयालु श्रीवास्तव 'स्वामी रामानंद और प्रसंग पारिजात' लेख, हिंदुस्तानी अक्तूबर १९३२, पृष्ठ ४०८–९; प्रसंग पारिजात की प्रामाणिकता डॉ० बदरीनारायण श्रीवास्तव के अनुसार संदिग्ध है– अनुशीलन वर्ष ८ अंक १–३, पृ० १–५

(३) 'रामानंद की हिंदी-रचनाएँ' (प्रधान संपादक, डॉ० हजारीप्रसाद) में 'रामानंद का जीवन-चरित्र' लेख डॉ० श्रीकृष्णलाल पृष्ठ ३३ से ५० तक

(४) टॉड, राजस्थान, क्रुक, पृष्ठ २२३

(५) उदयपुर राज्य का इतिहास, ओझा, पृष्ठ ३७१ से ३८७ तक

(क) नाभादास कृत भक्तमाल की प्रियादास कृत टीका में सन्त रैदास की चर्चा के अन्तर्गत निम्नांकित दो उल्लेख हैं—

१— चित्तौड़ में एक झाली रानी बसती थी। नाम के बिना उसके कान खाली थे। वह आकर रैदास की शिष्या हुई—[1]

२— अपनी राजधानी चित्तौड़ जाकर उसने रैदास को सविनय आमंत्रित किया और उसे स्वीकार करके रैदासजी चित्तौड़ गए।[2]

उक्त उल्लेखों के आधार पर यह स्पष्ट है कि प्रियादास के पूर्व 'चित्तौड़ की झाली रानी' के रैदास की शिष्या होने की एक प्रबल जनश्रुति प्रचलित थी और इस बात को सत्य रूप में रैदासी संत ही नहीं अन्य सम्प्रदाय के लोग भी स्वीकार करते थे। उस बात के उल्लेख-कर्त्ता प्रियादासजी स्वयं चैतन्य सम्प्रदाय के थे।

(ख) एक और जनश्रुति टॉड के राजस्थान में मिलती है। 'ऐनल्स ऑफ मेवाड़' में उन्होंने लिखा है कि चित्तौड़ के राणा कुंभा झालावाड़ के राजा की कन्या को ले आए थे। उसकी मँगनी मंडोर के राठोड़ राजकुमार के साथ हो चुकी थी। इस राठोड़ ने उस रानी के पास पहुँचने के अनेक प्रयत्न किए, पर वह 'झाल के तो पार गया झाल-धामी' तक नहीं पहुँचा। कर्नल टॉड ने इस घटना के वर्णन में किसी पुरानी कविता या लेख के कुछ अंशों का अँगरेजी अनुवाद करके उद्धृत किया है।[3] अतः यह मानना अनुचित न होगा कि किसी 'झाली-रानी' के राणा कुंभा की पत्नी होने का उल्लेख किसी पूर्व प्रचलित जनश्रुति या लेख या गीत के आधार पर टॉड ने किया था।

(ग) उक्त दो जनश्रुतियों के कुछ बाद ही एक और जनश्रुति अस्तित्व में आई। इसका प्रथम उल्लेख भी कर्नल टॉड के 'ऐनल्स एंड एंटीक्विटीज ऑफ राजस्थान' में मिलता है। यह थी मीरां को राणा कुंभा की पत्नी मानना।[4] जैसा कि स्पष्ट किया गया है चित्तौड़ के किले में राणा कुंभा द्वारा निर्मित कुंभ स्याम के मंदिर के पास मीरांबाई के मन्दिर के होने से यह भ्रम फैला था।

---

(१) श्री भक्तमाल रूपकला, पृष्ठ ४७७, अनन्तदास की परचई में भी यह उल्लेख है

(२) वही, पृष्ठ ४७८
मंदिर का मीरांबाई के नाम से सम्बन्ध होने पर "रैदास की छतरी" को देख कर यह भ्रम और फैला कि मीरांबाई रैदास की शिष्या थीं -

(३) ऐनल्स एंड एंटिक्विटी ऑफ राजस्थान टॉड, रुलेज संस्करण, पृष्ठ २२१

(४) वही पृष्ठ २१२

इस प्रकार निम्नलिखित तीन जनश्रुतियाँ इस संबन्ध में मिलती हैं—

१– चित्तोड़ की झाली रानी रैदास की शिष्या हुई,

२– झाली रानी राणा कुंभा की पत्नी थी, और

३– मीरांबाई राणा कुंभा की पत्नी थी।

स्पष्ट है कि पहली और दूसरी जनश्रुति के आधार पर यह जनश्रुति बनी होगी कि राणा कुंभा की पत्नी अर्थात् चित्तोड़ की रानी रैदास की शिष्या बनी। जब मीरां की प्रसिद्धि बहुत बढ़ गई और साथ ही यह भ्रम भी फैल गया कि मीरां कुंभा की पत्नी थी तो रैदासी संतों तथा कुछ अन्य लोगों में भी यह बात चलने लगी कि मीरां रैदास की शिष्या थीं। इस बात की प्रसिद्धि के साथ ही रैदास को गुरु रूप में चित्रित करनेवाली पंक्तियां मीरां-पदों में जोड़ दी गईं और इस आशय के पूरे पदों की रचना भी कर दी गई।

रैदासी सन्त विट्ठल

पं० परशुराम चतुर्वेदी ने मीरां-छाप के पदों में प्रयुक्त 'रैदास' शब्द का अर्थ 'रैदासी संप्रदाय के संत' लगाना अधिक उचित माना है। रविदास का मीरां का गुरु मानना वे इसलिए ठीक नहीं मानते कि रविदास को मीरांबाई के समकालीन मानने में कठिनाई पड़ती है। उनका कथन है कि 'संत रविदास' के अनुयायियों को बहुधा 'रविदास' या 'रैदास' कहते हुए आजतक भी सुना जाता है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि मीरांबाई के गुरु सम्भवतः रैदासी सम्प्रदाय के कोई ऐसे आचार्य रहे होंगे जो उनके समय में जीवित रहे होंगे। इस घटना की पुष्टि एक और बात से होती है। भक्तमाल के रचयिता नाभादास ने अपने एक पद में बीठुलदास भक्त को रैदासी कहा है और उन्हें पद-गान करते हुए मृत्यु को प्राप्त होनेवाला एवं जगत्-प्रसिद्ध भी बतलाया है। इस बीठुलदास रैदासी का समय ज्ञात नहीं है और न निश्चित रूप से यही कहा जा सकता है कि मीरांबाई के साथ उनकी भेंट संभव थी या नहीं। फिर भी इतना अनुमान कर लेने के लिए पर्याप्त आधार मिल जाता है कि मीरांबाई की उपर्युक्त पंक्तियों में उल्लिखित 'रैदासजी या संत रविदास' शब्द किन्हीं ऐसे ही रैदासी के लिए व्यवहृत हुए होंगे।[१]

श्री चन्द्रबली पाण्डेय ने भी विट्ठलदास को निश्चित रूप से मीरां का गुरु माना है।[२] उनके अनुसार कारण प्रत्यक्ष है कि 'यह भी (बीठुल) उसी रैदास का

(१) उत्तर भारत की सन्त परम्परा, पृष्ठ २३१

(२) विचार विमर्श, पृष्ठ ३६

वंशज अथवा अनुयायी रैदास है, जिसकी शिष्या झाली-रानी थी और अन्य पर्व परायों की भाँति गुरु परंपरा भी चलती ही है। दूसरे, बीठुलदास का जो परिचय प्राप्त हुआ है वह सर्वथा मीरां के गुरु के अनुरूप है। पाण्डेयजी ने भक्तमाल के आधार पर, 'पद पढ़त भई परलोक गति' और भक्त-पद-रज-प्रठधारी' —बीठुल की इन दो विशेषताओं को 'पद पढ़ते हुए श्री रणछोड़जी में समा जाना' और 'भक्तों को पिता जानकर उर लगाना' मीरां की इन दो विशेषताओं के साथ समानता के आधार पर, इन दोनों के गुरु-शिष्या होने के सम्बन्ध में अपना निर्णय दे दिया है।[1] हिन्दू विश्वविद्यालय काशी के भूतपूर्व रिसर्च स्कॉलर महावीरसिंह गहलोत ने भी कुछ मजबूरी और अनिश्चितता के साथ (क्योंकि उनके अनुसार दूसरा कोई मत संभव नहीं है) इसी मत को दुहराया है।[2]

गुरु-परंपरा की जो बात पाण्डेयजी ने कही है वह यहाँ पर लागू नहीं होती। राणाओं का यह परिवार 'एकलिंग' जी का भक्त रहा है। राणा कुंभा द्वारा कुंभ-स्याम के मंदिर का निर्माण और गीत-गोविंद की टीका की रचना उनके कृष्ण-भक्ति की ओर उन्मुख होने के प्रमाण हैं। इस कुल की एक रानी संत रैदास का शिष्यत्व ग्रहण करती है। इसी परिवार की एक दूसरी रानी (भटियाणी रानी) द्वारकानाथ के मंदिर के लिए भूमि-दान करती है।[3] यह तो रही मीरां के पति कुल की बात। मीरां के पितृ-कुल के पूर्वज जोधपुर के राष्ट्रकूट (राठौड़) नरेशों में भी इस प्रकार से किसी एक सांप्रदायिक परंपरा को मानने का आग्रह नहीं था। विजयसिंहजी परम वैष्णव थे। मानसिंहजी शैवमत के अंगभूत नाथ संप्रदाय को मानते थे।

दूसरी बात बीठुलदास जी के परिचय की है। बीठुलदास अगर भक्त पद-रजधारी' होने के कारण मीरां के गुरु होने के अधिकारी हो जाते हैं तब तो मीरां के गुरु होने के अधिकारियों की संख्या काफी बढ़ जायगी। इससे अधिक साम्य रखनेवाले भक्तों के नाम इतिहास में उपलब्ध हैं। भक्तमाल में ही एक 'विट्ठलदास माथुर मुकुट' का उल्लेख है। प्रियादास के अनुसार उनके पिता और चाचा राणा के पुरोहित थे।[5] विट्ठल नाचते-गाते थे प्रेमवाव थे और जागरण करके हरि

(१) भक्तमाल छप्पय १७७

(२) मीरां—जीवनी और काव्य, पृष्ठ ४७–४८

(३) उदयपुर राज्य का इतिहास, ओझा, पृष्ठ ६४०

(४) मारवाड़ का इतिहास, जोधपुर के राष्ट्रकूट नरेशों का धर्म, पृष्ठ ५७

(५) श्री भक्तमाल, कलकत्ता, पृष्ठ ५८१–५८६

कीर्तन करते थे। कोई रामा-सुता उनके पुत्र रंगीराय की शिष्या थी।[1] इस प्रकार इस विट्ठलदास की प्रवृत्तियों का मीरां के प्रवृत्तियों से साम्य ही नहीं था, राज-परिवार से भी सम्बन्ध था। ध्रुवदास जी ने एक रामदास नामक भक्त का उल्लेख किया है। उनके प्राण हरिकीर्तन करते ही छूटे थे। वस्तुतः इस प्रकार के साम्य के आधार पर गुरुत्व का निर्णय कर देना उचित नहीं है।

एक बात आश्चर्यजनक है। महावीरसिंह गहलौत मीरां-छाप के वे पद अप्रामाणिक मानते हैं, जिनमें रैदास का उल्लेख है। उन्हें किसी प्राचीन प्रति में ये पद नहीं मिले। पर मीरां के 'रैदासी' सम्बन्धी उल्लेखों के आधार पर ही रैदासी संत (बीठुल') की कल्पना उन्होंने कर ली है।[2]

वस्तुतः पं० परशुराम चतुर्वेदी और पं० चंद्रबली पाण्डेय का मत इस आग्रह पर आधारित है कि मीरां रैदास की शिष्या थीं और चूंकि उनका रैदास की शिष्या होना काल की दृष्टि से संभव नहीं है अतएव वे उन्हें किसी रैदास संत की शिष्या कहने के लिए मजबूर हैं। पिछले पृष्ठों में यह बात स्पष्टतः सिद्ध की जा चुकी है कि मीरां का रैदास की शिष्या के रूप में प्रचार तीन जनश्रुतियों के मिलने से तथा चित्तौड़गढ़ में रैदास की छतरी के कारण हुआ है और रैदास का गुरु रूप में उल्लेख करनेवाले मीरां-छाप के पदों की अप्रामाणिकता असंदिग्ध है। इस बात के निर्णय हो जाने पर रैदास शब्द के आधार पर 'रैदासी संत' की कल्पना की गुंजाइश ही नहीं रह जाती।

इन तीनों विद्वानों को मीरां-छाप के पदों में बीठुल नाम नहीं मिला नहीं तो वे उसका उल्लेख अंतः साक्ष्य के रूप में भी अवश्य करते। संभव है कि इस मत के माननेवालों की संख्या के बढ़ने पर बीठुल को गुरु रूप में चित्रित करनेवाले पदों की भी रचना हो जाय। अतः 'मीरां-छाप' के समस्त (प्रामाणिक तथा अप्रामाणिक) पदों में आए बीठुल शब्द पर विचार कर लेना आवश्यक है।

मीरां-छाप के जिन पदों में बीठुल का उल्लेख है उनमें बीठुल स्पष्टतः कृष्ण का द्योतक है। विद्यासभा की एक पोथी में एक पद में बीठुल का उल्लेख

(१) तैसेहि रामदास की, बात सुनी यह कान
चापत करत धमार हरि, गए छूटि तन प्रान —श्री बयालीस लीला, पृष्ठ १५

(२) मीरां, जीवनी और काव्य, पृष्ठ ४१

है।[१] उसके अनुसार जो बीठल मीरां के मन में बस रहा है वह 'कान्हा' है 'गिरिधर नागर' है। वह रैदासी संत नहीं है।

मीरां छाप का एक पद और मिलता है जिसमें 'बीठ्ठल' शब्द आया है,[२] पर वस्तुतः यह पद 'छीत स्वामी' का है जो लिपि-दोष के कारण किस प्रकार 'मीरां स्वामी' हुआ बन गया है, इसका विवरण 'पाठ' प्रकरण में दिया गया है।

मीरां के पदों के कुछ गुजराती संकलनों में 'नहि रे विसारूँ हरि' टेक का एक पद मिलता है, जिसमें छाप की पंक्ति इस प्रकार है– 'मीरां कहे प्रभु गिरिधर नागर, विठ्ठल वर ने वरी'।[३]

इस पद में भी विठ्ठल की विशेषताएँ स्पष्ट कर दी गई हैं व हैं 'गोकुल वास पीला पीताम्बर, कावली कामां कसर माथम, मोर मुकुट काने कुंडल मुख पर मोरली'—आदि और निश्चित रूप से इन बातों का 'रैदासी' सम्प्रदाय से किसी प्रकार का धार्मिक सम्बन्ध नहीं है।

१६ वीं शती में महाराष्ट्र में ही नहीं गुजरात में भी विठ्ठल शब्द का प्रयोग कृष्ण के लिए ही होता था। नरसिंह मेहता भीम भालण नागर, कदाव सबकी रचनाओं में विठ्ठल शब्द इसी अर्थ में आया है।[४] अतः मीरां के किसी पद में यदि विठ्ठल शब्द आता है तो उक्त साहित्यिक और धार्मिक परंपरा की भूमिका में रखे बिना उसका कोई अन्य स्वतंत्र अर्थ लगा देना उचित नहीं होगा।

एक आश्चर्यजनक और उल्लेखनीय बात है कि 'विठ्ठल की भक्ति' के

---

(१) विद्यासभा, अहमदाबाद में सुरक्षित हस्तलिखित पोथी संख्या १५५८ में निम्नलिखित पद में बीठ्ठल का प्रयोग हुआ है—

विठ्ठल रह्यो रे वसी मन विठ्ठल रह्यो रे वसी ॥ टेक ॥
कामुडो काली नाग छे रे मारे कारज रह्यो रे वसी ॥ मारे ॥
ओधोरीमो अलगा करो मजने लीढ पावो छो वसी ॥ मारे ॥
ओपेला दुरिजन लोक डरि मारि वातन वासो वसी ॥ मारे ॥
मीरांबाई कहे प्रभु गीरधर नागर तारा चरण कमल मे वसी ॥ मारे ॥

(२) विद्यासभा अहमदाबाद में सुरक्षित पोथी, संख्या १

(३) मीरांनी प्रेमवाणी, संपादक श्री मधुर, पृष्ठ ४, पद २

(४) नरसिंह-कवत ठाकुर ने बीनवुं, विठ्ठला ? कमलाना नाथ ! मनि यूं विचारो ? (हारसमेना पद), भीम : संघ बजावह विठ्ठलु रे, तेमाई ढंढ नावइ मारि।

हरिलीला षोडशकला, पृष्ठ १५३

(शेष अगले पृष्ठ पर)

प्रबलतम समर्थक वारकरी संप्रदाय के ग्रंथों में मीरां-छाप के जो पद संकलित हैं उनमें एक भी पद में 'विट्ठल' को आराध्य के रूप में चित्रित नहीं किया गया। पर यहाँ यह बात महत्व की नहीं है महत्व की बात है कि कहीं भी मीरां-छाप के प्राप्त पदों में विट्ठल शब्द के प्रयोग के साथ रैदासी संप्रदाय की भावना नहीं है।

हरिदास दर्जी

लोक-गीतों के रूप में प्राप्त तथाकथित मीरां के एक पद की अभिव्यक्ति के आधार पर श्रीमती शबनम का मत है कि मीरां के गुरु रैदास संत दर्जी जाति के थे। एक पद को उद्धृत करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'पदाभिव्यक्ति से स्पष्ट है कि गुरु 'हरिदास दर्जी' के कहने पर मीरां सफेद वस्त्र धारण कर 'दे नगारों' (डंके की चोट) अपने मार्ग पर चल देती है। उनका अनुमान है कि मीरां-छाप के पदों में जिन 'रैदास संत' का उल्लेख है वे यही हरिदास दर्जी हैं।'[1]

वस्तुतः श्रीमती शबनम ने मौखिक परंपरा से प्राप्त उन गीतों को जिनमें मीरां शब्द आया है मीरां के पद मान लिया है। प्रस्तुत पद जिसे मीरां का पद कहा गया है इसी कोटि का है। जैसा कि 'अध्ययन के आधार' अध्याय में कहा गया है, यह गीत किसी हरिदास का लिखा हुआ है। इसमें मीरां के संन्यास लेने की घटना को नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। अब और तुक की जो असंगति और पंक्तियों के हेरफेर इस गीत में हैं उससे पता चलता है कि या तो यह पद अपने मूलरूप में नहीं है या फिर इसका लेखक हरिदास अत्यन्त साधारण कोटि का तुक्कड़ था। यह भी संभव है कि दोनों बातें एक साथ ही सही हों। गीत की अंतिम चार पंक्तियों को देखकर यह बात सरलता से समझी जा सकती है—

(पिछले पृष्ठ का शेषांश)

मालण: वृन्दावनमां रे विट्ठलो, चतुर्भुज चारे हाथ (प्रथम स्कंध-पद ६३ वां)

नाकरे: बाहुरा चढ़ावे बीठला, तुं समरथ राइ रणछोड़ विराज पर्व, कड़ी ११

केशव: चरण चोरी गयो विट्ठलोसी बीठो, मूं वास्या रे) कृष्णमीरां-काव्य पृष्ठ ४४

(१) मीरां—एक अध्ययन शबनम, पृष्ठ १३१—मीरां बृहद पद-संग्रह, शबनम पृष्ठ १०

"हरिदास दर्जी की विनती बोमामन्त्र सिखायो
देर मगाड़ो मीराँ चढ़ गई माला हियो मत हारजो।
बागों में बोली कोयली बन में दादुर मोर,
मीराँ ने गिरधर मिलिया सागर नंद किशोर।"[1]

गीत की प्रारंभिक पंक्तियाँ भी इसी अर्थमत्ता को दिखाती हैं।

यदि हरिदास मीराँ के गुरु होते तो मीराँ किसी पद में उनका उल्लेख करते हुए कभी यह न कहती कि "हरिदास (गुरुजी) की विनती है"। फिर, इन पंक्तियों में मीराँ का प्रयोग अन्य पुरुष में है, वे वक्ता नहीं हैं वक्तव्य का विषय हैं।

लगभग इसी प्रकार की छोटमदास की एक रचना (मीराँनो मतवो) गुजराती में है[1] और भैरवराम की हिंदी में।[2] इनके अनेक अंश मीराँ की रचनाओं के रूप में प्रचलित होकर लोक-गीतों की कोटि में आ गए हैं। 'हरिदास दर्जी की विनती' की तरह ही छोटमदास की रचना में भी 'छोटमदास की विनती' वाक्यांश का प्रयोग हुआ है। इस आधार पर न छोटमदास को मीराँ का गुरु कहा जा सकता है और न हरिदास को।

माधवपुरी :

उदयपुर के जगदीशजी के मंदिर के पुजारी (स्मार्त ब्राह्मण पं० चतुर्भुज के पुत्र रघुनन्दन) ने मीराँ के दीक्षा-गुरु के सम्बन्ध में निम्नांकित सूचना लेखक को दी। इस मंदिर में मीराँ द्वारा पूजित कृष्ण-मूर्ति रखी हुई है। उसी को लेकर यह कथा प्रचलित है

"माधवपुरीजी जो वल्लभाचार्य के गुरु थे एक बार मेड़ते में चौमासे के लिए ठहरे। मीराँजी उनके यहाँ आती-जाती थीं। कार्तिक शुक्ल द्वादशी के दिन वे चौमासा पूरा कर चले गए। मीराँ ने अन्न त्याग दिया। माधवपुरी को भगवान् कृष्ण ने स्वप्न दिया। वे लौट आए और मीराँ को मूर्ति और दीक्षा देकर शिष्या बनाया। बाद में मीराँ उसी मूर्ति को लेकर आईं। अपने वृन्दावन प्रवास काल में वे फिर माधवपुरीजी से मिलीं। वहाँ उनसे रामेश्वरजी की बड़ी मूर्ति थी। वे

---

(१) मीराँ एक अध्ययन, पृष्ठ १३२
(२) वही ग्रंथ पृष्ठ ८६
(३) राजस्थान के हिन्दी ग्रंथों की खोज, भटनागर, मीराँ-सम्बन्धी प्रकरण, पृष्ठ २१२–२१८

जब द्वारका गईं तो ये मूर्तियाँ रामेश्वरजी को दे गईं। ये उस समय चित्तौड़ में रहते थे।"

यहाँ माधवपुरी से तात्पर्य कदाचित् माधवेन्द्र पुरी से है। इन्हीं के पास वल्लभाचार्य ने ११ वर्ष की अवस्था में अपना अध्ययन काशी में संपूर्ण कर लिया था।[1] माधवेन्द्र पुरी के आयुष्यकाल की निश्चित सीमाएँ तो अज्ञात हैं, पर वल्लभाचार्य को ११ वर्ष की आयु तक शास्त्राध्ययन कराने के कारण इनका संवत् १५४६ तक जीवित रहना निश्चित है। ये महाप्रभु चैतन्य को वैष्णव धर्म में दीक्षित करनेवाले आचार्य ईश्वरपुरी[2] के गुरु थे और ईश्वरपुरी का जन्म सन् १४११ (संवत् १४६१) में हुआ था।[3] अतः यह अनुमान लगाना अनुचित न होगा कि माधवेन्द्र पुरी आयु में ईश्वरपुरी से बड़े होंगे और मीरां के जन्म के समय उनकी आयु अड़सठ वर्ष से अधिक ही रही होगी।

संभव हो सकता है कि मीरां के बाल्यकाल की गिरिधर की मूर्ति के लिए मचलनेवाली घटना से माधवेन्द्रपुरी का सम्बन्ध हो परन्तु मीरां से वृन्दावन में मिलनेवाली बात के सत्य होने की गुंजाइश अपेक्षाकृत बहुत कम है। कुछ लोग माधवेन्द्रपुरी का जन्म संवत् १४५७ वि० के आसपास मानते हैं। यदि इसे सत्य माना जाय तो उनके मीरां से मिलने की संभावना नहीं रहती।

माधवेन्द्रपुरी के एक शिष्य 'माधव' थे। पुलिनबिहारी दत्त के अनुसार हरिराम व्यास भी माधवजी नामक किसी सन्यासी के शिष्य थे।[4] लालदास कृत भक्तमाल से भी इस बात की पुष्टि होती है।[5] यदि पुजारी रघुनन्दन की अनुश्रुति के 'माधव' पुरी का तात्पर्य इन माधव से है, तो काल की दृष्टि से कोई

(१) भक्तकवि व्यासजी, पृष्ठ ८
(२) चैतन्य को संन्यास की दीक्षा देनेवाले केशवभारती थे
(३) भागवत् संप्रदाय, पृष्ठ ४११
(४) वही,पृष्ठ ४१६
(५) वृन्दावन-कथा, एकादश परिच्छेद (बंगला), पृष्ठ ११९ (भक्त कवि व्यासजी, पृष्ठ ६५ से उद्धृत)
(६) लालदास कृत भक्तमाल (बंगला) पृष्ठ ७२१

श्रीमन् माधवेन्द्रपुरी गोस्वामीर।
शिष्य श्री माधव नाम शिष्य, वीर॥
तार शिष्य श्रील हरिराम पे गोसाइ।
अतएव तार वंश जान्बी संप्रदाइ॥

कठिनाई नहीं पड़ती।

मीरां गिरिधर गोपाल के प्रेम में मग्न थी और माधवेन्द्रपुरी जी भी 'गोपाल' के अनन्य भक्त थे। उन्होंने वृन्दावन में गोपाल की मूर्ति की स्थापना की थी। चैतन्य के पूर्व वृन्दावन की आध्यात्मिक सरसता की महिमा को जागृत करने में इन्होंने अत्यन्त परिश्रम किया था। अतः उनसे या उनके शिष्य माधव से मीरां को गोपाल की मूर्ति मिलने की अनुभूति सत्य हो सकती है। उनसे दीक्षा लेने का कोई उल्लेख नहीं है। माधवजी तो संन्यासी थे और संन्यासियों से वैष्णव लोग दीक्षा लेना पसन्द नहीं करते थे। अतः उनको दीक्षा देने का प्रश्न ही नहीं उठता।

गौर कृष्ण, दास-भक्त और जीवगोस्वामी :

श्री ब्रजरत्नदास ने भक्त रघुनाथदास को मीरां का गुरु माना है। इस मत की पुष्टि में उन्होंने राग-कल्पद्रुम में संकलित निम्नांकित पद उद्धृत किया है—

> अब तो हरी नाम लौ लागी।
> सब जग को यह माखन-चोर, नाम धर्यो बैरागी।।
> कहँ छोड़ी वह मोहन मुर्ली कहँ छोड़ी सब गोपी।
> मूड़ मुड़ाय डोरि कटि बाँधी माथे मोहन टोपी।।
> मात जसोमति माखन कारन बाँध्यो जाको पाँव।
> स्याम किशोर भए नव गोरा चैतन्य जाको नाँव।।
> पीताम्बर को भाव दिखावै कटि कोपीन कसे।
> दास भक्त की दासी मीरां रसना कृष्ण बसे।।[1]

श्री ब्रजरत्नदास का कथन है कि चैतन्य महाप्रभु के छः गोस्वामी शिष्यों में रघुनाथ नाम के दो भक्त थे और इसी कारण श्री रघुनाथदासजी दास भक्त या दास गोस्वामी के उपनाम ही से प्रसिद्ध थे।[2]

इस पद की अंतिम पंक्ति का पाठ इस प्रकार भी मिलता है—[3]

---

(१) मीरां-माधुरी पृष्ठ ७६ (राग कल्पद्रुम, खण्ड २, पृष्ठ १७, पद ९) ब्रजरत्नदासजी ने शब्दों के क्रम शुद्ध कर दिए हैं, पर इससे अर्थ में कोई अंतर नहीं पड़ा।

(२) मीरां-माधुरी, पृष्ठ ७६—७७

(३) भजन संग्रह भाग ३, वियोगी हरि, पृष्ठ ११३
मीरांनी प्रेम-वाणी, पद २२७, पृष्ठ १२६
मीरांना भक्ति-गीतो, सं० शैवालीबेन भट्ट, पृष्ठ ४७ (द्वितीय पद)

'गौर कृष्ण की दासी मीरां रसना कृष्ण बसी।"

इस पद के विषय में निम्नलिखित तथ्य विचारणीय हैं :—

(क) महाराष्ट्र में मीरां के पदों की प्रचलित प्रतिलिपियों में यह पद नहीं है, न वारकरी संप्रदाय की और न रामदासी संप्रदाय की। गुजरात के पुराने संकलनों में भी यह नहीं है—न प्राचीन काव्य-सुधा में और न बृहद् काव्य-दोहन के किसी भाग में। डाकोर और काशी की प्रतियों में ही नहीं, राजस्थान के रामसनेही संप्रदाय की पोथियों में भी इसका अभाव है। यह पद संगीतराग-कल्पद्रुम और उसकी सामग्री का उपयोग करनेवाले संकलनों में ही मिलता है।

(ख) प्रियादासजी महाप्रभु कृष्णचैतन्य संप्रदाय के थे। उन्होंने इस संप्रदाय के अनेक भक्तों का उल्लेख करते हुए उनका चैतन्य के शिष्य होने या उनसे आज्ञा पाने का उल्लेख किया है।[1] मीरां के विषय में विस्तारपूर्वक उल्लेख करते हुए भी उन्होंने इस संबंध में कुछ नहीं कहा। चैतन्य-संप्रदायी वैष्णवदास के वृत्तांत में भी जिसमें उन्होंने प्रियादास की टीका की कई भ्रामक बातों का स्पष्टीकरण किया है, इस विषय में कोई उल्लेख नहीं है। चैतन्य के भक्तों द्वारा किए गए मीरां-सम्बन्धी उल्लेखों में इस बात का अभाव अकारण नहीं हो सकता।

जहाँ तक मीरां के 'दास भक्त" की दासी होने का प्रश्न है यह बात संभव ही नहीं है क्योंकि दास भक्त (रघुनाथदास) महाप्रभु चैतन्य के बैकुंठ धाम जाने के पश्चात् ही वृन्दावन में आए थे। चैतन्य ने यह लीला को सन् १५३३ में समाप्त किया था।[2] उसके पूर्व रघुनाथदास ने पश्चिमी प्रदेश की यात्रा भी नहीं की थी। अतः उनके मीरां से मिलने का एकमात्र संयोग मीरां के व्रजागमन-काल में व्रज में ही हो सकता था और यह एक निश्चित् सत्य है कि व्रज में आने के समय तक मीरां की भक्ति-भावना का एक निश्चित् स्वरूप बन चुका था। इतना ही नहीं उनकी भावना इतनी दृढ़ और उनका विवेक इतना प्रौढ़ हो चुका था कि वे निश्चित् आत्मविश्वास के साथ जीवगोस्वामी जैसे पण्डित और भक्त को एक तीखे व्यंग बाण से राह पर ला सकती थीं। जीवगोस्वामी जैसे पण्डित पर हावी हो जानेवाली यह महाप्राण नारी उस समय रूप सनातन और जीव गोस्वामी के होते उनसे

---

(१) (क) श्री रूपजी तथा श्री सनातनजी के विषय में—आज्ञा प्रभु (महाप्रभु चैतन्य) पाय पुनि पोथी-स्वर लगी आय—पृष्ठ ५२१

(ख) महाप्रभु-पारषद जागेश्वरी ब्रजभाष, पृष्ठ ६१६

महाप्रभु चैतन्य जू के पारषद-लोकनाथ पृष्ठ ६१७—इत्यादि

(२) वैष्णव धर्म, पं. परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ १०३

कम प्रतिभा और प्रतिष्ठा वाले उसी सम्प्रदाय के एक अन्य आचार्य-भक्त से दीक्षा लेने गई होगी यह बात बुद्धिसंगत नहीं है।

जहाँ तक महाप्रभु चैतन्य (और कृष्ण) के गुरु रूप में स्वीकार करने का प्रश्न है, इस विषय में अन्य कोई प्रमाण नहीं है। महाप्रभु के मेड़ता या चित्तौड़ गढ़ आने का कोई उल्लेख नहीं है। मीराँ के वृन्दावन धाम पर चैतन्य वृन्दावन में नहीं थे क्योंकि मीराँ जीवगोस्वामी के समय में वृन्दावन गई थीं और उस समय के पूर्व (जीवगोस्वामी के वृन्दावन आने के पूर्व) महाप्रभु इहलीला समाप्त कर चुके थे। इस तरह मीराँ के चैतन्य महाप्रभु से साक्षात्कार होने की भी संभावना नहीं है।

जीवगोस्वामी

कुछ विद्वान् जीवगोस्वामी को मीराँ का गुरु मानते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस मत का आधार अथवा इसके पक्ष में तर्क नहीं दिए।[1] वियोगी हरि का यह अनुमान 'मीराँ-जीवगोस्वामी' की वृन्दावन वाली घटना पर ही आधारित है। वस्तुतः यह घटना तो मीराँ की विजय का उद्घोष करती है। गुजराती के कवि दयाराम ने इस बात को इस रूप में लिखा है—

"मीराँबाई आव्यां वृन्दावनमां र प्रेम नीरख्या श्री व्रजराय
श्री यमुना पय पान कर्युं ने करी जीवपासाई न दिखाय ॥"[2]

जीव गोस्वामी आयु में मीराँ से छोटे थे। जिस समय मीराँ उनसे वृन्दावन में मिली थीं उस समय उनके चाचा रूप और सनातन भी वृन्दावन में ही थे। वे उस समय तक भक्त के रूप में प्रसिद्ध भी हो चुके थे। अतः अगर मीराँ को दीक्षा लेनी होती तो रूप या सनातन जैसे सम्य प्रतिष्ठ भक्तों से लेतीं न कि उस व्यक्ति से जिसने स्वयं नारियों का मुख न देखने का प्रण मीराँ के उद्बोधक वचनों से परास्त होकर छोड़ा था।

पुरोहित गजाधर

मीराँ-स्मृति ग्रंथ में 'जनम जोगिन मीराँ' के लेखक शम्भुप्रसाद बहुगुणा ने लिखा है[3]— "कहा जाता है कि मीराँ ने बाल्यकाल में अपने पुरोहित गजाधर

(१) डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ५२
(२) मीराँ-चरित्र दयाराम, ५६, ५७ वीं पंक्तियाँ
(३) पृष्ठ ४२

से पुराण आदि सुने थे और विवाह हो जाने पर वे उसे चितौड़ ले गईं जहाँ उन्हें मुरली धर के मंदिर की पूजा सौंपी और व्यास की उपाधि के साथ-साथ एक हजार बीघा भूमि भी दान दी जो आज भी गदाधर के वंशज भोग रहे हैं।" इस बात का आधार लेखक ने नहीं दिया, और न उसे स्वयं सत्य मानने का आग्रह ही व्यक्त किया है। गदाधर नामक व्यक्ति का कोई परिचय उपलब्ध नहीं है। भक्तमाल में छः व्यक्ति गदाधर या गदाधारी नाम के हैं[1] पर गदाधर नाम का कोई भक्त नहीं है।

उदयपुर के जगदीशजी के मंदिर के पुजारी रघुनन्दनजी का कथन तो यह है कि मीरा अपने आराध्य की मूर्ति रामेश्वरजी को देकर द्वारका गई थी। उन्होंने लेखक को यह भी बताया कि उनके पूर्वजों को 'व्यास' की उपाधि नहीं मिली थी कथा बाँचने के कारण ही उन्हें व्यास कहा जाने लगा था पदवी 'जोशी' (ज्योतिषी) की थी। उनके अनुसार एक पद भी मीरां ने उनके किसी पूर्वज को संबोधित करके कहा था। इस पद में पुरोहित को 'जोशी' के नाम से ही संबोधित किया।[2]

देवाजी

कहा जाता है कि आमेर के 'जगत शिरोमणिजी' के मंदिर में मीरां द्वारा पूजित गिरिधर की मूर्ति है। मंदिर के वर्तमान पुजारी पं० गिरधारीलाल जी ने लेखक को बताया कि उनके पूर्वज देवाजी का गिरिधर की मूर्ति रामानन्दजी से मिली थी। 'एक बार देवाजी गाड़ी में बैठाकर उस मूर्ति को ले जा रहे थे। रास्ते म चितौड़ में ठहरे। वहीं मूर्ति स्थापित की। मीरां वहीं थीं। उन्होंने दासी को भेजा। मीरां उस मूर्ति को महलों में ले गईं। *आमेर के राजा मानसिंह* ने अकबर के साथ जब चितौड़ पर आक्रमण किया तब वे उस मूर्ति को उठा लाए।

देवाजी के विषय में भक्तमाल में भी उल्लेख है। इस सम्बन्ध में आगे प्रकाश डाला गया है। देवाजी रामानन्दी साधु थे वैरागी संप्रदाय के कृष्णदास पयहारी के शिष्य थे। उनका संपर्क मीरा से चितौड़ में हुआ वे राणा के पुरोहित थे। उनके सुपुत्र रामदासजी का मीरां के प्रति व्यवहार कटु था। मीरां की

---

(१) भक्तमाल रूपकला, पृष्ठ ७४९ ८२२, ८६७ १०८ ६६२
(२) 'म्हो थे कोनी जोशी म्हने राजी मिलण कब होसी। —इत्यादि प्रकाशित ग्रंथों में भी यह पद उपलब्ध है।

भक्ति-भावना रामानन्दी संप्रदाय में प्रचलित भक्ति-भावना से मे
दूसर, उक्त उल्लेख से देवाजी से मीरां के मूर्ति पाने का ही पता चलता है, दीक्षा
का नहीं।

इस वक्तव्य की प्रामाणिकता को सिद्ध करनेवाला मीरां के काल का कोई अन्य उल्लेख उपलब्ध नहीं है, परन्तु जहाँतक देवाजी और उनके दो पुत्र रामदास गरीबदास और उनकी वंश-परंपरा का सम्बन्ध है, यह बात विश्वसनीय है, क्योंकि आमेर के जगदीशजी के मंदिर की पूजा का भार आज भी देवाजी के पुत्रों के वंशों पर है, और उसका उत्तराधिकार आरम्भ से ही दोनों वंशों के दो उत्तराधिकारियों को मिलता रहा है।

अब प्रश्न यह है कि मीरां के दीक्षा-गुरु कौन थे।

(१) मीरां के गुरु के सम्बन्ध में ८४ और २५२ वार्ताओं के मीरां-सम्बन्धी उल्लेख एक स्पष्ट निर्णय दे देते हैं कि 'मीरां ने वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षा नहीं ली। वल्लभ संप्रदाय के लोग मीरां को किसी न किसी प्रकार अपने मत में दीक्षित करने का प्रयत्न करते रहे इस बात से अनुमान यह होता है कि मीरां ने किसी सम्प्रदाय में दीक्षा नहीं ली थी। किसी सम्प्रदाय में दीक्षित होने के बाद, बिना किसी विशेष कारण के लोग प्राय संप्रदाय नहीं बदलते अन्य लोग भी उनके पीछे नहीं पड़ते—कम से कम वैष्णवों की उदारता उन्हें यह नहीं करने देती।

(२) मीरां के पुरोहित रामदास ने जब 'आचार्य महाप्रभु' का पद गाया तो मीरां ने दूसरा पद ठाकुरजी का गाने के लिए कहा किसी अन्य संप्रदाय के आचार्य का नहीं।

(३) इस विषय में मीरांबाई का एक पद विचारणीय है—

हेरी म्हां तो दरद दिवाणी म्हांरा दरद न जाण्यो कोय।
घायल की गति घायल जाण्यां हियड़ो अगण संजोय।
जौहर की गत जौहर जाण्यां क्या जाण्यां जिन खोय।
दरद री मार्यां दर दर डोल्यां बैद मिल्या ना कोय।
मीरां री प्रभु पीर मिटांगा जद बैद सांवरो होय।'[1]

यह पद थोड़े से पाठ-भेद के साथ सभी प्रतियों में है। इसमें मीरां ने स्पष्टतः कह दिया है कि वे दरद के मारे (परमात्मा के वियोग से उत्पन्न वेदना के कारण) दर-दर (किसी-किसी पोथी में बन-बन है) घूमती फिरी मगर कोई वैद (उस दर्द का उपचार बताने वाला) नहीं मिला। इतना ही नहीं मीरां इस निष्कर्ष पर पहुँच

---

(१) डाकोर की प्रति पृष्ठ १६

कई है कि उनका दर्द मिटाने के उपचार का संकेत भी सांवरिया ही करेंगे।" वैद्य का कार्य है रोगी को रोग से मुक्त होने का उपाय बताना गुरु का काम है सांसारिकता से पीड़ित व्यक्ति को इस भव-यातना से मुक्त होने का उपाय बताना। दोनों वरणागत की अस्वस्थता (एक शारीरिक और दूसरा आध्यात्मिक) के निवारण और आनन्द की उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। यहाँ मीरां का कथन स्पष्ट है कि उन्हें कोई वैद्य (आध्यात्मिक गुरु) नहीं मिला और कृष्ण के अतिरिक्त किसी अन्य से (अन्य द्वारा मार्ग सुझाने से) मीरां की पीर नहीं मिट सकती।

'म्हांरी री गिरधर गोपाल दूसरा न कूयाँ'—एक अन्य पद की टेक है।[1] (अन्य कुछ सग्रहों में यह टेक इस रूप में मिलती है—'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई') इसी पद में उन्होंने आगे कहा है—'दूसरा णा कोयी साधा सकल लोक जूयां। इस पद में मीरां के कथन की व्यंजना यह है कि गिरिधर गोपाल के अतिरिक्त उनका अन्य कोई नहीं—गिरिधर ही उनके आराध्य हैं, गिरिधर ही उनकी आराधना के पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा हैं बल हैं मार्ग-निदर्शक हैं समस्त लोक उन्होंने देखा है मगर उन्हें ऐसा कोई और नहीं मिला। संप्रदायों में दीक्षित होनेवाले लोग तो संप्रदायों के मुखियों को लगभग ईश्वर के समान मानते हैं और मोक्ष के लिए गुरु का अनिवार्य महत्व स्वीकार करते हैं। कृष्ण-भक्तों में तो यह बात काफी जोर पकड़ गई थी। किसी व्यक्ति की दर्द के मिटाने की औषध बताने की असमर्थता का चित्रण यह बताता है कि गुरु रूप में भी मीरां कृष्ण को स्वीकार करती हैं, किसी नाम रूपधारी भौतिक जगत् के व्यक्ति को नहीं। एक अन्य पद में उन्होंने कहा है—

> रावरो बिरद म्हाने रहो लागां पीड़त म्हारो प्राण।
> संगा सनेहां से नहीं म्हारे न कोई बरण्यां सकल जहान।
> मीरां दासी अरजां करतां म्हारो सहारो न आन।

इसमें भी मीरां ने स्पष्टतः कहा है कि 'मेरा अन्य कोई सहारा नहीं है'—

---

(१) डाकोर की प्रति पद १—इसी आशय के कई अन्य पद भी हैं—

(क) "बड़ी नैन णा आवड़ां थे बरसण बिन मोय
बाबल री पूंणा फिरां म्हारो दरद ना जाण्यां कोय
मीरां रे प्रभु कबो मिलोगां थे मिल्या सुख होय—डाकोर ११

(ख) हरि म्हारा जीवन प्राण अधार
और आसरो णा म्हारा थे बिना तीनों लोक मंझार।—डाकोर, पद १२

सगा सनेही भी नहीं है और इस बहान में किसी का वरण भी नहीं किया। मीरां के युग में संत ही नहीं कृष्ण-भक्त भी गुरु और गोविंद को एक समान मानते थे।[1] गुरु के रहते हुए कोई भक्त अपने को असहाय बिना सहारे का कैसे कह सकता था?

मीरां के पदों में एक और उल्लेख इस सत्य की ओर संकेत करता है। उन्होंने बारबार यही कहा है कि 'मुझको गिरिधर मिले यह मेरा पूर्व जन्म का भाग्य है।—मेरी कृष्ण की प्रीति जनम-जनम की है।'[2] —'उनको प्रभु ने बरसन इस लिए दिया है कि पूर्व जन्म में कौल कर लिया था।'[3] इससे इस जन्म में किसी गुरु द्वारा प्रीति की ज्योति जगाने का प्रश्न ही नहीं उठता।

मीरां को कृष्ण से चिर-बंधन में बांधने का कार्य स्वप्न में हुआ था। जैसा कि मीरां ने स्वयं कहा है—

> माई म्हाने सुपना मां परण्यां दीनानाथ।
> छप्पन कोट्यां जना पधार्‌यां दुल्हो सिरी ब्रजनाथ॥
> सुपना मां म्हाने परण गया पाया अचल सुहाग।
> मीरां रो गिरधर मिल्या पूरब जनम रो भाग॥[4]

इस बात के प्रमाण हैं कि अनेक भक्त और सन्तों ने स्वप्न में ही दीक्षा ग्रहण की और दीक्षा देनेवाले को गुरु भाव से स्वीकार कर लिया। हितहरिवंशजी से संवत् १५६२ की भादों सुदी ६ को परमानन्ददास जी को स्वप्न द्वारा दीक्षा प्राप्त हुई। स्वप्न में श्रीकृष्ण ने बिना किसी माध्यम के सीधे ही मीरां का हाथ पकड़कर उन्हें अचल सुहाग की स्वामिनी बना दिया था।

---

(१) —गुरु गोविन्द दोनों एक समान
बेद पुरान कहत भागवत ते बु बचन प्रमान —
भक्तकवि व्यासजी पृष्ठ १६१
—"तमणे (चतुर्भुजदास) घणां सूरदासजी ये बहुत भगवद्‌यश वर्णन कर्यो छे सहस्रावधि पद कर्यां पण श्री महाप्रभुजीनो यश वर्णन कर्यो नहि। ये सांभली सूरदासजी बोल्या में तो सघलां पद श्री महाप्रभुजीना ज गुण धारीने कर्या छे। जुदा जुदा देखतो होई तो जुदा-जुदा पद करे मारे तो बन्ने एकज स्वरूप छे" —चोरासी वैष्णवनी वार्ता अहमदाबाद गुजराती पृष्ठ १६१

(२) डा० पद ३६ ८९

(३) पद १३ (४) पद ३६

भक्तों तथा सन्तों से मीरां का संपर्क :

मीरां का संपर्क साधु-सन्तों और भक्तों से विशेष था।[1] राजाओं के यहाँ भक्त पहुँचते भी काफी थे।[2] इसपर मीरां स्वयं उच्च कोटि की भक्त थी और भक्तों को पिता जानि उर लाती’ और उनका विशेष आतिथ्य और सम्मान करती थीं। अत उनके यहाँ भक्तों का जमाव स्वाभाविक ही था।’ ८४ वैष्णव की वार्ता का साक्ष्य है कि मीरां के यहाँ वैष्णव काफी संख्या में पहुँचते थे पहुँचते ही नहीं दस-दस पन्द्रह-पन्द्रह दिन ठहरते भी थे और अन्त में भेंट लेकर विदा होते थे।[3] इन वैष्णवों में कदाचित् हितहरिवंश और हरिराम व्यास की कोटि के साहित्यिक भक्त भी थे, जिनका उस युग में व्यापक मान था। सांप्रदायिक मत भेद होने के बावजूद वल्लभ-संप्रदाय के गोविंद दुबे सांचोरा ब्राह्मण और कृष्ण दास (अष्टछापी) जैसे प्रतिष्ठित व्यक्ति भी मीरां के यहाँ पहुँचने का लोभ संवरण नहीं कर सके थे।

मीरां कीर्तन करती थी तो संत आकर बैठते थे। 'वैष्णवनि की सतसंग' करती थीं। आरती और कीर्तन में स्त्री और पुरुष दोनों भाग लेते थे और उनमें कोई पर्दा नहीं था।[4] मीरां के घर पर तो यह हाल था ही जब तीर्थ करने निकलीं

---

(१) (क) साधां संग बैठ-बैठ लोक लाज खूंया, भगत देखराजी हुया जगत देख्यां रूंया। डाकोर, पद १
(ख) साधां संगत हरि सुख पायूं जग सूं दूर रह्यां, डाकोर, पद ६०
(ग) साधां संगत हरि सुख पास्यां—काशी पद ५४

(२) भक्त ठाढ़े भूपन के द्वार
उमगत भूरत पौरियन डरपत, आय-जनाय सुनावत सार।
कढ़ियो आय पता हत मोहित हमहिं पुकार की बार।
छिन-छिन करत विदा की विनती पपकन कोटि विचार।
'व्यास' आस लगि भट बाँवर ज्यौं नाचत वेस उतार।।
—भक्तकवि व्यासजी, पद-संख्या १११

(३) कृष्णदास अधिकारी तिनकी वार्ता, न० वै० पृष्ठ १४२
राघौदास कृत भक्तमाल–'मूल छप्पय के साथ का मनहर'

(४) पद-प्रसंग-माला मीरांबाई प्रसंग १

(५) चित्रमय संग्रह का मीरां का चित्र

तब भी 'सत्संग' को उन्होंने नहीं छोड़ा। ब्रज में जाने पर जीवस्वामी का प्रण छुड़ा कर वे 'सब सौं गुट गोविंदगत सनमान सतसम करि द्वारिका को चली।'[1] ब्रज में गिरधर की मूर्ति के सामने नृत्य करने और पद गाने वाली मीराँ द्वारका जाकर बदल नहीं गई होंगी।

वस्तुत मीराँ के भौतिक कष्टों का बहुत-कुछ कारण यही साधु-संपर्क था। राजपूती मर्यादा इस बात को सहन नहीं कर सकती थी कि उनके कुल की नारी बाहरी व्यक्तियों के संपर्क में आवे और वह भी राजसी मर्यादाओं का उल्लंघन करके। मगर मीराँ ने इसकी उपेक्षा की उपेक्षा के कटु परिणाम को सहर्ष भोगा और भक्ति-भावना का संबल लेकर साधना के लौकिक दृष्टि से कंटकाकीर्ण पर मधुर पथ पर बढ़ती रही।

सामान्यत मीराँ का संपर्क वैष्णवों और संतों से था राजनीतिक इतिहासों में इन लोगों के नाम का कोई लेखा नहीं है। साहित्यिक उल्लेखों से पता चलता है कि मीराँ से मिलने वाले भक्तों में निम्नलिखित लोग भी थे —

टेवाजी

आंबेर के जगत् शिरोमणि जी के मंदिर के वर्तमान पुजारी टेवाजी के वंशज हैं। उनमें से गिरधारीलाल ने अपनी परंपरागत बहियों और पारिवारिक अनुश्रुतियों के आधार पर लेखक को सन् १९५१ में जो सूचनाएँ दीं उनसे टेवाजी और मीराँ के पुरोहित रामदास के अब तक के अज्ञात् जीवन पर प्रकाश पड़ता है और कई अज्ञात् कड़ियों का सम्बन्ध ज्ञात होता है। सूचनाओं का सार इस प्रकार है— टेवाजी रामानन्दी साधु थे। वे चित्तौड़गढ़ के पुरोहित थे। चित्तौड़ में इन्होंने गिरिधर की एक मूर्ति मीराँ को दी थी। जब मानसिंह गिरिधर लाल की मूर्ति चित्तौड़ से आंबेर लाए तो उस गढ़ के पुजारी टेवाजी को साथ में ले आए। टेवाजी १०१ वर्ष जिए थे। उन्होंने दो विवाह किए। उनके दो पुत्र थे—(१) रामदास और (२) गरीबदास।—इस समय दोनों के वंशज छः-छः महीने जगत् शिरोमणि जी के मंदिर में पूजा करते हैं।

टेवाजी के विषय में नाभादास कृत भक्तमाल में भी उल्लेख है—टेवाहित चित देय प्रतिज्ञा राखी जनकी'[2] प्रियादास जी ने सूत्र का तीन कवित्तों में विस्तार करके टेवाजी की लाज रखने के लिए चतुर्भुजजी के द्वारा अपने केशों को श्वेत

---

(१) पद प्रसंग माला, मीराँबाई पुनः ग्रन्थ प्रसंग (३)—

(२) श्री भक्तमाल कलकत्ता, पृष्ठ ५१०

करने और चित्तौड़ के राणा को दर्शन न करने की प्राज्ञा दण्डस्वरूप देने की घटना का वर्णन किया है।[1] इससे इतना पता लग जाता है कि सचमुच देवाजी अपने समय में प्रसिद्ध भक्त थे और चित्तौड़ के राणा के यहाँ पौरोहित्य करते थे।

भक्तमाल में कृष्णदास पयहारी के, कील्हदेव अग्रदेव आदि २४ शिष्यों में देवाजी का नाम भी है।[2] पयहारीजी वैरागी थे। उन्होंने गलता में रामानन्दी संप्रदाय की मान्य गद्दी स्थापित की थी। आमेर के राजा पृथ्वीसिंह ने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया था।[3] उनके शिष्य तथा देवाजी के गुरुभाई अग्रदास का आमेर के राजा मानसिंह पर बहुत प्रभाव था। अतः देवाजी को मानसिंह द्वारा प्रश्रय दिया जाना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार भक्तमाल प्रियादास की टीका और वार्ता-साहित्य के उल्लेख तथा पयहारी का जीवन-चरित्र इन सबसे प्राप्त सूत्रों के आधार पर परीक्षा करने पर देवाजी के वंशजों से उपलब्ध सूचनाएँ सत्य सिद्ध होती हैं।

देवाजी का संपर्क मीराँ के साथ चित्तौड़गढ़ में हुआ था। वे वहाँ राम-मंदिर में पूजा करते थे। उनकी तथा मीराँ की उभयनिष्ठ विशेषता 'भक्ति' ही थी। वे रामानंदी थे पर 'शठकोप' (नम्मालवार) के 'सहस्रगीत' से प्रारम्भ होनेवाली सरस रामभक्ति की धारा की विकसित 'रसरीति'[4] का परिचय इन्हें 'रसिक परम पयहारी' से हो चुका था। मीराँ गिरिधर के रंग में रँगी हुई थी। उनकी भक्ति रसिकराम कृष्ण के प्रति थी। देवाजी के परिवार से प्राप्त विवरण के अनुसार मीराँ ने देवाजी के आने पर उसके पास गिरिधर की मूर्ति की चर्चा सुनी थी और एक दासी द्वारा उस मूर्ति को मँगवाया था। इससे पता चलता है कि देवाजी के संपर्क के पूर्व मीराँ की भक्ति भावना का स्वरूप बन चुका था।

रामदास

देवाजी के पुत्र रामदास थे। पिता की तरह ये भी चित्तौड़गढ़ में मीराँ परिवार के पुरोहित थे। ये वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित हो गए थे और ८४ वैष्णवों के सम्मान्य वर्ग में गिने जाने लगे थे। गुजराती कवि दयाराम ने भी 'चोराशी

(१) वही, पृष्ठ ४१४–४१७
(२) वही, पृष्ठ १०८
(३) रसिक प्रकाश भक्तमाल जीवराम युगल प्रिया पृष्ठ ११
(४) भागवत संप्रदाय डा० बलदेव उपाध्याय पृष्ठ २७७
(५) रामभक्ति में रसिक संप्रदाय डा० भगवतीप्रसाद सिंह, पृष्ठ ७९, ८७

वैष्णव' नामक कविता में इसका उल्लेख किया है– 'रामदास मीराँना प्रोहित रे।

रामदास मीराँबाई के ठाकुरजी के आगे गान करते थे। मीराँबाई से इन्हें वृत्ति भी मिलती थी। बल्लभ-सम्प्रदाय का होने के कारण वे पुष्ट-गोविन्द को एक ही मानते थे। मीराँ का आग्रह था कि केवल ठाकुरजी (गिरिधर) के पद गाओ। इसपर रामदास ने मीराँबाई की वृत्ति त्याग दी और महाप्रभु के प्रति उनका ममत्व न होने के कारण उनके बुलाने पर भी नहीं लौटे। वार्ताओं में रामदास द्वारा जिन शब्दों का मीराँ के लिए प्रयोग कराया गया है उनमें संप्रदाय का महत्व प्रतिपादित करने का बुद्धिहीन प्रयास है, क्योंकि उससे संप्रदाय की प्रतिष्ठा नहीं बढ़ती।

गोविंद दुबे साचोरा ब्राह्मण

गोविंद दुबे ईडर राज्य के बड़ामी गाँव के निवासी थे। श्री महाप्रभु बल्लभाचार्यजी ने उन्हें श्री श्यामसुन्दर जी की सेवा का भार सौंपा था। यह स्वरूप इस समय ईडर में है। ८४ वार्ता में कहा गया है कि 'एक समय गोविंद दुबे मीराँबाई के घर हुते। तहाँ मीराँबाई सों भगवद्वार्ता करत अटके।'[1] दुबेजी मीराँबाई के यहाँ बहुत दिन ठहरे थे। उनके ठहरने की घटना की सूचना 'आचार्यजी' तक पहुँची (यह नहीं कहा जा सकता कि आचार्यजी उस समय कहाँ थे पर वे निश्चित रूप से मीराँ के गाँव में नहीं थे। कदाचित् वे अडेल काशी या ब्रज में रहे होंगे) और उस समाचार को पाकर उन्होंने उन्हें बुलाने का आदेश दिया। ४०० वर्ष पहले यातायात के साधनों को देखते हुए यह निश्चित् रूप से कहा जा सकता है कि गोविंद दुबे १०–१२ दिन से कम न ठहरे होंगे।[2] गोविंद दुबे मीराँ से कब मिले इसकी तिथि का कहीं उल्लेख नहीं है। मगर वार्ता का प्रमाण है कि आचार्य महाप्रभु उस समय जीवित थे और विट्ठल इस योग्य हो गए थे कि श्लोक लिखकर भेज सकें।[3] बल्लभाचार्य ने संवत् १५८७ में इहलीला समाप्त की और श्री विट्ठलनाथ गुसाँईजी ने संवत् १५७२ में जन्म लिया था। अतः उक्त घटना-काल की दो सीमाएँ हो जाती हैं संवत् १५७२ और संवत् १५८७। श्लोक लिखकर

---

(१) चौरासी वैष्णवन की वार्ता लक्ष्मी वेंकटेश्वर संस्थान, पृष्ठ १६३

(२) गुजराती वार्ताओं में तो स्पष्ट लिखा है—
"बळवासी आपना दर्दं ने वेंकटेश्वर दिवसमां त्यां कई पहोंच्यो—", ८४ वैष्णवनी वार्ता देसाई पृष्ठ २४

(३) "तब श्री आचार्यजी ने सुनी जो गोविंद दुबे मीराँबाई के घर उतरे हैं सो अटके हैं तब श्री गोसाँईजी ने एक श्लोक लिखी पठायी —"—

मेंवाते समय अगर विट्ठलजी की आयु १३–१४ वर्ष भी मान लें (१५ से अधिक तो यह नहीं हो सकती क्योंकि महाप्रभुजी तब इस लोक में नहीं थे और १३–१४ स कम मानना भी तर्क-संगत नहीं है) तो योगिन पुर्व के मीरां के घर आने का समय संवत् १५८४–८६ के आसपास ठहरता है। मीरां उसके पूर्व विधवा हो चुकी थीं और पूर्ण रूप से भक्ति-भाव में डूब चुकी थीं।

कृष्णदास अधिकारी

वल्लभाचार्य जी के शिष्य थे जो अष्टछाप म थे। इनका जन्म गुजरात क चिलोतरा नामक ग्राम के एक शूद्र परिवार में हुआ था। ये द्वारका से लौटते समय मीरांबाई के गांव आए, वहाँ थोड़ी देर रुके और मीरां द्वारा प्रदत्त भेंट को ठुकराकर (व्रज) चले गए।

कृष्णदास के व्यवहार से स्पष्ट है कि वे जान-बूझकर मीरां का अपमान करने उनके घर गए थे। यह वल्लभ-संप्रदाय वालों की असफलता जन्य प्रतिक्रिया थी जो रोष बनकर व्यक्त हुई। मीरां और कृष्णदास की इस भेंट का समय निश्चित् नहीं है पर यह वस्तुतः मीरां की भक्ति-भावना की प्रसिद्धि के समय ही घटी होगी।

हित हरिवंश और हित हरिराम व्यास

'८४ वार्ता' में 'कृष्णदास अधिकारी' की वार्ता में उल्लेख है कि जिस समय कृष्णदास जी मीरां के गांव में पधारे, उस समय वहाँ 'हरिवंश व्यास आदि के विशेष सह वैष्णव हुते सो काहू कौं आये आठ दिन काहू कों आये दस दिन काहू को आये पंद्रह दिन भये हुते यहाँ हरिवंश से तात्पर्य निश्चित रूप से राधा वल्लभी संप्रदाय के प्रवर्तक महात्मा श्री हितहरिवंश जी से है और उनकी सन्निधि के कारण 'व्यास' से निर्विवाद रूपेण 'हरिराम व्यास' ही अभिप्रेत है। उक्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि हरिवंश और व्यास के सम्बन्ध मीरांबाई के साथ अच्छे थे। वल्लभ संप्रदाय की-सी कटुता कहीं वर्तमान नहीं थी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल [1] डा० रामकुमार वर्मा [2] तथा श्री वियोगी हरि [3] आदि विद्वानों के अनुसार व्यासजी ने हित हरिवंश जी का शिष्यत्व संवत् १६२२ के लगभग ग्रहण किया था। हित हरिवंश जी का निधन संवत् १६०९ की आश्विन

(१) हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १८०

(२) हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ५६१

—(३) व्रज-माधुरी सार, "हितहरिवंश का परिचय," पृष्ठ ६४

मास की शारदीय पूर्णिमा के दिन हो गया था। उस दिन श्री हितजी के निकुंज प्रवेश करने पर श्री वनचन्द्र गोस्वामी गद्दी पर बैठे इसका उल्लेख मंदिर की (राधा वल्लभी) वंशावली में है।[1] श्री उत्तमदासजी की बानी तथा श्री जयकृष्णजी की बानी से भी इसी सत्य की पुष्टि होती है।[2] अतः व्यासजी का हरिवंशजी से संवत् १६२२ में शिष्यत्व ग्रहण करने वाली बात किसी प्रकार सत्य नहीं कही जा सकती। श्री हितहरिवंश जी का वृन्दावन आगमन-काल 'श्रीहित चरित्र' और 'श्रीहित-सुधासागर' के विश्राम के अनुसार कार्तिक शुक्ला १३ संवत् १५९२ माना जाता है परन्तु यह तिथि सही नहीं है। ये अपने पिता के स्वर्गवास के पश्चात् संवत् १५९० में ब्रजभूमि में आए थे। भगवत् मुदित जी कृत 'रसिक अनन्यमाला' में कार्तिक शुक्ल १३ संवत् १५९० को ही हरिवंश जी का वृन्दावन आने का उल्लेख है। उसी के अनुसार उन्होंने संवत् १५९२ भादों शुक्ल नवमी को परमानन्ददास को स्वप्न द्वारा दीक्षा दी थी।[3]

एक स्थल पर पूरनदास और परमानन्द दास के वार्तालाप की इस चौपाई से कि 'यह जु एक मन की पद पायौ। व्यासहिं कह्यौ सु धर्म बतायौ।' पता चलता है कि परमानन्ददास जी से पूर्व ही व्यासजी हितहरिवंश से दीक्षा ले चुके थे।

इस प्रकार व्यासजी का हितजी के प्रथम बार संपर्क में आने और दीक्षा लेने का समय संवत कार्तिक शुक्ल १३ संवत १५९ से भादों सुदी ९ संवत् १५९२ के बीच ठहरता है।[4] व्यास जी के चरित्र में लिखा है कि – 'कार्तिक अगहन वृन्दावन आए। नवम रसिक संग सिर मुड़ाए।' उपर्युक्त दोनों सीमाओं में कार्तिक मास संवत् १५९० और १५९१ में ही संभव हो सकता है। संवत् १५९० के कार्तिक

---

(१) राधावल्लभ संप्रदाय सिद्धांत और साहित्य, डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृष्ठ १९४

(२) वही, पृष्ठ १२२

(३) पन्द्रह सै बानवै भादों सुद। नवमी दीक्षा लई भई मुद
—रसिक अनन्य माल (परमानन्द जी का चरित्र) भक्त कवि व्यास, पृष्ठ ५६ से उद्धृत

(४) हो सकता है कि व्यासजी ने हितजी से दीक्षा न ली हो और यह बात राधा वल्लभ संप्रदाय के लोगों ने व्यासजी के हितजी के प्रति आदर भाव को देखकर गढ़ ली हो, परन्तु इतना सत्य है कि व्यासजी हितजी के संपर्क में आए थे, उनसे प्रभावित थे उनकी रस-रीति के प्रति श्रद्धा-विश्वासमय भक्तिभाव रखते थे और उनके साथ उन्होंने तीर्थ यात्रा भी की थी।

की समाप्ति के समय तो स्वयं हितजी ही वृन्दावन आए। इस प्रकार 'कार्तिक बदत' वाला पाठ संवत् १५९१ के कार्तिक के लिए ही उपयुक्त बैठता है। राधावल्लभजी का पाटोत्सव संवत् १५९१ में हुआ था। इसी समय व्यासजी का हितजी से प्रथम संपर्क मानना तर्कसम्मत प्रतीत होता है।

वृन्दावन आने के बाद हितजी जीवन भर ब्रज भूमि से बाहर नहीं गए।[1] यह बात पहले ही स्पष्ट की जा चुकी है कि मीरां संवत् १५९१ में चित्तौड़ त्याग चुकी थीं। फिर व्यास जी से मिलने के पूर्व ही ब्रजागमन के पश्चात् ब्रज मण्डल से कभी बाहर न जाने वाले श्री हितजी मेड़ता या चित्तौड़ में कृष्ण दास जी को कैसे मिल गए? श्री हितजी और मीरां में कई दृष्टि से समानता भी है। दोनों मधुर भाव के भक्त थे। दोनों को स्वप्न में दीक्षा मिली थी मीरां को कृष्ण द्वारा और हितजी को राधा द्वारा। दोनों विचारों में उदार थे साम्प्रदायिकता का आग्रह उनमें नहीं था। ब्रज में आकर मीरां हितजी से अवश्य मिली होंगी। हो सकता है कि वहीं मीरां के यहाँ हितजी तथा व्यासजी को या हितजी के यहाँ मीरां को देखकर कृष्णदास जी दुखी हुए हों। वार्ताओं के कुछ संस्करणों में हितहरिवंश और व्यास का नाम इस प्रसंग में नहीं है।

जीव गोस्वामी :

भक्तमाल की भक्तिरसबोधिनी टीका और पद-प्रसंग-माला के अनुसार 'मीरां वृन्दावन आई, जीव गुसाईं से मिली और उनका 'त्रिया-मुख न देखने' का प्रण छुड़ाया। प्रियादास और नागरीदास के उक्त उल्लेख को बाद के लेखकों ने थोड़े बहुत अन्तर के साथ पल्लवित कर दिया है। निम्नांकित प्रसंग ही अधिकांश ग्रंथों में मिलता है[2]—

'वृन्दावन में साधुओं और भक्तों का दर्शन करती हुई मीरांबाई जीव गुसाईं के स्थान पर उनके दर्शन को गई परन्तु जीव गुसाईं ने उनको बाहर ही कहला भेजा कि हम स्त्रियों से नहीं मिलते। इसपर मीरांजी ने जवाब दिया कि वृन्दावन में मैं सबको सखी रूप जानती थी और पुरुष केवल गिरिधर लाल को ही सुना था पर आज मालूम हुआ कि उनके एक और पट्टीदार हैं। इन प्रेमरस से भिदे हुए वचन

(१) श्री हितहरिवंश संप्रदाय और साहित्य ललिताचरण गोस्वामी पृष्ठ १५

(२) भक्तमाल रूपकला पृष्ठ ७२१
पद-प्रसंग माला, नागरीदास —मीरांबाई-संबंधी तीसरा प्रसंग

को सुनकर गुसाईं जी अति लज्जित हुए और नंगे पैर बाहर आकर मीराँजी को बड़े आदर और भाव से अपने स्थान में ले गए।[1]

श्री रूपस्वामी का कथन है कि मीराँ ने प्रसिद्ध महात्मा रूप तथा सनातन गोस्वामी के दर्शन किए और जीव गोस्वामी के दर्शनों की अभिलाषा की।[2] उसके पश्चात् उक्त घटना घटी।

भक्त-प्रकाश में जीव गोसाईं के बदले रूप गोसाईं नाम आया है।[3] श्री शिशिर कुमार घोष ने भी उक्त घटना के पात्रों के रूप में रूप स्वामी और मीराँ को प्रस्तुत किया है।

(१) इस संबंध में प्राचीनतम प्रमाण नागरीदास और प्रियादास के उल्लेख ही हैं। ये उल्लेख स्पष्ट हैं। वैष्णवदास ने अपने दृष्टांत में प्रियादास के इस कथन का समर्थन किया है। उन्होंने 'मीराँ-अकबर' के मिलने के भ्रम को दूर करने का प्रयत्न अपने दृष्टांत में किया है। अगर इस सम्बन्ध में भी कोई भ्रम होता तो वे उसका भी उल्लेख अवश्य करते।

(२) जीव गोस्वामी के स्थान पर रूप गोस्वामी को इस घटना का नायक माननेवाले उल्लेख प्रियादास और नागरीदास के बहुत बाद के हैं। इतना ही नहीं वे अधिकांश में बंगाल के हैं। भक्त प्रकाश में उसका अनुकरण मात्र है। अब

---

(१) मीराँबाई की शब्दावली और जीवन-चरित्र पृष्ठ ५। अन्य ग्रंथों में थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ यही कथा दी हुई है। उदाहरण के लिए—मीराँबाई — मा० नि० मेहता (गुजराती) में पृष्ठ ६१–६२ पर मीराँये येने मलवाने कहेवडाव्युं के, बाहु महाराज। हजी तमे स्त्रीपुरुषना भेदमां ज रमी रह्या छो? फीकर नहि, आपनी वेंनी बच्चे पडदो राखी आपने वातो करी शुं मीराँनी तीव्र इच्छा जोई तेने कबूल थयुं। भेटने मीराँ मलवा गई, ने प्रणाम करी तेने कह्युं, "महाराज, भागवत मां आवो एक उल्लेख छे के, 'वासुदेव (ममानेक) स्त्रो भयमीतरज्जमन्। एटले व्रजमां तो मात्र वासुदेव गिरधर पुरुष छे, बीजी बधी स्त्रीओ के गोपीओ छे। तो आप वृन्दा वनमां वसीने पुरुष थी रीत रह्या छो तेज मने आश्चर्यमय लागे छे। आजे ज में जाण्युं के, वासुदेव सिवा बीजा पुरुष पण व्रजमां वसे छे।" आ मार्मिक कोमलता व जीवा गोसाईंये पडदो खसेडावी नाख्यो अने मीराँ साथे खुल्ले दिल हरिनी कथा करी आनंद कीधो।

(२) 'श्री मीराँबाई जी पृष्ठ ४३–४८

(३) मीराँबाई मा० नि० महता, पृष्ठ ६२ से उद्धृत

की घटना के सम्बन्ध में सुदूरवर्ती बंगाल की अपेक्षा व्रज की उल्लेख-परंपरा अधिक विश्वसनीय है। गुजरात में भी दयाराम के समय तक जीव गोस्वामी को ही इस घटना से संबद्ध माना जाता था। उस समय तक रूप गोस्वामी के नाम को इस घटना से जोड़ने वाला कोई उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता।

(२) सबसे महत्व की बात यह है कि इस घटना के वर्णन में गोस्वामी की जिस विशेषता (स्त्रियों का मुख न देखने का प्रण) का उल्लेख है जो कहना चाहिये कि गोस्वामी की जिस विशेषता पर सारी घटना आधारित है और जिसे निकाल देने पर घटना का अस्तित्व ही नहीं रह सकता वह विशेषता निर्विवाद रूप से जीव गोस्वामी की थी रूप गोस्वामी की नहीं। श्री चैतन्य चरितावली में कहा गया है कि श्री अनुप-तनय स्वामी श्री जीवजी का वैराग्य परमोत्कृष्ट था। ये आजन्म ब्रह्मचारी रहे। स्त्रियों के दर्शन तक नहीं करते थे।[1]

रूप गोस्वामी बंगाल के नवाब हुसैनशाह के प्रधान मन्त्री के पद पर रहे थे गृहस्थ-जीवन भोग चुके थे। उनका स्त्रीमुख देखने या न देखने के सम्बन्ध में कोई आग्रह या प्रण नहीं था।

मीराँ और जीव गोस्वामी के मिलने का समय :

जीव गोस्वामी चैतन्य महाप्रभु की आज्ञा से वृन्दावन नहीं आए थे। वे नित्यानन्द जी की आज्ञा से काशी आए। वहाँ श्री मधुसूदन वाचस्पति से चार वर्ष तक अध्ययन किया और फिर चैतन्य महाप्रभु के गंगा-लाभ के पश्चात् व्रज में आ गए। अतः इस प्रकार जीव गोस्वामी के व्रज में आने का समय महाप्रभु के गंगा-लाभ के समय से कुछ बाद का है। चैतन्य महाप्रभु ने संवत् १५९० वि० (सन् १५३३) में गंगा-लाभ किया था।[2] अतएव जीव गोस्वामी का व्रज में आने का समय १५९० वि० के बाद ठहरता है। 'प्रेम विलास' नामक प्राचीन काव्य के आधार पर दिनेशचन्द्र सेन ने 'रूपनारायण' नामक अद्वैत सिद्धांत के एक महान् विद्वान के संबन्ध में एक घटना लिखी है कि 'रूपनारायण' रूप और सनातन के पास शास्त्रार्थ करने पहुँचे पर वैष्णव परिपाटी के अनुसार मौखिक चर्चा में नहीं उलझे और विनय का परिचय इस सीमा तक दिया कि 'जयपत्र' लिख दिया। इसपर जीव गोस्वामी शास्त्रार्थ में इनसे उलझ पड़े और इन्हें परास्त करके वापस

---

(१) प्रभुदत्त ब्रह्मचारी कृत — खण्ड ५, पृष्ठ २४६

(२) द वैष्णव लिटरेचर ऑफ मेडीवल बंगाल, दिनेशचन्द्र सेन, १९१७, पृष्ठ ४१

भेजा। रूपनारायण ने वृन्दावन संवत् १५९१ में छोड़ा था।[1] अतः जीव गोस्वामी के साथ यह घटना १५९१ के बाद नहीं घटी होगी।[2] इस प्रकार जीव गोस्वामी के व्रज में पहुँचने का समय संवत् १५९ —९१ ठहरता है और मीरां तथा जीव गोस्वामी का विवाद सं० १५९१ वि० के बाद कभी हुआ होगा। मीरां की व्रज यात्रा संवत् १५९२ के लगभग हुई थी। अतः जीव गोस्वामी के साथ यह घटना भी इसी समय घटी होगी।

रूप गोस्वामी तथा सनातन गोस्वामी :

रूप-सनातन जीव गोस्वामी के पिता वल्लभ (या अनुपम) के अग्रज थे। चैतन्य मत स्वीकार करके वृन्दावन में आ गए थे और प्रचार के अतिरिक्त चैतन्य मत को शास्त्रीय रूप देने और विधि-विधानों की व्यवस्था करने और भक्तिशास्त्र के सिद्धांतों के निर्धारण का कार्य कर रहे थे। व्रज में इनका बड़ा मान था।

'सनातन अत्यन्त वैराग्य परायण थे इनकी कुटी तो थी ही नहीं परन्तु यह एक वृक्ष तले भी एक रात्रि व्यतीत नहीं करते थे। इस पर भी पाण्डित्य और आध्यात्मिकता का लेशमात्र गर्व उन्हें नहीं था। रूप गोस्वामी पाण्डित्य एवं कवित्व

---

(१) वही, पृष्ठ ४७

(२) डा० सुशील कुमार के अनुसार बंगाल में ऐसी प्रसिद्धि है कि जीव गोस्वामी का जन्म शके १४८५ (सं० १५८०) और मृत्यु शाके १५४० (सं० १६७५) में हुई थी।

'कुछ विद्वानों का ऐसा मत है कि उनकी जन्म-तिथि संवत् १५७० है।' (मीरांबाई श्रीकृष्णलाल १४८) इस आधार पर डा० श्रीकृष्णलालका कथन है कि 'जीव गोस्वामी उस समय न प्रसिद्ध भक्त थे और न मीरां से बड़े थे। अतः मीरा उनसे मिलने नहीं, मिली होंगी, यह बात सही नहीं हो सकती। वे रूप-सनातन से मिलने गई होंगी।

इस बात को किसी ने नहीं कहा कि मीरां रूप सनातन से नहीं मिलीं या उनसे मिलने नहीं गई थीं। तीनों गोस्वामी आसपास रहते थे इसलिए रूप-सनातन से भी अवश्य मिली होंगी। श्रीकृष्णलालजी का कथन इस विषय में बहुत संगत है कि 'मीरां ने प्रसिद्ध महात्मा रूप और सनातन के दर्शन किए और जीव गोस्वामी से मिलने की अभिलाषा प्राप्त की और तभी उपरोक्त घटना घट गई।'

भक्ति में अद्वितीय थे।[1] ब्रज में पहुँचने पर जीव गोस्वामी के द्वार पर पहुँच जाने वाली मीरां का रूप-सनातन जैसे प्रसिद्ध निस्पृह विद्वान् और निरभिमान भक्तों से मिलना स्वाभाविक ही था। कुछ विद्वानों ने तो रूप गोस्वामी द्वारा मीरां के दीक्षा लेने का भी उल्लेख किया है।[2] इस पर 'मीरां के गुरु' शीर्षक के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है।

जंभनाथ

बिश्नोई सम्प्रदाय के संस्थापक जंभनाथ (संवत् १५०८–१५९२) जोधपुर के नागौर इलाके के पपासर गाँव के रहने वाले थे।[3] मीरां के पितामह राव दूदाजी से उनका विशेष सम्बन्ध था। बॉम्बे गजेटियर के अनुसार जंभाजी ने दूदाजी को एक लकड़ी दी थी जिसके सहारे उन्होंने युद्ध में विजय प्राप्त की। इससे पता चलता है कि दूदाजी से इनका विशेष आत्मीय संबन्ध था।

जंभाजी तथा मीरां के संवाद के रूप की रचना मिलती है,[4] उससे इनके सम्पर्क की स्पष्ट व्यंजना होती है। परन्तु जंभाजी के 'गों सबद सोहं जाप अन्तर जपे अजपा जाप' का कोई प्रभाव मीरां पर दिखाई नहीं पड़ता।

माधवेन्द्र तथा माधव :

इनके सम्पर्क में आने की संभावना प्रबल है। इसका उल्लेख 'मीरां के गुरु' प्रकरण के अन्तर्गत किया गया है।

रामानन्द रैदास और माधवाचार्य :

'मीरां के गुरु' अंश में सिद्ध किया गया है कि ये मीरां के समकालीन नहीं थे। इनके मीरां से मिलने के उल्लेख वाले पद अप्रमाणित हैं।

अजब कुँवरिबाई

२५२ वैष्णवन की वार्ता में एक और नाम है, जिसका संबन्ध मीरांबाई से जोड़ा गया है। वह नाम है अजब कुँवरिबाई। पहले संस्करण के अनुसार "सो वे

(१) बंगला साहित्य की कथा, डॉ० सुकुमार सेन, २००६, पृष्ठ १४
(२) भागवत सम्प्रदाय, डॉ० बलदेव उपाध्याय पृष्ठ ५०७
(३) हिंदी साहित्य, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृष्ठ १४७
(४) देखिए 'अध्ययन के आधार' 'मीरां जम्भाजी संवाद' पृष्ठ ८३

अजब कुँवरिबाई मेड़ते में रहती हती मीरांबाई की देवरानी हती" दूसरे संस्करण के अनुसार 'वे बाल-विधवा हती सो मीरांबाई के पास रहती।' उनको विट्ठल द्वारा दीक्षा देने की चर्चा भी की गई है। इस चर्चा में कहा गया है कि 'पीछे भेंट धरि के दरसन करिके तुरत ही मीरांबाई तो फिरी। तब गुसाई जी ने कही जो यह भेंट तो हम नाही राखें। हमारे काम की नहीं। अन्य वैष्णवों ने मीरां को यह बताया कि 'वे तो अपने सेवक बिना काहू की भेंट राखे नाही है। तब अजबकुँवरि ने कही मीरांबाई सों जो तुम कहो तो हौं इनकी सेवाकिनि होऊँ। तब मीरांबाई ने नाहीं करी।—अन्त में अजबकुँवरि मीरां की बात न मानकर विट्ठल का शिष्यत्व ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार २५२ वार्ता के अनुसार मीरांबाई की भेंट गोसाईं जी से भी हो जाती है।

वार्ता के प्रथम संस्करण के उल्लेख के अनुसार अगर 'अजबकुँवरि बाई' मीरांबाई की देवरानी लगती थी तो उन्हें चित्तोड़ के राणा-परिवार में रहना चाहिए था मीरां के मायके में नहीं। विधवा होने पर भी (जैसा कि तीन जन्म की लीला भावना वाले संस्करण का उल्लेख है) उन्हें उदयपुर, चित्तोड़ या अपने मायके में रहना चाहिए था।

उदयपुर के इतिहास में केवल एक अजबकुँवरि का नाम मिलता है। ये महाराणा राजसिंह की पुत्री थीं। राज प्रशस्ति सरगाठ श्लोक १७—४१ के अनुसार इनका विवाह बांधवगढ़ (रीवां) के बघेला राजा अनूपसिंह के कुँवर भावसिंह के साथ विक्रमी संवत् १७२१ मार्गशीर्ष बदी ८ को हुआ था। इसमें कोई संदेह नहीं कि संवत् १७२१ में विवाहित होने वाली ये अजबकुँवरि मीरां की समकालीन नहीं थी। प्राचीन राजस्थानी साहित्य के पण्डित कविराज मोहनसिंह जी ने बताया कि अजबकुँवरि राणा उदयसिंह की पुत्री अथवा उनके पुत्र की स्त्री थी। दोनों में किसी रूप में भी इस अजबकुँवरी का मीरां की देवरानी होना सिद्ध नहीं होता। फिर जो उदयसिंह स्वयं मीरां से लगभग बीस वर्ष छोटा था उसकी पुत्री या पुत्र-वधू मीरां के साथ की होगी यह एक स्पष्ट असत्य है।

विट्ठल :

जहां तक विट्ठल के दर्शन करने का प्रश्न है यह बात अन्यत्र स्पष्ट कर दी गई है कि विट्ठल जी के किसी भी गुजरात-यात्रा के समय मीरांबाई तथा मीरांबाई के ठाकुर का परिवार भी मेड़ता में नहीं था और जिस जयमल की बहिन के विट्ठल से दीक्षा लेने का जिक्र किया जाता है वह मीरांबाई न ठाकुर मालदेव के पुत्र जैमल की बहिन थी।

मीरांबाई के भजकुँवरी के साथ रहने और विट्ठल से मिलने से सम्बन्धित उल्लेख बहुत बाद के हैं और मीरां के प्रति सम्प्रदाय के रोष और विरोध की भावना से प्रेरित होकर कल्पना द्वारा तैयार किए गए हैं, और ठीक उसी प्रकार मीरां को अपमानित करने की दृष्टि से रचे गए हैं जिस प्रकार कृष्णदास वार्ता के उल्लेख।

सारांश यह है कि प्रसिद्ध संतों और भक्तों में निम्नांकित के संपर्क में मीरां आई थीं —

(क) रामानन्द संप्रदाय — रैदासजी

(ख) वल्लभ सम्प्रदाय — रैदासजी के पुत्र पुरोहित रामदास
गोविन्द दुबे साचोरा ब्राह्मण
कृष्णदास अधिकारी

(ग) राधावल्लभी — हितहरिवंशजी
हरिराम व्यास (इनके संप्रदाय के विषय में मतभेद है)

(घ) चैतन्य संप्रदाय — जीव गोस्वामी
रूप गोस्वामी
सनातन गोस्वामी तथा अन्य

(ङ) विश्नोई संप्रदाय — जंभनाथ

(च) माधवेन्द्र तथा — अथवा माधव

इनके अतिरिक्त अजबकुँवरि बाई के साहचर्य और विट्ठल के दर्शनों के उल्लेख भी हैं जो इतने अधिक संदिग्ध हैं कि अप्रामाणिक कहे जा सकते हैं। रामानन्द, माधवाचार्य और नीलाम्बर से मिलने के उल्लेख निश्चित रूप से अप्रामाणिक हैं।

अलौकिक घटनाएँ :

आध्यात्मिकता और भक्ति स्वयं अलौकिक हैं अतएव इनके क्षेत्र में प्रतिष्ठा पानेवाले व्यक्तित्व के चारों ओर अलौकिक घटनाओं का जाल अनायास फैल जाता है। श्रद्धाविश्वासमयी आस्तिक जनता और अलौकिक रस के साधक संत और भक्त सब प्रायः अनजाने ही और कभी-कभी जान-बूझकर अति प्राकृतिक घटनाओं का सर्जन करते रहते हैं। मीरां की प्रसिद्धि के साथ उनकी जीवनी में अलौकिकता का आ जाना संभव ही नहीं स्वाभाविक भी था। उनके जीवन से संबद्ध कुछ अलौकिक घटनाएँ इस प्रकार हैं —

(१) नदी में एक खाने में से मीराँ प्रगट हुईं। (जन्म)[1]

(२) बार मुजाजी ने मीराँ के हाथ से दूध पिया।[2]

(३) मीराँ रंग महल में गिरिधारी से बातें कर रही थीं राणा को ज्ञात हुआ तो वह वहाँ तलवार ले कर पहुँचा पर उसे गिरिधारी दिखाई नहीं पड़े। खिसियाकर वह लौट आया।[3]

(४) राणाजी ने खड्ग सँवारी और मीराँ को मार दी पर मीराँ एक की हजार हो गईं।

(५) हर कमरे में राणा को मीराँबाई ही दिखाई पड़ीं।[5]

(६) मीराँ के विष-पान से भगवान् कृष्ण की रणछोड़जी की मूर्ति का कंठ कृष्ण हो गया।[6]

(७) मीराँ रणछोड़जी की मूर्ति में समा गईं।

मीराँ के साथ वैसी अलौकिक घटनाएँ संबद्ध नहीं हैं जैसी कि संप्रदाय के प्रवर्तक गुरुओं के साथ जुड़ी रहती हैं। (जैसे किसी के पुत्र को जीवन-प्रदान करना किसी को रोग-मुक्त करना आदि चमत्कारपूर्ण कार्य करना) इसके अभाव का कारण यही है कि मीराँ के प्रचार के साम्प्रदायिक प्रयत्न नहीं हुए। संप्रदाय के प्रचार प्रसार के लिए गुरु या साम्प्रदायिक भक्तों में सामाजिक कल्याण की निस्सीम सामर्थ्य सिद्ध करने का प्रयास होता है 'शिष्य न मूड़ने वाली' 'दरद दिवानी' मीराँ के पीछे कोई ऐसी शक्ति नहीं थी।

उक्त अलौकिक घटनाओं पर लौकिक दृष्टि से विचार करने पर तीन बातें प्रकाश में आती हैं। (१) मीराँ शैशव से ही भक्ति की ओर प्रवृत्त थीं।

---

(१) आदर्श भक्त अर्थात् मीराँबाई पुरोहित, पृष्ठ १२

(२) प्रभू आज दया की दासी पे
करके कृपा मेरा दूध अरोगा मन में अति सुख पाई मैं।
—आदर्श भक्त अर्थात् मीराँबाई पुरोहित, पृष्ठ १५–२४

(३) भक्तमाल 'प्रियादास कृत टीका' रूपकला पृष्ठ ७१९

(४) राणा जी खड्ग सँवारियो लै कांढ़ो तरवार। जितरी मीराँने राणाजी मारती हो गई एक हजार – राजस्थानी लोक-गीत (लोक-पत्रिका, जून १९५२ में मीराँ के भक्तों के भजन में भी इसी आशय का उल्लेख है।)

(५) लोक-गीतों में

(६) मीराँबाई भा० मि० मेहता, पृष्ठ ४०

(७) भक्तमाल, रूपकला पृष्ठ ७२२

(२) राणा और मीरां का संघर्ष मीरां की भक्ति और साधु-सत्संग को लेकर चला था और महाप्राण मीरां उसमें न झुकी और न टूटी—उन्हें पराजित नहीं किया जा सका। (३) मीरां का अन्त द्वारका में इस प्रकार हुआ कि उनके शव का पता नहीं चला। भक्त के रूप में मीरां का यश व्यापक था और जनता उन्हें आदर की दृष्टि से देखती थी।

कुछ अप्रामाणिक प्रसंगोल्लेख

क्या '२५२ वैष्णवन की वार्ता' में उल्लिखित 'जैमल की बेन' मीरांबाई थीं ?

२५२ वैष्णवन की वार्ता में मेरता निवासी हरिदास बनिए की एक वार्ता है। उसमें लिखा है कि मेरते के राजा जैमल स्मार्त थे। एक बार गुजरात जाते समय गुसाईं विट्ठलनाथ जी मेरता ग्राम में रुके और हरिदास के यहाँ पधारे। 'जैमल की बेन' को 'बारी' में से उनके दर्शन हुए और उसके बाद पर्दे में रहने के कारण उन्होंने पत्र द्वारा दीक्षा ली। अन्त में बहन की प्रेरणा से जैमल भी वैष्णव हो गए।[1] यह कथा अत्यन्त सामान्य भेद के साथ २५२ वैष्णवन की वार्ता के 'अहमदाबाद के गुजराती'[2] तथा 'डाकोर के हिंदी'[3] संस्करणों में मिलती है। 'तीन जन्म की लीला भावनावाली' वार्ता (विद्या विभाग कांकरोली द्वारा हिंदी में प्रकाशित) में यही कथा विस्तार से है। कुछ थोड़ा-सा अन्तर है। उसमें जैमल को 'सेठ' कहा गया है।

अबतक हिंदी के मान्य विद्वान् तथा विदुषियाँ भी[4] इन जैमल को मीरांबाई के ताऊ वीरमदेव के पुत्र मेड़तिया जयमल से अभिन्न मानकर सारी समस्या

---

(१) प्रस्तुत प्रसंग में एक ही नाम के दो व्यक्तियों के उल्लेख बार-बार हुए हैं। अतएव भ्रम बचाने के लिए २५२ वार्ताओं में उल्लिखित जैमल के लिए 'जैमल' तथा मीरां के भाई जैमल या जयमल के लिए जयमल शब्द का प्रयोग किया गया है।

(२) २५२ वैष्णवनी वार्ता लल्लुभाई छगनलाल देसाई द्वारा प्रकाशित पृष्ठ ५६–५७

(३) २५२ वैष्णवन की वार्ता वैष्णव रामदासजी द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ ६४ ६५

(४) मीरांबाई, डॉ॰ श्रीकृष्णलाल, पृष्ठ २४
मीरां-माधुरी, श्री ब्रजरत्नदास पृष्ठ २३
मीरांदर्शन प्रो॰ मुरलीधर श्रीवास्तव पृष्ठ २१
मीरां–एक अध्ययन श्रीमती शबनम, पृष्ठ १४ इत्यादि

का विवेचन करते रहे हैं और ऐतिहासिक असंगतियों के प्रस्तुत होने पर मीरां के जीवन-वृत्त से संबन्धित प्रश्नों का समाधान अनुमान द्वारा करते आए हैं। अतः इस बात की ऐतिहासिक दृष्टि से मीमांसा करके किसी निर्णय पर पहुँच जाना आवश्यक है।

वस्तुतः मारवाड़ के इतिहास के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि वार्ताओं में उल्लिखित जैमल मीरांबाई के काका वीरमदेव के पुत्र जयमल नहीं थे जोधपुर के राजा मालदेव के पुत्र 'जैमल' थे।

वल्लभाचार्य के सुपुत्र विट्ठलनाथ जी स्वमार्ग के प्रचार के लिए छः बार गुजरात गए थे—सं० १६१३ १६१६, १६१६, १६२३ १६३१ और सं० १६३८ में।[1] अतः इतना निश्चित है कि 'जैमल की बेन' को उनका दर्शन इन्हीं वर्षों में हुआ होगा और वे पत्र के द्वारा सं० १६१३ और १६३८ के बीच ही कभी पुष्टि मार्ग में दीक्षित हुई होंगी।

सं० १६१० में मालदेवजी ने मेड़ते पर अधिकार कर लिया था। उस समय वीरमदेव के पुत्र जयमल राणा उदयसिंह के साथ चले गए और राव मालदेव ने अपने पुत्र जैमल तथा चीरवर देवीदास को मेड़ते की सुरक्षा तथा शासन के लिए नियुक्त किया।[2] एक बार संवत् १६१३ में 'कुछ दिनों के लिए' महाराणा उदयसिंह की सहायता से जयमल फिर मेड़ते के अधिकारी बन गए, पर केवल कुछ दिनों के लिए ही।[3] उसी साल जैसे ही वे हाजीखां के विरुद्ध महाराणा उदयसिंह की सहायता के लिए युद्ध करने गए[4] वैसे ही मालदेव ने मेड़ते पर फिर अधिकार कर लिया। युद्ध से लौटने पर मेड़ते में मालदेव का अधिकार देखकर वे उदयपुर चले गए।[5] तब उदयपुर के राणा ने उन्हें बदनोर की जागीर दे दी। सं० १६१६ में उन्हें बदनोर भी छोड़ना पड़ा क्योंकि चैतावत देवीदास ने जालोर जीतकर बदनोर पर आक्रमण कर दिया। संवत् १६१८ में अकबर की सहायता करके वे फिर मेड़ते के अधिकारी बन गए, पर जैसे मेड़ते का अधिकार उनके भाग्य में ही नहीं था। अधिकार के तुरन्त बाद ही उन्हें अकबर के सरदार शरफुद्दीन (जिसने वास्तव में

---

(१) २५२ वैष्णवनी वार्ता, प्रकाशक, स० छ० देसाई, पृष्ठ ३

(२) मारवाड़ का इतिहास रेउ पृष्ठ १३४ १३५

(३) वही, पृष्ठ १३६

(४) वही, पृष्ठ १३७, १३८

(५) उदयपुर राज्य का इतिहास, ओझा, पृष्ठ ४०८ (फाल्गुन बदी ६, १६१३ को युद्ध हुआ था।)

मेड़ता मीरां था) के साथ नागोर जाना पड़ा। वहाँ उनका हरमहीन से झगड़ा हो गया। इस पर वे उसे छोड़ कर चित्तोड़ चले गए और उसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि फिर से अकबर का अधिकार मेड़ते पर हो गया।[1] अन्त में जयमल संवत् १६२४ में अकबर के विरुद्ध युद्ध करते हुए चित्तोड़गढ़ में वीरगति को प्राप्त हो गए[2]।

उक्त विवरण से निष्कर्ष निकलता है कि संवत् १६११ और संवत् १६१७ के बीच वीरमदेव के पुत्र और मीरां के भाई जयमल मेड़ते के स्वामी संवत् १६११ में कुछ दिनों के लिए ही रहे थे। उसके पश्चात् संवत् १६१८ में वे एक बार युद्ध करने वहाँ गए थे पर उस समय कम-से-कम सपरिवार वहाँ रहने का अवसर उन्हें नहीं मिला। इसके अतिरिक्त उस अवधि में वे मेड़ते में कभी नहीं रहे रहे क्या गए भी नहीं।

संवत् १६१८ में मीरां के भाई जयमल के गुसाईंजी से मिलने का कोई प्रश्न ही नहीं है क्योंकि न गुसाईंजी इस वर्ष गुजरात गए थे और न जयमल का परिवार मेड़ते में था। वे अकेले अकबर की सेना के साथ युद्ध के लिए वहाँ गए थे और युद्ध के बाद ही नागोर चले गए।

संवत् १६११ में वीरमदेव के पुत्र जयमल कुछ दिन ही मेड़ते में रहे थे। वे संवत् १६१० में ही सपरिवार बदनेर चले गए थे। संवत् १६११ में मेड़ते में उनका अधिकार अवश्य हो गया था परन्तु जब उसी वर्ष वे हाजीखाँ के युद्ध से लौटे तो मेड़ते में मालदेव के पुत्र चैमल का अधिकार देखकर बिना युद्ध किए ही महाराणा के पास वापस लौट गए। इससे यही पता चलता है कि संवत् १६११ में उनका परिवार वहाँ न था। दूसरे, 'तीन जन्म की लीला भावनावाली २५२ वार्ता' में गुसाईंजी के वैष्णव के गाम्य-काल में दो बार मेड़ते जाने का उल्लेख है। इस प्रकार संवत् १६१ और १८ के बीच वीरमदेव-पुत्र जयमल केवल संवत् १६११ में कुछ दिनों के लिए मेड़ता रहे थे (उनका परिवार उस समय वहाँ नहीं था) और इतने कम समय में उन दिनों गुजरात की दो यात्राएँ क्रम से नहीं हो सकती थी। अतः वीरमदेव के पुत्र और मीरां के भाई जयमल के परिवार के किसी व्यक्ति का विट्ठल द्वारा मेड़ते में दीक्षा प्राप्त करना संभव ही नहीं था।

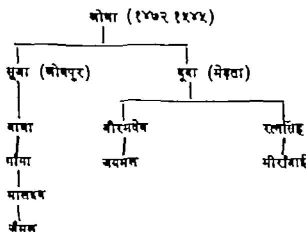
इधर, मालदेव के पुत्र चैमल संवत् १६१० से संवत् १६१८ तक (संवत् १६११ के कुछ दिन छोड़कर) मेड़ते के शासक रहे थे। इसी बीच में दो बार

(१) मारवाड़ का इतिहास, रेउ, पृष्ठ १४०
(२) उदयपुर राज्य का इतिहास ओझा, पृष्ठ ४१३-४१६

गुसाईंजी गुजरात गए थे और कदाचित् बार बार मेड़ते से गुजरे होंगे।

जोधपुर के नरेशों ने जैमल को बहुत प्रश्रय दिया है।[1] उन्होंने वल्लभ-संप्रदाय का भी विशेष समर्थन किया था। अतएव वल्लभ-सम्प्रदाय वालों के अधिकार में कई गाँव चले आते हैं। तीन जन्म की भावना वाली २५२ वार्ता में जैमल को परम 'शैव' कहा है, बाद में वे पुष्टिमार्गी हो गए थे। वीरमदेव के पुत्र जयमल निश्चित रूप से वैष्णव थे। भक्तमाल इसका प्रमाण है।[2]

अतः यह निश्चित है कि विट्ठल द्वारा दीक्षित होनेवाले जैमल जोधपुर नरेश मालदेव के पुत्र थे मेड़तणी मीराँ के ताऊ वीरमदेव के पुत्र नहीं और इस लिए २५२ वार्ता में उल्लिखित जैमल की बेन (बहन) मेड़तणी मीराँ नहीं थी। वैसे मालदेव पुत्र जैमल भी उसी राठौड़ वंश के थे जिसके कि वीरमदेव-पुत्र मेड़तिया जयमल और मेड़तणी मीराँबाई थे। उनका सम्बन्ध निम्नलिखित चार्ट से स्पष्ट हो जायगा —



अकबर, तानसेन और मीराँ

प्रियादास कृत 'भक्ति-रस-बोधिनी टीका' में एक स्थान पर निम्न लिखित उल्लेख है—

> रूप की निकाई भूप अकबर भाई हिये
>
> लिए संग तानसेन देखिबे को आयो है।

---

(१) मारवाड़ का इतिहास, रेउ पृष्ठ ९७

(२) भक्तमाल, कलकत्ता पृष्ठ ७१०

निरखि निहाल भयो छवि गिरधारी लाल
पद सुखजाल एक तन ही चढ़ायो है ।[1]

इसके आधार पर इस भ्रम को जन्म मिला कि अकबर तानसेन को लेकर मीरां की भक्ति और उनके सौंदर्य से प्रभावित होकर उनसे मिलने गया।[2] (श्री कुँवर कृष्ण का तो यह भी अनुमान है कि अकबर ने गुजरात में जाकर संवत् १६२१ में मीरां के दर्शन किए, मेवाड़ में नहीं) और उनसे मिलने पर तानसेन ने उनकी प्रशंसा में एक पद गाकर उनका अथवा उनके गिरिधर का अभिनन्दन किया था। इतना ही नहीं 'मीरां' के नाम से एक पद की रचना भी हो गई है, जिसमें मीरां द्वारा स्वयं अकबर के तानसेन सहित आकर उनसे मिलने की बात कहला दी गई है।[3] इसके साथ एक किंवदन्ती भी जुड़ गई कि 'अकबर ने मीरां को एक कीमती हार भेंट किया। मीरां ने उसे अपने पास नहीं रखा। फिर भी राणा को जब इस घटना का पता लगा तो उसके हृदय की जलती आग और प्रज्वलित हो उठी।'[4]

भक्ति-रस-बोधिनी टीका की इन पंक्तियों को यदि ध्यान से देखा जाय तो स्पष्ट है कि अकबर गिरधारीलाल की छवि को देखकर निहाल हुआ था मीरां को नहीं और उन्हीं गिरधारीलाल के रूप की निकाई से प्रभावित होकर उन्हें देखने गया था।

प्रियादास के पौत्र वैष्णवदास ने अपने 'भक्तमाल-दृष्टान्त' नामक ग्रंथ में इस बात को पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है। 'रूप की निकाई अकबर भाई' पंक्ति के स्पष्टीकरण में वे कहते हैं—

"तब तिस वृन्दावासी संत व्यास को फरजन्द एक कन्हैया नाम है जाके रूप के ऊपर अनेक स्त्री बावरी भई हैं। उनके मत में भी कन्हैया सुन्दर है सो देखन को अकबर पातसाह तानसेन समेत *गिरधारी जी की छवि को मगन हो गया।*"

"पदसुखजाल एक तनही चढ़ायो है" पंक्ति के स्पष्टीकरण में वैष्णव दास ने उस पद को ही उद्धृत कर दिया है, जिसे तानसेन ने गिरिधर के सामने गाया था। इस पद में मीरां के उस शृंगार का वर्णन है जिसके साथ में वे 'सुकाम प्रीति हार गूँथे हुए पावस की नदी के समान गिरिधर से मिल गई।[5]

---

(१) भक्तमाल, कलकत्ता, पृष्ठ ७२१
(२) 'मीरांबाई की शब्दावली और जीवन-चरित्र' पृष्ठ १
(३) —मीरां —बृहद्-पद-संग्रह, श्रीमती पद्मावती, पृ० ११०
(४) मीरांबाई, मा० ला० मेहता, पृष्ठ ४६
(५) संपूर्ण पद, यही प्रबन्ध पृष्ठ ४६

वैष्णव प्रियादास के नाती थे। ब्रज ही के भक्तों से उनका विशेष संपर्क था। प्रियादास के संपर्क में तो वे थे ही। मीराँ के समय के प्रियादास की टीका के 'अकबर-तानसेन' वाले विवरण की अर्थ-सम्बन्धी अस्पष्टता उन्हें अवश्य खली होगी। इसीलिए उन्होंने उस प्रसंग को ठीक प्रकार से स्पष्ट किया जिससे बाद में भ्रम के कारण गलत अर्थ लगाकर लोग एक असत्य पर विश्वास न कर बैठें पर उनके दृष्टांत का प्रचार न होने के कारण यह उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सका।

उक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि उस समय तक मीराँ दिवंगत हो चुकी थीं और उनके कृष्ण-मूर्ति में मिल जाने की कथा को काफी प्रचार मिल गया था। साथ ही उनकी माधुर्य भाव की भक्ति और उनका गिरिधर प्रेम इतना प्रसिद्ध हो गया था कि अकबर को भी उस गिरिधर की मूर्ति देखने की लालसा हुई। अकबर की धार्मिक जिज्ञासा तथा उदार वृत्ति दीनइलाही मत के चलाने (संवत् १६३२ वि०) के समय से कुछ पूर्व बहुत प्रबल थी। मथुरा गजेटियर के अनुसार अकबर स० १६२७ में वृन्दावन के गोसाइयों से मिलने गया था और वहाँ पर उसकी आँखें बन्द कर उसे निधुवन (वास्तविक वृन्दावन जिसके आधार पर नगर का नाम वृन्दावन पड़ा है) से लाया गया और वह उस दृश्य से इतना प्रभावित हुआ कि उसने उस स्थान की पवित्रता को स्वीकार किया। इस घटना की यादगार में उसके मातहत राजाओं ने उसकी अनुमति और सहायता से गोविन्ददेव गोपीनाथ जुगलकिशोर और मदनमोहन के चार प्रसिद्ध मंदिरों का निर्माण किया।[१] हो सकता है कि मीराँ के गिरिधर की मूर्ति के दर्शन अकबर ने संवत् १६२७ में अपनी इसी व्रजयात्रा के समय किए हों।

संवत् १६२४ में अकबर ने चित्तौड़ के किले को जीता था। सम्भव है कि उस समय तानसेन उसके साथ हों अथवा विजय के उपरान्त तानसेन को भी उसने अपने पास बुला लिया हो और तब चित्तौड़गढ़ में स्थित मीराँबाई के मंदिर में उसने गिरिधर की मूर्ति के दर्शन किए हों और वहीं तानसेन ने पद गाया हो। अकबर की उदार धर्मप्रियता और गुण-ग्राहकता को देखते हुए यह घटना भी असंभव नहीं लगती।

मआसिरुल्उमरा के अनुसार अकबर ने अपने राज्य-काल के सातवें वर्ष अर्थात् सन् १५६२ या संवत् १६१६ में तानसेन को राजा रामचन्द्र बघेला के यहाँ से बुलाकर अपने दरबार में रखा।[२]

---

(१) गजेटियर ऑफ मथुरा, पृष्ठ १११

(२) समसामुद्दौला शाहनवाज खाँ (अब्दुर्रज्जाक) मआसिरुल्-उमरा, हिंदी भाग १ पृष्ठ १३० (अनु० बाबू ब्रजरत्नदास)

निरखि निहाल भयो छबि गिरधारी लाल
पद सुखजाल एक तन ही चढ़ायो है।[1]

इसके आधार पर इस भ्रम को जन्म मिला कि अकबर तानसेन को लेकर मीराँ की भक्ति और उनके सौंदर्य से प्रभावित होकर उनसे मिलने गया।[2] (श्री कुँवर कृष्ण का तो यह भी अनुमान है कि अकबर ने गुजरात में जाकर संवत् १६२१ में मीराँ के दर्शन किए, मेवाड़ में नहीं) और उनसे मिलने पर तानसेन ने उनकी प्रशंसा में एक पद गाकर उनका अथवा उनके गिरिधर का अभिनन्दन किया था। इतना ही नहीं 'मीराँ' के नाम से एक पद की रचना भी हो गई है जिसमें मीराँ द्वारा स्वयं अकबर के तानसेन सहित आकर उनसे मिलने की बात कहला दी गई है।[3] इसके साथ एक किंवदन्ती भी जुड़ गई कि "अकबर ने मीराँ को एक कीमती हार भेंट किया। मीराँ ने उसे अपने पास नहीं रखा। फिर भी राणा को जब इस घटना का पता लगा तो उसके हृदय की जलती आग और प्रज्वलित हो उठी।"[4]

भक्ति-रस-बोधिनी टीका की इन पंक्तियों को यदि ध्यान से देखा जाय तो स्पष्ट है कि अकबर गिरधारीलाल की छवि को देखकर निहाल हुआ था मीराँ को नहीं और उन्हीं गिरधारीलाल के रूप की निकाई से प्रभावित होकर उन्हें देखने गया था।

प्रियादास के पौत्र वैष्णवदास ने अपने 'भक्तमाल-दृष्टान्त' नामक ग्रंथ में इस बात को पूर्णत: स्पष्ट कर दिया है। 'रूप की निकाई अकबर भाई' पंक्ति के स्पष्टीकरण में वे कहते हैं—

"तब मिल बृजबासी नंद ग्वाल को करावन एक कन्हैया नाम है वाके रूप के ऊपर अनेक स्त्री बावरी भई हैं। उनके मत में भी कन्हैया सुन्दर है सो देखन को, अकबर पादशाह तानसेन समेत गिरधारी जी की छवि को मगन हो गया।"

"पदसुखजाल एक तनही चढ़ायो है" पंक्ति के स्पष्टीकरण में वैष्णवदास ने उस पद को ही उद्धृत कर दिया है जिसे तानसेन ने गिरिधर के सामने गाया था। इस पद में मीराँ के उस शृंगार का वर्णन है जिसके साथ में वे 'सुधाम प्रीति हार गूँथे हुए पावस की नदी के समान गिरिधर से मिल गईं'।[5]

---

(१) भक्तमाल, कलकत्ता, पृष्ठ ७२१
(२) 'मीरांबाई की शब्दावली और जीवन-चरित्र', पृष्ठ १
(३) —मीराँ –बृहद्-पद-संग्रह, श्रीमती पद्मावती शबनम, पृ० ११०
(४) मीरांबाई, डा० श्रि० महता, पृष्ठ ४६
(५) संपूर्ण पद, यही प्रबन्ध पृष्ठ ४६

वैष्णव प्रियादास के नाती थे। प्रज ही के भक्तों से उनका विशेष संपर्क था। प्रियादास के संपर्क में तो थे ही। मीरां के समय के प्रियादास की टीका के 'अकबर-तानसेन' वाले विवरण की अर्थ-सम्बन्धी अस्पष्टता उन्हें अवश्य खली होगी। इसीलिए उन्होंने उस प्रसंग को ठीक प्रकार से स्पष्ट किया जिससे बाद में भ्रम के कारण गलत अर्थ लगाकर लोग एक असत्य पर विश्वास न कर बैठें, पर उनके दृष्टांत का प्रचार न होने के कारण यह उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सका।

उक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि उस समय तक मीरां दिवंगत हो चुकी थीं और उनके कृष्ण-मूर्ति में मिल जाने की कथा को काफी प्रचार मिल गया था। साथ ही उनकी माधुर्य भाव की भक्ति और उनका गिरिधर प्रेम इतना प्रसिद्ध हो गया था कि अकबर को भी उस गिरिधर की मूर्ति देखने की लालसा हुई। अकबर की धार्मिक जिज्ञासा तथा उदार वृत्ति दीनइलाही मत के चलाने (संवत् १६३२ वि०) के समय से कुछ पूर्व बहुत प्रबल थी। मथुरा गजेटियर के अनुसार अकबर सं० १६२७ में वृन्दावन के गोसाइयों से मिलने गया था और वहां पर उसकी आंखें बन्द कर उसे निधुवन (वास्तविक वृन्दावन जिसके आधार पर नगर का नाम वृन्दावन पड़ा है) ले जाया गया और वह उस दृश्य से इतना प्रभावित हुआ कि उसने उस स्थान की पवित्रता को स्वीकार किया। इस घटना की यादगार में उसके मातहत राजाओं ने उसकी अनुमति और सहायता से गोविन्ददेव गोपीनाथ जुगलकिशोर और मदनमोहन के चार प्रसिद्ध मंदिरों का निर्माण किया।[1] हो सकता है कि मीरां के गिरिधर की मूर्ति के दर्शन अकबर ने संवत् १६२७ में अपनी इसी व्रजयात्रा के समय किए हों।

संवत् १६२४ में अकबर ने चित्तौड़ के किले को जीता था। सम्भव है कि उस समय तानसेन उसके साथ हो अथवा विजय के उपरान्त तानसेन को भी उसने अपने पास बुला लिया हो और तब चित्तौड़गढ़ में स्थित मीरांबाई के मंदिर में उसने गिरिधर की मूर्ति के दर्शन किए हों और वहीं तानसेन ने पद गाया हो। अकबर की उदार धर्मप्रियता और गुण-ग्राहकता को देखते हुए यह घटना भी असम्भव नहीं लगती।

मआसिरुल्उमरा के अनुसार अकबर ने अपने राज्य-काल के सातवें वर्ष अर्थात् सन् १५६२ या संवत् १६१९ में तानसेन को राजा रामचन्द्र बघेला के यहां से बुलाकर अपने दरबार में रखा।[2]

---

(१) गजेटियर ऑफ मथुरा, पृष्ठ १८१

(२) समसामुद्दौला शाहनवाज खां (अमुर्रज्जाक) मआसिरुल्-उमरा, हिंदी भाग १, पृष्ठ ११० (अनु० बाबू व्रजरत्नदास)

निरखि निहाल भयो छवि गिरधारी लाल
पद सुखवास एक तन ही चढ़ायो है ।[१]

इसके आधार पर इस भ्रम को जन्म मिला कि अकबर तानसेन को लेकर मीरां की भक्ति और उनके सौंदर्य से प्रभावित होकर उनसे मिलने गया ।[२] (श्री कुँवर कृष्ण का तो यह भी अनुमान है कि अकबर ने गुजरात में जाकर संवत् १६२६ में मीरां के दर्शन किए, मेवाड़ में नहीं) और उनसे मिलने पर तानसेन ने उनकी प्रशंसा में एक पद गाकर उनका अथवा उनके गिरिधर का अभिनन्दन किया था। इतना ही नहीं 'मीरां' के नाम से एक पद की रचना भी हो गई है, जिसमें मीरां द्वारा स्वयं अकबर के तानसेन सहित आकर उनसे मिलने की बात कहला दी गई है ।[३] इसके साथ एक किंवदन्ती भी जुड़ गई कि 'अकबर ने मीरां को एक कीमती हार भेंट किया । मीरां ने उसे अपने पास नहीं रखा । फिर भी राणा को जब इस घटना का पता लगा तो उसके हृदय की जलती आग और प्रज्वलित हो उठी ।[४]

भक्ति-रस-बोधिनी टीका की इन पंक्तियों को यदि ध्यान से देखा जाय तो स्पष्ट है कि अकबर गिरधारीलाल की छवि को देखकर निहाल हुआ था मीरां को नहीं और उन्हीं गिरधारीलाल के रूप की निकाई से प्रभावित होकर उन्हें देखने गया था ।

प्रियादास के पौत्र वैष्णवदास ने अपने 'भक्तमाल-दृष्टान्त' नामक ग्रंथ में इस बात को पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है । 'रूप की निकाई अकबर भाई' पंक्ति के स्पष्टीकरण में वे कहते हैं—

"तब मिश्र वृषवासी नंद ग्वाल को फरजन्द एक कन्हैया नाम है जाके रूप के ऊपर अनेक स्त्री बावरी भई हैं । उनके मत में भी कन्हैया सुन्दर है सो देखन को अकबर पातसाह तानसेन समेत गिरधारी जी की छवि को मगन हो गया ।"

"पदसुखवास एक तबही चढ़ायो है" पंक्ति के स्पष्टीकरण में वैष्णवदास ने उस पद को ही उद्धृत कर दिया है जिसे तानसेन ने गिरिधर के सामने गाया था । इस पद में मीरां के उस शृंगार का वर्णन है जिसके साथ में वे 'मुकाम प्रीति हार गूँथे हुए पावस की नदी के समान गिरिधर से मिल गईं' ।[५]

---

(१) भक्तमाल, रूपकला, पृष्ठ ७२१
(२) 'मीरांबाई की शब्दावली और जीवन-चरित्र', पृष्ठ १
(३) —मीरां —बृहद्-पद-संग्रह, श्रीमती सबनम, पृ० ११०
(४) मीरांबाई, भा० मि० मेहता, पृष्ठ ४६
(५) संपूर्ण पद, यही प्रबन्ध पृष्ठ ४६

वैष्णव प्रियादास के नाती थे। व्रज ही के भक्तों से उनका विशेष संपर्क था। प्रियादास के संपर्क में तो वे थे ही। मीरां के समय के प्रियादास की टीका के 'अकबर-तानसेन' वाले विवरण की अर्थ-सम्बन्धी अस्पष्टता उन्हें अवश्य खली होगी। इसीलिए उन्होंने उस प्रसंग को ठीक प्रकार से स्पष्ट किया जिससे बाद में भ्रम के कारण गलत अर्थ लगाकर लोग एक असत्य पर विश्वास न कर बैठें पर उनके दृष्टांत का प्रचार न होने के कारण यह उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सका।

उक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि उस समय तक मीरां दिव गत हो चुकी थीं और उनके कृष्ण-मूर्ति में मिल जाने की कथा को काफी प्रचार मिल गया था। साथ ही उनकी माधुर्य भाव की भक्ति और उनका गिरिधर प्रेम इतना प्रसिद्ध हो गया था कि अकबर को भी उस गिरिधर की मूर्ति देखने की लालसा हुई। अकबर की धार्मिक जिज्ञासा तथा उदार वृत्ति दीनइलाही मत के चलाने (संवत् १६१२ वि०) के समय से कुछ पूर्व बहुत प्रबल थी। मथुरा गजेटियर के अनुसार अकबर सं० १६२७ में वृन्दावन के गोसाइयों से मिलने गया था और वहाँ पर उसकी आँखें बन्द कर उसे निधुवन (वास्तविक वृन्दावन जिसके आधार पर नगर का नाम वृन्दावन पड़ा है) ले जाया गया और वह उस दृश्य से इतना प्रभावित हुआ कि उसने उस स्थान की पवित्रता को स्वीकार किया। इस घटना की यादगार में उसके मातहत राजाओं ने उसकी अनुमति और सहायता से गोविन्ददेव गोपीनाथ जुगलकिशोर और मदनमोहन के चार प्रसिद्ध मंदिरों का निर्माण किया।[1] हो सकता है कि मीरां के गिरिधर की मूर्ति के दर्शन अकबर ने संवत् १६२७ में अपनी इसी व्रजयात्रा के समय किए हों।

संवत् १६२४ में अकबर ने चित्तौड़ के किले को जीता था। सम्भव है कि उस समय तानसेन उसके साथ हों अथवा विजय के उपरान्त तानसेन को भी उसने अपने पास बुला लिया हो और तब चित्तौड़गढ़ में स्थित मीरांबाई के मंदिर में उसने गिरिधर की मूर्ति के दर्शन किए हों और वहीं तानसेन ने पद गाया हो। अकबर की उदार धर्मप्रियता और गुण-ग्राहकता को देखते हुए यह घटना भी असंभव नहीं लगती।

मआसिरुल्उमरा के अनुसार अकबर ने अपने राज्य-काल के सातवें वर्ष अर्थात् सन् १५६२ या संवत् १६१९ में तानसेन को राजा रामचन्द्र बघेला के यहाँ से बुलाकर अपने दरबार में रखा।[2]

---

(१) गजेटियर ऑफ मथुरा, पृष्ठ १११

(२) शमसामुद्दौला शाहनवाज खाँ (अब्दुर्रज्जाक) मआसिरुल्-उमरा, हिंदी भाग १, पृष्ठ ११० (अनु० बाबू व्रजरत्नदास)

अबुल्फ़ज़ल ने अकबरी-दरबार में तानसेन के प्रवेश की घटना का वर्णन करते हुए कहा है कि 'इस वर्ष (सन् १५६२) तानसेन ने उपस्थित होकर शहंशाह को सलाम बजाया और स्वयं भी आदरान्वित हुए।'[1] तानसेन की मृत्यु सं० १६४६ (२६ अप्रैल १५८९ ई०) में हुई थी।[2] अतः संवत् १६२८ या १६२७ में तानसेन के साथ गिरिधर की मूर्ति के दर्शन को जाने की बात असंभव नहीं हो सकती।

२५२ वार्ता का विश्वास किया जाय तो अपने जीवन की संध्या में तानसेन की विट्ठल तथा उनके अनुयायियों से घनिष्ठ आत्मीयता का होना सिद्ध होता है। उसके अनुसार उन्होंने 'बादशाह के इहां सूं आयवो जायवो छोड़ दयो और श्री गुसाईं के पास रह आए'[3] इस बात से तानसेन और अकबर के संपर्क के आरंभिक काल में ही उक्त घटना के घटने की संभावना दृढ़ हो जाती है। कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि यह घटना हर हालत में सं० १६१६ और संवत् १६४६ के बीच ही घटी थी और मीराँ उस समय इस लोक में नहीं थीं।

तुलसीदास और मीराँबाई

गोस्वामी तुलसीदास के पास मीराँ द्वारा पत्र भेजने का सर्व प्रथम उल्लेख 'वेणीमाधवदास' के 'मूल गुसाईं-चरित'[4] में मिलता है—

सोरह सै सोरह लगे कामद गिरि ढिग वास।
सुचि एकान्त प्रदेस महँ आये सूर सुदास।।
दयी पाति गए जब सूर कवी। उर में पधराय के स्याम छवी।।
तब आयी मेवाड़ ते विप्र नाम सुखपाल।
मीराँबाई पत्रिका लायो प्रेम प्रवाल ।। ३१ ।।
पढ़ि पाती उत्तर लिखे गीत कवित्त बनाय।
सब तजि हरि भजिबो भलो कह दिय विप्र पठाय ।। ३२ ।।

इस कथनका तात्पर्य यह है कि संवत् १६१६ में सूरदास तुलसीदास से मिलने

---

(१) अकबरनामा, भाग १ पृष्ठ २७९, २८०
(२) वही, भाग ३ पृष्ठ ८१६
(३) २५२ वैष्णवन की वार्ता पृष्ठ ४७६ ४७७ —गुजराती, अहमदाबाद का संस्करण, पृष्ठ १०७-१०८
(४) मूल गोसाईं-चरित बे० मा० दास गीता प्रेस गोरखपुर, द्वितीय संस्करण पृष्ठ १५

गए। उनके जाते ही अर्थात् सं० १६१६ में या सं० १६१७ के प्रारम्भ में मेवाड़ से मीरां का पत्र लेकर सुखपाल नामक कोई विप्र तुलसीदास के पास पहुँचा और उन्होंने "गीत और कविता" में 'सब तज हरि भज' उपदेश देकर विदा किया। बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित मीरांबाई की शब्दावली और जीवन-चरित्र के सम्पादक और लेखक ने सुखपाल द्वारा प्रेषित पत्र में लिखे गए पद को भी कहीं से खोजकर उद्धृत कर दिया है, जो इस प्रकार है—

श्री तुलसी सुख-निधान दुख हरन गुसाईं।
बारहिं बार प्रनाम करूँ अब हरो सोक समुदाई॥
घर के स्वजन हमारे जेते सबन उपाधि बढ़ाई।
साधु संग अरु भजन करत मोहिं देत कलेस महाई॥
बालपने में मीरां कीन्ही गिरिधरलाल मिताई।
सो तो अब छूटत नहिं क्यों हूँ लागि लगन बरियाई॥
मेरे मात पिता के सम हो हरि भक्तन सुखदाई।
हमको कहा उचित करिबो है, सो लिखियो समझाई॥[1]

मूल गुसाईं-चरित्र के अनुसार इस पत्र का उत्तर तुलसी ने गीत और कविता में दिया था। पद और सवैया इस रूप में उद्धृत किए जाते हैं—

पद—जाके प्रिय न राम बदेही।
तजिए ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही॥
तज्या पिता प्रह्लाद,विभीषण बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्या कंत ब्रज बनिता भये सब मंगलकारी॥
नातो नेह राम सों मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहाँ आँख जो फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासों होय सनेह राम पद एतो मतो हमारो॥

सवैया—सो जननी सो पिता सोइ भ्रात सो भामिनि सो सुत सो हित मेरो।
सोई सगो सो सखा सोई सेवक सो गुरु सो सुर साहिब चेरो॥
सो तुलसी प्रिय प्रान समान कहाँ लौं बनाइ कहौं बहुतेरो।
जो तजि गेह को देह को नेह सनेह सों राम का होय सबेरो॥

---

(१) पृष्ठ ४—इस पद का एक और पाठ भी मिलता है जिसकी प्रथम पंक्ति है, "स्वस्ति श्री तुलसी कुलभूषण दूषन हरन गोसाईं"। इसमें उपरिलिखित पद की ५ वीं और ६ वीं पंक्तियाँ नहीं हैं, शेष पद उसी प्रकार है।

उक्त पद और सवैया गोस्वामी तुलसीदास की ही रचनाएँ हैं।[1] परन्तु मीराँ की रचनाओं के किसी भी संग्रह में मीराँ द्वारा लिखित कहे जानेवाला पत्र उनकी कृति के रूप में संगृहीत नहीं है। केवल जीवनियों और संग्रहों की भूमिकाओं में इसका उल्लेख मिलता है। प्रियादास नाभादास वैष्णवदास और चन्द्रदास ने अपने समय में प्रचलित मीराँ-सम्बन्धी जनश्रुतियों को लिपिबद्ध किया है। उन्होंने मीराँ के वृन्दावनगमन द्वारकागमन जीवगोस्वामी आदि से मिलने के प्रसंगों को लिखा है। तब,विशेषकर तुलसी के पास एक दूत भेजकर उनसे पत्र द्वारा राय लेने की घटना के अनुल्लेख से यही सिद्ध होता है कि शायद तब तक इस किंवदन्ती को जन्म ही नहीं मिला था और अगर यह प्रचलित हो गई थी तो ये सन्त इसकी सत्यता में विश्वास ही नहीं करते थे।

जिस ग्रंथ में इस पत्र-लेखन की घटना का उल्लेख है उसकी अप्रामाणिकता निश्चित रूप से सिद्ध हो चुकी है।[2] इसके अतिरिक्त विक्रमीय २० वीं शताब्दी के पूर्व के किसी ग्रंथ में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

तुलसी की मृत्यु के एक वर्ष पश्चात् संवत् १६८१ में भगवानदासजन के पुत्र श्रीकृष्णदासे द्वारा लिखित 'गौतम चंद्रिका' में दिए तुलसी-संबन्धी वृतान्त से प्रस्तुत प्रसंग पर विशेष प्रकाश पड़ता है। उसमें कहा गया है—

भरत उजेनीवासहू आए। सुपद सूर मीरां कृत गाए॥
सुनि तुलसीवानी अनुरागी। सुपद कृष्न पद गावन लागी॥[3]

गौतम चन्द्रिका में तुलसी के संपर्क में आनेवाले अत्यन्त साधारण व्यक्तियों का भी उल्लेख करने वाले और तुलसी को निकट से जानने वाले श्रीकृष्णदास का मीराँ का तुलसी के पास पत्र भेजकर उनसे राय लेने का उल्लेख न करके उनके पद गाए जाने का उल्लेख करना अकारण नहीं है। वस्तुतः न सूर तुलसी के पास गए थे और न मीराँ ने पत्र भेजकर निर्देश माँगा था। तुलसी के जीवन-काल में ही इन दोनों के पद इतने प्रसिद्ध हो गए थे कि तुलसी के सामने गाए जाते थे और कदाचित् तुलसी को उनसे प्रेरणा मिलती थी। इसी सत्य को अविकृत रूप में गौतमचंद्रिका में कह दिया गया है। मूल गोसाईं-चरित्र के लेखकने इतने-से आधार पर काल्पनिक

(१) तुलसी ग्रंथावली, दूसरा खण्ड (ना० प्रा० सभा) विनय पत्रिका, पृष्ठ ५५१ कवितावली, पृष्ठ २११
(२) तुलसीदास डा० माताप्रसाद गुप्त पृष्ठ १४०
(३) गौतम चंद्रिका में तुलसीदास का वृतांत, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—ना० प्र० पत्रिका वर्ष ६०, अंक १ से पुनर्मुद्रित, पृष्ठ १०

घटनाओं का प्रासाद खड़ा कर दिया है।

नरसी मेहता और मीराँ के बीच पत्र-व्यवहार :

सन् १९५५ में समाज विकास माला के अन्तर्गत एक पुस्तक प्रकाशित हुई 'नरसी मेहता'। उसके लेखक को कहीं से पता चला कि नरसी मेहता और मीराँबाई के बीच पत्र-व्यवहार हुआ था। उन्होंने इस किंवदन्ती को अंकित कर दिया है।

प्रस्तुत पुस्तक महत्वपूर्ण नहीं है। बालकों और कम पढ़े-लिखे प्रौढ़ों को नरसी के जीवन का परिचय कराने के उद्देश्य से लिखी गई है। फिर भी जिस घटना का उसमें उल्लेख हुआ है वह प्रस्तुत विषय से महत्वपूर्ण संबन्ध रखती है। उससे एक नई किंवदन्ती की परंपरा को जन्म मिल रहा है भविष्य में जिसका मीराँ के जीवन से सम्बन्धित अध्ययन पर अनिवार्य प्रभाव पड़ेगा। अतः इस घटना की मीमांसा यहाँ अनुपेक्षणीय ही नहीं आवश्यक भी है।

"नरसी मेहता" के लेखक का कथन है कि "कहा जाता है कि जब मीरांबाई उदयपुर में अपने घरवालों के सताने से तंग आ गई और घर छोड़कर वृन्दावन में जाकर भजन करने का विचार करने लगीं तो उन्होंने दो पत्र लिखे। एक संत तुलसीदास को और दूसरा भक्त नरसी को। उन्होंने उनसे पूछा कि क्या करें। तुलसी ने जैसा उत्तर दिया उसी तरह का उत्तर नरसी ने भी लिखकर भेजा। उन्होंने लिखा था—

> "नारायणनुं नामज लेतां वारे तेने तजिए रे।
> मनसा वाचा कर्मणा करीने लक्ष्मी वरने भजिए रे।
> कुलने तजिये कुटुम्बने तजिये तजिये माने बाप रे।
> भगिनी सुत दाराने तजिये जम तजे कंचुकी साँप रे।
> प्रथम पिता प्रह्लादे तजियो नव तजियुं हरिनुं नाम रे।
> भरत शत्रुघ्ने तजी जनेता नव तजिया श्री राम रे।
> ऋषि पत्नी श्रीहरिने काजे तजिया निज भरथार रे।
> तेमां तेनुं कंई ये नव्युं, पामी पदारथ चार रे।
> व्रजवनिता विट्ठलने काजे सर्व तजी वन चाली रे।
> भणे नरसैयो वृन्दावनमां मोहन साथ महाली रे।"[१]

(नारायण का नाम लेनेसे रोकनेवाले का त्याग करना चाहिए और मन वचन तथा कर्म से लक्ष्मीपति का भजन करना चाहिये। कुल कुटुम्ब माता-पिता

(१) नरसी मेहता मोहनलाल पृष्ठ १६ १७

बहन बेटा पत्नी को (यदि वे रोकते हों तो) इस प्रकार छोड़ देना चाहिए जिस प्रकार साँप केंचुली उतार कर रख देता है। पहले के समय में प्रह्लाद ने अपने पिता को छोड़ दिया परन्तु हरि का नाम लेना न छोड़ा। भरत और शत्रुघ्न ने अपनी माता का त्याग किया पर राम को न छोड़ा। ऋषि-पत्नियों ने श्रीहरि के कारण अपने पतियों को छोड़ दिया इससे उनका कुछ न बिगड़ा और वे चारों पदार्थ (धर्म अर्थ काम मोक्ष) पा गईं। व्रजवनिताएँ (गोपियाँ) भी विट्ठल के कारण वन को दौड़ गईं। नरसी कहते हैं कि इस प्रकार वे मोहन के साथ जीवन का आनन्द पा सकीं।)

जहाँ तक उद्धृत पद का संबन्ध है, यह नरसी की रचनाओं में मिलता है।[1]

विक्रमीय १७वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही नरसी मेहता के जीवन की अनेक घटनाओं को कवि विष्णुदास ने लिपिबद्ध कर दिया था। उसके पश्चात् कई गुजराती कवियों ने नरसी का जीवन-चरित्र काव्य में लिखा और उन्होंने नरसी द्वारा किए गए मीराँ-संबंधी उल्लेख को भी उनमें सचेतनतापूर्वक स्थान दिया, मगर उनमें से किसी ने इस घटना का उल्लेख नहीं किया।[2]

ऊपर के पद को यदि ध्यान से देखा जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि यह किसी नारी को संबोधित करके नहीं लिखा गया। नरसीजी कहते हैं, 'कुल कुटुंब माता-पिता बहन बेटा और पत्नी को इस प्रकार छोड़ देना चाहिए जैसे साँप केंचुली उतार कर रख देता है।' मीराँ के पुत्र नहीं था। वे स्वयं पत्नी थीं उन्हें पत्नी के त्यागने का नहीं पति के त्यागने का संदेश देना चाहिए था।

वस्तुतः तुलसी-मीराँ-पत्र-व्यवहार की काल्पनिक घटना के प्रसिद्ध हो जाने पर किसी मौलिकता-प्रेमी कल्पनाशील शोधशास्त्री या नरसी-भक्त ने नरसी के उक्त पद पर, सरलता से बन जानेवाली घटना को जन्म देकर प्रचारित कर दिया। संभव है कि नरसिंह मेहता प्रेमानंद और वल्लभ के नाम से ग्रंथ के ग्रंथ लिखकर प्रकाशित करनेवालों[3] में से किसी को इस कथा के जन्म देने का श्रेय हो।

---

(१) नरसी मेहता कृत काव्य-संग्रह (संपादक – इ० स० देसाई) भक्तिज्ञानना पदो, पृष्ठ ४१२

(२) विष्णुदास नागरी ने संवत् १७०८ में और प्रेमानन्द ने संवत् १७४० में 'मामेरु' की रचना की थी।

(३) गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर (नोट औन द बड़ोदा फोरजरीज) के० एम० मुंशी, पृष्ठ २७६-७७

मीराँ की अंतरंग सेविकाएँ और सखियाँ :

मीराँ की सेवा करने वाली कई सखियों के उल्लेख मिलते हैं। कहा जाता है कि चंपा और चमेली को राणा ने मीराँ का ध्यान (उनकी गतिविधि पर नियमन) रखने के लिए रखा था पर वे बाद में मीराँ की भक्त हो गईं।[1] नागरीदास ने भी एक इसी प्रकार की सखी सेविका का उल्लेख किया है—

"तब एक समें राना ने अपने अंतहपुर की एक स्त्री कों पठाई कह्यो कि आधी राति उपरांत जहां वे होय तहां चली जाई जाइये काहू की हटकी मत रहिये सोवानें जैसें ही कियो मीराँबाई अटारी पर सोई सोई जाग्रत ही सी हैं चन्द्रमा कों देषि देषि हरि प्रीतम के अंतराय को विरह सह सहत हीं उनकी भावना करि करि परी उदास सेत ही इतनें ही ये जाय ठाडी भई, ताकूं मीराँबाई कह्यो उनकेके बैठिकें हमारो दुप सुनों या समैं हमकूं तुम बड़े श्रोता मिले सो जद्यपि यह बिजाती ही परंतु ज्यों कोऊ अति अधीर अनुरागी होय ताकूं बिजाती सजाती को ध्यान नाही रहे वहि अपने चित की कहें सो कहें ही कहें यातें वाके आगें वाही मेर एक पद बनाय कें गावन लगी सो पद सुनि इनकी अवस्था देषि यह आई हुती सो परम अनुराग में मूर्छित हुवें गयी इनकी ही निकटवर्ती परम वैष्णव भई, फिरि राना के अंतहपुर में न गई—"[2]

मिथुला : मीराँ से संबंधित जिस सखी के नाम की विशेष चर्चा मिलती है, वह मिथुला है। शिवकर्ण ने माहेरो में कहा है कि 'मीराँ-मिथुला-संवाद के रूप में जो कथा बहुत बार कही जा चुकी है मैं उसे यहाँ नहीं कह रहा।

रतनावाली हस्त माहरो की कथा मीराँ-मिथुला संवाद में है। रूपीजा के मीरादास ने भी इन्हीं के संवाद स्वरूप अपना माहेरो लिखा। मीराँ-छाप से प्राप्त कई पदों में भी मिथुला का उल्लेख विश्वस्त सखी के रूप में किया गया है। कुछ पद तो मीराँ-मिथुला-संवाद के रूप में भी मिलते हैं। यद्यपि इन पदों की अप्रामाणिकता संदिग्ध नहीं है, तो भी ये पद और माहेरो इस संबंध में प्राचीन तथा व्यापक जनश्रुति के वर्तमान होने की ओर संकेत करते हैं।

ललिता : पर, मीराँ की जिस विश्वस्त और भक्त सखी का निश्चयात्मक उल्लेख मिलता है, वह ललिता है। यह ललिता कौन थी? इस प्रश्न के अनेक

---

१ मीराँबाई, दी लाइफ एंड टाइम्स, एच० गोएट्ज़, पृष्ठ ६७
जर्नल आव गुजरात रिसर्च सोसाइटी, जिल्द १८ सं० २, अप्रैल, १९५६ से पुनर्मुद्रित

२ पद-प्रसंग-माला, मीराँ संबंधी प्रसंग ५, पृष्ठ ११९

उत्तर कल्पना से मढ़ लिए गए हैं। इस संबंध में सबसे प्राचीन उल्लेख ध्रुवदास का है और उन्होंने केवल इतना ही कहा है कि मीराँ 'ललिता' को भी बुलाकर लाई थी। उससे मीराँ को अत्यन्त प्रेम था। वे दोनों ब्रज में साथ-साथ घूमी थीं।[1]

हरिदास-साहित्य के अध्येता डा० गोपालदत्त शर्मा ने लेखक को बताया कि मीराँ के प्रसंग में इस ललिता का अर्थ हरिदास है, क्योंकि वे ललिता सखी के अवतार माने जाते थे। ध्रुवदास ने भी उन के लिए 'ललिता' का प्रयोग किया है।[2] पर, मीराँ-संबन्धी प्रस्तुत प्रसंग में ललिता से तात्पर्य हरिदास से नहीं है।

ध्रुवदासजी का कथन है—*ललितहूँ लाई बोलि कै* (*ललिता हू लई बोलि कें* पाठ भी मिलता है) में इस 'लाई' से व्यंजना इसी बात की होती है कि मीराँ स्वयं तो आई ही थीं ललिता को भी बुलाकर लाई थीं। हरिदासजी के विषय में प्रसिद्ध है कि वे वृन्दावन में आने के बाद उसे छोड़कर फिर कहीं नहीं गए और यह भी निर्विवाद है कि हरिदास को मीराँ ब्रज में नहीं लाई थीं। वे स्वयं संवत् १५६४ वि० में वृन्दावन आए थे।[3]

श्री हितहरिवंशजी के तृतीय पुत्र श्री हितगोपीनाथजी के परम कृपापात्र शिष्य श्री ध्रुवदासजी मीराँबाई का हरिदास के संपर्क का उल्लेख करें और अपने संप्रदाय के 'आदि आचार्य' और 'अनन्य रस रसिक' हित हरिवंश के संपर्क के विषय में मौन रहें यह बात स्वाभाविक नहीं प्रतीत होती और विशेषकर उस समय जबकि मीराँबाई के हितहरिवंश-संपर्क की बात संप्रदाय के लिए सम्मान की थी और अन्य संप्रदाय के लोग भी इसका उल्लेख कर चुके थे। वस्तुतः ध्रुवदास द्वारा उल्लिखित मीराँ-द्वारा बुलाई गई 'ललिता' मीराँ की सखी 'ललिता' थी हरिदास नहीं।

ललिता मीराँ की सखी और दासी चित्तौड़ में बनी या मेड़ता में इस बात का निर्णय अनुमान के आधार पर ही करना होगा क्योंकि सीधे उल्लेख इस विषय में नहीं मिलते। मीराँ का सुखद चित्तौड़-वास थोड़े ही काल का था जहाँ उनका काफ़ी समय संघर्ष में बीता था। अतः उस काल में उनकी सहचरी उनकी अंतरंग व्यथा को समझने वाली संगिनी राजरोष से संतप्त और लौकिक दृष्टि से दुर्भाग्य

(१) श्री बयालीस लीला, भक्त नामावलि लीला, श्री हित ध्रुवदास, पृष्ठ १४ १५

(२) सर्वोपर राधा कुंवरि प्रिय प्रानन के प्रान
ललितादिक सेवत तिनहिं अति प्रवीन रस जान।
—श्री बयालीस लीला ध्रुवदास पृष्ठ ११

(३) श्री केलिमाला, श्री स्वामीजी महाराज का जीवन-चरित्र पृष्ठ १५

पूर्व जीवन के साथ अपने भाग्य की डोर को बाँध देनेवाली उनकी सखी उनके विवाह के बाद साथ होनेवाली राणा के राज-परिवार की कोई दासी होगी इस बात की सभा वना बहुत कम है। विवाह होने पर प्रायः माँ-बाप कन्या के साथ उसकी कोई ऐसी प्रिय और व्यवहार कुशल तथा चतुर दासी को भेजते हैं जिसपर किसी भी विषम परिस्थिति में विश्वास किया जा सके और जिसके कारण पतिगृह के अपरिचित वातावरण में उसे किसी प्रकार का एकाकीपन न लगे और उसके संकोच की सुरक्षा होते हुए भी उसके मन की बातें अभिव्यक्ति पाती रहें और होती रहें। राज परिवारों में यह और भी आवश्यक था क्योंकि अनेक रानियों की स्थिति और राजनीतिक लालसाओं के संघर्ष के कारण अनेक बार रनिवास कुचक्रों के केन्द्र बन जाते थे। इसलिए यह मानना अनुचित नहीं होगा कि ललिता उनके यहाँ बचपन से रहनेवाली उनकी विश्वस्त दासी थी और मेड़ते से ही मीराँ के साथ चित्तौड़ गई थी।

यह ललिता दासी भक्ति की प्रबल निर्मल कल्लोलिनी मीराँ के सहवास में स्वयं भी भक्ति के रस में भीगकर 'परम वैष्णव' बन गयी थी और मीराँ के समस्त कार्यों में सहायता देती थी। मीराँ के पदों के संग्रह का कार्य भी इसी के द्वारा हुआ था। भट्टजी द्वारा प्रो० ललिताप्रसाद सुकुल को ललिता के सम्बन्ध में जो ज्ञान मौखिक रूप से उपलब्ध हुआ उसके अनुसार ललिता वृन्दावन के आने के पहले रुग्ण थी। वृन्दावन पहुँचते ही उसे क्षय के रोग से ही मुक्ति नहीं मिल गई वरन् उसकी काया कंचन हो गई। उसने स्वयं कहा है—

> बोल जनम ना म्हारो कोई स्याम तुम्हारी माया
> वृन्दावनरो दरसण पायाँ कचन हो गई काया।[1]

इस कथन का कोई पुष्ट आधार नहीं है। अतएव इसकी विश्वसनीयता अत्यन्त सीमित है। प्रो० सुकुल के अनुसार कहा जाता है कि 'रणछोड़जी के मंदिर में मीराँ ने समाधिस्थ होकर अपना शरीर छोड़ा था,। उसकी पहली ही रात में नव विवाहिता का शृंगार करके वह मीराँ के सामने उपस्थित हुई थी और उन्हें अन्तिम प्रणाम करके समुद्र की लहरों में समा गई।'[2] नागरीदास के उल्लेख से प्रकट है कि उनकी 'चतुर सखी' उनके साथ उनके जीवन के अन्तिम दिन तक रही थी।[3] इससे मीराँ के जीवन-काल में ही ललिता के प्राणान्त की इस त्यागमयी रोमांटिक घटना के सत्यासत्य की परीक्षा हो जाती है।

---

(१) मीराँ स्मृति ग्रंथ पदावली परिचय, पृष्ठ च, छ

(२) वही पृष्ठ छ

(३) नागर-समुच्चय पद-प्रसंगमाला, नागरीदास मीराँ-सबंधी प्रसंग ५

ललिता-छाप का निम्नांकित पद लेखक को मिला है—

> हरिया (हरियो) मन की चोरि,
> प्रभुजी हरियो मन की चोरि।
> मिलनी तारी चमका तारी तोरी पाप की डोर।
> आई प्रभुजी सरन तिहारे भगतबछल रनछोर,
> ज्ञान भगति कुछ आवत नाहीं प्रभुजी माखन चोर,
> ललिता दासी भगत चरन की लगती दीनी छोड़।

मीरां-छाप के पदों में एक पद ऐसा उपलब्ध है जिसमें 'ललिता दासी' शब्द आया है। इसमें 'मीरां के प्रभु गिरिधर नागर' को पद की छाप न मानें और 'मीरां के प्रभु' को 'गिरिधर नागर' का विशेषण मानकर अर्थ इस प्रकार लगाएँ 'हे मीरां-प्रभु गिरिधर नागर' तो यह पद ललिता नामक दासी का ही रचा हुआ सिद्ध होगा। हो सकता है कि ये ललिता दासी मीरां की सखी और ललिता ही हो क्योंकि ये 'मीरां के प्रभु गिरिधर नागर' के चरणों में ध्यान लगाए हैं।

पद इस प्रकार है —"आयो जी मोरी नासिका में घनस्याम
पिछवारे तें हेरा दीन्हीं ललिता दासी नाम
पैंयां परत हूं बिनति करति हूं नाहिन मान-गुमान
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर, चरनन में नित ध्यान।

वृहद मीरां-पद-संग्रह में इसी का एक रूपान्तर है। श्रीमती पदमा ने उसे अप्रामाणिक नहीं, मीरां-कृत माना है।

'ललिता' नाम 'भगत चरन की दासी' और भक्तबछल रनछोर की सरन' आदि शब्दों से लगता है कि मीरां के साथ द्वारका में रहने वाली मीरां की दासी-सखी ललिता ही थी।

प्रो॰ ललिताप्रसाद सुकुल को संदेह है कि डाकोर की प्रति में 'दासी मीरां लाल गिरधर' छाप के जो जोड़े पद हैं वे मीरां-कृत न होकर ललिता कृत हैं, क्योंकि इन पदों की सामग्री प्राय: मीरां के व्यक्तित्व की ओर संकेत करती है।[1] डाकोर की प्रति में ऐसे तीन पद हैं (संख्या २६, ६७ व ६६)। इस संदेह को निश्चय की कोटि तक ले आनेवाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। पदों में ललिता की छाप नहीं है 'मीरां-दासी' का अर्थ 'ललिता' हो सकता है पर मीरां ने स्वयं अपने लिए अनेक स्थानों पर 'मीरां दासी' या 'दासी मीरां' का प्रयोग किया है अत: 'ललिता' अर्थ लगाकर कोई निष्कर्ष निकाल लेना उचित नहीं होगा। यह बात भी अनुमा

(१) मीरां स्मृति ग्रंथ, पदावली परिचय

माणित है कि मीरां के पदों में 'माई' संबोधन ललिता के लिए है।

कहा जाता है ललिता दासी मीरां के पद लिखती चलती थी। उनके हाथ की लिखी पोथी का क्या हुआ कोई नहीं जानता। कुछ विद्वानों का कथन है कि द्वारका के रणछोड़जी के मंदिर में मीरां के पदों की हस्तलिखित प्रति मौजूद है। कम-से-कम इस समय मीरां के पदों की कोई हस्तलिखित पोथी द्वारका के रणछोड़जी के मंदिर में नहीं है। डाकोर के रणछोड़जी के मंदिर में भी इस प्रकार की कोई पोथी नहीं है।

मीरां की मृत्यु कहाँ कैसे और कब ?

मीरां की मृत्यु कहाँ और कैसे हुई, इस विषय में प्राचीन स्रोतों के सभी साक्ष्यों का एक ही उत्तर है —'मीरां द्वारिका में रणछोड़जी के मंदिर में मूर्ति में सशरीर समा गई।

नागरीदास[1] और प्रियादास[2] जैसे सगुणवादी वैष्णव ही नहीं निर्गुण वादी संतों में भी उनके 'पत्थर की प्रतिमा में समा जाने की बात प्रचलित है।'[3]

लोक-गीतों का भी साक्ष्य है कि 'जाय द्वारका बर-बर ढूँढ़ी मंदिर सूँ न ढली।'[4]

भक्तों के अलौकिकता के प्रति सहज विश्वासी मन में मीरां के रणछोड़जी की मूर्ति में सशरीर समा जाने की बात आश्चर्य नहीं श्रद्धा उत्पन्न करती है। तर्कातीत श्रद्धा-विश्वास का यह भाव-लोक ही और है। संसार के कार्य-कारण के ज्ञात नियम वहाँ नहीं लगते प्रभु-इच्छा से काम चलता है परन्तु इस वैज्ञानिक युग की तर्कमयी बुद्धि इस बात को इसी रूप में स्वीकार नहीं कर सकती।

कहा जाता है कि मीरां सबेरे उठकर स्नान करके मंदिर में कीर्तन करती थीं। अन्तिम दिन भी वे उठीं—और उसके पश्चात् पता यह लगा कि मीरां सशरीर परलोक सिधार गईं। भक्तों ने कहा 'रणछोड़जी ने उन्हें अपने में समा लिया।

इस घटना की लौकिक और तर्कसंगत व्याख्या से यह संकेत मिलता है कि मीरां मंदिर में पूजा के लिए गईं और वहाँ से कहीं अदृश्य हो गईं, बाद में उनका कहीं पता नहीं लगा।

---

(१) नागर समुच्चय, पद प्रसंग माला पृष्ठ १६५

(२) भक्तिरस बोधिनी टीका श्री भक्तमाल रूपकला, पृष्ठ ७१२

(३) प्रेम साहब परीदरास पृष्ठ २७०

(४) शोध पत्रिका, भाग १ अंक ४, पृष्ठ १७७

ललिता-छाप का निम्नांकित पद लेखक को मिला है—

हरियो (हरियो) मन की चोरि,
प्रभुजी हरियो मन की चोरि।
मिलनी तारी गनका तारी तोरी पाप की डोर।
आई प्रभुजी सरन तिहारे भगतबछल रनछोर,
ज्ञान-भगति कुछ जानत नाही प्रभुजी मालम थोर,
ललिता दासी भगत चरन की लगती दीनी छोड़।

मीराँ-छाप के पदों में एक पद ऐसा उपलब्ध है जिसमें 'ललिता दासी' शब्द आया है। इसमें 'मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर' को पद की छाप न मानें और 'मीराँ के प्रभु' को 'गिरिधर नागर' का विशेषण मानकर अर्थ इस प्रकार लगाएँ 'हे मीराँ-प्रभु गिरिधर नागर' तो यह पद ललिता नामक दासी का ही रचा हुआ सिद्ध होगा। हो सकता है कि ये ललिता दासी मीराँ की सखी और ललिता ही हों क्योंकि ये 'मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर' के चरणों में ध्यान लगाए हैं।

पद इस प्रकार है — 'आयो जी मोरी पनियन में घनश्याम
पिचकारी तें हेरा दीन्यौं ललिता दासी नाम
पैयाँ परत हूँ बिनति करति हूँ मानिए मान-गुमान
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर, चरनन में चित ध्यान।"

बृहद् मीराँ-पद-संग्रह में इसी का एक रूपान्तर है। श्रीमती शबनम ने उसे अप्रामाणिक नहीं मीराँ-कृत माना है।

'ललिता' नाम 'भगत चरन की दासी' और 'भगतबछल रनछोर की सरन' आदि शब्दों से लगता है कि मीराँ के साथ द्वारका में रहने वाली मीराँ की दासी-सखी ललिता ही थी।

प्रो० ललिताप्रसाद सुकुल को संदेह है कि डाकोर की प्रति में 'दासी मीराँ लाल गिरधर' छाप के जो जोड़े पद हैं वे मीराँ-कृत न होकर ललिता कृत हैं क्योंकि इन पदों की सामग्री प्राय मीराँ के व्यक्तित्व की ओर संकेत करती है।[1] डाकोर की प्रति में ऐसे तीन पद हैं (संख्या २६, ८७ व ९९)। इस संदेह को निश्चय की कोटि तक ले जानेवाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। पदों में ललिता की छाप नहीं है 'मीराँ-दासी' का अर्थ 'ललिता' हो सकता है, पर मीराँ ने स्वयं अपने लिए अनेक स्थानों पर 'मीराँ दासी' या 'दासी मीराँ' का प्रयोग किया है अतः 'ललिता' अर्थ लगाकर कोई निष्कर्ष निकाल लेना उचित नहीं होगा। यह बात भी अनुमा

(१) मीराँ स्मृति ग्रंथ, पदावली परिचय

ज्ञापित है कि मीराँ के पदों में 'माई' संबोधन ललिता के लिए है।

कहा जाता है ललिता दासी मीराँ के पद लिखती जाती थी। उनके हाथ की लिखी पोथी का क्या हुआ कोई नहीं जानता। कुछ विद्वानों का कथन है कि द्वारका के रणछोड़जी के मंदिर में मीराँ के पदों की हस्तलिखित प्रति मौजूद है। कम-से-कम इस समय मीराँ के पदों की कोई हस्तलिखित पोथी द्वारका के रणछोड़जी के मंदिर में नहीं है। डाकोर के रणछोड़जी के मंदिर में भी इस प्रकार की कोई पोथी नहीं है।

मीराँ की मृत्यु कहाँ कैसे और कब ?

मीराँ की मृत्यु कहाँ और कैसे हुई, इस विषय में प्राचीन स्रोतों के सभी साक्ष्यों का एक ही उत्तर है—'मीराँ द्वारिका में रणछोड़जी के मंदिर में मूर्ति में सशरीर समा गई।

नागरीदास[1] और प्रियादास[2] जैसे सगुणवादी वैष्णव ही नहीं निर्गुण वादी संतों में भी उनके 'पत्थर की प्रतिमा में समा जाने की बात प्रचलित है।[3]

लोक-गीतों का भी साक्ष्य है कि 'जाय द्वारका घर-घर ढूँढी मंदिर सूँ न हली।

भक्तों के अलौकिकता के प्रति सहज विश्वासी मन में मीराँ के रणछोड़जी की मूर्ति में सशरीर समा जाने की बात आश्चर्य नहीं श्रद्धा उत्पन्न करती है। तर्कातीत श्रद्धा-विश्वास का यह भाव-लोक ही और है। संसार के कार्य-कारण के ज्ञात नियम यहाँ नहीं लगते प्रभु-इच्छा से काम चलता है परन्तु इस वैज्ञानिक युग की तर्कमयी बुद्धि इस बात को इसी रूप में स्वीकार नहीं कर सकती।

कहा जाता है कि मीराँ सबेरे उठकर स्नान करके मंदिर में कीर्तन करती थीं। अन्तिम दिन भी वे उठीं—और उनके पश्चात् पता यह लगा कि मीराँ सशरीर परलोक सिधार गईं। भक्तों ने कहा 'रणछोड़जी ने उन्हें अपने में समा लिया।'

इस घटना की लौकिक और तर्कसंगत व्याख्या से यह संकेत मिलता है कि मीराँ मंदिर में पूजा के लिए गईं और वहाँ से कहीं अदृश्य हो गईं, बाद में उनका कहीं पता नहीं लगा।

---

(१) नागर समुच्चय, पद प्रसंग माला, पृष्ठ १६५

(२) भक्तिरस बोधिनी टीका, श्री भक्तमाल, रूपकला, पृष्ठ ७१२

(३) ग्रंथ साहब गरीबदास पृष्ठ २७०

(४) शोध पत्रिका भाग ३ अंक ४, पृष्ठ १७७

मीरां पुरोहितों के आग्रह से व्यथित थीं, उनके अनशन की धमकी ने उन्हें हिला दिया था। ब्रह्म-हत्या का पाप कोई भी भक्तिन लेना नहीं चाहेगी और वह भी ढीलेपन में। उदयपुर लौटने की कल्पना से ही उनके रोंगटे खड़े हो जाते होंगे क्योंकि राणा के विक्रमी क्रूर व्यवहार की दुखद याद उनके मन में घुमड़ती थी। कुचक्रों के जिस निष्ठुर घातमामय वातावरण से उन्हें निष्कृति मिल गई थी उसमें फिर पहुँचने की कल्पना भी उन्हें सह्य नहीं होगी। नागरीदास का उल्लेख है कि 'तैतीस' दिन पुरोहितों के आग्रह में बीते। इन्हीं दिनों मीरां के जीवन में मानसिक संकट अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था—बस वे सबेरे उठीं स्नान-ध्यान के लिए और 'सशरीर' परलोक सिधार गईं। मंदिर से अदृश्य होने के पश्चात् उनका पता नहीं लगा। कदाचित् सागर की विशाल ज्वार जल-राशि ने उन्हें सशरीर इहलोक के पार उतारकर रणछोड़ के अनन्त अलौकिक रसलोक में प्रविष्ट करा दिया। सशरीर लुप्त हो जाने से यही ध्वनित होता है।

इसी प्रकार की एक दूसरी घटना हमारे सामने है और वह भी मीरां के ही युग की है। चैतन्य महाप्रभु ने एक दिन कालिन्दी कूल की जल क्रीड़ा की कथा सुनी। उन्हें दिन-भर वही लीला स्मरण होती रही। दिन बीता, रात आई, उनकी विरह वेदना बढ़ती गई। किसी प्रकार वे सागर के तट पर आ गए। वहाँ जलधि की विशाल तरंगों में किरणों की क्रीड़ा को देखकर उनके हृदय में रस-लीला का सुमधुर संगीत स्वतः जाग उठा और शरद की सुहानी शर्वरी में वे आत्म-विस्मृत होकर तरंगों में कूद पड़े। महाप्रभु का जब संयोग से एक मछुए के जाल में उलझ गया और यद्यपि उसमें विकृति आ गई थी पर शिष्यों ने उसे पहचान लिया।[1] यदि जाल में शव न फँसता तो उनके सशरीर 'परलोक-गमन' की कथा क्या बनती कहा नहीं जा सकता।

मीरां के जीवन में उस समय गिरिधर की लीला का आवेश प्रमुख था या उदयपुर के लौटने और न लौटने की समस्या या ब्रह्म-हत्या की धमकी से उत्पन्न व्यथा या तीनों यह नहीं कहा जा सकता पर इतना सत्य है कि चैतन्य महाप्रभु के शव की तरह उनका शव नहीं मिला और उसके न मिलने के कारण श्रद्धावान् भक्त हृदयों ने यह बात कहकर संतोष कर लिया कि वे 'रणछोड़जी में समा गईं। और कोई चारा भी नहीं था।

(१) श्री चैतन्य चरितावली, खण्ड ५, प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, 'समुद्र पतन तथा मरणुदशा'

मीराँ की मृत्यु-तिथि

साहित्यकारों के अनुमान

(क) मीराँ की मृत्यु-तिथि का निर्धारण उनके जीवित रहने या न रहने की संभाव्य परिस्थितियों के आधार पर किया गया है। इस तरह से विचार करनेवाले विद्वानों में से एक वर्ग है जो मीराँ की मृत्यु संवत् १५७५ के लगभग मानता है। कुछ उल्लेख इस प्रकार हैं—

कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी	गुजराती साहित्यना मार्गसूचक स्तंभो ६७ वर्ष पर सन् १४७० में
जयसुखलाल जोषीपुरा	सागरमाला (सन् १४७०) १५२७ विक्रमीय
महाराष्ट्रीय ज्ञानकोष	१५२७ विक्रमीय
गोविंदराम त्रिपाठी	१५२७ विक्रमीय
इच्छाराम सूर्यराम देसाई	बृ० का० दो० भाग २ १५२६ विक्रमीय

इसी कोटि में शिवसिंह सरोजकार ग्रियर्सन और कर्नल टॉड भी आते हैं। यद्यपि इन विद्वानों ने मीराँ की निश्चित मृत्यु-तिथि का उल्लेख नहीं किया पर ये सभी मीराँ को कुंभा की पत्नी मानते हैं और सभी ने उनका विवाह सं० १४७०-७५ के लगभग माना है।

इस वर्ग के विद्वानों का मत वस्तुतः कर्नल टॉड के इस उल्लेख पर आधारित है कि मीराँ राणा कुंभा की पत्नी थीं। कर्नल टॉड ने मीराँ की मृत्यु-तिथि नहीं दी परन्तु राणा कुंभा के ऊदा द्वारा निधन का वर्ष उन्होंने सं० १५२५ लिखा है। कर्नल के उल्लेखों के आधार पर मीराँ की मृत्यु-तिथि निर्धारित करनेवाले विद्वानों ने उसके (मीराँ की मृत्यु के) राणा कुंभा की मृत्यु के कुछ बाद एक-दो वर्ष बाद – संवत् १५२७ (सन् १४७० ई०) के आसपास घटित होने की सम्भावना का अनुमान किया है।

जैसा कि अन्यत्र सिद्ध किया जा चुका है मीराँ कुंभा की पत्नी नहीं कुंभा के प्रपौत्र भोजराज की पत्नी थीं। अतः कुंभा की मृत्यु-तिथि के कुछ बाद ही मीराँ की मृत्यु-तिथि का निर्धारण ऐतिहासिक तथ्य का उपहास है।

(ख) मीराँ की मृत्यु-तिथि का संवत् १६२० और १६३० के बीच मानने वाला विद्वानों का एक बड़ा वर्ग है। इस वर्ग के कुछ विद्वानों के मत इस प्रकार हैं—

(१) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र 'कविवचन सुधा'—१६२० १६३० वि०
(२) मीराँबाई की शब्दावली और जीवन-चरित्र—सं १६२०-१६३०
(३) तमसुखराम मनसुखराम त्रिपाठी—बृ० का० दो० भाग ७—

१६२० १६३० विक्रमी

(४) डॉ० रामकुमार वर्मा हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—१६२० १६३० विक्रमी

(५) डॉ० श्रीकृष्णलाल मीरांबाई'—सं० १६२१ के बाद सं० १६३ के आसपास

(६) श्रीमती शबनम मीरां—एक अध्ययन—संवत् १६३०

(७) रेवाशंकर सोमपुरा 'मीरां राची बलम-वलय की'–सं० १६३०

इस सूची में ऐसे ही अनेक और नाम गिनाये जा सकते हैं।

भारतेन्दुजी का निर्णय 'उदयपुर दरबार की सम्मति' से हुआ था। उदयपुर के इतिहास-विभाग में इस प्रकार की कोई सामग्री नहीं है। उदयपुर राज्य के प्रसिद्ध इतिहासकार वीरविनोदकार तथा ओझाजी से अधिक उदयपुर के इतिहास की सामग्री से परिचित व्यक्ति अभी तक किसी को नहीं कहा जा सकता। इन दोनों के उल्लेख भारतेन्दुजी द्वारा उद्धृत उदयपुर दरबार की सम्मति से भिन्न हैं। एक का मत भी इस सम्मति' के पक्ष में नहीं है।[1]

बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित 'मीरांबाई की शब्दावली और जीवन-चरित्र' में इस मत को स्वीकार इसलिए किया गया है कि "भक्तमाल में इन दो बातों का प्रमाण पाया जाता है—

(१) अकबर बादशाह तानसेन के साथ इनके दर्शन को आया

(२) गुसाँई तुलसीदासजी से इनका परमार्थी पत्र-व्यवहार था— और मीरां को सन् १५४६ (संवत् १६०३) में मृत मानने पर ये दोनों बातें सम्भव नहीं हैं क्योंकि उस समय अकबर (जन्म सन् १५४२) की आयु ४ वर्ष की थी और तुलसीदास की १४ की। (और यह न तो अकबर को साधु-दर्शन की उमंग उठने की अवस्था मानी जा सकती है और न गुसाँई जी की भक्ति और कीर्ति की प्रसिद्धि का समय कहा जा सकता है।)"[2]

प्रस्तुत यह सिद्ध किया जा चुका है कि ये दोनों प्रसंग काल्पनिक हैं।

---

(१) लेखक ने उदयपुर जाकर नाथूलाल व्यास, डॉ० मेनारिया इत्यादि उन व्यक्तियों से इस विषय में पूछताछ की है, जो वहाँ के इतिहास-विभाग की सामग्री से विशेष परिचित माने जाते हैं पर ऐसी किसी सामग्री का वहाँ पता नहीं है।

(२) ये उल्लेख भक्तमाल में नहीं, उसकी प्रियादास कृत रसबोधिनी टीका में हैं।

मत 'मीरांबाई की शब्दावली' में दिए 'जीवन-चरित्र' में जो तर्क मत के पक्ष में दिए गए हैं वे निराधार हैं।

डॉ० श्रीकृष्णलाल का कथन है कि ८४ वार्ता के अनुसार कृष्णदास अधिकारी को व्यास और हितहरिवंश मीरां के घर बैठे मिले। 'सं० १६२१ के आसपास गुसाईं (व्यास) हितहरिवंश से शास्त्रार्थ करने जाकर उनके शिष्य हो गये थे। अतः वे स० १६२१ के बाद ही मिले होंगे और इस प्रकार मीरां संवत् १६२२ के बाद तक जीवित अवश्य रही होंगी।[1] जैसा कि पिछले पृष्ठों में 'रसिक अनन्य-माल' के आधार पर स्पष्ट किया जा चुका है व्यासजी का हितहरिवंश की शिष्यता स्वीकार करने का प्रसंग कार्तिक संवत् १५९१ का है संवत् १६२२ का नहीं। दूसरे, हित हरिवंश जी की निकुंज-धाम की तिथि सं० १६०९ है। अतः संवत् १६०९ के पश्चात् तो हितजी का किसी व्यक्ति से मिलने का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी स्थिति में प्रस्तुत आधारों पर मीरां की मृत्यु-तिथि का निर्णय किसी प्रकार सही नहीं कहा जा सकता।

डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'प्रियादास मौनियर विलियम्स और 'मीरांबाई की शब्दावली और जीवन-चरित्र' के मतों को स्वीकार करते हुए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के निर्णय को स्वीकार किया है।[2] वस्तुतः डॉ० वर्मा की यह स्वीकृति दो बातों पर आधारित है—(१) अन्य किसी मत के पक्ष में प्रमाणाभाव (२) अकबर-तुलसी-मीरां प्रसंगों के उल्लेख। दूसरी बात की अप्रामाणिकता तो सिद्ध ही है और प्रथम कारण 'अभावात्मक' है।

भाटों के उल्लेख —

मीरां की मृत्यु के काल के सम्बन्ध में भाटों के तीन उल्लेख मिलते हैं—

(१) मूंपचे का भूरदान भाट — मुंशी देवीप्रसाद ने 'मीरांबाई का जीवन-चरित्र' में लिखा है—'राठोड़ों का एक भाट जिसका नाम भूरदान है और मूंपचे परगने मारोठ इलाके मारवाड़ में रहता है उसकी जबानी सुना गया कि मीरांबाई का देहान्त सं० १६०३ (१५४६ ई०) में हुआ था और कहां हुआ यह मालूम नहीं।'[3]

(१) मीरांबाई, डॉ० श्रीकृष्णलाल पृष्ठ ९१

(२) हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ५८०

(३) पृष्ठ २६, 'मीरांबाई का देहान्त' शीर्षक के नीचे
इतिहास और साहित्य के अधिकांश पंडित इसी तारीख को सही मानते हैं—

—शेष अगले पृष्ठ पर

१६२० १६३० विक्रमी

(४) डॉ० रामकुमार वर्मा हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—१६२० १६३० विक्रमी

(५) डॉ० श्रीकृष्णलाल मीरांबाई'—सं० १६२२ के बाद स० १६३० के आसपास

(६) श्रीमती शबनम मीरां—एक अध्ययन—संवत् १६३०

(७) रेवाशंकर सोमपुर, 'मीरां थारी जनम-जनम की'—सं० १६३०

इस सूची में ऐसे ही अनेक और नाम गिनाये जा सकते हैं।

भारतेन्दुजी का निर्णय 'उदयपुर दरबार की सम्मति' से हुआ था। उदयपुर के इतिहास-विभाग में इस प्रकार की कोई सामग्री नहीं है। उदयपुर राज्य के प्रसिद्ध इतिहासकार वीरविनोदकार तथा ओझाजी से अधिक उदयपुर के इतिहास की सामग्री से परिचित व्यक्ति अभी तक किसी को नहीं कहा जा सकता। इन दोनों के उल्लेख भारतेन्दुजी द्वारा उद्धृत उदयपुर दरबार की सम्मति से भिन्न हैं। एक का मत भी इस 'सम्मति' के पक्ष में नहीं है।[1]

बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित 'मीरांबाई की शब्दावली और जीवन-चरित्र' में इस मत को स्वीकार इसलिए किया गया है कि "भक्तमाल में इन दो बातों का प्रमाण पाया जाता है—

(१) अकबर बादशाह तानसेन के साथ इनके दर्शन को आया

(२) गुसाँई तुलसीदासजी से इनका परमार्थी पत्र-व्यवहार था—और मीरां को सन् १५४६ (संवत् १६ ३) में मृत मानने पर ये दोनों बातें सम्भव नहीं हैं क्योंकि उस समय अकबर (जन्म सन् १५४८) की आयु ४ वर्ष की थी और तुलसीदास की १४ की। (और यह न तो अकबर की साधु-दर्शन की उमंग उठने की अवस्था मानी जा सकती है और न गुसाँई जी की भक्ति और कीर्ति की प्रसिद्धि का समय कहा जा सकता है।)"[2]

अन्यत्र यह सिद्ध किया जा चुका है कि ये दोनों प्रसंग काल्पनिक हैं।

---

(१) लेखक ने उदयपुर जाकर नाथूलाल व्यास, डॉ० मेनारिया इत्यादि उन व्यक्तियों से इस विषय में पूछताछ की है, जो वहाँ के इतिहास-विभाग की सामग्री से विशेष परिचित माने जाते हैं, पर ऐसी किसी सामग्री का कहीं पता नहीं है।

(२) ये उल्लेख भक्तमाल में नहीं उसकी प्रियादास कृत रसबोधिनी टीका में हैं।

मत' 'मीरांबाई की शब्दावली' में दिए 'जीवन-चरित्र' में जो तर्क मत के पक्ष में दिए गए हैं वे निराधार हैं।

डॉ॰ श्रीकृष्णलाल का कथन है कि ८४ वार्ता के अनुसार कृष्णदास अधिकारी का व्यास और हितहरिवंश मीरां के घर बैठे मिले। 'सं॰ १६२१ के आसपास गुसाईं (व्यास) हितहरिवंश से शास्त्रार्थ करने जाकर उनके शिष्य हो गये थे।' अतः वे सं १६२१ के बाद ही मिले होंगे और इस प्रकार मीरां संवत् १६२२ के बाद तक जीवित अवश्य रही होंगी।[1] जैसा कि पिछले पृष्ठों में 'रसिक अनन्य माल' के आधार पर स्पष्ट किया जा चुका है, व्यासजी का हितहरिवंश की शिष्यता स्वीकार करने का प्रसंग कार्तिक संवत् १५९१ का है संवत् १६२२ का नहीं। दूसरे, हित हरिवंश जी की निकुंज-वास की तिथि सं॰ १६०९ है। अतः संवत् १६०९ के पश्चात् तो हितजी का किसी व्यक्ति से मिलने का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी स्थिति में गलत आधारों पर मीरां की मृत्यु-तिथि का निर्णय किसी प्रकार सही नहीं कहा जा सकता।

डॉ॰ रामकुमार वर्मा ने 'प्रियादास' 'मॉनियर विलियम्स और 'मीरांबाई की शब्दावली और जीवन-चरित्र' के मतों को स्वीकार करते हुए मारतेन्दु हरिश्चन्द्र के निर्णय को स्वीकार किया है।[2] वस्तुतः डॉ॰ वर्मा की यह स्वीकृति दो बातों पर आधारित है— (१) अन्य किसी मत के पक्ष में प्रमाणाभाव (२) अकबर-तुलसी-मीरां प्रसंगों के उल्लेख। दूसरी बात की अप्रामाणिकता तो सिद्ध ही है और प्रथम कारण 'अभावात्मक' है।

भाटों के उल्लेख —

मीरां की मृत्यु के काल के सम्बन्ध में भाटों के तीन उल्लेख मिलते हैं—

(१) मूंगधे का भूरदान भाट — मुंशी देवीप्रसाद ने 'मीरांबाई का जीवन-चरित्र' में लिखा है—'राठोड़ों का एक भाट जिसका नाम भूरदान है और मूंगधे परगने मारोठ इलाके मारवाड़ में रहता है उसकी जबानी सुना गया कि मीरांबाई का देहान्त सं॰ १६०३ (१५४६ ई॰) में हुआ था और कहाँ हुआ यह मालूम नहीं।'[3]

---

(१) मीरांबाई, डॉ॰ श्रीकृष्णलाल पृष्ठ २२

(२) हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ५८०

(३) पृष्ठ २६, 'मीरांबाई का देहान्त' शीर्षक के नीचे

इतिहास और साहित्य के अधिकांश पंडित इसी तारीख को सही मानते हैं—

—शेष अगले पृष्ठ पर

१६२० १६३० विक्रमी

(४) डॉ० रामकुमार वर्मा हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—१६२० १६३० विक्रमी

(५) डॉ० श्रीकृष्णलाल मीरांबाई'—सं० १५२२ के बाद सं० १५३० के आसपास

(६) श्रीमती शबनम मीरां—एक अध्ययन—संवत् १५३०

(७) रेवाशंकर सोमपुर, 'मीरां दासी जनम-जनम की'—सं० १५३०

इस सूची में ऐसे ही अनेक और नाम मिलाये जा सकते हैं।

मारतेन्दुजी का निर्णय 'उदयपुर दरबार की सम्मति' से हुआ था। उदयपुर के इतिहास-विभाग में इस प्रकार की कोई सामग्री नहीं है। उदयपुर राज्य के प्रसिद्ध इतिहासकार वीरविनोदकार तथा ओझाजी से अधिक उदयपुर के इतिहास की सामग्री से परिचित व्यक्ति अभी तक किसी को नहीं कहा जा सकता। इन दोनों का उल्लेख भारतेन्दुजी द्वारा उद्धृत उदयपुर दरबार की सम्मति से भिन्न है। एक का मत भी इस 'सम्मति' के पक्ष में नहीं है।[1]

बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित *'मीरांबाई की शब्दावली और जीवन-चरित्र'* में इस मत को स्वीकार इसलिए किया गया है कि "भक्तमाल में इन दो बातों का प्रमाण पाया जाता है—

(१) अकबर बादशाह तानसेन के साथ इनके दर्शन को आया

(२) गुसाँई तुलसीदासजी से इनका परमार्थी पत्र-व्यवहार था—और मीरां को सन् १५४६ (संवत् १६०३) में मृत मानने पर ये दोनों बातें सम्भव नहीं हैं क्योंकि उस समय अकबर (जन्म सन् १५४८) की आयु ४ वर्ष की थी और तुलसीदास की १४ की। (और यह न तो अकबर की साधु-दर्शन की उमंग उठने की अवस्था मानी जा सकती है और न गुसाँई जी की भक्ति और कीर्ति की प्रसिद्धि का समय कहा जा सकता है।)"[2]

अन्यत्र यह सिद्ध किया जा चुका है कि ये दोनों प्रसंग काल्पनिक हैं।

---

(१) लेखक ने उदयपुर जाकर नाथूलाल व्यास, डॉ० मेनारिया इत्यादि उन व्यक्तियों से इस विषय में पूछताछ की है, जो वहाँ के इतिहास-विभाग की सामग्री से विशेष परिचित माने जाते हैं पर ऐसी किसी सामग्री का वहाँ पता नहीं है।

(२) ये उल्लेख भक्तमाल में नहीं, उसकी प्रियादास कृत रसबोधिनी टीका में हैं।

अतः 'मीरांबाई की शब्दावली' में दिए 'जीवन-चरित्र' में जो तर्क मत के पक्ष में दिए गए हैं वे निराधार हैं।

डॉ॰ श्रीकृष्णलाल का कथन है कि ८४ वार्ता के अनुसार कृष्णदास अधिकारी को व्यास और हितहरिवंश मीरां के घर बैठे मिले। 'सं॰ १६२१ के आसपास गुसाईं (व्यास) हितहरिवंश से शास्त्रार्थ करने जाकर उनके शिष्य हो गये थे। अतः ये सं १६२२ के बाद ही मिले होंगे और इस प्रकार मीरां संवत् १६२२ के बाद तक जीवित अवश्य रही होंगी।'[1] जैसा कि पिछले पृष्ठों में 'रसिक अनन्य माल' के आधार पर स्पष्ट किया जा चुका है व्यासजी का हितहरिवंश की शिष्यता स्वीकार करने का प्रसंग कार्तिक संवत् १५९१ का है संवत् १६२२ का नहीं। दूसरे, हित हरिवंश जी की निकुंज-वास की तिथि सं॰ १६०९ है। अतः संवत् १६०९ के पश्चात् तो हितजी का किसी व्यक्ति से मिलने का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी स्थिति में ग़लत आधारों पर मीरां की मृत्यु-तिथि का निर्णय किसी प्रकार सही नहीं कहा जा सकता।

डॉ॰ रामकुमार वर्मा ने 'प्रियादास मोनियर विलियम्स और 'मीरांबाई की शब्दावली और जीवन-चरित्र' के मतों को स्वीकार करते हुए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के निर्णय को स्वीकार किया है।'[2] वस्तुतः डॉ॰ वर्मा की यह स्वीकृति दो बातों पर आधारित है— (१) अन्य किसी मत के पक्ष में प्रमाणाभाव (२) अकबर-तुलसी-मीरां प्रसंगों के उल्लेख। दूसरी बात की अप्रामाणिकता तो सिद्ध ही है और प्रथम कारण 'अभावात्मक' है।

भाटों के उल्लेख :—

मीरां की मृत्यु के काल के सम्बन्ध में भाटों के तीन उल्लेख मिलते हैं—

(१) भूंगवे का मूरदान भाट — मुंशी देवीप्रसाद ने 'मीरांबाई का जीवन-चरित्र' में लिखा है— 'राठौड़ों का एक भाट जिसका नाम भूरदान है और भूंगवे परगने मारोठ इलाके मारवाड़ में रहता है उसकी जबानी सुना गया कि मीरांबाई का देहान्त सं॰ १६०३ (१५४६ ई॰) में हुआ था और कहाँ हुआ यह मालूम नहीं।'[3]

---

(१) मीरांबाई, डॉ॰ श्रीकृष्णलाल पृष्ठ २१

(२) हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ५८०

(३) पृष्ठ २६ 'मीरांबाई का देहान्त' शीर्षक के नीचे

इतिहास और साहित्य के अधिकांश पंडित इसी तारीख को सही मानते हैं—

—शेष अगले पृष्ठ पर

१६२० १६३० विक्रमी

(४) डॉ० रामकुमार वर्मा हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—१६२० १६३० विक्रमी

(५) डॉ० श्रीकृष्णलाल मीरांबाई'—सं० १६२२ के बाद सं० १६३ के आसपास

(६) श्रीमती शबनम मीरां—एक अध्ययन—संवत् १६३०

(७) रेवाशंकर सोमपुर, 'मीरां दासी जनम-जनम की'—सं० १६३०

इस सूची में ऐसे ही अनेक और नाम गिनाये जा सकते हैं।

भारतेन्दुजी का निर्णय 'उदयपुर दरबार की सम्मति' से हुआ था। उदयपुर के इतिहास-विभाग में इस प्रकार की कोई सामग्री नहीं है। उदयपुर राज्य के प्रसिद्ध इतिहासकार वीरविनोदकार तथा ओझाजी से अधिक उदयपुर के इतिहास की सामग्री से परिचित व्यक्ति अभी तक किसी को नहीं कहा जा सकता। इन दोनों के उल्लेख भारतेन्दुजी द्वारा उद्धृत उदयपुर दरबार की सम्मति से भिन्न हैं। एक का मत भी इस 'सम्मति' के पक्ष में नहीं है।[1]

बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित 'मीरांबाई की शब्दावली और जीवन-चरित्र' में इस मत को स्वीकार इसलिए किया गया है कि "भक्तमाल में इन दो बातों का प्रमाण पाया जाता है—

(१) अकबर बादशाह तानसेन के साथ इनके दर्शन को आया

(२) गुसांई तुलसीदासजी से इनका परमार्थी पत्र-व्यवहार था—और मीरां को सन् १५४६ (संवत् १६०३) में मृत मानने पर ये दोनों बातें असम्भव नहीं हैं क्योंकि उस समय अकबर (जन्म सन् १५४८) की आयु ४ वर्ष की थी और तुलसीदास की १४ की। (और यह न तो अकबर की साधु-दर्शन की उमंग उठने की अवस्था मानी जा सकती है और न गुसांई जी की भक्ति और कीर्ति की प्रतिष्ठि का समय कहा जा सकता है।)"[2]

अन्यत्र यह सिद्ध किया जा चुका है कि ये दोनों प्रसंग काल्पनिक हैं।

---

(१) लेखक ने उदयपुर जाकर बापूलाल व्यास, डॉ० मेनारिया इत्यादि उन व्यक्तियों से इस विषय में पूछताछ की है, जो वहाँ के इतिहास-विभाग की सामग्री से विशेष परिचित माने जाते हैं, पर ऐसी किसी सामग्री का वहाँ पता नहीं है।

(२) ये उल्लेख भक्तमाल में नहीं, उसकी प्रियादास कृत रसबोधिनी टीका में है।

मत 'मीरांबाई की शब्दावली' में दिए 'जीवन-चरित्र' में जो तक मत के पक्ष में दिए गए हैं वे निराधार हैं।

डॉ॰ श्रीकृष्णलाल का कथन है कि ८४ वार्ता के अनुसार कृष्णदास अधिकारी को व्यास और हितहरिवंश मीरां के घर बैठे मिले। 'सं॰ १६२१ के आसपास गुसाईं (व्यास) हितहरिवंश से शास्त्रार्थ करने आकर उनके शिष्य हो गये थे।' अतः ये सं १६२१ के बाद ही मिले होंगे और इस प्रकार मीरां संवत् १६२२ के बाद तक जीवित अवश्य रही होंगी।[१] जैसा कि पिछले पृष्ठों में 'रसिक अनन्य माल' के आधार पर स्पष्ट किया जा चुका है व्यासजी का हितहरिवंश की शिष्यता स्वीकार करने का प्रसंग कार्तिक संवत् १५११ का है संवत् १६२२ का नहीं। दूसरे, हित हरिवंश जी की निकुंज-वास की तिथि सं॰ १६०१ है। अतः संवत् १६०१ के पश्चात् तो हितजी का किसी व्यक्ति से मिलने का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी स्थिति में गलत आधारों पर मीरां की मृत्यु-तिथि का निर्णय किसी प्रकार सही नहीं कहा जा सकता।

डॉ॰ रामकुमार वर्मा ने 'प्रियादास मॉनियर विलियम्स और 'मीरांबाई की शब्दावली और जीवन-चरित्र' के मतों को स्वीकार करते हुए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के निर्णय को स्वीकार किया है।[२] वस्तुतः डॉ॰ वर्मा की यह स्वीकृति दो बातों पर आधारित है—(१) अन्य किसी मत के पक्ष में प्रमाणाभाव (२) अकबर-तुलसी-मीरां प्रसंगों के उल्लेख। दूसरी बात की अप्रामाणिकता तो सिद्ध ही है और प्रथम कारण 'अभावात्मक' है।

भाटों के उल्लेख —

मीरां की मृत्यु के काल के सम्बन्ध में भाटों के तीन उल्लेख मिलते हैं—

(१) मूंधवे का मूरदान भाट — मुन्शी देवीप्रसाद ने 'मीरांबाई का जीवन-चरित्र' में लिखा है—'राठोड़ों का एक भाट जिसका नाम भूरदान है गाँव मूंधवे परगने मारोठ इलाके मारवाड़ में रहता है उसकी जबानी सुना गया कि मीरांबाई का देहान्त सं॰ १६०३ (१५४६ ई॰) में हुआ था और कहाँ हुआ यह मालूम नहीं।'[३]

(१) मीरांबाई, डॉ॰ श्रीकृष्णलाल पृष्ठ २२

(२) हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ५८०

(३) पृष्ठ २६, 'मीरांबाई का देहान्त' शीर्षक के नीचे

इतिहास और साहित्य के अधिकांश पंडित इसी तारीख को सही मानते हैं—

—शेष अगले पृष्ठ पर

१६२०-१६६ विक्रमी

(४) डॉ० रामकुमार वर्मा 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'—१६२० १६३० विक्रमी

(५) डॉ० श्रीकृष्णलाल 'मीरांबाई'—सं० १६२२ के बाद सं० १६३० के आसपास

(६) श्रीमती शबनम 'मीरां—एक अध्ययन'—संवत् १६३०

(७) रेवाशंकर सोमपुरा, 'मीरां दासी जनम-जनम की'—सं० १६३०

इस सूची में ऐसे ही अनेक और नाम मिलाये जा सकते हैं।

भारतेन्दुजी का निर्णय 'उदयपुर दरबार की सम्मति' से हुआ था। उदयपुर के इतिहास-विभाग में इस प्रकार की कोई सामग्री नहीं है। उदयपुर राज्य के प्रसिद्ध इतिहासकार वीरविनोदकार तथा ओझाजी से अधिक उदयपुर के इतिहास की सामग्री से परिचित व्यक्ति अभी तक किसी को नहीं कहा जा सकता। इन दोनों के उल्लेख भारतेन्दुजी द्वारा उद्धृत उदयपुर दरबार की सम्मति से भिन्न हैं। एक का मत भी इस 'सम्मति' के पक्ष में नहीं है।[1]

बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित 'मीरांबाई की शब्दावली और जीवन-चरित्र' में इस मत को स्वीकार इसलिए किया गया है कि "भक्तमाल में इन दो बातों का प्रभाव पाया जाता है—

(१) अकबर बादशाह तानसेन के साथ इनके दर्शन को आया

(२) गुसाईं तुलसीदासजी से इनका परमार्थी पत्र-व्यवहार था—

और मीरां को सन् १५४६ (संवत् १६०३) में मृत मानने पर ये दोनों बातें सम्भव नहीं हैं क्योंकि उस समय अकबर (जन्म सन् १५४२) की आयु ४ वर्ष की थी और तुलसीदास की १४ की। (और यह न तो अकबर को साधु-दर्शन की उमंग उठने की अवस्था मानी जा सकती है और न गुसाईं जी की भक्ति और कीर्ति की प्रसिद्धि का समय कहा जा सकता है।)"[2]

अन्यत्र यह सिद्ध किया जा चुका है कि ये दोनों प्रसंग काल्पनिक हैं।

---

(१) लेखक ने उदयपुर जाकर नाथूलाल व्यास, डॉ० मेनारिया इत्यादि उन व्यक्तियों से इस विषय में पूछताछ की है, जो वहाँ के इतिहास-विभाग की सामग्री से विशेष परिचित माने जाते हैं पर ऐसी किसी सामग्री का वहाँ पता नहीं है।

(२) ये उल्लेख भक्तमाल में नहीं, उसकी प्रियादास कृत रसबोधिनी टीका में हैं।

प्रत: 'मीरांबाई की शब्दावली' में दिए 'जीवन-चरित्र' में जो तर्क मत के पक्ष में दिए गए हैं वे निराधार हैं।

डॉ० श्रीकृष्णलाल का कथन है कि ८४ वार्ता के अनुसार कृष्णदास अधिकारी को व्यास और हितहरिवंश मीरां के घर बैठे मिले। 'सं० १६२१ के आसपास गुसाईं (व्यास) हितहरिवंश से शास्त्रार्थ करने जाकर उनके शिष्य हो गये थे। अत: वे सं० १६२१ के बाद ही मिले होंगे और इस प्रकार मीरां संवत् १६२२ के बाद तक जीवित अवश्य रही होंगी।[1] जैसा कि पिछले पृष्ठों में 'रसिक अनन्य-माल' के आधार पर स्पष्ट किया जा चुका है व्यासजी का हितहरिवंश की शिष्यता स्वीकार करने का प्रसंग सर्वाधिक संवत् १५९१ का है संवत् १६२२ का नहीं। दूसरे, हित हरिवंश जी की निकुंज-वास की तिथि सं० १६०९ है। अत: संवत् १६०९ के पश्चात् तो हितजी का किसी व्यक्ति से मिलने का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी स्थिति में गलत आधारों पर मीरां की मृत्यु-तिथि का निर्णय किसी प्रकार सही नहीं कहा जा सकता।

डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'प्रियादास मौनियर विलियम्स और 'मीरांबाई की शब्दावली और जीवन-चरित्र' के मतों को स्वीकार करते हुए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के निर्णय को स्वीकार किया है।[2] वस्तुत: डॉ० वर्मा की यह स्वीकृति दो बातों पर आधारित है— (१) अन्य किसी मत के पक्ष में प्रमाणाभाव (२) अक-बर-तुलसी-मीरां प्रसंगों के उल्लेख। दूसरी बात की अप्रामाणिकता तो सिद्ध ही है और प्रथम कारण 'प्रमाणात्मक' है।

भाटों के उल्लेख —

मीरां की मृत्यु के काल के सम्बन्ध में भाटों के तीन उल्लेख मिलते हैं—

(१) मूंजवे का भूरदान भाट — मुंशी देवीप्रसाद ने 'मीरांबाई का जीवन-चरित्र' में लिखा है— 'राठोड़ों का एक भाट जिसका नाम भूरदान है गांव मूंजवे परगने मारोठ इलाके मारवाड़ में रहता है उसकी जबानी सुना गया कि मीरांबाई का देहान्त सं० १६०३ (१५४६ ई०) में हुआ था और कहाँ हुआ यह मालूम नहीं।'[3]

(१) मीरांबाई डॉ० श्रीकृष्णलाल, पृष्ठ २२

(२) हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृष्ठ ५८०

(३) पृष्ठ २६, 'मीरांबाई का देहान्त' शीर्षक के नीचे
इतिहास और साहित्य के अधिकांश पंडित इसी तारीख को सही मानते हैं—

—शेष अगले पृष्ठ पर

सूर्यनारायण जी चतुर्वेदी ने लेखक को मीरां की मृत्यु-तिथि 'मोक्षदा एकादशी मार्गशीर्ष संवत् १६०३' बताई थी। इसका आधार भी किसी भाट का कथन ही था। चतुर्वेदीजी ने पुरोहित हरिनारायणजी के साथ मीरां-सम्बन्धी शोध-कार्य किया था। उन्होंने बताया कि आखिर में पुरोहितजी भी इसे ठीक मानते थे। जन्म सम्बन्धी सूचना की तरह यह सूचना भी किस ज्योतिषी चारण या भाट से मिली यह चतुर्वेदीजी को उस समय अस्वस्थता के कारण याद नहीं था।

(२) राणीमंगा भाट — जगदीशसिंह जी गहलोत को राणीमंगा के भाटों की बहियों से मीरां की मृत्यु-तिथि संवत् १६०५ चैत्र सुदी १ ज्ञात हुई है।[2]

(३) मेड़ता के चतुर्भुजजी के मंदिर में मीरांबाई की जो मूर्ति डीडवाना के जयनीराम रामकुमार बांगड़ द्वारा स्थापित कराई गई है उसमें उनका निर्वाण-काल संवत् १६०७ दिया गया है। इस वर्ष के देने का कारण भी भाटों में प्रचलित अनुश्रुति ही है।

भाटों से उपलब्ध तीनों उल्लेखों की विशेषता यह है कि दिन एक में भी नहीं दिया। अतः गणना का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। मीरां की मृत्यु राजस्थान से दूर द्वारका में हुई थी और उसका कोई राजनीतिक महत्त्व नहीं था। अतएव इस संबन्ध में राजस्थानी भाटों के उल्लेख विशेष विश्वसनीय भी नहीं हैं।

इस प्रकार मीरां के निधन के काल के विषय में कोई विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध नहीं है। बाह्य साक्ष्य के आधार पर उनके मृत्यु-काल की सीमाएँ निर्धारित की जा सकती हैं। गुजराती कवि विष्णुदास कृत 'कुँवरबाईनुं

पिछले पृष्ठ की टिप्पणी का शेषांश—

के० का० शास्त्री कवि-चरित, पृष्ठ १७१

के० एम० मुंशी गुजरात एंड इट्स लिटरेचर, पृष्ठ १८३ (सन् १५४७ अर्थात् संवत् १६०३–४)

रामचन्द्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास पृष्ठ १८५

मोतीलाल मेनारिया राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृष्ठ ५६ (मेनारियाजी का कथन है — विनय-पत्रिका की रचना गोस्वामीजी ने सं० १६५३ में की थी जब मीरांबाई को मरे ५० वर्ष हो गए थे।)

गौ० ही० ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, पृष्ठ ३६०

हरबिलास शारदा, महाराणा सांगा, पृष्ठ ९६

ठा० चतुरसिंह वर्मा चतुरकुल-चरित्र, भाग १, पृष्ठ ८०

(२) ऐतिहासिक संकीर्ण निबंध—खंड १ पृष्ठ २१

मोसाळुं में मीरां के विष के अमृत होने की घटना का उल्लेख है। यह उल्लेख इस प्रकार कराया गया है कि मानों मीरां कोई पुराण पुरुष हों। इससे इतना निश्चित है कि मोसाळुं की रचना के समय मीरां गुजराती कवियों में इस कोटि में रखी जाने लगी थीं। अतः मीरां की मृत्यु की तिथि मोसाळु के रचना-काल के पूर्व मानना तर्क-संगत ही है और जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मोसाळुं का रचना काल संवत् १६२४ २८ है। इस प्रकार मीरां की मृत्यु की परवर्ती सीमा संवत् १६२४-२८ के पूर्व मानी जा सकती है।

साहित्यिक उल्लेख के आधार पर किए गये इस सीमा के निर्णय की पुष्टि राजनैतिक इतिहास से भी होती है।

अकबर ने मांडलगढ़ से कूचकर ता० १२ रबीउल्वाली हि० स० ९७५ (मार्गशीर्ष वदि ६ वि० संवत् १६२४) को किले के पास पहुँचकर डेरा डाला।[1] वह हि० स० ९७५ ता० २५ शाबान (वि० संवत् १६२४ चैत्र वदि ११) को विजयी हुआ।[2] इस युद्ध में महाराणा राठौड़ जयमल और सिसोदिया पत्ता को नियत कर मेवाड़ के पहाड़ों में चला गया था। इसी युद्ध में जयमल मारे गए।[3] इसके बाद वि० सं० १६२८ में महाराणा उदयसिंह का भी देहान्त हो गया।[4] इस बीच उसका (राणा का) सारा समय अपने को उदयपुर में व्यवस्थित करने में लग गया। अतः इतना निश्चित है कि मीरां को बुलाने की सुविधा और इच्छा का अवसर अगर राणा उदयसिंह के जीवन में कभी था तो संवत् १६२४ के पूर्व ही था उसके बाद नहीं।

मीरां की मृत्यु-तिथि की दूसरी सीमा संवत् १५९३ है क्योंकि वे संवत् १५९२ में व्रज में थीं। द्वारका पहुँचने में एक आध वर्ष बीतना सरल ही था। अतः उनकी मृत्यु निश्चित रूप से संवत् १५९३ और संवत् १६२४ के बीच ही कभी हुई होगी

मीराबाई का जयमल से विशेष स्नेह था। दोनों बचपन में साथ-साथ खेले थे और प्रकृति से धार्मिक थे। अनुमान यह है कि जयमल की ही प्रेरणा से ही राणा उदयसिंह ने मीरां को द्वारका से बुलाया था। मीरां के द्वारका जाने के पूर्व से ही चित्तौड़ तथा मेड़ता के ऊपर विरोधियों की विशेष क्रूर दृष्टि थी। संवत् १५९०

---

(१) उदयपुर राज्य का इतिहास, पृष्ठ ४११
(२) अकबरनामे का अँगरेजी अनुवाद वोल्यूम २, पृष्ठ ४७५-७६
(३) उदयपुर राज्य का इतिहास, पृष्ठ ४११
(४) वीरविनोद भाग २ पृष्ठ ८०-८१

में मालदेव ने मेड़ते पर आक्रमण करके उसे घेर लिया। पहली बार सफलता नहीं मिली दूसरी बार फिर आक्रमण किया। इसी बीच राणा उदयसिंह अवसर से आ निकले और जयमल को समझा-बुझाकर अपने साथ ले लिया। इससे मालदेव का मेड़ते पर अधिकार हो गया। इस प्रकार संवत् १६१० में जयमल उदयसिंह के साथ रहने लगे थे और संवत् १६११ तक उन्हीं के यहाँ थे।

मीराँ ने अपने एक पद में कहा है कि—

सीसाँ चुणतां आसी सीसा, पंडर री म्हारा केस।
मीराँ के प्रभु कबरे मिलोगे तज या नगर नरेस।

केसों के 'पंडर' पड़ने का कोई समय तो निश्चित नहीं है पर प्रायः जिस स्वर में यह बात कही गई है, उससे यौवन के ढलने का संकेत मिलता है। संवत् १६१०-११ में मीराँ लगभग ५०-५५ वर्ष की हो गई थीं।

इस प्रकार मीराँ की मृत्यु की निश्चित तिथि निर्धारित करना तो संभव नहीं है पर परिस्थितियों के साम्य के आधार पर उसे संवत् १६१० और १६११ के बीच माना जा सकता है।

रचनायें

मीरांबाई की रचनाओं के संग्रह-केन्द्र

विक्रम की सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दियों में राजस्थान की साहित्यिक सामग्री को सुरक्षा के लिए निम्नलिखित आश्रय मिले—

(१) राजकीय ग्रंथागार
(२) धार्मिक-सांप्रदायिक गद्दियाँ
(३) लेखनजीवी तथा साहित्य-व्यवसायी वर्ग जैसे चारणों और भाटों के संग्रहालय
(४) साहित्यिक संगीत-प्रेमी अथवा धर्मशील सद्गृहस्थों के घर
(५) जनस्मृति

[१] प्रथम आश्रय मीराँ की रचनाओं को नहीं मिला। उनकी कृतियों के तीन राजकीय केन्द्रों में सुरक्षित रखे जाने की विशेष संभावना थी– (क) कुड़की और मेड़ता, (ख) जोधपुर तथा (ग) चित्तौड़ और उदयपुर क्योंकि उनका सम्बन्ध मीराँ के पितृ तथा पति-परिवारों से था।

(क) मीराँ के पिता मेड़ता राज्य के अन्तर्गत कुड़की के १२ गाँव की छोटी-सी जागीर के स्वामी थे। ये राजकीय नगर प्रायः युद्धों से आक्रान्त रहते थे। मीराँ के जीवन-काल में ही जोधपुर-नरेश राव मालदेव और मेड़ता-स्वामी राव वीरमदेव की शत्रुता इस सीमा तक पहुँच गई थी कि संवत् १५९१ में मालदेव ने मेड़तिया राठौड़ों के राज-परिवार को वहाँ से पलायन करने के लिए विवश कर दिया और चतुर्भुजजी के मन्दिर को छोड़कर वहाँ के सभी भवन ध्वस्त कर दिए। इसके पश्चात् १०–१२ वर्षों के लिए मेड़ता फिर मीराँ के ताऊ राव वीरमदेव और उनके पश्चात् उनके पुत्र जयमल के हाथ में आ गया था पर उनका अधिकार वहाँ स्थायी नहीं रहा। संवत् १६१६ के पश्चात् तो उन्होंने उसे पुनः अधिकृत करने का प्रयास ही छोड़ दिया। आज भी मीराँ के चचेरे भाई जयमल के वंशज बदनोर में हैं मेड़ता में नहीं। अतएव वहाँ पर राजकीय प्रयत्न द्वारा मीराँ के जीवन में या उनके स्वर्गवास के थोड़े समय पश्चात् ही उनकी रचनाओं का संग्रह और संरक्षण सम्भव नहीं था।

(ख) जोधपुर मीरां के पूर्वज राठोड़ों के एक शक्तिशाली राज्य का केन्द्र था परन्तु वहाँ के स्वामियों में मेड़तियों के विरुद्ध रोष था। दूसरे, जोधपुर में महाराजा मानसिंह (सं० १८६१–सं० १९००) द्वारा "पुस्तक-प्रकाश" की स्थापना के पूर्व साहित्यिक सामग्री के संग्रह की कोई अच्छी व्यवस्था भी नहीं थी। अतः जोधपुर के शासकों ने मीरां की रचनाओं के संग्रह के प्रति उपेक्षा दिखाई और फलस्वरूप आज वहाँ पुस्तक-प्रकाश में सुरक्षित कुछ संगीत गुटकों के अतिरिक्त मीरां के पदों की कोई प्राचीन प्रति नहीं मिलती।

(ग) मीरां के श्वसुर-कुल का राज्य-केन्द्र संवत् १६२४ तक चित्तोड़ था। चित्तोड़ के पतन के पश्चात् उदयपुर राजधानी बना। इन दोनों में से कहीं भी राजकीय संग्रहालयों में मीरां की रचनाएं न होने के दो प्रमुख कारण हैं—

(अ) मीरां के चित्तोड़ छोड़ने के बाद ही वह युद्ध की विभीषिकाओं से नष्टप्राय हो गया। राज-परिवार विपन्न होकर नई बसाई हुई राजधानी उदयपुर चला गया पर शान्ति वहाँ भी नहीं रही। वहाँ के प्रारम्भिक राणाओं का जीवन अत्यन्त विषम अव्यवस्थित और अशान्त परिस्थितियों में बीता। वे स्वतंत्रता की रक्षा के लिए तत्कालीन शासकों के विरुद्ध अनवरत संघर्ष में लगे रहे और जो समय इससे बचा वह आपसी झगड़ों में बीत गया। साहित्यिक संग्रह का कार्य उनके लिए उन परिस्थितियों में संभव ही नहीं था।

(आ) चित्तोड़ और बाद में उदयपुर के राणा-परिवार के प्रमुख व्यक्ति मीरां को बहुत समय तक अपने कुल का कलंक मानते रहे। अतः मीरां के प्रति उनमें रोष और क्षोभ का भाव था जिसका सहज परिणाम हुआ मीरां तथा उनकी रचनाओं के प्रति उपेक्षा।

[२] मीरां ने कोई शिष्य नहीं मूँडा इस अभाव में ऐसी धार्मिक-साम्प्रदायिक गद्दियाँ भी स्थापित नहीं हुईं, जहाँ उनकी रचनाएँ आग्रहपूर्वक सुरक्षित रहतीं। वे स्वयं भी किसी विशेष सम्प्रदाय में दीक्षित नहीं हुई थीं। अतएव उन्हें किसी पूर्व प्रचलित संप्रदाय के पोषण का तो प्रश्न ही नहीं था कुछ सम्प्रदाय के लोग तो उनसे इतने रुष्ट थे कि 'बारी रांड' के विशेषणों से ही उनका स्वागत करते थे। जब मीरां का महत्व जनता में प्रतिष्ठित हो गया तब विभिन्न संप्रदायों की पोथियों में उनके पदों को स्थान मिलने लगा' वह भी जोड़-तोड़ के साथ।

[३] मीरां के युग के लेखनजीवी और साहित्य-व्यवसायी वर्गों ने भी तत्कालीन साहित्यिक सामग्री को संरक्षण प्रदान किया था पर ये वर्ग (चारण भाट इत्यादि) राज्याश्रित थे। अतएव राजनैतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण व्यक्तियों द्वारा रचित अथवा उनके सम्बन्ध में लिखित साहित्य को ही इन बेचारों ने महत्व

दिया। उनकी जीविका के लिए आवश्यक भी यही था। ऐसी दशा में राजनीतिक महत्व से शून्य, धार्मतवर्ग द्वारा उपेक्षित और सदा-सदा कमकिसी तक कहीं जाने वाली के अलंकृत भक्ति-गीत तत्कालीन राजन्य वर्ग पर आश्रित और उनके शृंगार तथा वीरता के गीत गाकर पेट भरने वाले चारण और भाटों द्वारा सुरक्षित कैसे रखे जा सकते थे ?

[४–५] मीराँ की रचनाएँ जनता का बहुत भाई। वे लोक-मानस में छा गई। मधुर भक्ति भावना के साथ ही लोक-रंजक संगीतात्मकता और सरस साहित्यिकता के कलात्मक सम्मिश्रण के कारण साहित्य-संगीत प्रेमियों तथा भक्ति-प्राण सद्गृहस्थों के वैयक्तिक संग्रहालयों में उन्हें आदरपूर्ण स्थान मिला। मीराँ के गीतों में एक विशेषता और है। उसमें नारीत्व अत्यन्त मधुर और उदात्त स्वरों में अपनी लौकिक और अलौकिक व्यथा के साथ अभिव्यक्त हुआ है। अतः भक्तों के साथ नारी वर्ग में उसका विशेष प्रचलन हुआ। यही अभिव्यक्ति उन्हें काल के क्रूर करों से बचाती रहीं।

प्रमुख प्रकाशित संग्रह और उनके आधार :

मीराँबाई की रचनाएं मुद्रित होकर दो रूपों में सामने आई हैं —

(१) गौण रूप से उद्धरण स्वरूप मीराँबाई के जीवन और काव्य पर प्रकाश डालने वाले ग्रंथों तथा लेखों में।

(२) मुख्य रूप से सीधे—

(क) संतों भक्तों या कवियों के सम्मिलित संकलनों में।

(ख) मीराँबाई के स्वतंत्र पद-संग्रहों में और,

(ग) पत्र-पत्रिकाओं शोध-रिपोर्टों तथा स्मृति-ग्रंथादि में लोक मूचनाओं के रूप में।

पहले प्रकार के ग्रंथ वस्तुतः मीराँ की रचनाओं के संग्रह नहीं हैं और उनमें प्रायः मीराँ के पदों के पूर्वप्रकाशित संग्रहों की सामग्री का ही उपयोग मिलता है परन्तु इस कोटि की कुछ प्रारंभिक कृतियों में मीराँ के पदों के उद्धरण प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों अथवा पूर्व प्रचलित मौखिक परंपराओं अथवा दोनों से लिए गए हैं। इन ग्रंथों का आधार अप्रकाशित सामग्री है जो कुछ अंशों में मौलिक और महत्वपूर्ण भी है और बाद के अधिकांश प्रकाशित संग्रहों में उनकी सामग्री का उपयोग किया गया है।

अतः इस अध्याय में मीराँ के प्रकाशित पद-संग्रहों पर विचार करते समय, (सन् १६०० के आसपास) प्रकाशित उन जीवनी और काव्य-सम्बन्धी ग्रंथों पर

भी प्रकाश डाला गया है, जिनके द्वारा किसी नए स्वतंत्र स्रोत की अप्रकाशित सामग्री प्रकाश में आई है। पत्र-पत्रिकाओं, शोध-रिपोर्टों तथा स्मृति-ग्रंथादि में शोध सूचनाओं के अन्तर्गत प्रकाशित मीरां के पदों का महत्व तो स्पष्ट ही है।

मीरां की रचनाओं के ११ संग्रहों का पता चलता है। उनमें से जिन संकलनों को किसी रूप में महत्व मिला है, उन्हीं का विवेचन अगले पृष्ठों में किया गया है। प्रमुख प्रकाशित संग्रह तथा उनके आधार इस प्रकार हैं —

(१) १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में १२ वर्ष परिश्रम करके उदयपुर के एक गौड़ ब्राह्मण कृष्णानन्द व्यास देव रागसागर ने 'संगीत राग कल्पद्रुम' नामक संगीत-संबंधी ग्रंथ का प्रणयन किया, जो पहली बार सन् १८४२ में प्रकाशित हुआ।[1] मीरां के पदों का सर्व प्रथम मुद्रित रूप इसी ग्रंथ में मिलता है। इसमें रागों के उदाहरण-स्वरूप 'मीरां' छाप के या मीरां का उल्लेख करनेवाले ४१ पद दिए हुए हैं। इनमें से २ पद तो वस्तुतः बख्तावर कवि के हैं। एक पद जिसमें चैतन्य का उल्लेख है कुछ पाठभेद के साथ दो स्थानों पर दिया हुआ है। इस प्रकार मीरां के कुल ४० पद रह जाते हैं।[2] संगीत राग-कल्पद्रुम की सामग्री का उपयोग ग्रियर्सन वियोगी हरि और ब्रजरत्नदास आदि अनेक विद्वानों ने किया है। इसमें दिए गए पद भारत के विभिन्न भागों से एकत्र किए गए हैं और उनके संकलन में गीतों की प्रामाणिकता की अपेक्षा उनके संगीतात्मक स्वरूप पर अधिक ध्यान रखा गया है।[3] इसीलिए 'म्हारे हिरदे लिख्यो जी हरि नाम' जैसे लोक-गीत भी इसमें संगृहीत हैं।

(२) गुजरात में १९ वीं शती के उत्तरार्द्ध में इच्छाराम सूर्यराम देसाई नामक साहित्य प्रेमी शोधक ने प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर गुजराती काव्य का संग्रह आरंभ किया, जिसके फलस्वरूप 'बृहत् काव्य-दोहन' नाम का काव्य-संग्रह १० भागों में प्रकाशित हुआ। नरसिंह मेहता तुलसी प्रेमानन्द भक्त मानव वल्लभ, धीरो आदि गुजराती के अनेक कवियों के साथ मीरां की रचनाएँ भी उसमें संकलित हैं। इस ग्रंथ के पहले, दूसरे, पाँचवें छठें तथा सातवें भागों में क्रमशः मीरां-छाप के ९ १७ १६, ५ और ११९ पद संगृहीत हैं। प्रथम भाग में 'सत्य भामानुं रूसणुं' नामक पद एक लघु कथात्मक गेय रचना भी दी हुई है। इस प्रकार

---

(१) इसका द्वितीय संशोधित संस्करण १९१४ में बंगीय साहित्य परिषद् द्वारा प्रकाशित हुआ था। प्रथम संस्करण अनुपलब्ध है।

(२) डा० श्रीकृष्णलाल ने इसमें मीरां के ४५ पद होने का उल्लेख किया है।

(३) रागाज एंड रागिनीज, ओ० सी० गंगोली, पृष्ठ ९७

बृहद् काव्य-दोहन में कुल मिलाकर १३६ पद और एक अन्य रचना संकलित है। इस संग्रह के उक्त विभिन्न भागों के प्रथम संस्करण सन् १८८७ और सन् १९११ के बीच प्रकाशित हुए थे।

बृहद् काव्य-दोहन के पदों का आधार गुजरात में प्राप्त मीरां के पदों की ८ हस्तलिखित प्रतियां हैं। किसी समय ये प्रतियां गुजराती प्रेस बम्बई के संग्रह में थीं। गुजरात के हस्तलिखित ग्रंथों की संकलित यादी से पता चलता है कि इनमें से 'मूल प्रत' दो ही थीं, चार अन्य प्रतियां गुजरात के विभिन्न स्थानों में पाई गई प्रतियों की 'नकलें' थीं।

(३) खड़ीबोली प्रदेश में सबसे पहले सन् १८९७ में मेरठमें पं० ईश्वरी प्रसाद रामचन्द्र ने 'मीरांबाई के भजन' नामक एक छोटी-सी पुस्तिका प्रकाशित की थी। इसमें कुल ५२ भजन थे जिसमें से २० भजन मीरां की छाप के थे और शेष सूर, तुलसी तथा नरसी इत्यादि भक्तों के। ये भजन 'भक्तों के मुख से सुनकर' एकत्र किए गए थे। इस पुस्तक का दूसरा संस्करण सन् १९०५ में प्रकाशित हुआ, जिसकी भूमिका से ज्ञात होता है कि 'सेठ मुलतानमल प्रिंटिंग प्रेस नीमच वालों ने इस पुस्तक में प्रकाशित नरसी तुलसीदास आदि सब कवियों के भजनों में मीरांबाई के भजन की छाप डाल-डाल कर' एक नए रूप में उन्हें प्रकाशित कर दिया।

(४) सन् १९०१ में 'मीरांबाई ऑव उदेपुर' नामक पुस्तक एक बंगाली लेखक श्री उपेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने लिखी जिसमें मीरांबाई के साथ कुछ और भक्तों के पदों को बंगाली अनुवाद के साथ प्रस्तुत किया।

(५) सन् १९०१ में कार्तिकप्रसाद खत्री कृत 'मीरांबाई का जीवन-चरित्र' काशी से दूसरी बार प्रकाशित हुआ।[1] यद्यपि इसमें प्रमुख रूप से मीरांबाई की जीवनी देने का प्रयास है पर उदाहरण-स्वरूप मीरांबाई के २१ पद भी इसमें दिए गए हैं। अतः मीरां के तत्कालीन पद-संग्रहों के आकार को देखते हुए इसे भी उस कोटि में रखा जा सकता है। खत्री जी ने स्वयं भूमिका में स्पष्ट कर दिया है कि "इस पुस्तक में जो कुछ लिखा गया है उसका अधिकांश बांधवेश बैकुंठवासी महाराजाधिराज रघुराज सिंह जु देव के संग्रह से संगृहीत है।"

(६) सन् १९०२ में मुंशी देवीप्रसाद कृत 'महिला मृदु वाणी' काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुई। इसमें 'काव्य कुशला कविकाताओं की काव्य-रचना और जीवन-चरित्रों का वर्णन' है। इसमें दिए हुए मीरां के पद विशेष

(१) प्रथम संस्करण उपलब्ध नहीं हुआ।

टम्य इसलिए हैं कि उनका आधार अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय है। मुं० देवी-
प्रसाद जी को मीरां के ये पद तत्कालीन जोधपुर नरेश श्री सोहनसिंह से और
म जोधपुर के राजकीय संग्रहालय 'पुस्तक-प्रकाश' में संगृहीत पोथियों से प्राप्त
ए थे। श्री सोहनसिंह जी के पदों का मूल आधार भी 'पुस्तक-प्रकाश' में सुरक्षित
थे ही थे।

(७) इसी वर्ष श्री भक्ति शिरोमणि मीरांबाई के भजन नाम से एक
ग्रह भी विश्वेश्वर प्रेस बनारस से भी प्रकाशित हुआ। इसमें मीरां के १४ भजन
गृहीत थे। इनका आधार मौखिक परंपरा तथा पूर्व प्रकाशित संग्रह थे। इसमें
छ विशुद्ध आधुनिक परिनिष्ठित खड़ी बोली के पद भी हैं जैसे 'मीरां का प्रभु
भी दासी बनायो झूठे धंधों से मेरा फंदा छुड़ाया। धर्मोपदेश नित-प्रति सुनती
मनकुवास से भी डरती हूँ।' आदि।

(८) लगभग इसी समय 'मीरांबाई के भजन' नामक एक छोटीसी
स्तिका नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित हुई। इसकी दूसरी आवृत्ति सन्
१९११ में प्रकाशित हुई थी। इसकी कोई प्रति लेखक को देखने नहीं मिली
न्तु डॉ॰ श्रीकृष्णलाल का मत है कि इसका आधार मौखिक रूप से प्रचलित
ही थे कोई विशिष्ट पोथी नहीं।[1]

(९) जिस समय गुजरात में बृहत् काव्य-दोहन के संपादन का कार्य
० मु० देसाई कर रहे थे और राजस्थान में मुंशी देवीप्रसाद जी मीरां-सम्बन्धी
ज में रत थे लगभग उसी समय त्र्यंबक हरी आप्टे महाराष्ट्र में मराठी सन्तों की
गाथाओं को संगृहीत और संपादित कर रहे थे जिसे उन्होंने शक संवत् १८३०
(सन् १९०८) गाथा पंचक' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित किया। इसके
ी सन्त गाथा" नामक अंश में कबीर, कमाल सूरदास नरसिंह मेहता सजन
(सजना) कसाई, ललितहृता आदि अठारह सन्तों के साथ मीरांबाई के ११६ पद
हैं। ये पद प्रसिद्ध ज्ञानेश्वरी भाषान्तरकार श्री नाना महाराज साखरे के संग्रह
पुरानी हस्तलिखित पोथियों से लिए गए हैं। प्रतियों का प्रकाश विवरण इसमें
हीं दिया। इतना निश्चित है कि ये प्रतियाँ वारकरी संप्रदाय के संतों द्वारा लिपि-
द्ध थीं। साखरे जी का जीवन-काल विक्रमीय संवत् १८२४ से संवत् १९०१
क था और वे वारकरी संप्रदाय के प्रमुख आचार्य थे।

(१०) सन् १९०२ में प्रयाग में पंडित सुधाकरद्विवेदी के आग्रह से बैलवेडियर
स की ओर से प्राचीन सन्तों और महात्माओं की वाणी का संकलन कार्य आरम्भ

(१) मीरांबाई, पृष्ठ ८१

हुआ और इसके फलस्वरूप 'सन्तबानी पुस्तक-माला' प्रकाशित हुई। इनमें से एक थी मीराबाई की शब्दावली जिसमें मीराँ के १८ शब्द (पद) विभिन्न प्रसंग का मजन करके पाई गई प्रतियों के आधार पर प्रकाशित किए गए। जो शब्द फुटकर मिले उनमें सर्व साधारण के उपकारक शब्दों को भी उसमें सम्मिलित कर दिया गया। इन्हीं में कुछ मीराँ के बीस शब्द लेकर वा नवीन शब्दों के साथ सन् १९१५ में सन्तबानी संग्रह भाग २ (शब्द संग्रह) में प्रकाशित किए गए। मीराँबाई की शब्दावली में संगृहीत ये शब्द प्रचलित सन्त-मत की पोथियों से लिए गए प्रतीत होते हैं क्योंकि उनमें से अधिकांश में मीराँ की भावना को कट्टर सन्तमत के अनुकूल प्रस्तुत करने का प्रयत्न स्पष्ट है।

(११) सन् १९२२ में महाराष्ट्र में मीराँबाई के पदों का एक बृहत् संग्रह प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयास हुआ। श्री माधिराव मोराजी कार्मेकर ने 'मीराँबाई भजन भाण्डार अर्थात् मीराँबाई कृत पद रत्न संग्रह' नामक ग्रंथ संपादित करके 'जगदीश छापखाना गिरगाम बम्बई' से प्रकाशित कराया। इसमें २५ पृष्ठ की भूमिका के साथ मीराँबाई के ३५२ पद संगृहीत थे। इस संग्रह के पूर्व मीराँ के १२६ से अधिक पद किसी एक ग्रंथ में नहीं आए हैं। हिंदी में सन् १९४८ तक (ब्रजरत्नदास द्वारा संपादित मीराँ-माधुरी के प्रकाशन काल तक) इतना बड़ा संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ था और गुजराती में अबतक मीराँ की इतनी रचनाएं एक स्थान पर पुस्तक के रूप में प्रकाशित नहीं हुई हैं। "मीराँबाई भजन-भांडार" के संपादक ने 'पुष्कलविध अनेक ठिकाणी शोध' करके इन पदों का प्राप्त किया था। ये पद 'हिन्दुस्थानी व गुजराती' भाषाओं में थे। इस ग्रंथ में मीराँ के नाम से प्राप्त हर पद को स्थान दे दिया गया है। संग्रहकर्ता ने संपादन का कार्य नहीं किया उसने न प्राप्त पोथियों में दिये विभिन्न पाठों की तुलना की और न पाठ-भेद देने की चिन्ता की है। उसकी दृष्टि भी उतनी साहित्यिक नहीं थी जितनी कि बृहत् काव्य-दोहन के संपादक की पर साथ ही उतनी सांप्रदायिक भी नहीं थी जितनी कि गाथापंचक के संकलनकर्ता की। इन पदों का आधार बृहत् काव्य-दोहन और गाथापंचक में प्रकाशित तथा वारकरी संप्रदाय के कुछ स्फुट गुटकों के पद हैं।

(१२) लगभग इसी समय प्राचीन काव्य-सुधा नामक संग्रह ५ भागों में प्रकाशित हुआ। इसके संपादक तथा संकलनकर्ता थे श्री छगनलाल विद्याराम रावल। इसके प्रथम द्वितीय तथा तृतीय भागों में मीराँबाई के क्रमशः १६ १४ और ३ पद संगृहीत हैं। इसका आधार गुजरात की वे प्रतियाँ हैं जिनका विवरण 'पेठ पुरुषोत्तम विश्राम मावजी का संग्रह' शीर्षक के आगे दिया गया है। बृहत् काव्य-दोहन में संगृहीत पदों को छोड़कर केवल अप्रकाशित पदों को ही इसमें स्थान

दिया गया है। बाद के लगभग सभी "मीराँ-पद-संग्रहकर्ता" बृहत् काव्य-दोहन तथा प्राचीन काव्य-सुधा से ही गुजराती पद संकलित करते रहे हैं।

(१३) प्राचीन काव्य-सुधा के पश्चात् 'सिलेक्शन्स फ्रॉम क्लैसीकल गुजराती लिटरेचर' नामक संकलन बम्बई से प्रकाशित हुआ जिसका संपादन इ० ज० ज० तारापोरवाला ने किया था। इसमें मीराँ-छाप के १०६ पद अन्त में दिए गए हैं। इन पदों को उन्होंने बृहत् काव्य-दोहन से ज्यों-का-त्यों उतार लिया है।

(१४) सन् १६१० में दो संग्रह हिन्दी में प्रकाशित हुए। एक था "मीराँ-बाई सहजोबाई दयाबाई का पद-संग्रह" जिसे वियोगी हरि ने संपादित किया था और जो 'गांधी हिन्दी-पुस्तक-भंडार' प्रयाग से प्रकाशित हुआ। इसमें मीराँ के प्रचलित ६६ पद संगृहीत थे जो पूर्व प्रकाशित संग्रहों में से चयन करके रख दिए गए थे। अत इस संग्रह का महत्व सुन्दर चयनिका के रूप में ही है।

इसी वर्ष का दूसरा संग्रह था "मीराँ-मन्दाकिनी" श्री नरोत्तमदास स्वामी एम० ए० द्वारा संकलित और संपादित। यह संस्करण आगरा से प्रकाशित हुआ था। यह संग्रह अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि परवर्ती संग्रहों में इसको भी आधार रूप में ग्रहण किया गया है। इस संग्रह में कुल १६१ पद हैं। संपादक के अनुसार 'इस संकलन का पाठ एक प्राचीन हस्तलिखित पुस्तक के आधार पर निश्चित किया गया है। यह पोथी नरोत्तमदास स्वामी के अपने संग्रह की है। इसमें कबीर, दादूदास नामदेव जनहरिदास साधुराम मन्नदास माधवदास आदि अनेक कवियों का विशाल संग्रह है। लिपि-काल इसमें नहीं दिया गया है परन्तु रामसनेही सम्प्रदाय में लिपिबद्ध इस पोथी में संत रामचरण जी के कुछ बाद के कुछ सन्तों के पद भी हैं जिससे प्रतीत होता है कि यह सं० १६०० के आसपास संभवत उसके बाद की लिपिबद्ध हुई है। श्री अगरचन्द नाहटा भी इसका लिपिकाल २० वीं शताब्दी मानते हैं।[1]

संपादक ने इसी प्रति को 'मीराँ-मंदाकिनी' का आधार बनाया है पर उसमें इस पोथी में दिए गए पदों की भाषा अनेक स्थानों पर 'शुद्ध' कर दी गई है। उदाहरण के लिए मूल प्रति में दिए गए एक पद की प्रथम पंक्ति "राम मिलण की चणीं उमावो नित उठ जोऊं ।" मीराँ-मन्दाकिनी में 'राम मिलण रो घणो उमावो नित उठ जोऊं वाटड़ियां' बनकर प्रकाशित हुआ है।[2] अन्य पदों में भी ऐसे भाषा-सम्बन्धी परिवर्तन कर दिए गए हैं।

---

(१) राजस्थान में हिंदी ग्रंथों की खोज, चतुर्थ भाग, पृष्ठ १७
(२) पद १५, प्रथम पंक्ति

(१५) सन् १९११ में वियोगी हरि ने भजन-संग्रह (तीसरा भाग) संपादित किया जिसमें मीरां के ६२ पद संकलित हैं। इस संग्रह की विशेषता 'शब्दार्थ' देने और राग तथा ताल के अनुसार पदों को रखने में है सामग्री की मौलिकता की दृष्टि से यह उपादेय नहीं है।

(१६) सन् १९३२ में एक महत्वपूर्ण संग्रह साहित्य-सम्मेलन प्रयाग द्वारा प्रकाशित हुआ। इसमें पं० परशुराम चतुर्वेदी ने २०१ पद संकलित किए हैं। लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है कि "पुरानी हस्तलिखित मूल प्रतियों के अभाव में केवल कुछ के आधार पर अभी प्रतिलिपियों के सहारे ही इसमें आए हुए पदों के क्रम निश्चित करने पड़े हैं। इसके अधिकांश पद मीरांबाई की शब्दावली (बेलवेडियर प्रेस) तथा *मीरां-मंदाकिनी* (नरोत्तमस्वामी) के आधार पर दिए गए हैं। उपर्युक्त ग्रंथों के समस्त पद चतुर्वेदी जी ने नहीं लिए और साथ ही कुछ नवीन पद भी संगृहीत किए हैं।

संवत् २०१४ (सन् १९५७) में इस संग्रह का सप्तम संशोधित संस्करण प्रकाशित हुआ जिसमें पिछले संस्करणों की सामग्री में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। पिछले संस्करण के ७७—७८ पद छोड़ दिए गए हैं और उनके स्थान पर नए पद रख दिए है। पिछले संस्करण के उन पदों के सम्बन्ध में, जो संवाद के रूप में हैं या संत-मत से विशेष प्रभावित हैं संपादक ने अपना मत व्यक्त किया है और यथा संभव डाकोर की प्रति राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज (तृतीय भाग) गहलोत की 'मीरां' और 'बृहद् मीरां-पद-संग्रह' के पदों के पाठों के आधार पर पाठ निर्धारित किए है। यह संग्रह मीरां के पदों का एक सुंदर संचयन है किसी विशिष्ट खोज की सामग्री का प्रतिनिधित्व नहीं करता।

(१७-१८) सन् १९३४ ई० में श्री मुरलीधर श्रीवास्तव द्वारा संपादित 'मीरांबाई का काव्य' नामक संग्रह साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग से प्रकाशित हुआ।[1] इसमें मीरां के १११ पद थे। इसी वर्ष भुवनेश्वर नाथ माधव का 'मीरां की प्रेम साधना' नामक ग्रंथ वाणी मंदिर प्रेस छपरा से प्रकाशित हुआ। इसमें अन्त में मीरां के १२६ पद भी दिए गए थे। इन दोनों संग्रहों में पूर्व प्रकाशित पद ही संकलित थे। बाद में सन् १९४६ में 'मीरां की प्रेम साधना' का द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया[2] जिसमें पदों की संख्या २१६ कर दी पर इनका आधार भी कोई

(१) प्रो० श्रीवास्तव का कथन है कि यह संग्रह १९३१ में तैयार हो गया था।
(२) सन् १९५७ में इसका तृतीय परिवर्धित संस्करण प्रकाशित हुआ, पर पदों की दृष्टि से इसमें कोई नवीनता नहीं है।

प्राचीन या नवीन लिखित हस्तलिखित पोथी-परम्परा न होकर पूर्व प्रकाशित संग्रह ही रहे। इसमें पं० परशुराम चतुर्वेदी द्वारा संपादित मीराँबाई की पदावली के पुराने संस्करण तथा बेलवेडियर प्रेस की मीराँबाई की शब्दावली के पाठ का ही अनुसरण किया गया।

(१९) संवत् १९९५ (सन् १९३८) में सस्तेव मध्यम-नरनारायण मंदिर, बम्बई द्वारा 'मीराँबाई' नामक एक संग्रह प्रकाशित करवाया जिसमें १०५ गुजराती और १६१ हिंदी के पद संगृहीत हैं। इस समय तक मीराँ के पदों का इतना बड़ा संकलन हिंदी और गुजराती में प्रकाशित नहीं हुआ था। बृहद् काव्य-दोहन तथा प्राचीन काव्य-सुधा के अतिरिक्त किन-किन प्रकाशित-अप्रकाशित प्रतियों का उपयोग इसमें किया गया है यह कहना संभव नहीं है।

(२०) श्रीमती विष्णुकुमारी श्रीवास्तव 'मंजु' ने हिंदी भवन लाहौर से 'मीराँ-पदावली' का प्रकाशन कराया। इसका तीसरा संस्करण सन् १९४८ में निकला था। जिसमें कुल २०१ पद संगृहीत हैं। ग्रंथ की भूमिका में संपादिका ने स्पष्ट कर दिया है कि उसे कोई भी हस्तलिखित प्रति प्राप्त नहीं हुई थी। उनके द्वारा संपादित पदों का आधार निम्नलिखित संग्रह है —

(१) मीराँबाई दयाबाई सहजोबाई का पद-संग्रह (श्री वियोगी हरि)

(२) मीराँबाई की शब्दावली (बेलवेडियर प्रेस)

(३) मीराँ-मंदाकिनी (श्री नरोत्तमस्वामी)

(४) मीराँ की प्रेम साधना (श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र)

(२१) सन् १९४२ में 'मीराँ जीवनी और काव्य' नामक पुस्तक बनारस से प्रकाशित हुई जिसके लेखक और संपादक थे महावीरसिंह गहलोत। इसमें अंत में मीराँ के १०८ पद दिए गए हैं। लेखक के कथनानुसार इनमें से ४० पद इस ग्रंथ से पूर्व प्रकाशित नहीं हुए थे। लेखक ने पदों का आधार नहीं दिया पर 'स्वतः' से राजस्थान में विभिन्न लिखित तथा अलिखित स्रोतों से एकत्र किए गए हैं।

(२२) सन् १९४८ में बनारस से ही डा० ब्रजरत्नदास द्वारा लिखित और संपादित 'मीराँ माधुरी' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। मीराँ के इतने अधिक पद एक स्थान पर इससे पूर्व प्रकाशित नहीं हुए थे। मीराँ-माधुरी के पदों का मूलाधार निम्नलिखित सामग्री है—

(१) महिला मृदुवाणी (मुंशी देवीप्रसाद)

(२) मीराँ-मंदाकिनी (नरोत्तमस्वामी)

(३) मीराँबाई की शब्दावली (बेलवेडियर प्रेस)

(४) पुस्तक-प्रकाश में सुरक्षित 'मीराँ के राग-सोरठ के पद' नामक

हस्तलिखित पोथी ।

(५) बृहद् काव्य-दोहन (भाग ७ वाँ)

(६) पद-प्रसंगमाला में दिए मीराँ के पद

सं० २०१३ में 'मीराँ-माधुरी' का पुनर्प्रकाशन हुआ । इसमें प्रथम संस्करण की पदावली में ३० नए पद बढ़ा दिए गए, जिनमें १० डाकोर की प्रति क १४ काशी की प्रतियों के (मीराँ-स्मृति ग्रंथ में प्रकाशित काशी की प्रति क) ४ सं० १९६२ की विद्या सभा की प्रति के और ६ श्रीकंठ शर्मा द्वारा प्रकाशित पद हैं।

(२३) सन् १९४९ में बंगीय हिन्दी परिषद् कलकत्ता की ओर से मीरा-स्मृति-ग्रंथ प्रकाशित किया गया । इसके अन्त में ललिताप्रसाद सुकुल ने 'मीरा-पदावली' शीर्षक से १०३ पद प्रकाशित किए हैं । इनमें के पहले ६९ पद डाकोर के गोवर्धनदास भट्ट की प्रति से तथा काशी की प्रति से उद्धृत हैं । पाठ की दृष्टि से इस पुस्तक का विशेष महत्त्व है ।

(२४) सन् १९५२ में लोक सेवक प्रकाशक बनारस से 'मीराँ-बृहद् पद-संग्रह' प्रकाशित हुआ । इसकी संपादिका श्रीमती पद्मावती शबनम हैं । इसमें मीराँ के नाम से प्रचलित और प्राप्त ५९० पद संकलित हैं । पदों को विषय और भाषा के अनुसार वर्गीकृत करके रखा गया है । प्रत्येक पद के सम्बन्ध में उसके अन्त में दी गई टिप्पणियों के कारण संग्रह का महत्त्व और भी बढ़ गया है ।

पद-संग्रह की दृष्टि से 'मीराँ-बृहद् पद-संग्रह' का आधार निम्नलिखित है—

१ मीराँबाई की पदावली पं० परशुराम चतुर्वेदी (पुराना संस्करण)

२ मीराँ-माधुरी बाबू ब्रजरत्नदास

३ लोक-गीत-परंपरा से प्राप्त १४ पद जो पहले इसी लेखिका की 'मीराँ-एक अध्ययन' नामक पुस्तक के अन्त में प्रकाशित हो चुके थे ।

४ श्री सूर्यनारायण चतुर्वेदी द्वारा संगृहीत २०० पद

५ पं० परशुराम चतुर्वेदी द्वारा किसी दादू पंथी संत के हस्तलिखित संग्रह के प्राप्त ५२ पद —इसमें से १२ पद ही नवीन हैं । शेष प्रथम ४ स्रोतों के ही हैं ।

(२५) प्रोफेसर मुरलीधर श्रीवास्तव ने सन् १९५६ ईस्वी में मीराँ-दर्शन नामक पुस्तक प्रकाशित की जिसके अन्त में उन्होंने 'प्रामाणिक पदावली' के रूप में १०३ पद दिए हैं । ये पद मीराँ-स्मृति-ग्रंथ में प्रोफेसर ललिताप्रसाद सुकुल द्वारा प्रकाशित 'डाकोर' और 'काशी' की प्रति पर आधारित पदावली के ही हैं ।

(२१) मीराँ सुधा सिंधु—श्री मीराँ प्रकाशन समिति भीलवाड़ा (राजस्थान) द्वारा प्रकाशित, संपादक—स्वामी आनन्दस्वरूप, संवत् २०१४ (सन् १९५७) में स्वामी जी ने मीराँ के पदों का एक विशाल संग्रह प्रकाशित किया है। इसमें १३१२ पद हैं। अभी तक इतना बड़ा संग्रह और कोई प्रकाशित नहीं हुआ है। स्वामी जी की दृष्टि संग्रहात्मक और भक्तिभाव है। अतएव 'मीराँ' छाप की समस्त उपलब्ध रचनाओं को इसमें स्थान दिया है। एक बार मीराँ नाम से प्रचलित समस्त सामग्री का सामने आ जाना अत्यन्त आवश्यक है। इस दृष्टि से प्रस्तुत संग्रह एक स्तुत्य प्रयत्न है।

लेखक ने भी मीराँ के पदों का संकलन किया है। लिखित तथा मौखिक परंपराओं से प्राप्त 'मीराँ-छाप' के इन समस्त पदों और गीतों की संख्या १४०७ है। वस्तुतः अभी तक मीराँ के पदों का पाठानुसंधान नहीं हुआ है। जैसा कि आगे स्पष्ट किया गया है कि अन्य कवियों की कम से कम ७१ रचनाएं मीराँ के नाम पर चल रही हैं। उनके एक-एक पद के अनेक रूपान्तर और बहुत से मीराँ-संबंधी लोक-गीत भी उनके स्वतंत्र पदों के रूप में प्रचलित हैं।

स्फुट रूप में पत्र-पत्रिकाओं तथा खोज-रिपोर्टों में प्रकाशित मीराँ के पद :

(१) 'राजस्थानी' अंक १ जुलाई १९३९ में नरोत्तमदास स्वामी की हस्तलिखित पोथी के आधार पर 'मीराँ के कुछ अप्रकाशित पद' शीर्षक से मीराँ के १० पद दिये गये हैं। पोथी का लिपि-काल अज्ञात है।

(२) 'राजस्थानी' अंक २ (अक्टूबर १९३९) में उसी शीर्षक से श्री शंकर शर्मा आचार्य ने मीराँ के ९ पद प्रकाशित किये हैं। लेखक को प्रो० नरोत्तमदास स्वामी से ज्ञात हुआ कि इनका आधार राजस्थान से प्राप्त हस्तलिखित पोथियाँ हैं। पोथियों का विवरण तथा लिपि-काल अज्ञात है।

(३) भारतीय विद्या भवन द्वारा प्रकाशित 'भारतीय विद्या' के एक अंक में दो पद प्रकाशित हैं। मुनि जिनविजयजी ने लेखक को बताया कि वे लगभग १५० वर्ष प्राचीन गुटके में मिले थे।

राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज तृतीय भाग (उदय सिंह भटनागर) के परिशिष्ट में विविध गुटकों के आधार पर ११ पद प्रकाशित हैं। इनमें से ८ पद संवत् १८७९ में लिपिबद्ध एक गुटके के हैं। दो का लिपि-काल अज्ञात है। शेष जिस गुटके के हैं वह रामद्वारा चौगानवाड़ी उदयपुर में सुरक्षित है। उसमें संवत् १९२५ में रचित शिवकरण का 'भक्तवत्सल राम कौतूहल' भर

सिंह महता को मामेरो' भी लिपिबद्ध है। इससे ज्ञात होता है कि गुटका संवत् १६२१ के बाद किसी समय लिपिबद्ध हुआ था।

अन्य :

(क) मीरां-संबंधी आलोचनात्मक लेखों तथा ग्रंथों में भी मीरां के कुछ ऐसे पद उद्धृत हुए हैं जो बहुत-से संग्रहों में नहीं मिलते या किसी अन्य रूप में महत्त्व पूर्ण हैं। उदाहरण के लिए —

(१) नागरीदास कृत पद-प्रसंगमाला में मीरां के छः पद उद्धृत हुए हैं।

(२) मैकालिफ ने अपने ग्रंथ 'सिख रिलीजन' में बानो के गुरुग्रंथसाहब में आये हुए एक अत्यन्त प्राचीन पद का अनुवाद किया है।

(३) सन् १८६७ में लिखे हुए मुंशी देवीप्रसाद कृत मीरांबाई के जीवन-चरित्र में मीरां के तीन पूरे और एक अधूरा पद संकलित हैं। इनका आधार जोधपुर के पुस्तक-प्रकाश की सामग्री है।

(४) "मीरां-स्मृति-ग्रंथ" में डॉ॰ जगदीश गुप्त ने मीरां के ८ पदों को प्रकाशित किया है। य गुजरात विद्या सभा, अह अहमदाबाद के मं १६६६ में लिपिबद्ध एक गुटके के आधार पर दिए गए हैं।

(ख) मीरां-सम्बन्धी नाटक और उपन्यासों में भी मीरां के पद उद्धृत हैं। इनमें से सबसे उल्लेखनीय है पं॰ पुरुषोत्तमदास पुरोहित कृत 'आदर्श भक्त' अर्थात् 'मीरांबाई' (नाटक)। पुरोहित जी मेड़ता में नायब हाकिम रहे थे और उन्होंने मीरां की जन्मभूमि मेड़ता की मौखिक परंपरा से पद एकत्र किए थे।

उक्त विवरण और विवेचन से स्पष्ट है कि मीरांबाई की रचनाओं के प्रकाशित संग्रहों के स्रोत निम्नलिखित हैं—

१–(क) गुजराती प्रेस में सुरक्षित इच्छाराम सूर्यराम देसाई द्वारा उपलब्ध हस्तलिखित पोथियों की प्रतिलिपि (२ मूल पोथी ४ अन्य पोथियों की नकल)

(ख) श्री पुरुषोत्तम विश्राम मावजी के वैयक्तिक संग्रह में सुरक्षित प्रतियाँ (छ॰ वि॰ रावल के प्रयत्नों द्वारा संगृहीत)

२–पुस्तक-प्रकाश जोधपुर में सुरक्षित हस्तलिखित गुटके

३–रघुराजसिंह देव के संग्रह में सुरक्षित सामग्री

४–वारकरी संप्रदाय के संत मामा साहब सातारे के संग्रह के पोथियाँ

५–रामसनेही संप्रदाय की पोथियाँ

(क) नरोत्तम स्वामी के संग्रह में सुरक्षित एक पोथी

(ख) रामद्वारा चौमीबावड़ी, उदयपुर में सुरक्षित गुटके

६– पं० परशुराम चतुर्वेदी द्वारा उपलब्ध दादू संप्रदाय की एक पोथी की प्रतिलिपि

७– डाकोर तथा काशी की ललिताप्रसाद सुकुल द्वारा उपलब्ध प्रतिलिपियाँ

८– विद्या-सभा मा० अहमदाबाद का एक गुटका

९– नागरीदास कृत पद प्रसंग माला में उद्धृत पद

१०– मौखिक परंपरा– विशेषकर संतों की स्मृति के आधार पर लिपिबद्ध सामग्री

११– अन्य सैकड़ों स्फुट गुटके जिनका स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता पर विवेचन करने पर उनकी सामग्री के उपयोग का अनुमान होता है ।

इस सामग्री के प्रयोग के विषय में सबसे अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि इसका उपयोग विभिन्न संग्रहकर्त्ताओं द्वारा अलग-अलग स्वतंत्र रूप से हुआ है तुलनात्मक अध्ययन का बिलकुल प्रयास नहीं हुआ ।

इनके अतिरिक्त हिन्दी, गुजराती और मराठी क्षेत्रों में पिछले कुछ वर्षों में प्रकाशित मीरांबाई के पदों के लगभग २७ संग्रह और इस लेखक को प्राप्त हुए हैं, परन्तु पदों की नवीनता या आधारभूत सामग्री की दृष्टि से उनका महत्व नहीं है ।

ये संग्रह प्रायः तीन प्रकार के हैं —

(क) विद्यार्थियों के लिए पाठ्य-पुस्तक के रूप में प्रस्तुत संग्रह–इनमें पदों का आधार पूर्व प्रकाशित पद-संग्रह ही है ।

(ख) धार्मिक दृष्टि से 'भजन-संग्रह' के रूप में प्रकाशित संग्रह –इनमें मीरां के प्रशंसकों की रचनाएं और लोक-गीत भी सम्मिलित करने का प्रयास मिलता है ।

(ग) साहित्यिक दृष्टि से प्रकाशित संग्रह –इनमें शोध की दृष्टि नहीं है । साहित्य और भक्तिरस के आस्वादन को ही संग्रह करते समय ध्यान में रखा गया है । अतः इनमें चयन की विशेषता तो मिलती है पर मूल स्रोतों के शोधन की प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव है ।

मीराँ के पदों की हस्तलिखित प्रतियाँ

विद्या-सभा, भद्र, अहमदाबाद में सुरक्षित हस्तलिखित पोथियाँ

संग्रहालय की पोथी-संख्या	लिपि-काल	पद संख्या	विशेष
११० म	सं० १७०१ पौषि वदि ३ सोमवार	१ पद	'ढोला मारूरी चउपई' भी इस पोथी में है। उसी के पीछे सं० १७०१ दिया हुआ है।
४०७ क	सं० १९९१ श्रावण सुदि १२ रविवार	८ पद	भक्तिवत्सलदास द्वारा लिपिबद्ध।
२७७	—	४ पद	रामानंदी संप्रदाय के रघुनाथ स्वामी के शिष्य द्वारा लिपिबद्ध प्रथम १०२ पृष्ठों में मीरा की रचनाएं, बाद में भाषा कबीर, नरसी प्रीतम आदि की रचनाएं।
६८१ म	सं० १८२६ पोस वद, बुधवार	२ पद	संत-मत की एक कबीर का पद जिसमें मीरां का उल्लेख, सूरदास मदनमोहन तुकाराम आदि के पद।
८२६	सं० १७११	१ पद	प्रारंभिक पत्रों में सं० १७११ अंतिम पत्रों में हिजरी सन् ११४० का हिसाब उर्दू में नरसी सूर-नामदेव कबीर आदि के पद।
१०११	—	२ पद	वल्लभ सम्प्रदाय की पोथी। १ पद वस्तुतः छीतस्वामी का है।
१०७१	सं० १९०९ फागण सुद ५	२५ पद	संत-मत की पोथी, नवीन साम्प्रदायिकता का विशेष प्रभाव।

१७४८	सं० १८८१	४ पद	वल्लभ सम्प्रदाय में लिपिबद्ध, हिंदी-गुजराती अक्षर मिले हुए।
१७५१	सं० —	२१ पद	पोथी संख्या १७४६ से विशेष साम्य है।
१७५८	—	१८ पद	संत-सम्प्रदाय में लिपिबद्ध रामानंद का रामरक्षा राम-दास की साखी संत-सम्प्रदायी के दयाराम के पद आदि
१७५९	—	५ गरबी	—
१९९०	—	६ गरबी	हाथ का कागज नवीन प्रति।
१९९२	—	६ गरबी	पोथी संख्या १९९० से विशेष साम्य।
१९९३	सं० १९२५	४ गरबी तथा १ मीरां सम्बन्धी गीत	महीना गरबी तथा भजनों का संग्रह।
८७९	सं० १८०२ ज्येष्ठ कृष्ण षष्ठमी गुरुवासरे	४ पद	रामकृष्ण दास कबीर, नानक दास के पद मेहेरदास कृत भ्रमर गीता आदि।

डाही लक्ष्मी लायब्रेरी नडियाद का संग्रह

बंडल—ग्रन्थ	लिपिकाल	पद-संख्या	विशेष
११२	सं० १९५१	५ पद	कबीर, सूरदास नरसिंह मेहता के पदों तथा प्रेमानंद-कृत हुंडी आदि के साथ मीरां के पद भाषा पर गुजराती प्रभाव स्पष्ट
१६।१९	—	१ पद	गोविंद कृत 'सत्यभामानु रूसणुं' नरसिंह मेहता कबीर, प्रीतम पुरुषोत्तम के साथ

२१५	सं० १८९०	२ पद	दयाराम, पुरुषोत्तम सूरदास रणछोड़ के साथ मीराँ के भी
१०१८	—	४ पद	पोथी दयाराम के काल के बाद की। अंतिम पन्ने फटे हुए।
१२१३	—	४ पद १ मराठी	— नवीन पोथी
१२१४	—		मीराँ के कुछ पद पेंसिल से और कुछ नवीन स्याही से लिखे गए हैं।

नोट — संख्या १०१७ पोथी में मीराँ के एक पद का उल्लेख सूची में है, पर वस्तुतः वह पद उसमें नहीं है। पोथी का लिपिकाल सं० १८८० है।

फार्बस गुजराती सभा बम्बई सुरक्षित हस्तलिखित ग्रंथ

पोथी-संख्या	लिपि-काल	पद संख्या	विशेष
१७५	—	१ पद	अक्षर नागरी भाषा गुजराती, हिंदी लगभग १२५ वर्ष पुरानी
१८	सं० १८२६	१ पद	सूर, तुलसी कबीर, नरसी गंगदास के पद मनमेराम के काफी पद हैं।
८२	१८२४ फाल्गुन बदी ७ सोमवार	१ पद	रामकृष्ण तुलसी सूर प्रेमानंद आदि के पद
७१	—	२ पद— १ मराठी	कबीर, प्रीतम नरसी, रामकृष्ण बनाजी तुलसी के पद
१०७	सं० १८११	२ पद	अक्षर गुजराती
२०१	सं० १७२८ की एक प्रति इसमें संगृहीत है।	१ पद	अक्षर गुजराती मीराँ रणछोड़ रामकृष्ण नरसिंह ब्रह्मानंद आदित्यराम के पद। शुकदेव आख्यान (गद्यरूप) भी
७०	—	३ पद	सूरदास हरिदास मीराँ राजे, इत्यादि — पुरानी लगती है।

१११	प्रकीर्ण पदोप्रने भजन	१ पद	—
११२	पद गुटका	५ पद	—

श्री सेठ पुरुषोत्तम विश्राम मावजी का वैयक्तिक संग्रह

इस संग्रह की हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर प्राचीन काव्य-सुधा का संपादन हुआ था। इनका विवरण श्री के० का० शास्त्री द्वारा संपादित 'मावी' के आधार पर दिया जा रहा है।

पुस्तक मावी की संख्या	विवरण
१५	दयाराम केवल भोलादास, मीराँबाई, भीम रामकृष्ण, मोहनदास, ऊदो वगेरेनीनां पदो
१६	मीराँबाई, ऋषिराज प्रीतम प्रागदास नरसिंह, मीठो, दयाराम देवानंद सूरदास आदि के पद
१७	भीम सूरदास नंददास नरसिंह मीराँ आदि के पद
१८	मीराँ वसंतराम रविदास केशवो चंद्रसखी सूरदास राधाबाई आदि के पद
२०	नरसिंह मीराँ राजे ने पुरुषोत्तमनां पदो
४८	हरिदास नरसिंह ने मीराँ ने निरांतनो पदो
५१	मत्मेराममने मीराँनां पदो
७१	दयाराम केवल भोलादास मीराँ भीमा तुलसीदास हरिदास नरसिंह के गुजराती व्रजभाषा के पद
१७१	कबीर, सूरदास (गुज० पद) नरसिंह मीराँ (गुज २ हि० १) राजे रामकृष्ण कवि जयदेव आदि के पद
२०४	मीराँ नरसिंह, राजे रामकृष्ण जोगीदास भावन बोरे नां हिंदी गुजराती पदो

रामदासी संशोधन (मण्डल), (प० खानदेश)

संग्रहालय की ग्रंथ-संख्या	पद संख्या	पोथी संरक्षण का मूल स्थान	विशेष
१०	१	डाकनी मठ का संग्रह	

६२	१	डोमगांव मठ का संग्रह	
६२	१		
११४	१	सावलाराम बुवा का संग्रह	
१२७	१	,,	
११२	२	बरमा बुवा का संग्रह	
१४३	२	दुर्गाबाई का संग्रह	
१७७	१	तडवले मठ का संग्रह	
१८३	२	,,	शक संवत् १७०८
१८७	१	,,	
१९४	१	,,	
१९८	१	,,	
१९९	९	,,	
२१६	१		
२६०	१	चाफरी मठ	
४१०	२	मालगांव मठ	
४६८	१	इंदुर मठ	(प्राचीन) लगभग २५० वा ३०० वर्ष पुरानी
४६९	२	,,	
४७०	२	,,	
४८७	१	,,	
५६०	२	गिरगांव का संग्रह	
५५४	१	,,	
६०१	१	संकीर्ण संग्रह	
६०५	१	,,	
६७७	१	बीड मठ	
७९२	२	बीड मठ	एक पत्र उपलब्ध है मीराँ-कृत नरसी मेहता की हुंडी इसमें है।
८४६	१	स्वानुभव दिनकर भाग	
९७७	१	स्वानुभव दिनकर भाग	
१२०९	४	गीतांचे का संग्रह	श्री हनुमंत स्वामीयांचा पु[illegible] दिवस फाल्गुन शुक्[illegible] सप्तमी बुधवार

१२०५	१	संकावर प्रांत का संग्रह	
१२१६	२	"	
१२५४	१	"	शक १७५२ विकृती कार्तिक शु० ५ बुधवार
१४४६	१	"	
१५०६	१		
१५१२	४	विदर्भ प्रांत का संग्रह	
१५८६	२		
१९२६	१	"	
१९९१	२	गोविन्द काशीनाथ चांदोरकर	(प्राचीन)

गुजराती प्रेस बम्बई का संग्रह (ई० मु० देसाई का वैयक्तिक संग्रह)

यह संग्रह अब बिखर गया है। इसमें संकलित पोथियों अथवा प्रतिलिपियों के आधार पर बृ० का० दो० के पद प्रकाशित हुए थे। ये मूल प्रतियाँ तो उपलब्ध नहीं हैं, पर इनकी प्रतिलिपियाँ मिलती हैं। अतः इनका विवरण 'गुजराती हाथ प्रतोनी संकलित यादी' (संपादक के० का० शास्त्री बड़ौदा) के आधार पर दिया जा रहा है —

पोथी संख्या	विवरण
६१ ग	नरसिंह मालण मीराँ वल्लभ राधे वगेरेना पदो (नकल)
२४७	धनो जीवणदास रणछोड़ मीराँ गणपत हरिकृष्ण वेगरे ना पदो (नकल)
२०७	मीराँ सूरदास परमानन्द कृष्णदास मोहनदास प्रेमानन्द वेगेरेला गुज० व्रज० पदो (नकल)
२६२	प्रकीर्ण गुज० पदो (मूल प्रत)
१६०	सूरदास मीराँ, धीरो तुलसी रणछोड़ प्रताप वगैरे नां पदो (मूल प्रत) बृ० का० दो० पृष्ठ
छठी	'प्रत' का विवरण इस यादी में नहीं है।

पुस्तक-प्रकाश जोधपुर का संग्रह

(१) मीराँ के पद पत्र ५, राग सोरठ

इसके अतिरिक्त संगीत गुटका संख्या ७ मिश्र २ १ ३ मिश्र १ वार्ता गुटका सं० १२ काव्य-गुटका मिश्र ८ १२ ११ में भी मीरां के पद हैं ।

इनमें कुल पदों की संख्या १८ हैं । इसमें महत्वपूर्ण प्रति राग सोरठ की ही है ।

नागरी प्रचारिणी सभा (काशी) में संगृहीत पोथियां

पोथी का नाम	लिपि-काल	विशेष विवरण
(१) मीरांबाई के पद	—	पूरी प्रति की प्रतिलिपि नहीं है, विस्तृत विवरणिका मात्र है इसमें उदाहरण स्वरूप आदि और अन्त के ८ पद दिये हुए हैं ।
(२) मीरांबाई के पद	१८८८	पूरी प्रति की प्रतिलिपि नहीं है विस्तृत विवरणिका मात्र है उदाहरण स्वरूप— ३ पूरे पद और शेष ४५ पदों की प्रथम पंक्तियाँ दी गई हैं ।
(३) कबीर ग्रंथावली	—	मीरां-छाप का एक पद
(४) मीरांबाई की बानी	१८१२	इसमें आदि और अन्त के १ पद दिए दिए गए हैं ।
(५) पदावली-मीरां गुसाईं नानक मीरां के पद	१९४०	संत सम्प्रदाय की प्रति नाभादास का का छप्पय मीरां के नाम से दिया गया है ।

साहित्य सम्मेलन संग्रहालय (प्रयाग) में संगृहीत पोथियां

(१) पद संग्रह	—	बूँदी से प्राप्त प्रति मीरां के ६ पद
(२) गुटको मीरांबाई के भजना को	—	कोटा से उपलब्ध प्रति मीरां का एक पद ।

प्राच्य विद्या मंदिर, बड़ोदरा

गुटका — सं० १८६२ श्रावण सुदी १४ दो पद अधूरे हैं अक्षर अस्पष्ट हैं

रामद्वारा चौलीवाबड़ी उदयपुर

गुटका	४५ पद	रामसनेही सम्प्रदाय की प्रति, कदाचित् सं० ११२५ के बाद लिपिबद्ध ।

गुटका विविध संग्रह	—	१०४ पद	रामसनेही सम्प्रदाय की प्रति विक्रम की २० वीं शती में लिपिबद्ध।

पुरातत्व मंदिर, जोधपुर

हस्त लिखित प्रति संख्या

१०८६४ – १ पद
१४९६ – २ पद
१०८४५ – १ पद
११६० – ४ पद
१८८२ – १ पद
१०८५१ – १ पद

स्फुट प्रतियाँ

नरोत्तमदास स्वामी की प्रति	१९वीं शती	१९१ पद	रामसनेही सम्प्रदाय में लिपिबद्ध
रमण देसाई की प्रति	सं० १८५१	६८ पद	असाम्प्रदायिक, नागरी दास, कबीर, सूर, नरसी आदि के पद, नवीन प्रतीत होती है।
विनोदचन्द्र की प्रति	सं० १७०७	९१ पद	बीच-बीच में हरिदास सूर आदि के पद।
रमणलाल याज्ञिक की प्रति	—	५ पद	होली पर गाये जाने के लिए अनेक कवियों के होली संबंधी पद, पोथी लगभग ६०-७० वर्ष पुरानी है।
पुरुषोत्तमलाल मेनारिया की प्रति	—	२ पद	पोथी लगभग १०० वर्ष पुरानी प्रतीत होती है।

प्रो० ललिताप्रसाद सुकुल द्वारा प्रकाश में लाई गई पोथियाँ

प्रो० ललिताप्रसाद सुकुल ने मीराँ अभिनन्दन ग्रंथ[1] में 'पदावली परिचय' शीर्षक के अन्तर्गत निम्नलिखित पोथियों का उल्लेख किया है —

(१) डाकोर के गोवर्धनदास की भट्ट की दो प्रतियाँ
  (क) संवत् १६४२ की —६६ पद
  (ख) संवत् १८०३ की — १०३ पद
(२) काशी की ४ प्रतियाँ
  (क) सेठ लाल गोपालदास के संग्रह की स० १७२७ की प्रति
  (ख) नागरी प्रचारिणी की ४ प्रतियाँ
(३) कानपुर की २ प्रतियाँ
(४) रायबरेली की २ प्रतियाँ
(५) मथुरा की ३ प्रतियाँ
(६) जोधपुर और उदयपुर की ५ प्रतियाँ

इनमें से जोधपुर उदयपुर और काशी की प्रतियों का स्वतंत्र रूप से उल्लेख किया जा चुका है। कानपुर की १ और रायबरेली तथा मथुरा की प्रतियाँ उपलब्ध नहीं हैं। डाकोर की दोनों प्रतियों की (काशी की गोपालदास के संग्रह की और कानपुर की) प्रतिलिपि प्रो० ललिताप्रसाद सुकुल के पास थी। मूल इनका भी उपलब्ध नहीं है।

श्री हरिनारायण पुरोहित जयपुर का संग्रह

हस्तलिखित ग्रंथों के संग्रह की दृष्टि से जयपुर के स्वर्गीय श्री हरिनारायण जी पुरोहित का कार्य स्तुत्य है। उन्होंने लगभग २००० ग्रंथ एकत्र किए थे। मीराँ बाई के पदों का संकलन वे अत्यंत उत्साह से कर रहे थे कि इसी बीच में इस लोक से चले गए। उन्होंने मीराँ के जीवन-चरित्र के सम्बन्ध में भी काफी लिखा-पढ़ी की थी और सामग्री एकत्र की थी। कदाचित् अपने युग में मीराँ के विषय में उनका ज्ञान सबसे अधिक था।

निम्नांकित विवरण तैयार करते समय हरिनारायण पुरोहित की समस्त सामग्री उनके सुपुत्र रामगोपाल पुरोहित के पास कई बस्तों में बंद थी। राजस्थान के लोक-साहित्य के अध्येता श्री पुरुषोत्तम मनारिया के साथ लेखक ने पुरोहित जी के घर पर ही यह विवरण तैयार किया था।

---

(१) पृष्ठ ५

मीरां की रचनाओं से संबन्धित निम्नलिखित हस्तलिखित ग्रंथ उनके संग्रह में थे –

(क) मीरांजी के पद – २ पद

(ख) मीरांबाई के पद – १ पद

(ग) पद संग्रह–नरसी तुलसी शाह हुसेन कवि मनस्तानन्द बालसखी रणछोड़ जन तुलसी आदि के साथ मीरां के पद

(घ) पद संग्रह– मौठजी नरसी मुक्तानन्द बखतावर, सूरदास के साथ मीरां के पद

(ङ) नरसीजी को माहेरो – २ प्रतियां

पुरोहितजी को कितने पद कहाँ से मिले इसका उल्लेख उन्होंने अपने नोट्स में स्पष्टतः किया है। उनके संग्रह के आधार निम्नांकित हैं —

(क) स्वसंग्रह की हस्तलिखित प्रति से – २ पद
 स्वसंग्रह से (खण्डित) २ पद
 अन्य प्रतियों से ६ पद

(ख) अन्य ग्रंथों तथा प्रतियों से संकलित

(१) संगीत राग कल्पद्रुम

(२) नागरीदास के हस्तलिखित ग्रंथ

(३) मीरां मन्दाकिनी तथा अन्य गुजराती पुस्तकें

(४) आदर्श मीरांबाई नाटक (पुरुषोत्तमदास कृत)

(५) मीरांबाई की (स्मरणीयी)

(६) राजस्थानी पत्रिका

(७) कल्याणजी के गुटके

(८) मीरां लीला

(९) मास्टर हरिनारायण जी की हस्तलिखित पोथी

(१०) बीनानाथ के मंदिर की पोथी

(ग) व्यक्तियों से प्राप्त।

(१) जमादार हजारियाम

(२) भवानी शंकर याज्ञिक

पुरोहित रामगोपाल जी ने इन पदों की प्रतिलिपि नहीं करने दी क्योंकि वे अस्वस्थ थे और स्वयं अधिक बैठ नहीं सकते थे। दोनों संग्रहों में पद अधिक नहीं थे।

(३) पुजारी मायूनारायन
(४) सूर्य नारायणका दार्मीच
(५) एक 'भक्त' तथा
(६) काका कालेलकर द्वारा प्रेषित पद
उनके हस्तलिखित संग्रह में कुल मिलाकर ६२१ पद थे।

अन्य ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियाँ

उपर्युक्त पोथियों के अतिरिक्त मीरां रचित कही जाने वाली निम्नलिखित कृतियों की हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं —

१– नरसी मेहता का माहरो	—	७ प्रतियाँ
२– सत्यभामाजीनुं रूसन	—	२ प्रतियाँ
३– नरसिमहताचि हुंडि	—	१ प्रति
४– चरीत (चरित्र)	—	१ प्रति

इन प्रतियों का विवरण सबन्धित रचनाओं की प्रामाणिकता सम्बन्धी समीक्षा के साथ दे दिया गया है।

मीरांबाई की रचनाएँ

'मीरां-कृत' कही जानेवाली रचनाएँ जो पूर्ण या अपूर्ण रूपमें प्राप्त हैं अथवा जिनके उल्लेख मिलते हैं निम्नलिखित हैं —

(१) गीत गोविंद की टीका[1]
(२) नरसी जी का मायरा अथवा माहरा[2]
(३) फुटकर पद[3]
(४) राग सोरठ का पद संग्रह — राग सोरठा का पद[4अ]
(५) मलार राग[5]
(६) राग गोविंद[6अ] अथवा रामगोविंद[6ब]

(१) हिंदुई साहित्य का इतिहास, तासी, अनु० वार्ष्णेय, पृष्ठ २११ 'राजपूताने में हिंदी पुस्तकों की खोज' मुंशी देवीप्रसाद सं० १९९८, पृ० ५ संख्या ४२
(२) वही संख्या १०७ (३) वही, संख्या ५६ (४) वही, संख्या २४१
(४अ) नागरी प्रचारिणी सभा, खोज-रिपोर्ट,सन् १९०२, विवरण संख्या २४२
(५, ६अ) उदयपुर का इतिहास, भाग १, ओझा, पृष्ठ ३६०
(६ब) मीरांबाई मा० नि० मेहता पृष्ठ ८३ शिवसिंह सरोज शिवसिंह सेंगर, पृष्ठ ४८०

(७) सत्यभामानुं रूसणं[१]
(८) मीरां नी गरबी[२]
(९) रुक्मणी मंगल[१]
(१०) नरसी मेहता नी हुंडी[३]
(११) चरीत (चरित्र)[४]

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इन रचनाओं को निम्नलिखित भागों में विभाजित कर सकते हैं —

(क) टीका-ग्रंथ (१)
(ख) प्रबंधात्मक रचनाएं (२, ७ ९, १० ११)
(ग) स्फुट पद तथा अन्य मुक्तक (३ ४ ५, ६ ८)

(क) टीकाग्रन्थ

गीत गोविन्द की टीका —इस रचना का प्रथम उल्लेख विक्रम की १९ वीं शताब्दी में महाराजा श्री मानसिंह जी (जन्म सं० १८३९, मृत्यु सं १९००) के दरबार के कवीन्द्र जोसी (ज्योतिषी) संभुदत्त जी द्वारा महाराज के सामने किया गया था। इस उल्लेख के अनुसार यह ग्रंथ महाराज मानसिंह के समय में जोधपुर के राजकीय ग्रंथागार 'पुस्तक प्रकाश' में था।[५]

---

(१) बृहत् काव्य-दोहन, भाग १, पृष्ठ ८८५, मौडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑव हिंदुस्तान, ग्रियर्सन पृष्ठ १२, कवि-चरित के० का० शास्त्री, पृष्ठ १९९
(२) गुजराती साहित्यना मार्गसूचक स्तंभो, कृ० मो० झवेरी, पृष्ठ ३२, विद्यासभा, अहमदाबाद पोथी-संख्या ११३०, ११३२, ११३३
(३) पं० सूर्य नारायण चतुर्वेदी से प्राप्त सूचना के आधार पर
(४) श्री रामदासी संशोधन (द्वितीय खण्ड) हस्तलिखित ग्रंथ-विवरण, सं० ७५६
(५) राजस्थानी संशोधन मण्डल, धुलिया के हस्तलिखित पोथी-संग्रह की एक प्रति
(६) एक बेर जोधपुर के महाराजा श्री मानसिंह जी की सभा में ये नकली पद पाए जाते थे उनको सुनकर एक सभासद ने कहा कि मीरां स्वर्ग में गई होंगी या नरक में। महाराज ने पूछा, क्यों ? तो कहा कि उसमें पद-पद पर पति की निंदा गाई है जैसे—

> अब नहीं रहूं राणाजी हटकी मन भायो गिरधर सूं ॥१॥
> राणा थी मेवाडो म्हारे को काई करसी ॥२॥
> हथलेवो राणा संग जुड़ियो गिरधर वर परणाणी ॥३॥

—शेष अगले पृष्ठ पर

इस ग्रंथ के विषय में निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं —

(१) तथाकथित मीराँ-कृत 'गीत-गोविन्द की टीका' की कोई पूरी या अधूरी हस्तलिखित या प्रकाशित प्रति नहीं मिलती।

इसके उल्लेख के समय की सामग्री 'पुस्तक-प्रकाश' में अब भी मौजूद है। मीराँ के पदों का ५ पत्रों का एक छोटा-सा हस्तलिखित संग्रह भी वहीं है। कुछ अन्य गुटकों में भी मीराँ के पद हैं पर मीराँ कृत गीत-गोविंद की टीका नहीं है।[1] मुंशी देवीप्रसाद ने शम्भुदत्त जी के कथन के आधार पर ही इसका उल्लेख किया है। ओझाजी ने भी इसका जिक्र नहीं किया। जोधपुर राज्य के इतिहास के पंडित और पुस्तक-प्रकाश तथा पुरातत्त्व-विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री रेउजी ने लेखक को बताया कि पुस्तक-प्रकाश में इस नाम की रचना कभी नहीं रही।

वस्तुतः पुस्तक-प्रकाश में मीराँ-कृत 'गीत-गोविंद की टीका' नामकी कोई रचना नहीं थी। मीराँ ने गोविन्द सम्बन्धी पद या गीत लिखे थे। पुस्तक-प्रकाश में संगृहीत संगीत-गुटकों में ऐसे कई पद मिलते हैं।[2] इन्हीं में से किसी गुटके में मीराँ-छाप के गोविन्द-संबंधी गीतों (पद) को दिखाकर शंभुदत्त जोशी ने राजा मानसिंह का प्रसंग कर दिया होगा।

कई हस्तलिखित पोथियों में मीराँ के ऐसे पद मिलते हैं जिसमें राधा-कृष्ण के संयोग और वियोग की व्यंजना है। विद्या सभा की संवत् १६१५ की एक हस्त-लिखित प्रति में राधा का सुरति के पश्चात् का वर्णन है।

पद इस प्रकार है —

> भर्गी सु बनी वृषभान नंदनी मातसमि रण जीत भावि
> मुख पर स्वेद प्रमक भट छूटी मधुरो चासि मनपति मनावि ॥१॥

पिछले पृष्ठ के टिप्पणी का शेषांश—

महाराजा ने ब्राह्मण जोशी शम्भुदत्त जी की तरफ देखा तो उन्होंने धर्म की—मर्यादा की इस भाव के ये सारे पद मौड़ों के (साधों) घड़े हुए हैं। मीरांबाई तो बड़ी सती और पतिव्रता थीं। वे कब यों ऊल जलूल बकने लगी थीं। उन्होंने 'गीत गोविंद' की टीका बनाई है। वह 'पुस्तक प्रकाश' में से मंगाकर अवलोकन कर लीजिएगा—महाराजा ने वह ग्रंथ मंगाकर देखा तो उसमें लेशमात्र भी इन भजनों का भाव नहीं पाया। —महिला मृदुवाणी

(१) जिन प्रतियों में मीराँ के पद हैं उन सबका विवरण पिछले पृष्ठों में दिया हुआ है।

(२) संगीत-गुटका नं० २, ६, ७ (मिश्र) १२ इत्यादि

मोहन छैल छबीले नागर सुरत ही बोरीमा झुलत बाजि।
ओढ घूमट रतपेस महारस भासत मदन ठोर नांहि पावि ॥२॥
हरि के नख रवि उदय बिराजीत बिन तारावली हार देखावैत।
मीराँ प्रभु गिरीधर छवी सिरखत बदन कोटि रवि जाति लजावैत॥

इस प्रकार के राधाकृष्ण-शृंगार के पदों अथवा गोविन्द के प्रणय गीतों के कारण मीराँ को गीत-गोविन्द की टीकाकार माने जाने लगा हो तो भी कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

महाराणा कुंभा ने गीत-गोविन्द पर 'रसिक प्रिया' टीका लिखी थी।[1] मीराँ ने भी 'गोविन्द का गुण' गाया था। दोनों साहित्य संगीत और धर्म की ओर विशेष प्रवृत्त थे। चित्तौड़ के दुर्ग में कुंभस्याम (महाराणा कुंभा द्वारा निर्मितमंदिर) के समीप ही मीराँबाई का मंदिर है। दोनों के सामीप्य और सादृश्य के कारण टॉड ने मीराँ को राणा कुंभा की पत्नी मान लेने की भूल की थी और अब भी कुछ लोग उस भ्रम को छोड़ नहीं पाए हैं। इतना ही नहीं इसी आधार पर कुंभा के मीराँ द्वारा काव्य-प्रेरणा और शिक्षा प्राप्त करने तक का अनुमान किया जाने लगा। अतः यह असंभव नहीं है कि मीराँ को गीत गोविन्द की टीका का रचयिता मान लेना भी उपर्युक्त परिस्थिति से ही उत्पन्न भ्रम हो।

एक यह भी अनुश्रुति है कि मीराँबाई ने गीत-गोविन्द की टीका नहीं की थी महाराणा कुंभा कृत टीका की व्याख्या की थी।[2] वस्तुतः यह मान्यता भी उपर्युक्त परिस्थिति से उत्पन्न संयोग का परिणाम है।

मीराँ का काव्य भक्ति-भरित भावेशपूर्ण क्षणों की प्रयासहीन वाणी है। वे अपने प्रिय आराध्य में इतनी तन्मय थी कि बैठकर ग्रंथ रचने का अवकाश उन्हें न था। टीका और टीका की व्याख्या न उनकी भक्तिसंयुक्त भावना के अनुकूल थी और न उनके निस्पृह वैराग्यपूर्ण स्त्री-स्वभाव के।

---

(१) चित्तौड़ के दुर्ग में स्थित कीर्ति-स्तंभ की प्रशस्ति में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है :—

येनाकारि मुरारिसंगतिरसप्रस्यन्दिनी नन्दिनी
वृत्तिर्व्याकृतिचातुरीभिरतुला श्रीगीतगोविन्दके।

(२) मीरां माधुरी, ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ६१

(ख) प्रबंधात्मक रचनाएँ

[१] नरसीजी का मायरा (माहेरो)[1]

हिन्दी में इस ग्रंथ का सबसे पहला उल्लेख मुंशी देवीप्रसाद कृत 'महिला मृदुवाणी' में मिलता है। इसमें आदि, मध्य और अन्त की १८ पंक्तियाँ भी दी गई हैं। पं० परशुराम चतुर्वेदी[2], बाबू ब्रजरत्नदास[3] और डॉ० श्रीकृष्णलाल[4] आदि विद्वानों ने इसी ग्रंथ का उपयोग किया है। इधर पी एच० डी० के लिए स्वीकृत कतिपय शोध-प्रबन्धों में भी इस रचना के सम्बन्ध में संक्षेप में विचार किया गया है। इनमें उल्लेखनीय हैं डॉ० मोतीलाल मेनारिया कृत 'राजस्थान का पिंगल साहित्य'[5] और डॉ० सावित्री सिन्हा का 'मध्यकालीन कवयित्रियाँ'।[6] डॉ० मेनारिया का कथन है कि 'इनमें (माहेरो की प्रतियों में) कहीं मीराँ कृत होने का संकेत नहीं है। वस्तुतः माहेरो की हर पोथी में उसके मीराँ कृत होने के संकेत ही नहीं उल्लेख भी है। डॉ० सिन्हा के अनुसार माहेरा को मीराँ की रचना न मानना न्यायसंगत नहीं है। उन्होंने डॉ० श्रीकृष्णलाल के 'अनुमान' को अपने अनुमान से काटा है कोई तर्क नहीं दिए हैं।

गुजरात के प्राचीन लेखक जैसे एस० एस० मेहता[7] ना० नि० मेहता[8] आदि ने माहेरो का उल्लेख मात्र किया है। उन्होंने इसकी प्रामाणिकता पर विचार नहीं किया। आजकल के कुछ गुजराती विद्वान् तो इस मत के हैं कि सच्ची रचनाएं मीराँ कृत हैं ही नहीं।[9] प्राचीन गुजराती साहित्य के प्रसिद्ध अन्वेषक के० का० शास्त्री बंबई से प्रकाशित माहेरो को ही मीराँ कृत मानते हैं।[10]

इतने मतवैभिन्य के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि इस ग्रंथ की आंतरिक परीक्षा हो।

---

(१) इस ग्रंथ का नाम 'नरसी रो माहेरो' भी मिलता है

(२) मीरांबाई की पदावली, पृष्ठ १४

(३) मीराँ माधुरी, पृष्ठ ६० (४) मीरांबाई, पृष्ठ ८० (५) पृष्ठ ९२

(६) पृष्ठ १११

(७) ए मोनोग्राफ ऑन मीरांबाई अध्याय १६ पृष्ठ १०३

(८) मीरांबाई पृष्ठ ८३

(९) गुजरात एंड इट्स लिटरेचर, के० एम० मुंशी पृष्ठ १८३

(१०) कविचरित पृ० १६५

इस ग्रंथ की निम्नलिखित हस्तलिखित पोथियाँ लेखक को मिली हैं।

क्रम	पोथियों का प्राप्तिस्थान	लिपि काल	लिपि स्थान	सम्प्रदाय (जिसके मठ-मंदिर में उस पोथी का संरक्षण हुआ)	विशेष विवरण
(क)	काशी नागरी प्रचारिणी सभा काशी	वैशाख कृष्ण पंचमी बुधवार १८९९ वि०	बखार मध्ये श्री लक्ष्मीनारायण के मंदिर में	रामानुज	(१) वैष्णव द्वारिका दास की पुस्तक से 'उतार्यो'। (२) पोथी पूर्ण है।
(ख)	साहित्य सम्मेलन संग्रहालय प्रयाग	ज्येष्ठ शुक्ल ८ भौम वार सं० १९१० वि०	नागपुर (मैनवा) बूंदी राज्य	—	पूर्ण पोथी
(ग)	प्राच्य विद्या मंदिर उज्जैन	श्रावण सुदी ५ सं० १९१९	रणोदा	रामानुज	पूर्ण पोथी
(घ)	महाराज परमेश्वरराम डाकोर	—	—	रामानन्दी संप्रदाय (मूँडीवाली शाखा)	अपूर्ण अंतिम कुछ पृष्ठ नहीं बीच में भी कुछ अंश गायब।

(ङ) श्री हरिनारायणजी पुरोहित का व्यक्तिगत ग्रंथालय (दो पोथियों की प्रति-लिपि)				
(१) ईडरगढ़ की प्रति	कार्तिक बदी ११ सं १९१९	जयपुर (महाराज मानसिंह राज्य मध्ये)	–	पूर्ण
(२) नरोत्तमदासजी की प्रति	–	–	–	अपूर्ण
(च) श्रीमालीजी उदयपुर के पास सुरक्षित शांति आश्रम की प्रति	–	–	रामानुज	अपूर्ण व (२) पोथी से अभिन्न
(छ) सरस्वती भंडार, उदयपुर	–	–	–	मुझे देखने को नहीं मिली, श्रीमालीजी से पता लगा कि शांति आश्रम वाली प्रति से मिलती है।

(ग) मुंशी देवीप्रसाद द्वारा उल्लिखित ग्रंथ — जिसकी आधारभूत पोथी कौन-सी थी यह तो अज्ञात है, परंतु उल्लिखित ग्रंथ थोड़े-बहुत अंतर के साथ लगभग प्राप्त पोथियों में प्राप्त है।

उपर्युक्त पोथियों में सामान्य अशुद्धियों और प्रारम्भ तथा अन्त की पंक्तियों में कुछ जोड़-तोड़ के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का विशेष भेद नहीं मिलता। सामग्री की इस एकता के अतिरिक्त दो महत्वपूर्ण साम्य उनमें और हैं (१) वे सब सं० १९०० विक्रमीय के आसपास लिपिबद्ध हुई हैं। (२) उनके लिपिकार या उन्हें सुरक्षित रखनेवाले लोग रामानन्द या रामानुज सम्प्रदायी सन्त महन्त रहे हैं।

अगर नरसी मेहता के सम्बन्ध में के० एम मुंशी का मत[1] मान लिया जाय तो यह माहेरो मीरां कृत हो ही नहीं सकता क्योंकि उनके अनुसार नरसिंह के काल की मर्यादा सं० १५९१ से पूर्व और सं १६६० के बाद नहीं जाती। माहेरो की कथा नरसिंह मेहता के बुढ़ापन की कथा है, जो नरसिंह के संबंध में उक्त मत के मान लेने पर किसी हालत में संवत् १६१९-२ के पहले की नहीं हो सकती और मीरां उस समय इस धरती पर नहीं रही थी। पर, इस मत से गुजराती विद्वान संतुष्ट नहीं हैं।[2] अतः माहेरो तथा उसको मीरां के काल तक पहुँचानेवाली सामग्री की परीक्षा आवश्यक है।

प्रस्तुत माहेरो के प्राचीन रचना होने के भ्रम का एक कारण 'नरसी मेहता को मायैरो' नाम से प्रसिद्ध एक और ग्रंथ है। इसकी कई हस्तलिखित पोथियां प्राप्त हैं।[3] इसके एक प्रकाशित संस्करण को देखकर गुजराती के प्रसिद्ध समालोचक विद्वान् दि० के० का० शास्त्री ने इसको मीरां कृत मान लिया है[4] और इसे पढ़कर हिन्दी के एक समालोचक श्री उदयसिंह भटनागर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'विक्रम सम्वत् १६१६ और शालिवाहन सं० १४८१ में इसकी रचना पूरी हुई।'[5]

शास्त्री जी का अनुमान तो केवल ग्रंथ के नाम पर ही आधारित है। ग्रंथ

---

(१) गुजरात एंड इट्स लिटरेचर, के० एम० मुंशी, पृष्ठ १८५, २००
(२) कविचरित, के० का० शास्त्री, पृष्ठ ४५
(३) एक 'रामद्वारा चोली बावड़ी जयपुर' संग्रह के गुटके में भी है। इसका नाम इस प्रकार दिया हुआ है 'भक्तवत्सल राग कौतूहल नरसिंह म्हता को माम्हेरो लिखकरण कर्ता'
(४) कवि चरित, के० का० शास्त्री, पृष्ठ १६५
(५) राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज 'तृतीय भाग' पृ० ११७

की पुष्पिका तथा बीच बीच में 'रतना खाती' तथा 'सिवकर्म' की छाप[1] से ही उनके अनुमान और सत्य का अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

भटनागर जी का निष्कर्ष उस ग्रंथ की दृष्टि से महत्वपूर्ण हो या न हो लेकिन यह हमारे आलोच्य ग्रंथ की दृष्टि से अवश्य विचारणीय है क्योंकि उसमें एक स्थान पर इसका ('मीराँ-मिथुला' संवाद में मिले माहेरो का) इस प्रकार उल्लेख है कि मानो यह उससे काफ़ी पुरानी रचना हो।[2] यदि उस माहेरा का रचना-काल १६१६ मान लिया जाय (जैसा कि भटनागर जी का मत है) तो मीराँ कृत कहे जानेवाले माहेरा का रचना-काल इससे पूर्व का मानना पड़ेगा और ऐसी स्थिति में उसके मीराँ कृत होने की संभावना ही अधिक प्रतीत होने लगेगी। पर सत्य यह नहीं है। 'भक्तवत्सल बिरदराग कौतूहल नरसी मेहता को माहेरो' के रचना-काल पर विचार करने से यह भ्रम तुरन्त दूर हो जाता है।

जिस रूप में यह रचना (भक्तवत्सल बिरदराग कौतूहल नरसी मेहता माहेरो) आज हमारे सामने है उस रूप में उसमें रतना खाती कृत अंश बहुत ही कम है।[3] जो है उनके मूल अविकृत होने का प्रमाण नहीं है। वर्तमान ग्रंथ तो निश्चित रूप से किसी 'प्राचीन प्रति' और 'द्विज मधेश सीकर तणी आदि गौड़ कुल सार' के मुख से सुनकर उतार ग्रंथों के आधार पर इन्दौर-निवासी रामचरन सिवकरण ने संवत् १६२१ में रचा था और 'प्रकाश राम सात्र (सागर) छापाखाना में छपवाया था।'[4] इसी की प्रतिलिपि एक गुटके में किसी ने की और यह गुटका किसी तरह 'रामद्वारा' जयपुर के पोथी-संग्रह में पहुँच कर प्राचीन ग्रन्थों में स्थान

---

(१) महिमा मर्म्हेरा तणी, खाती कही बणाय'

• • ०

'खाती रतनो यूँ भणें पढ़े सहलफल होय'

(२) मीराँ मिथुला बहुत बखानी। सो यह कथा, इहाँ नहि आनी—भक्तवत्सल बिरद राग कौतूहल नरसी मेहता को माहेरो

(३) यह ग्रंथ मूलतः रतना खाती (बढ़ई) ने लिखा था। इस कृति के जो रूपान्तर मिलते हैं उनमें अब भी अनेक स्थलों पर रतना खाती की छाप मौजूद है।

(४) ग्रंथ पुरातन आदिकी परत मिली सनभव।
अति अहित बहु कष्ट से सोधन कर्यो सर्व ॥
द्विज मधेस सीकर तणो, आद गौड़ कुलसार।
कंठ हुती जोही जिती मुख तैं लयी उतार ॥

(शेष अगले पृष्ठ पर)

पा गया। बाद में यह ग्रंथ कई जगह प्रकाशित हुआ। शिवकर्ण के अपने कथन से ही स्पष्ट है कि इसमें मूल रूप भी अविकृत या अमिश्रित नहीं रहा है। और कुछ भी हो, हमारा प्रयोजन तो सं० १६१६ वि० तिथि से है। यह तिथि दोहे में रखी गई है और शिवकर्ण ने स्पष्टत: कह दिया है कि 'दोहा सकल नये करे हैं।'[1] अत: प्राचीन मूल ग्रंथ की स्थिति मान लेने पर भी इतना तो निश्चित ही है कि 'तिथि' वाला अंश नवीन है। अगर यह बात शिवकर्णजी ने न भी कही होती तो भी संवत् १६१६ को इस कृति का रचना-काल मानने का कोई कारण नहीं था क्योंकि जिन ग्रंथों में यह तिथि है वे माहेरो के रचना-काल की ओर नहीं कृष्ण भगवान् द्वारा नरसी की ओर से माहेरो भरने की घटना के काल की ओर संकेत करते हैं। एक उद्धरण से यह बात स्पष्ट है —

माघ मास सुद सप्तमी आदित्य अरु रविवार।
माहेरो नरसी तणों सांवल भयो भंडार॥
सोला सै सोला तणों विक्रम संवत् जान।
बत्तरासे इक्यासिमी शाके सालिवाहन॥
भक्तों के हित कारणै आद हरि बांध्यो मौड़।
माहेरा में रुपिया लागा छप्पन कोड़॥[2]

अत: यह स्पष्ट है कि रतनाखाती द्वारा रचित और शिवकर्ण द्वारा संशोधित माहेरो अपने वर्तमान रूप में सं० १९२५ की रचना है, न कि सं० १६१६ की और उसमें 'मीरां-मिथुला' संवाद के रूप में प्रचलित माहेरो के उल्लेख का इतना ही अर्थ है कि यह ग्रंथ सं० १९२५ के आसपास काफी प्रचलित था और इसकी मौखिक तथा लिखित परंपराएँ प्राप्त थीं।

पिछले पृष्ठ का शेषांश :

उगनीसौं पच्चीस व संवत्सर विक्रम को।
आछे सत्रासी शक चैत्र शुद्ध कीन्हौं है॥
कह शिवकर्ण सुखसागर प्रकाश राम।
साप छायाखाना में छपाय त्यार कीन्हौं है॥"—पृष्ठ १०१

(१) "*कहू पद नये बनायकर, आगले करे सुधार*
नये मिलाये मन्तरे, अशुभ करे सब टार
दोहा सकल नये करे अब सोरठा नवीन
पुनि जग गायन करत हरि सबहि रसिक कर लीन॥"—पृष्ठ १०५

(२) वही, पृष्ठ १००।

शिवकर्ण द्वारा संशोधित उपर्युक्त माहेरो के उल्लेख की अपेक्षा अधिक भ्रम उत्पन्न करनेवाली निम्नलिखित बातें हमारे आमोच्य माहेरो में ही हैं जिनके कारण प्रायः इसे मीराँ कृत मानने की भूल होती रही है—

(१) समस्त कथा मीराँ के मुख से कहलवाई गई है और इसकी श्रोता है 'मिथुला' जो मीराँ की सखी सेविका और संगिनि कही जाती है।[1]

(२) अधिकतर पोथियों की पुष्पिका में "नरसी केरो माहेरो गावे मीराँ-दास" दिया गया है।[2]

(३) ५, ६, ७ और ८ वें प्रकाशों में मीराँ की छाप के कुछ पद भी हैं।

(४) भाषा में कहीं-कहीं राजस्थानी तथा गुजराती की मिलावट है।

पर इनमें से किसी तर्क के कारण माहरो को मीराँ-कृत सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस विषय में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं —

[१] अपभ्रंश में संवादों के रूप में कथा प्रस्तुत करने की परिपाटी रही है। हिंदी में भी पृथ्वीराज रासो और मानस जैसे ग्रंथ संवादों के रूप में हैं। कथाओं को साधारणतः पशु-पक्षियों देवी-देवताओं और पौराणिक तथा पूर्ववर्ती पुरुषों के संवाद के रूप में प्रस्तुत करने की परिपाटी है। अतः इससे तो यही अनुमान लगाना उचित होगा कि यह रचना मीराँ के बाद उस समय की है जब उनके चरित्र में पौराणिक अलौकिकता का समावेश हो चुका था।

[२] इसमें दिए गए मीराँ-छाप के पद वस्तुतः मीराँ कृत नहीं हैं। वे अधिकतर मध्यभारत और राजस्थान के लोक-गीत हैं जिनमें मीराँ की छाप लगा दी गई है। नरसिंह मेहता के मुख से कहलाए पदों की प्रामाणिकता भी संदिग्ध है। वे उनके प्रामाणिक पद-संग्रहों में नहीं मिलते। एक स्थान पर तो नरसीजी मीराँ के विष को अमृत करने की बात का भी उल्लेख करते हैं।[3] मीराँ स्वयं इस प्रकार की बात उनसे कैसे कहलवा सकती थी?

[३] परवर्ती गुजराती ग्रंथों से तुलना करने पर तो निश्चित हो जाता है कि यह माहरो काफी बाद की रचना है।

---

(१) प्रथम प्रकाश के प्रारंभ में ही —'नरसी को माहेरो गावे मीरांबाई' माहरो की हस्तलिखित पोथी (ख) तथा "मैं मीरां हम उचरूँ"-माहेरो ह० लि० पोथी (क)

(२) कहीं-कहीं 'मीरांबाई' भी मिलता है।

(३) "मीरां" तो भारी मात ज लागर, वाला लेगा बिखडा पीवा "

कथा-संगठन की दृष्टि से प्रस्तुत माहेरो के दो भाग किए जा सकते हैं —

(क) पहले में नरसी महता के पूर्व जन्म की कथा रखी जा सकती है, जिसमें लेखक ने बलात् पीपा और रामानन्द की कथाओं को जोड़ दिया है । पीपा और रामानन्द के महत्व की प्रतिष्ठा के इस सचेतन प्रयत्न से लगता है कि इसके रचयिता का सम्बन्ध पीपा के राजवंश या धर्मवंश से अवश्य होगा । यह अंश विभिन्न पोथियों में कुछ कम-अधिक है ।

(ख) दूसरा भाग 'माहेरो' की मूल कथा का है ।

कथा-संगठन की दृष्टि से यह दूसरा भाग गुजराती कवि विष्णुदास कृत 'कुँवरबाईनुं मोसालुं' (सं० १६२४ के आसपास की रचना) विश्वनाथ जानी कृत मोसालुं- (रचनाकाल सं० १७ ८)[1] और प्रेमानन्द कृत 'कुँवरबाईनुं मामेरुं' (रचना-काल सं० १७४६)[2] की परंपरा में आता है ।

हमारे आलोच्य माहेरो में कथा का मूल ढांचा ही प्रेमानन्द से नहीं लिया उसकी पंक्तियां तक ज्यों की त्यों रख दी हैं । उदाहरण के लिए

	प्रेमानन्दकृत मामेरुं	हमारा आलोच्य माहेरो
(१)	बहु मानी मोटी नार, मण्डपमां मळी नारि छानी बाकी वात साकर पिपमडे[3]	बहु म्हानी मोटी नारि, मण्डप तरियां छ करे बांकी छानी वात साकर पेंकनी[4]
(२)	सोहे अधर उपर वेसरनां मोती[5]	सोहै अधर ऊपर गात बेसर मा मोती[6]
(३)	माळा मोतीहार उरपर झळके छे कडाँ चूड़लो हाथ कंकण झळके छे	माला मोत्यानु हार ऊपर झलक छ सोहे कडानु चूडो हात कंकण झमक छ[8]
(४)	थया बेठ ते सारंगपाणि रे साथे लक्ष्मी थया शेठाणी रे ।[9]	उठि आये जु सारंगपाणी संग लक्ष्मी भई सेठाणी[10]
(५)	भेटतां बोल्या सुंदर श्याम रे मारुं प्रगट न लेधो नाम रे ।[11]	मिलता न बोल्या सुन्दर स्याम म्हारो प्रगट न लीन्यो नाम[12]

---

(१) 'संवत सत्तर आठ अभिनवो " बीज वदि शनिवार" – नरसै मेहतानुं आख्यान —मामेरा चरित्र", संपादक, ही० वि० पारेख, पृष्ठ ७१

(२) "संवत सत्तर ओगणपचासमो आसो सुदि नवमी रविवार जी "–'कुँवरबाईनुं मामेरुं', संपादक नवलराम पृष्ठ ४५

(३) कडवुं ११-३४२, ३४३

(४, ६, ८) ५वाँ विश्राम ह० लि० पोथी (क) (५) कडवुं ११-३४५

(७) कडवुं ११-३४८, ३४२ (९) ११-४५५ (११) ११-४१५

(१०, १२) छठा विश्राम, (ह० लि० पोथी) – (क)

इस सन्देह के लिए कोई गुंजाइश नहीं है कि प्रेमानन्द ने आलोच्य माहेरो की पंक्तियाँ चुरा ली होंगी। आलोच्य माहेरो में ही प्रेमानन्द की पंक्तियों के विकृत रूप मिलते हैं। फिर प्रेमानन्द जैसे प्रसिद्ध मौलिक रससिद्ध कलाकार से माहेरो जैसी रसहीन साधारण कोटि की हिन्दी-रचना की नकल की संभावना भी नहीं हो सकती।

[४] इस माहेरो पर रामचरितमानस की दोहा-चौपाई वाली पद्धति तथा उसकी शब्दावली का भी काफी प्रभाव है। यद्यपि काशी नागरी प्रचारिणी की हस्तलिखित पोथी में छन्द के शीर्षक के रूप में 'चौपई' शब्द मिलता है पर छन्द 'चौपाई' ही है क्योंकि उसमें १६ मात्राओं का ही निर्वाह किया गया है। इन छन्दों के बीच-बीच में दोहे और सोरठे रखे गए हैं। चौपाइयों और दोहों की संख्या में कोई नियम नहीं मिलता। तीसरे प्रकाश[1] के पश्चात् दोहा-चौपाई छन्दों के साथ कुछ पद तथा अन्य छन्द भी रख दिए हैं अस्तु।

तुलसी का प्रभाव माहेरो की शब्दावली में और भी स्पष्ट है। उदाहरण के लिए निम्नांकित अंश प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

पुत्र जाहि गृह तिय नहिं पावें। ते नर अवसि नरक में जावें।।
कुल सब मातु-पिता के नामी। पुत्र सुजान भये हैं स्वामी।।
जाकी जैसी भावना तैसो दरसन होय
'मिल ही नागर मण्डप जेता। गए जहाँ प्रभु कृपानिकेता।।'[2]

—इत्यादि

[५] रचयिता — माहेरो को देखने से यह और पता लगता है कि इसका रचयिता रामानन्द या रामानुज के संप्रदाय से अवश्य सम्बन्धित रहा है क्योंकि (१) माहेरो की लगभग सभी प्राप्त पोथियाँ रामानन्दी या रामानुज सम्प्रदाय के मंदिरों या गद्दियों से संबंधित व्यक्तियों द्वारा ही लिपिबद्ध हुई हैं। (२) ग्रंथ में रामानन्द की विशेष और आग्रहपूर्वक प्रशस्ति की गयी है। मीरा-सम्बन्धी घटनाएं रामानन्द की ही महानता की द्योतक हैं।

रूपीजा गाँव में सोमानन्दी बृहस्पतदास के मंदिर के पास रामानुज सम्प्रदाय का एक केन्द्र है। वे लोग अब भी सखी-भाव से भगवान् को भजते हैं। उसी साधु परिवार में एक भक्त कृपानिवास हुए थे। उन्हीं के शिष्य मीरीदास ने इस माहेरो की रचना की। माहेरो के अन्त में इस बात की सूचना भी

---

(१) उज्जैन की ह० लि० पो० में द्वितीय प्रकाश
(२) ह० लि० पो० (क) पृष्ठ २१

कथा-संगठन की दृष्टि से प्रस्तुत माहेरो के दो भाग किए जा सकते हैं —

(क) पहले में नरसी मेहता के पूर्व जन्म की कथा रखी जा सकती है जिसमें लेखक ने बलात् पीपा और रामानन्द की कथाओं को जोड़ दिया है। पीपा और रामानन्द के महत्व की प्रतिष्ठा के इस सचेतन प्रयत्न से लगता है कि इसके रचयिता का सम्बन्ध पीपा के *राजवंश या धर्मवंश से अवश्य होगा। यह अंश* विभिन्न पोथियों में कुछ कम-अधिक है।

(ख) दूसरा भाग 'माहेरो' की मूल कथा का है।

कथा-संगठन की दृष्टि से यह दूसरा भाग गुजराती कवि विष्णुदास कृत 'कुँवरबाईनुं मोसाळुं' (सं० १६२४ के आसपास की रचना) विश्वनाथ जानी कृत मोसाळुं- (रचनाकाल सं० १७०८)[1] और प्रेमानन्द कृत 'कुँवरबाईनुं मामेरुं' (रचना-काल सं० १७४६)[2] की परंपरा में आता है।

हमारे आलोच्य माहेरो ने कथा का मूल ढाँचा ही प्रेमानन्द से नहीं लिया उसकी पंक्तियाँ तक ज्यों की त्यों रख दी है। उदाहरण के लिए

	प्रेमानन्दकृत मामेरुं	हमारा आलोच्य माहेरो
(१)	*बहु नानी मोटी नार मध्यमां मळी* करि छानी वाकी वात साकर पिमसळे[3]	*बहु न्हानी मोटी नारि, मध्य तरियां* छ करे वाकी छानी वात साकर पँचमी[4]
(२)	सोहे अधर उपर वेसरनां मोती[5]	सोहे अधर ऊपर गात वेसर ना मोती[6]
(३)	माला मोतीहार उरपर लळके छे जडाव चूडलो हाथ कंकण जळके छे[7]	माला मोत्यानु हार ऊपर झळक छ सोह जडाव चूडो हाथ कंकड झळक छ[8]
(४)	*थया शेठ ते सारंगपाणि रे* साथे लक्ष्मी थया शेठाणी रे।[9]	उठि आये जु सारंगपाणी संग लछमी भई सेठाणी[10]
(५)	बेठला बोल्या सुंदर श्याम रे मारुं प्रगट न लेखो नाम रे।[11]	मिलता न बोल्या सुन्दर स्याम म्हारो प्रगट न लीज्यो नाम[12]

---

(१) 'संवत् सतर आठ अभिमणी " चैत्र वदि शनिवार" – ' नरसैं मेहतानुं आख्यान —आहामेरा वरीय", संपादक, ही० मि० पारेख, पृष्ठ ७१

(२) "संवत् सतर ओगणचाळमो श्रावण सुदि नवमी रविवार थी "–'कुँवरबाईनुं मामेरुं' संपादक नवलराम पृष्ठ ४५

(३) कडवुं ११–१४२, १४३

(४, ६, ८) ५वां विभाग, ह० लि० पोथी (क) (५) कडवुं ११–१४५

(७) कडवुं ११–१४८, १४६ (६) १६–५५५ (११) १६–३२५

(१०, १२) छठा विभाग, (ह० लि० पोथी) – (क)

इस सन्देह के लिए कोई गुंजाइश नहीं है कि प्रेमानन्द ने पासोष्य माहुरो की पंक्तियाँ चुरा ली होंगी। पासोष्य माहुरो में ही प्रेमानन्द की पंक्तियों के विकृत रूप मिलते हैं। फिर प्रेमानन्द जैसे प्रसिद्ध मौलिक रससिद्ध कलाकार से माहुरो जैसी रसहीन साधारण कोटि की हिन्दी-रचना की नकल की संभावना भी नहीं हो सकती।

[४] इस माहुरो पर रामचरितमानस की दोहा-चौपाई वाली पद्धति तथा उसकी शब्दावली का भी काफी प्रभाव है। यद्यपि काशी नागरी प्रचारिणी की हस्तलिखित पोथी में छन्द के शीर्षक के रूप में 'चौपई' शब्द मिलता है पर छन्द 'चौपाई' ही है क्योंकि उसमें १६ मात्राओं का ही निर्वाह किया गया है। इन चौपाइयों के बीच-बीच में दोहे और सोरठे रखे गए हैं। चौपाइयों और दोहों की संख्या में कोई नियम नहीं मिलता। तीसरे प्रकाश[1] के पश्चात् दोहा-चौपाई छन्दों के साथ कुछ पद तथा अन्य छन्द भी रख दिए हैं। अस्तु।

तुलसी का प्रभाव माहुरो की शब्दावली में और भी स्पष्ट है। उदाहरण के लिए निम्नांकित अंश प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

गुरु जाहि मह द्विज नहि पावें। ते नर अवसि नरक में जावें।।
तुम मम मात-पिता हौ नामी। गुरु सुजान भये हैं स्वामी।।
'जाकी जसी भावना तसी दरशन होय
मिल ही नागर मण्डप जता। भए यह प्रभु कृपानिकेता।।'
—इत्यादि

[५] रचयिता — माहुरो को देखने से यह और पता लगता है कि इसका रचयिता रामानन्द या रामानुज के संप्रदाय से अवश्य सम्बन्धित रहा है क्योंकि (१) माहुरो की लगभग सभी प्राप्त पोथियाँ रामानन्दी या रामानुज संप्रदाय के मंदिरों या गद्दियों से संबंधित व्यक्तियों द्वारा ही लिपिबद्ध हुई हैं। (२) ग्रन्थ में रामानन्द की विशेष और आग्रहपूर्वक प्रशस्ति की गयी है। पीना-सम्बन्धी घटनाएँ रामानन्द की ही महानता की द्योतक हैं।

रूनीजा गाँव में रामानन्दी गृहस्थवर्ग के मंदिर के पास रामानुज संप्रदाय का एक केन्द्र है। ये लोग अब भी सखी-भाव से भगवान् को भजते हैं। इसी साधु परिवार में एक भक्त कृपानिवास हुए थे। उन्हीं के शिष्य मीरादास ने इस माहुरो की रचना की। माहुरो के अन्त में इस बात की सूचना भी

(१) उज्जैन की ह० लि० पो० में द्वितीय प्रकाश
(२) ह० लि० पो० (क) पृष्ठ २१

है।[१] रुणीजा में इस साधुओं की प्राचीन परंपरा का विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं है । मिश्रबंधु-विनोद में मालवा के एक मीरांदास का उल्लेख है[२] जिन्होंने संवत् १११२ में नरसी महता का मामेरा लिखा था ।

[६] रचना-काल —प्रेमानन्द के रचना-काल के विषय में कोई मतभेद नहीं है। लेखक ने कृति के प्रान्त में स्वयं लिख दिया है । आलोक माहेरो की रचना सं० १७४१ वि० के बाद में ही कभी हुई होगी । माहेरो के रचना-काल की परवर्ती सीमा सं १८१७ है । प्राप्त प्राचीनतम हस्तलिखित प्रति का लिपिकाल यही है । इसकी पुष्पिका में लिखा है "वैष्णव द्वारिकादास जी का पुस्तक सुं उतार्‌यो ' ।[३] इससे ० १८१७ से पूर्व लिपिबद्ध प्रतियों का अस्तित्व सिद्ध होता है । लगभग इसी समय इस पोथी का नैनवां (बूंदी) और रुणीजा (मध्यभारत) में लिपिबद्ध होना और डाकोर में पहुँच जाना भी इस बात की पुष्टि करता है । अतः सम्भावना यही है कि इसकी रचना सं० १८१७ से चार-पाँच दशाब्दी पूर्व अवश्य हो गई होगी । मिश्र बन्धु-विनोद में दिया हुआ संवत् ठीक मानना उचित नहीं होगा ।

वस्तुतः मीरां-मिथुला संवाद में लिखा माहेरो सं १७४१ और सं० १८७१ के बीच की रचना है । अधिक संभावना यह है कि यह सं० १८०० के आसपास या १९ वीं शताब्दी (विक्रमीय) की पूर्वार्द्ध में लिखा गया होगा । मेड़तणी मीरां की कृति यह नहीं है ।

[२] सतभामानुं रूसणुं (सत्यभामाजीनुं रूसणं)

सतभामानुं रूसणुं (२०—४) अस्सी चरणों की *एक संक्षिप्त* रचना है ।[४] यह रूसणुं सबसे पहले किसी हस्तलिखित पोथी के आधार पर बृहत् काव्य दोहन में प्रकाशित हुआ ।[५] हिन्दी में सबसे पहले श्री ब्रजरत्नदास ने मीरां-माधुरी में 'सत्यभामा का रोष' शीर्षक देकर इसे मीरां की रचनाओं के अन्तर्गत रखा था ।[६] मीरां-माधुरी में प्रकाशित रचना 'बृहत् दोहन" से ही उद्धृत है । श्रीमती "शबनम" ने मीरां-बृहद् पदावली में इसे अपूर्ण

(१) मन निर्मि बुद्धि प्रमाण हरिगुण कृपानिवास
नरसीजेरो माहुरो गावे मीरांदास ।। वही, पृष्ठ ९७, ४४
(२) 'मिश्रबंधु विनोद — प्रथम भाग नाम (२०७३ । १)
(३) काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की प्रति (क)
(४) २१ चरणों का नहीं जैसा कि डॉ मोतीलाल मनारिया का कथन है ।
(५) ४ था संस्करण, पृष्ठ ८८५
(६) वही, पृष्ठ ९९

प्रकाशित किया है।[1] यहाँ उसे एक स्वतंत्र प्रबन्धात्मक रचना नहीं पद के रूप में दिया गया है। हिंदी के ग्रंथों में इस रचना को लेकर विशेष चर्चा नहीं हुई। केवल डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने इसका उल्लेख और उसके 'बल्लभ' कृत होने का अनुमान किया है।

इसकी दो हस्तलिखित पोथियाँ लेखक को मिली हैं —

(क) सरस्वती भण्डार पुस्तकालय 'उदयपुर' में
(ख) महाराज परमेश्वरदास 'डाकोर' के संग्रह में

पोथी (क) में १ छोटे-छोटे ग्रंथ हैं। प्रस्तुत रचना "सत्यभामाजीनुं रूसणुं" शीर्षक से "होला मारू की बात" के पश्चात् पृष्ठ २०७ से २१६ तक लिपि-बद्ध है। इसकी पुष्पिका से ज्ञात होता है कि यह रचना संवत् १६३१ के बैसाख बदी ७ शुक्रवार को किसी बिबाड़ी ने लिपिबद्ध की थी।[2] पोथी (ख) अपूर्ण है। उसमें मीराँ सूर नरसी भालण आदि के पदों के साथ यह रचना संगृहीत है। लिपि-काल इसमें नहीं दिया हुआ है।

इस ग्रंथ के विषय में डॉ० मेनारिया का कथन यह है कि "उदयपुर के सरस्वती भण्डार की जिस गुटकाकार प्रति में यह रचना मिलती है उसी में राधाजीनुं रूसणुं नाम की एक दूसरी रचना भी है। उसके रचयिता का नाम बल्लभ दिया हुआ है। इस ग्रंथ की भाषा-शैली उपर्युक्त सत्यभामाजीनुं रूसणुं की भाषा-शैली से पूर्णत: मिलती है। इसलिए अनुमान होता है कि सत्यभामाजीनुं रूसणुं का कर्ता भी बल्लभ ही है।"[3]

इस विषय में आंशिक रूप से लेखक का निष्कर्ष भी यही है जो डॉ० मेनारिया का — कि 'रूसणुं मीराँ-कृत नहीं है परन्तु डा० मेनारिया के जो तर्क और अनुमान हैं उनसे लेखक सहमत नहीं है।

मेनारिया जी ने सत्यभामाजीनुं रूसणुं और 'राधाजीनुं रूसणुं' को पास-पास लिपि-बद्ध देखकर ही दोनों को एक व्यक्ति की रचना मान लिया है। वस्तुतः इन गुटकों में अनेक व्यक्तियों की रचनाएँ पास-पास संकलित हैं। इस आधार पर उक्त निष्कर्ष अनुचित है।

---

(१) वही पृष्ठ २७२, १६ वाँ पद
(२) सरस्वती भण्डार पुस्तकालय उदयपुर — हस्तलिखित पोथी, संख्या ८८५
(३) राजस्थान का पिंगल साहित्य, मेनारिया, पृष्ठ ६१

प्रस्तुत रचना निश्चित रूप से वल्लभ-कृत नहीं है। इसके कारण निम्न लिखित हैं—

(१) इस रचना में वल्लभ की छाप नहीं है। वल्लभ द्वारा लिखे जितने भी गरबा और गरबियाँ हैं उन सबमें उसकी छाप मिलती है।[1]

(२) वल्लभ-कृत एक गरबा है 'सत्यभामानो गरबो'[2]। उसमें वल्लभ की छाप स्पष्ट है। कथानक की दृष्टि से प्रस्तुत 'रूसणुं' और 'सत्यभामानो गरबो' में विषय भेद नहीं है। दोनों सत्यभामा के रूठने और कृष्ण द्वारा उन्हें मनाने की घटना पर आधारित हैं परन्तु अभिव्यक्ति-कौशल भाषा-प्रवाह आदि की दृष्टि से इतने भिन्न हैं कि एक व्यक्ति की रचनाएँ नहीं हो सकतीं। द्रष्टव्य है कि—

(क) राधानुं रूसणुं में लोल शब्द की आवृत्ति हर चरण में है और तुकान्त उस पर आधारित है। "सत्यभामानुं रूसणुं" में एक पंक्ति छोड़कर आवृत्ति है और वह तुकान्त का आधार नहीं है।

(ख) 'सतभामाजीनुं रूसणुं' के प्रवाह में मंथरता है "राधानुं रूसणुं" में उसके विरुद्ध त्वरा अधिक है।

(ग) राधानुं रूसणुं में अन्त में राधा-माहात्म्य दिया है। 'वैष्णव जननो दास' कहकर संप्रदाय की छाप लगा दी है यद्यपि उसमें धार्मिकता का अपेक्षित आग्रह बहुत अधिक है।[3] सतभामाजीनुं रूसणुं काव्यात्मक ढंग से ही समाप्त हो गया है, इसमें काव्यात्मक नाटकीयता का ध्यान अधिक है। धार्मिकता का आग्रह नहीं है।[4]

---

(१) बृ० का० दो० भाग १ चतुर्थ सामाजिक आवृत्ति पृष्ठ १८४ से १९१ तक
वही, सामाजिक आवृत्ति भाग ३, पृष्ठ १८७ से ७०१ तक।
वही, भाग ४ पृष्ठ १६१ से १८२ तक
उदाहरण के लिये, रामभारनो गरबो — 'बहुचरमाता मेवाड़े—'
कलिकालनो गरबो — 'वल्लभ गुलामनी विनती'
महाकालीनो गरबो— 'गरबो माए रे वल्लभ-'

(२) बृ० का० दो० भाग ४, पृष्ठ ६६३

(३) "आस हरिरस कथा अज्ञान जे जे प्रवेश छे रे लोल
तेहुँने कथा करे रे भगवान फेर गर्भ बंधन हरे रे लोल
वल्लभ वैष्णव जननो दास जे हरि चरणे नमे रे लोल।"
—सरस्वती भण्डार की हस्तलिखित पोथी, पृष्ठ २१०

(४) मीरां नो स्वामी रे लोल पधारिये रे लोल
सत्यभामाना जीवन कीधां धन्य जो।
—बृ० का० दो० भाग १, च० आ० आवृत्ति, पृष्ठ ८८७

(ख) सत्यभामाजीनुं रूसणुं अपेक्षाकृत अधिक भावुकतापूर्ण कोमल शब्दावली में लिखा गया है।

यदि बल्लभ की यह रचना प्रकाश में न आती तब तो मेनारिया जी के अनुमान के लिए अवकाश था पर इस रचना के मिलने पर इस अनुमान की निराधारता स्पष्ट है।

कुछ गुजराती विद्वानों से सुनने को मिला है कि यह रूसणुं "गोविन्द" कवि कृत है पर गोविन्द कृत "रूसणुं" एक भिन्न रचना है। वह विद्या सभा के कई हस्तलिखित ग्रंथों में संगृहीत मिलती है।[1]

"सत्यभामाजीनुं रूसणुं" के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें भी ध्यान देने योग्य हैं —

(१) यह रचना एक गरबा है। गरबा के तीन संग्रह लेखक को मिले हैं। उनमें मीराँ की छाप के गरबा और गरबी हैं। उनमें भी मीराँ की छाप की यह रचना नहीं है। किसी अन्य प्राचीन पोथी में भी यह रचना नहीं मिलती। वस्तुतः बल्लभ भट्ट ही वह व्यक्ति था जिसने काव्य में गरबा-गरबी का प्रथम बार प्रचलन किया[2] और बल्लभ का समय सन् १७०४ के आसपास अर्थात् मीराँ के लगभग २१० वर्ष बाद का है।[3]

(२) इस रचना में मीराँ की प्रचलित छाप नहीं है। केवल इतना है —

"मीराँनो स्वामी रे मोल पधारिया रे मोल
सतभामाजीनां पीवन कीधां धन्य जो।"

इसमें 'मीराँनोस्वामी' रचयिता की छाप न होकर केवल 'कृष्ण' वाची है। जब भक्तों को अत्यन्त प्रसिद्धि मिल जाती है तो उनके नाम का प्रयोग इस प्रकार से कर लिया जाता है जैसे सूरदास के स्याम नरसी के सांवलिया तुलसी के राम आदि।

---

(१) जिन हस्तलिखित पोथियों में रचना संगृहीत है उनकी संख्या इस प्रकार है—
(क) ५१७ (नीबो की छपी)
(ख) ६३३ (लिपि-काल सं० १८११)
(ग) ६७३ ई०
(घ) ६८३

(२) 'ये कवियो गुजराती कवितामां पहेला गरबा-गरबी दाखल कीधां छे।
बृहत् काव्य दोहन भाग १ (१८९५ ई०) पृ० ६८४

(३) गुजरात एंड इट्स लिटरेचर, के० एम० मुंशी, पृष्ठ १९७

(१) इसकी भाषा "मीराँ-नरसी" युग की भाषा नहीं है। उसके काफी बाद के (विक्रम की १८ वीं शताब्दी और बाद के) प्रयोग भी इसमें हैं, उदाहरण के लिए —

(क) इस रचना की छाप में "मीरांनो स्वामी" आया है। नौ सम्बन्ध कारक का चिह्न है और इसका प्रयोग आधुनिक गुजराती में होता है। मध्ययुगीन गुजराती और पश्चिमी राजस्थानी में सम्बन्ध के निम्नांकित रूप प्रचलित थे—

केरउ तराउ नउ रउ रहर्उ¹

प्राचीन गुजराती में 'नो' न आकर 'नउ' रूप आना चाहिए था।

(ख) रचना का प्रथम शब्द है 'आव्युं'। अपभ्रंश और पुरानी गुजराती में 'आव्यां' का रूप १६ वीं शताब्दी तक 'आवियउं' था। बाद में मध्यकाल में 'आविउं' हुआ। 'आव्युं' प्रयोग १८ वीं शती और उसके बाद प्रचलित हुआ है।

(ग) इसी प्रकार 'सावे' शब्द आधुनिक गुजराती है। इसका मध्यकालीन रूप था 'साथि' सं० १६६६ की हस्तलिखित पोथी में जिसमें मीराँ के ८ पद भी हैं 'साथि' प्रयोग है 'सावे' नहीं।

इस वस्तु में ऐसे अन्य अनेक शब्द हैं जिनके आधुनिक होने के विषय में संदेह नहीं है जैसे वरताय (प्राचीन रूप वरताइ) उतर्यो प्राचीनरूप (उतरिउ) आदि।

अतः यह कहा जा सकता है कि 'सतभामानुं रूसणुं' अथवा सत्यभामानी नुं रूसणुं' अपने प्रस्तुत रूप में मीराँ की रचना नहीं है मीराँ की क्या मीरा के युग की भी रचना नहीं है।

[३] "नरसिं महताचि हुंडि"

धुलिया के रामदासी संशोधन मंदिर में एक हस्तलिखित पोथी में "नरसिं महताचि हुंडी" नाम की एक रचना सुरक्षित है।² यह पोथी संग्रहकर्ता को बीड-मठ से प्राप्त हुई थी। इसके कुछ अंश खंडित हैं। भीतर रचनाओं की लिखावट और कागज आदि के आधार पर अनुमान यह है कि यह पोथी १५० वर्ष पुरानी अवश्य होगी।

'नरसिं महताचि हुंडी" के विषय में यह ध्यान देने योग्य बात है कि यह 'मीराँ' छाप की वह रचना है जिसकी भाषा गुजराती और ब्रजभाषा मिश्रित है और जो मराठी-प्रदेश के एक गुटके में मराठी-भाषी द्वारा लिपिबद्ध मिली है। इससे इतना निश्चित है कि गुटके में वह रचना किसी लिखित परंपरा से आई होगी।

---

(१) पुरानी राजस्थानी पृष्ठ ९७
(२) बाडांक, ७५९

यह "हुंडी" १८ कड़ियों की एक छोटी-सी रचना है। इसमें "कृष्ण" द्वारा द्वारका में नरसिंह मेहता की दी हुई एक हुंडी को सकारने की घटना का सरल भाषा में वर्णन है। इसके प्रारंभिक तथा अंतिम अंश इस प्रकार हैं—

प्रारंभ
नरसिंह महता जूनागढ़ धाम।
हरि भक्तिना दृढ विश्वास।
रात दिवस कर हरिना नाम।
हरिनो नाम बिना और नहीं काम।

° • •

अंत
कागद छूट लिखी श्याम
हरि दखे नैया क्यों भान
वाहो तुम्हारे रहवास
विश्वा स्याना हरिनादास
महता ना मारा राम राम कहियो
धनि काम श्री धानग्या
वदि हरि मीरां नाम।
गावत भावत परम पद पाव।
इति नरसिंह महताओं हुंडि समाप्त।

श्री हरदर्शन सम्पूर्ण ।

काव्य-कला और काव्य-रूप की दृष्टि से यह रचना महत्वपूर्ण नहीं है पर इसमें हरि भक्ति के प्रति दृढ़ विश्वास और निष्ठापूर्ण हरि-नाम-जप की महत्ता का एक सामान्य घटना के द्वारा सुन्दर व्यंजना की गई है।

'मीरां' नाम का प्रयोग इस हुंडी में हुआ है। अब प्रश्न यह है कि इस रचना की रचयिता मीरां कौन थी? क्या यह वही मेड़तनी थी जो "गिरिधर गोपाल" की माधुर्य-भक्ति के चरम बीज पाते हुए द्वारका में रणछोड़जी के मंदिर में लीन हो गई? या फिर यह कोई अन्य व्यक्ति था जिसने "हरिभक्त के प्रताप" के लिए रचना सृजन किया। इस कविता की अंतिम पंक्तियों में मीरां के साथ 'गावत-भावत' लिखकर रचनाकार ने स्पष्टतः महानी मीरां का ओर ही संकेत

कर दिया है पर यदि मीरां ने यह कविता लिखी होती तो वे अपने "परमपद" पाने का उल्लेख कैसे करतीं ? [१]

बरीत (चरित)[२]—"राजस्थानी संशोधन मण्डल चूलिया" के हस्तलिखित ग्रंथ-संग्रह में सुरक्षित एक पोथी में लिपिबद्ध है। पोथी में इस रचना का शीर्षक नहीं दिया हुआ है परन्तु अन्त में लिखा है " ।। इत बरीत संपूर्ण ।।' प्रारम्भ में भी कहा गया है – 'रामानंद को मंदिर आवत सुनो बरीत सुघराई ।।१।। " उसी आधार पर प्रस्तुत रचना को 'बरीत' शीर्षक दे दिया है ।

यह रचना ८४ पंक्तियों में है। इसमें पीपाजी का चरित्र वर्णित है। उन्होंने बन में लकड़ी काटकर और गौएं चराकर साधनापूर्ण जीवन बिताया केवल इस-लिए कि सद्गुरु (रामानन्द) के दर्शन हो जायें। वहाँ वैरागियों ने प्रत्येक प्रकार से उनकी परीक्षा ली। यहाँ तक कि एक बार उनके एक जूता मारा। मगर पीपाजी ने जूता उठाकर केवल यह कहा कि "मेरे कठिन शीश ने जूति दुखाई।" तब कहीं 'उससे सद्गुरु का हृदय भरा और उन्होंने कृपा के नयन उघारे। फिर भी उन्होंने परीक्षा करने के लिए उन्हें कुएँ में कूद जाने की आज्ञा दी। उसका पीपा जी ने तुरन्त पालन किया। तब 'श्री रामानन्द जी ने शीश पर हाथ रखके पूर्ण कृपा की।

इस कविता में भक्ति-भावना का स्वर अत्यन्त क्षीण है लगभग नहीं के बराबर है। रामानन्दजी के दर्शनों के लिए पीपाजी की कठोर साधना और निरीह आत्मसमर्पण पर आद्योपान्त आग्रहपूर्वक बल दिया गया है और सर्वत्र उनके महत्व

---

(१) 'यह हुंडी मीरां गाय
  बावत लाबत परम पद पाय ।
   अंतिम पंक्ति का पाठ कुछ ऐसा है कि उसे ' परम पद पाय "
  भी पढ़ा जा सकता है और 'परस पद पाय' भी। दूसरा पाठ सही मानने पर अर्थ जरा खींचकर लगाना पड़ता है ।

(२) इस कविता के प्रारंभ मध्य और अन्त के अंश इस प्रकार हैं—
  प्रारंभ– सद्गुरु कारण राज छांडियो त्रिया साथले आई ।
   रामानंद को मंदर आवत सुनो बरीत सुघराई ।। १ ।।
  मध्य– जिया रसोई पूरन भई तो सब बैरागी पुकारे ।
   महाराज ने सुधि लागि है, सबकु बाल दियो रे ।। २१ ।।
  अन्त– ताहि चरण पर सीस रखावत आसणों नगर पुं आवे ।
   गुरु भक्तो लीला देखी मीरां प्रेम रस गावे ।।

की प्रतिष्ठा का सचेतन प्रयत्न किया है। इसमें इसके रचयिता की रामानन्दी संप्रदाय के प्रति निष्ठा और साम्प्रदायिक प्रचार की भावना के विषय में सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं है। मीराँ की निष्ठा किसी विशिष्ट सम्प्रदाय के प्रति न होकर "गिरिधर" के प्रति थी और उनकी कविता साम्प्रदायिक प्रचार का साधन न होकर वैयक्तिक अनुभूति और भक्ति-भावना की सहज वाणी थी।

"नरसी मेहता को माहेरो" में इसी प्रकार का एक प्रसंग है जिसमें पीपा की पत्नी को रामानन्द जी की आज्ञा से कुएं में डालते हैं। माहेरा में पीपा की उस कथा को नरसिंह के पूर्वजन्म की कथा से साथ जोड़ दिया गया है पर दोनों प्रसंगों की तुलना करने पर इतना स्पष्ट है कि दोनों की प्रेरणा साम्प्रदायिक प्रचार की भावना है। काव्य-कला की दृष्टि से भी "चरीत" को माहेरा की कोटि में रखा जा सकता है। दोनों में कथा प्रधान है, भावना अत्यन्त गौण है। अधिक सम्भावना यही है कि यह रचना भी उन्हीं डगीआ-निवासी रामानन्दी मीराँदास की हो जो माहरो के लेखक थे।

रुक्मणी-मंगल :

कहा जाता है कि मीराँबाई ने "रुक्मणी मंगल" नामक किसी प्रबन्धात्मक काव्य की भी रचना की थी। जयपुर के श्री सूर्यनारायणजी चतुर्वेदी ने लेखक को बताया था कि इस कथन में सत्य होने की सम्भावना काफी है। श्रीमती शबनम ने अपने 'मीराँ-बृहद्-पद-संग्रह" में ऐसे दो पदों को प्रकाशित किया है[1] जिनमें रुक्मणी का उल्लेख मिलता है। विषय की दृष्टि से ये पद "रुक्मणी-मंगल" जैसे विषय पर लिखी गई किसी कृति में 'फिट' किए जा सकते हैं क्योंकि इनमें रुक्मणी का आत्म-निवेदन है।

"रुक्मणी-मंगल" से सम्बन्धित कहे जानेवाले इन पदों का विभिन्न समयों पर विभिन्न प्रदेशों में संपादित मीराँ के प्रसिद्धतम पद-संग्रहों में प्रायः अभाव है। इससे इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि ये पद बहुत प्रचलित या प्रसिद्ध नहीं रहे।

दूसरे, दो-तीन पदों के आधार पर किसी ग्रंथ के अस्तित्व की कल्पना करना *बहुत उचित नहीं है। जहाँ तक संभावना का प्रश्न है* अनुमान उसके पक्ष की अपेक्षा विरोध में ही अधिक है, क्योंकि कान्हा के प्रेम में मधुर गीत बनकर सहज गूँजने वाली "दरद दिवाणी" से किसी कथानक को छंदबद्ध करने की आशा कम ही है।

जब तक इस नाम की कोई कृति सामने नहीं आती उस पर विचार करना

---

(१) पृष्ठ २१०

संभव नहीं है और तबतक रुक्मणी-सम्बन्धी दो-चार उपलब्ध गीत मीरां के स्फुट पदों के अन्तर्गत ही रखे जाने चाहिए, किसी प्रसंग ग्रंथ के रूप में नहीं ।

(ग) स्फुट पद

राग सोरठ का पद :

इस कृति का सर्वप्रथम उल्लेख नागरी प्रचारिणी की सन् १९०२ की खोज रिपोर्ट में किया गया है[1]— 'राग सोरठ का पद—मीरा कबीर नामदेव" । "राजपूताने में हिन्दी पुस्तकों की खोज और उनकी सूची" में मुंशी देवीप्रसाद ने भी इसका उल्लेख किया है ।[2]

इस समय एक हस्तलिखित प्रति जोधपुर के "पुस्तक-प्रकाश" में वर्तमान है ।[3] उसका शीर्षक है "राग-सोरठ" और उसमें पाँच पृष्ठों में मीरां के पद दिए हुए हैं ।

मीरां कबीर और नामदेव के पदों का कोई एक संकलन "पुस्तक-प्रकाश" में नहीं है । "राग-सोरठ' की प्रस्तुत प्रति किसी बड़ी प्रति का अंश मात्र है । संभव है कि कबीर और नामदेव के पदों का अंश फटकर अलग हो गया हो या मुंशी देवीप्रसाद को जोधपुर में कहीं और इस प्रति के दर्शन हुए हों और भूल से जोधपुर लाइब्रेरी का उल्लेख हो गया हो ।

वस्तुतः मीरांबाई के पद गेय हैं और विभिन्न रागों के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं । संगीत के ग्रंथों में प्रायः रागों के क्रम से ही पदों को रखा जाता है । कुछ अन्य ग्रंथों में भी इस पद्धति का अनुसरण किया गया है । गुरु ग्रंथ साहिब में पद राग क्रम से आयोजित हैं । "राग-सोरठ" में गाए जानेवाले मीरां के पद धीरे-धीरे 'राग-सोरठ के पद" के रूप में प्रचलित हो गए और सम्भवतः सोरठ राग के किसी प्रेमी ने मीरां और अन्य कवियों के इस राग के पद एकत्र कर दिए, जो जोधपुर के पुस्तकप्रकाश में संगृहीत प्रति में सुरक्षित हैं । अतएव 'राग-सोरठ के पद" मीरां की कोई स्वतंत्र रचना नहीं मानना चाहिये । ये राग सोरठ में गाए जाने वाले उनके पदों के संकलन मात्र हैं ।

---

(१) एपेंडिक्स १ लिस्ट ऑव मैनुस्क्रिप्ट्स बिलौंगिंग-टू जोधपुर लाइब्रेरी, संख्या २४

(२) द्वितीय साहित्य सम्मेलन (कलकत्ता) के अवसर पर प्रस्तुत (सं. १९६९)

(३) मीरां के पद — पत्र ५, राग सोरठ

मीराँबाई का मलार राग :[1]

इसका उल्लेख गौ० हीराचन्द ओझा कृत उदयपुर राज्य का इतिहास[2] बलवन्त सिंह महता कृत "भक्तिमती मीराँबाई"[3] तथा "महाराष्ट्रीय ज्ञानकोष"[4] आदि ग्रंथों में मिलता है। मीराँ के पदों के अधिकांश संग्रहों में मलार राग के पद भी संकलित मिलते हैं।

वस्तुतः "मीराँबाई का मलार" एक राग विशेष का नाम है, जिसकी सृष्टा मीराँबाई कही जाती है। राग सोरठ के पद की तरह ही मल्हार राग में गाए जाने योग्य मीराँ के पदों के संकलन इस नाम से प्रसिद्ध हो गए हैं। यह भी कोई स्वतन्त्र रचना नहीं है मीराँ के पद-संग्रह का अंश मात्र है।

मीराँबाई की गरबी :

गुजरात में "मीराँबाई की गरबी" बहुत प्रसिद्ध और लोकप्रिय है।[5] साहित्य के इतिहास में इसके प्रथम उल्लेख का श्रेय कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी को है।[6] मीराँ के जीवन और काव्य का अध्ययन प्रस्तुत करने वाली हिन्दी की पुस्तकों में झवेरीजी के वक्तव्य का उल्लेख मात्र मिलता है। गुजराती विद्वानों ने इस विषय पर अपेक्षाकृत अधिक प्रकाश डाला है।

"गरबा" शब्द कुछ विद्वान् "दीप-गर्भघट" (वह घड़ा जिसके भीतर दीप रखा हो) से और अन्य "गर्भ" से विकसित मानते हैं। वस्तुतः चारों ओर छिद्रवाले घड़े को प्राचीन काल में गरवा कहते थे। व्रज में आज भी इस प्रकार के पात्र को करवा कहा जाता है और इसी से करवा-गरवा-गड़ूआ बना है। पात्रवाची यह शब्द इस पात्र को लेकर नवरात्र में किए जानेवाले नृत्य के लिए

---

(१) महाराष्ट्र में इसे "मीराँबाई का मल्हार" और ब्रज प्रदेश में "मीरा-मल्हार" कहते हैं।

(२) भाग १ पृष्ठ ३६०

(३) वही पृष्ठ ८

(४) वही पृष्ठ (१) ५५

(५) "गरबानां विषमो मां श्रेवो कोई गरबो नहि होय के ज्यां मीरांनी गरबी गवानी नहि होय।" —मीराँबाई भा० मि० बे०, पृष्ठ ८६

(६) गुजराती साहित्यना मार्गसूचक स्तंभो, पृष्ठ ३२

(७) कौमुदी पु० १ अंक १ पृष्ठ २७ नरसिंह राव का लेख 'गुजराती साहित्यमां लमीन-काव्य'

प्रचलित हो गया और कालान्तर में नृत्य के साथ गीतों के लिए भी चलने लगा। इसी से 'लघु एकत्रित रस की रचना' गरबी बनी। गरबा स्थूल विस्तृत और गरबी अपेक्षाकृत अधिक भावुक सूक्ष्म स्वरूप की संक्षिप्त और विषय में सुश्लिष्ट एकता साधनेवाली होती है। गरबा वर्णनात्मक तथा गरबी "भावप्रधान लघु और एकधारी' रचना होती है।[1]

वस्तुतः 'गरबी" एक प्रकार का भावप्रधान छोटा गीत है। मीराँ के अनेक पद ऐसे हैं जो इस कोटि में सरलता से आ जाते हैं। पर यह कहना उचित नहीं होगा कि मीराँ ने "गरबी" नाम की कोई रचना की थी क्योंकि इस (गीत) अर्थ में गरबा गरबी का प्रथम प्रयोग भालदास के एक गीत में मिलता है। भालदास १७०० वि० के आसपास वर्तमान थे।[2] हो सकता है कि मीराँ के काल में गरबी शब्द गीत के अर्थ में प्रचलित भी नहीं हुआ हो। मीराँ के कुछ पद विशेष प्रकार से गाए जाने के कारण गरबियाँ कहलाने लगे वे कोई अलग से स्वतंत्र रचना नहीं है।

लेखक को निम्नलिखित हस्तलिखित प्रतियों में "मीराँ-छाप" की रचनाएं "गरबी" शीर्षक से प्राप्त हुई हैं —

(क)	फार्बस गुजराती सभा बम्बई	पोथी संख्या ७१	१ गरबी
(ख)	डाही लक्ष्मी लायब्रेरी नाडियाड	पोथी संख्या ११।८१	६ गरबी
(ग)	विद्या सभा अहमदाबाद	पोथी संख्या १९९	६ गरबी
(घ)	वही	पोथी संख्या ११९२	९ गरबी
(ङ)	वही	पोथी संख्या १११९	४ गरबी
(च)	जेठाभाई का 'पदोनो गुटका'		११ गरबी

इन समस्त संग्रहों में १७ गरबियाँ मिलती हैं पर वस्तुतः उनकी कुल संख्या १९ ही है क्योंकि उनमें से अधिकांश सामान्य पाठभेद के साथ एक से अधिक पोथियों में प्राप्त हैं।

मा० जि० महता के अनुसार मीराँ की मुख्य-मुख्य गरबियाँ इस प्रकार हैं[3]—

१—महाना मोरी गागरिया भरवे भरवे, हो सिर पर घर धरे।

२—पागे पागे बाजे र, तेरे मंडल में घुंघुर बाजे।

---

(१) "गुजरात साहित्यना स्वरूपो"—प्रो० म० र० मजमुदार, सन् १९५४ संस्करण पृष्ठ ५४१

(२) गुजराती साहित्यना मार्गसूचक स्तंभो, झवेरी पृष्ठ १७०

(३) मीरांबाई पृष्ठ ८९-९०

३—बस गई राजे प्यारी मोरलीमां बस गई राजे प्यारी।
४—प्रेमनी प्रेमनी प्रेमनी रे, मने लागी कटारी प्रेमनी।
५—बगीयां बगीयां बगीयां रे मारो बालम बिराजे सारी बगीयां।
६—रसीमा मुने बवा दीजे तारूं दाम माय ते लीजे रे।
७—मधुबन में गुजरीयां लूंटी मारा घिरनी मटुकी फूटी रे।
८—काम छे काम छे बवा दे मुमालीकहुं मारे घेर काम छे।
९—कुबबाने जादु डारा मोहृ श्याम हमारो रे।
१०—गगरी उतार रे वनमाली मटुकी उतार रे वनमाली।
११—जमीन पर जमनां काय ते कौण ले छे रे।
१२—बोसमा बोसमा बोसमा रे रामाकृष्ण बिना बीजुं बोसमा।
१३—मचकाव्य मविरिए भाव मचके मोही रही हूं।
१४—जवा दो मने घामे रोको छो बाटमां दाग लेवा सरीवां नथी माटमां रे।

इनके अतिरिक्त मीरां के नाम से प्रचलित अन्य गरबियाँ भी मिलती हैं।[1] मीरांबाई के जीवन को आधार बनाकर कुछ गरबे भी लिखे गए हैं। यद्यपि इनकी रचयिता मीरांबाई नहीं हैं पर वे मीरांबाई की कृतियों के रूप में ही प्रचलित हैं। छोटमदास कृत एक गरबा (मीरांबाईनो गरबो) इसी प्रकार की रचना है।

राम गोविन्द या राग गोविन्द :

मा० मि० मेहता द्वारा उल्लिखित रामगोविन्दप्रोसाजी के "राम गोविन्द" का ही प्रमुख रूप है। मिश्रबन्धुविनोदकार और ग्रियर्सन ने भी इसका (राग गोविन्द का) उल्लेख किया है परन्तु इनमें से किसी ने भी राग गोविन्द का कोई विवरण नहीं दिया। राजस्थान में विशेषकर जोधपुर के 'पुस्तक-प्रकाश' में संगीत-गुटकों में मीरां के गोविन्द-संबंधी गीत हैं। 'माई री म्हां लियां गोविन्दा मोल' और 'मेरे राजाजी मैं गाविन्द गुण गायो' जैसे पद प्रचलित ही हैं। अतः मीरां द्वारा 'गोविन्द का राग' गाने का अनुमान निराधार नहीं है। वैसे 'राग-गोविन्द' मीरां की कोई अलग रचना नहीं है राग रागनियों में बँधे मीरां के गोविन्द-संबन्धी पदों का ही एक विशिष्ट संग्रह है।

---

(१) रास मंडळनी गरबिओ, प्रकाशक हमराज श्यामजी सौकड़ी ओरी, अहमदाबाद, पृष्ठ १२ ३१, २६, २४ २१

फुटकर पद :

भक्ति के आवेश में मीराँ ने कृष्ण के प्रति अपनी भावना को समवद्ध करके पदों के रूप में व्यक्त किया था। ये ही फुटकर पद मीराँ की विश्वसनीय रचनाएं हैं, पर कालान्तर में मीराँ की छाप के अनेक पद अन्य लोगों द्वारा लिखे गए और वे भी मीराँ की रचनाओं में मिल गए हैं। मीराँ की अपनी रचनाओं में भी कालवश अनेक परिवर्तन होते रहे हैं। राग सोरठ का पद मल्हार राग के पद आदि सब उनके फुटकर पदों के ही विशेष अंश हैं। इनकी पाठ संबन्धी समस्याओं पर अगले पृष्ठों में विचार किया गया है।

निष्कर्ष :

पिछले पृष्ठों के विवेचन से निम्नांकित निष्कर्ष निकलते हैं —

(१) 'गीत गोविन्द की टीका' अनुपलब्ध है। इस नाम का कोई मीराँ कृत ग्रंथ अस्तित्व में भी नहीं है। अगर उससे मिलती-जुलती कोई रचना है तो मीराँ के गोविन्द सम्बन्धी पद हैं।

(२) नरसी का मायरा सत्यभामानुं रूसणुं, चरीत (चरित्र) नरसी मेहतानी हुंडी मीराँ के नाम से प्रचलित हैं पर वे कोई मीराँ-कृत नहीं हैं।

(३) मीराँ की प्रामाणिक रचनाएं उनके पद हैं जिनमें अन्य लोगों द्वारा मीराँ नाम से लिखे पद भी पर्याप्त संख्या में मिल गए हैं।

कृतियों का पाठ :

पाठालोचन एक स्वतंत्र गवेषणा का विषय है। उसके पूर्ण विवेचन के लिए एक स्वतंत्र ग्रंथकी आवश्यकता है। प्रस्तुत अध्यायांश की छोटी परिधि में यह संभव नहीं है कि मीराँ के पदों की समस्त उपलब्ध प्रतियों पर और उनसे संबंधित पाठों की समस्त समस्याओं पर पूर्ण विस्तार के साथ विचार किया जा सके। अतः यहां पर कवयित्री की रचनाओं की प्रामाणिकता और उनके पाठों से संबंधित महत्वपूर्ण समस्याओं पर ही विचार किया गया है। विस्तृत विवरण छोड़ दिए गए हैं।

मीराँ के पदों की कोई प्रति ऐसी उपलब्ध नहीं है जो मीराँ ने स्वयं लिखी हो या जिसे उन्होंने शुद्ध किया हो। उनके काल की भी कोई प्रति प्राप्त नहीं है। मीराँ के जीवन का अन्त द्वारका में हुआ। अतः इतना निश्चित है कि मीराँ के समस्त पदों का समूह उनकी मृत्यु के समय द्वारका में रहा होगा। अन्य स्थानों में भक्तों संतों अथवा श्रद्धावान गृहस्थों के घरों में लिखित रूप से अथवा उनकी स्मृतियों में

जो पद-संग्रह रहे होंगे उनमें से किसी के भी पुनः प्राप्त होने की संभावना नहीं है क्योंकि सारे जीवन के अन्त तक गिरिधर के सामने नाचती-गाती और नए पद बनाकर अपने माधुर्य भाव को व्यक्त करती रही थी।

मीरां स्वयं नर्तन के भावावेश में पद गाती थी। यह तो नहीं कहा जा सकता कि कबीर की तरह उन्होंने 'मसि और कागद' को कभी छुआ ही नहीं होगा पर यह भी सत्य है कि भजन-गान के रूप में निकले उनके ध्यान में डूबी हुई मीरां जब अपनी विह्वल भावना के साथ पद गाती होंगी तो कभी-कभी पूर्व-नियोजित पंक्तियों में परिवर्तन हो ही जाता होगा। प्रतिलिपि करते करते प्रायः कवि लोग अपनी स्व-भाषा में यत्र-तत्र परिवर्तन कर देते हैं, गाते-गाते पद परिवर्तित हो जाना और भी स्वाभाविक है। यह भी संभव है कि ब्रज-यात्रा तक लिखे किसी पद में द्वारका पहुँचते तक कुछ परिवर्तन हो गया हो और उसका द्वारका का रूप ब्रज के रूप से थोड़ा भिन्न हो गया हो। इस प्रकार मीरां की विभिन्न प्रतिलिपि-परम्पराओं के आदि आदर्श पाठों में भी कहीं-कहीं थोड़ा-बहुत अंतर रहा होगा परंतु व्यावहारिक दृष्टि से मीरां के अंतिम संकलन के पाठ को जिसमें मीरां के पदों के अन्तिम रूप से लोक हुए रूप होंगे मीरां के पदों का आदर्श पाठ मानना चाहिए और पाठ-सम्बन्धी अध्ययन का उद्देश्य यथाशक्ति उसी पाठ तक पहुँचना है।

मीरां के पदों को प्रारंभ में न राजाश्रय मिला न किसी संप्रदाय का आश्रय। उनके पद संतों भक्तों संगीत-साहित्य-प्रेमियों और भक्तिभावना से भरे गृहस्थों के यहां सुरक्षित रहे। जनता में उनके प्रति ज्यों-ज्यों आदर का भाव बढ़ता गया विभिन्न संप्रदायों ने भी उनको अपनाना प्रारंभ कर दिया और उनके पद विभिन्न संप्रदायों के हस्तलिखित ग्रंथों में स्थान पाने लगे। इसी के साथ एक बात और हुई, विभिन्न संप्रदायों के लोगों ने अपने संप्रदायों की भावना के अनुसार मीरां के पदों में परिवर्तन करके उन्हें अपनाया। इस प्रकार विभिन्न संप्रदायों की पोथी-परम्पराओं में विभिन्न प्रकार के परिवर्तनों का प्रचलन प्रारम्भ में आयासपूर्वक जान-बूझकर हुआ और बाद में अनायास मनमाने भी होता गया।

मीरां के पदों के विभिन्न पाठों की प्रतिलिपि-परम्पराओं में भी आपसी लेन-देन बहुत हुआ है। मीरां के कुछ ही पद-समूह किसी एक प्रति के प्रतिलिपि-परंपरा में प्राप्त हैं परन्तु अधिकांश ऐसे हैं जिनमें किसी एक प्रति से उतारे हुए पद नहीं हैं। लिपिकर्त्ताओं ने विभिन्न प्रतियों से उन पदों को उतारा है जो उन्हें 'किसी' दृष्टि से महत्त्वपूर्ण लगे हैं।

मीरां के पदों की पाठ-परंपरा सूर तुलसी जायसी आदि की कृतियों से भिन्न प्रकार की है। मीरां के अनेक पद ऐसे भी हैं जो विभिन्न प्रतियों में मौखिक

परंपरा में आ गए और कुछ समय के पश्चात् फिर मौखिक परपरा से लिपिबद्ध होकर एक नई-सी लिखित प्रतिलिपि परम्परा के बन गए। इस प्रकार कई प्रतिलिपि-परंपराएं वस्तुतः मौखिक परंपराओं से जुड़ी हैं। यह आदान-प्रदान लिखित परंपराओं में ही सीमित नहीं रहा इस दृष्टि से मौखिक परंपराएं भी सक्रिय रही हैं। अतः मीरां के पाठ-निर्धारण की समस्या अपेक्षाकृत अधिक कठिन है।

मीरां के पदों की प्रतियों के वर्गीकरण के आधार

मीरां के पदों की प्रतियों का वर्गीकरण कई दृष्टियों से किया जा सकता है। मीरां के समस्त पदों की कोई एक प्रति अभी तक उपलब्ध नहीं है और न इसके उपलब्ध होने की संभावना ही है। मीरां के पद निम्नांकित प्रकार की प्रतियों में मिलते हैं—

(क) पूर्ण प्रतियां या संकलन :

(१) एक प्रकार ऐसी प्रतियों का है जिनमें पूर्णतः मीरां के पद ही संगृहीत हैं अन्य किसी व्यक्ति की रचनाएं उसमें नहीं हैं जैसे डाकोर की गोवर्धनदास 'भट्ट' की प्रति या जोधपुर-दुर्ग के पुस्तक-प्रकाश की 'राग सोरठ का पद' की प्रति। ऐसी प्रतियाँ अधिक नहीं हैं।

(२) दूसरी कोटि में वे प्रतियां आती हैं जिन्हें 'सामान्य चयनिकाएं' कह सकते हैं जिनमें लिपिकों ने अन्य रचनाओं के साथ मीरां के कुछ पद भी चयन करके रख लिए हैं। विद्या-भसा मंड अहमदाबाद के गुटके 'रामदासी संदोहन' धुलिया की पोथियाँ इच्छाराम सू० देसाई (गुजराती प्रेस बम्बई) के वैयक्तिक संग्रह की प्रतियां इसी कोटि की हैं।

(ख) विषय-क्रम से या स्फुट रूप से :

कुछ प्रतियों में पदों को विशेष क्रम से रखा गया है। अन्य प्रतियों में इस प्रकार का कोई क्रम नहीं है। इस दृष्टि से प्रतियाँ प्रायः तीन प्रकार की हैं—

(१) वे प्रतियां जिनमें पद राग-क्रम से दिए गए हैं। 'पुस्तक-प्रकाश' की प्रति में तो राग सोरठ के पद ही एकत्र हैं उदयसिंह भटनागर द्वारा 'राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज तृतीय भाग में प्रकाशित पदों की आधारभूत पोथी में पद रागों के अनुसार ही वर्गीकृत हैं।

(२) वे प्रतियाँ जिनमें पदों को विषय-क्रम से रखने का प्रयास है। ऐसी एक भी पोथी उपलब्ध नहीं है जिसमें मीराँ के पद 'विषय' के अनुसार वर्गीकृत करके दिए गए हों परन्तु ऐसी प्रतियाँ मिलती हैं जिनमें शृंगार के पद भक्ति के पद रणछोड़ जी के पद आदि शीर्षक देकर अनेक भक्तों की रचनाओं के साथ मीराँ के पद दिए गए हैं जैसे रमणमामनी अग्रवाल की पोथी में 'हाजी के गीत' के अन्तर्गत मीराँ के पद दिए हुए हैं। विद्या-सभा के दो गुटकों में 'ठाकार की मरजी' शीर्षक से 'मीराँ' छाप की ठाकार से संबन्धित गरबियाँ दी हुई हैं।

(३) अधिकांश प्रतियाँ ऐसी हैं जिनमें किसी क्रम का अनुसरण नहीं है। विभिन्न विषयों के और विभिन्न रागों के पद (एक पद एक से अधिक राग का भी हो सकता है) बिना किसी योजना के लिपिबद्ध हैं। इन्हें 'फुटकर' नाम दिया जा सकता है जैसे अहमदाबाद की संवत् १६६५ की प्रति विनोदचन्द्र की संवत् १७ ७ की प्रति और गुजराती प्रेस बम्बई की इच्छाराम सूर्यराम बमाई के वैयक्तिक संग्रह की प्रतियाँ।

(घ) विभिन्न संप्रदायों में लिपिबद्ध प्रतियाँ

किसी विशिष्ट संप्रदाय में लिपिबद्ध प्रतियों की अपनी कुछ ऐसी सामान्य विशेषताएँ होती हैं जो उन्हें दूसरे संप्रदाय की प्रतियों से अलग कर देता है। प्राय पदों का चयन सांप्रदायिक भावना की अनुकूलता की दृष्टि से होता है अनेक स्थानों पर सुधार (विकार) और प्रभाव भी विशिष्ट दृष्टि से ही किए जाते हैं। रामसनेही-संप्रदाय के गुटकों में मीराँ के 'गिरिधर' अनेक स्थानों पर 'राम' और 'रमैया' बन गए हैं। वारकरी संप्रदाय की प्रतियों में 'विट्ठल' का विशेष प्रयोग है। वैष्णव मत के पदों में निर्गुन भावना का आभास दिखाने वाले पद कम-से-कम हैं और संतों द्वारा लिपिबद्ध पदों में 'प्रेम की नाव' 'ज्ञान की नाव' बन गई है 'प्रीतम' 'सत्गुरु' हो गए हैं। शैव संप्रदायों में 'मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर' छाप के पदों में टेक के रूप में 'भोलानाथ गिरधर है गुरु मोरा द्वारा र' जैसी पंक्तियाँ जोड़ दी गई हैं। मीराँ के गुरु रूप में रैदास और गौरांग महाप्रभु का उल्लेख करने वाले प्रक्षिप्त पदों की परम्पराएँ भी सांप्रदायिक भावनाजन्य हैं।

इस दृष्टि से मीराँ की उपलब्ध पोथियों का अगले पृष्ठ पर दिये हुए वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

परंपरा में आ गए और कुछ समय के पश्चात् फिर मौखिक परंपरा से लिपिबद्ध होकर एक नई-सी लिखित प्रतिलिपि परंपरा के बन गए। इस प्रकार कई प्रतिलिपि-परंपराएं वस्तुतः मौखिक परंपराओं से जुड़ी हैं। यह आदान-प्रदान लिखित परंपराओं में ही सीमित नहीं रहा इस दृष्टि से मौखिक परंपराएं भी सक्रिय रही हैं। अतः मीरां के पाठ-निर्धारण की समस्या अपेक्षाकृत अधिक जटिल है।

मीरां के पदों की प्रतियों के वर्गीकरण के आधार

मीरां के पदों की प्रतियों का वर्गीकरण कई दृष्टियों से किया जा सकता है। मीरां के समस्त पदों की कोई एक प्रति अभी तक उपलब्ध नहीं है और न इसके उपलब्ध होने की संभावना ही है। मीरां के पद निम्नांकित प्रकार की प्रतियों में मिलते हैं—

(क) पूर्ण प्रतियां या संचयन :

(१) एक प्रकार ऐसी प्रतियों का है जिनमें पूर्णतः मीरां के पद ही संगृहीत हैं अन्य किसी व्यक्ति की रचनाएं उसमें नहीं हैं जैसे डाकोर की गोवर्धनदास 'भट्ट' की प्रति या जोधपुर-दुर्ग के पुस्तक-प्रकाश की 'राग सोरठ का पद' की प्रति। ऐसी प्रतियां अधिक नहीं हैं।

(२) दूसरी कोटि में वे प्रतियां आती हैं जिन्हें सामान्य चयनिकाएं कह सकते हैं जिनमें लिपिकों ने अन्य रचनाओं के साथ मीरां के कुछ पद भी चयन करके रख लिए हैं। विद्या-सभा भद्र अहमदाबाद के गुटके 'रामदासी संशोधन' सुसिमा की पोथियां इच्छाराम सू० देसाई (गुजराती प्रेस बम्बई) के वैयक्तिक संग्रह की प्रतियां इसी कोटि की हैं।

(ख) विषय-क्रम से या स्फुट रूप से :

कुछ प्रतियों में पदों को विशेष क्रम से रखा गया है। अन्य प्रतियों में इस प्रकार का कोई क्रम नहीं है। इस दृष्टि से प्रतियां प्रायः तीन प्रकार की हैं —

(१) वे प्रतियां जिनमें पद राग-क्रम से दिए गए हैं। 'पुस्तक-प्रकाश' की प्रति में तो राग सोरठ के पद ही एकत्र हैं उदयसिंह भटनागर द्वारा 'राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज' तृतीय भाग में प्रकाशित पदों की आधारभूत पोथी में पद रागों के अनुसार ही वर्गीकृत हैं।

(२) वे प्रतियाँ जिनमें पदों को विषय-क्रम से देने का प्रयास है। ऐसी एक भी पोथी उपलब्ध नहीं है जिसमें मीराँ के पद 'विषय' के अनुसार वर्गीकृत करके दिए गए हों परन्तु ऐसी प्रतियाँ मिलती हैं जिनमें शृंगार के पद भक्ति के पद रणछोड़ जी के पद आदि शीर्षक देकर अनेक भक्तों की रचनाओं के साथ मीराँ के पद दिए गए हैं जैसे रामलालजी अग्रवाल की पोथी में 'होली के गीत' के अन्तर्गत मीराँ के पद दिए हुए हैं। विद्या-सभा के दो गुटकों में 'डाकोर की गरबी' शीर्षक में मीराँ छाप की डाकोर से संबन्धित गरबियाँ दी हुई हैं।

(३) अधिकांश प्रतियाँ ऐसी हैं जिनमें किसी क्रम का अनुसरण नहीं है। विभिन्न विषयों के और विभिन्न रागों के पद (एक पद एक से अधिक राग का भी हो सकता है) बिना किसी भावना के लिपिबद्ध हैं। इन्हें 'फुटकर' नाम दिया जा सकता है जैसे अहमदाबाद की संवत् १९९५ की प्रति विनोदचन्द्र की संवत् १७०७ की प्रति और गुजराती प्रेस बम्बई की इच्छाराम सूर्यराम देसाई के वैयक्तिक संग्रह की प्रतियाँ।

(४) विभिन्न संप्रदायों में लिपिबद्ध प्रतियाँ

किसी विशिष्ट संप्रदाय में लिपिबद्ध प्रतियों की अपनी कुछ ऐसी सामान्य विशेषताएँ होती हैं जो उन्हें दूसरे संप्रदाय की प्रतियों से अलग कर देती हैं। प्राय पदों का संचयन सांप्रदायिक भावना की अनुकूलता की दृष्टि से होता है अनेक स्थानों पर सुधार (विकार) और प्रसार भी विशिष्ट दृष्टि से ही किए जाते हैं। रामसनेही-संप्रदाय के गुटकों में मीराँ के 'गिरिधर' अनेक स्थानों पर 'राम' और 'रमैया' बन गए हैं। वारकरी संप्रदाय की प्रतियों में 'विट्ठल' का विशेष प्रयोग है। वैष्णव मत के पदों में निर्गुण भावना का आभास दिलाने वाले पद कम-से-कम हैं और संतों द्वारा लिपिबद्ध पदों में प्रेम की भाव 'ज्ञान की गाव' बन गई है 'प्रीतम' 'सत्गुरु' हो गए हैं। शैव संप्रदायों में मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर' छाप के पदों में टेक के रूप में 'भोलानाथ दिगंबर है थुम मोरा तारो रे' जैसी पंक्तियाँ जोड़ दी गई हैं। मीराँ के गुरु रूप में रैदास और गौराग महाप्रभु का उल्लेख करने वाले प्रक्षिप्त पदों की परम्पराएँ भी सांप्रदायिक भावनाजन्य हैं।

इस दृष्टि से मीराँ की उपलब्ध पोथियों को अगले पृष्ठ पर दिए हुए वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

ऊपर मीरां के पदों की प्रतियों के वर्गीकरण के सामान्य आधारों का विवेचन किया गया है। एक दृष्टि से किए वर्गों का दूसरी दृष्टि से किए वर्गों से कोई अनिवार्य संबंध या असंबंध हो यह आवश्यक नहीं है। हो सकता है कि रागों की दृष्टि से पद प्रस्तुत करने वाली एक प्रति वैष्णव संप्रदाय की हो दूसरी संत-मत की और तीसरी असांप्रदायिक सद्‌गृहस्थ की। इसी प्रकार एक संप्रदाय की एक प्रति गुजरात में लिपिबद्ध हो सकती है और दूसरी राजस्थान में। पाठ-परंपराएं भी एक दूसरे से मिलती-जुलती रहती हैं। इन सब बातों को ध्यान में रखकर ही मीरां के पदों का पाठ निर्धारित किया जा सकता है।

प्रक्षिप्त अंशों की समस्या

मीरां के पदों का पाठ निर्धारित करते समय सबसे प्रमुख समस्या आती है प्रक्षिप्त अंशों को मूल अंशों से अलग करने की। जो पद विभिन्न परंपराओं की प्रतिलिपियों में समान रूप से मिलते हैं और भाषा की दृष्टि से मीरां-युग के हैं उनकी प्रामाणिकता के विषय में संदेह का प्रश्न नहीं है। समस्या केवल उन पदों की है जो एक या अनेक प्रतिलिपि-परंपरा की प्रतियों में छूटे हुए हैं। ऐसे पद प्रायः दो प्रकार के हो सकते हैं—

(१) ऐसे पद जो किसी विशिष्ट प्रति के प्रतिलिपि-कर्ता द्वारा भूल से या जान-बूझकर छोड़ दिए गए हैं।

(२) ऐसे पद जो प्रक्षिप्त हैं और जो किसी विशिष्ट परंपरा में किसी समय प्रवेश पा गए हैं। स्वभावतः ऐसे पद कुछ परंपरा की पोथियों में छूटे रहते हैं।

उक्त दोनों प्रकार के पदों का निर्धारण अन्तःसाक्ष्य अर्थात् कथयित्री की भावना जीवन-दर्शन प्रयोग-वैशिष्ट्य भाषा-सम्बन्धी अन्य विशेषताओं के आधार पर परीक्षण और निरीक्षण करके किया जा सकता है। कुछ दशाओं में पदगत उल्लेखों का इतिहासादि की दृष्टि से परीक्षण करके भी निर्णय किए जा सकते हैं।

जैसा कि प्रारंभ में कहा गया है मीरां का पाठ-निर्धारण इस अध्याय की सीमा में संभव नहीं है। यहीं पर मीरां के समस्त पदों पर विचार नहीं किया जा सकता। अतः उदाहरण-स्वरूप कुछ इस प्रकार के पदों की चर्चा की जा रही है जिनकी अप्रामाणिकता अत्यन्त स्पष्ट है और फिर भी जो विभिन्न संग्रहों में स्थान पा चुके और पाते जा रहे हैं।

[१] मीरां के नाम से प्रचलित वे रचनाएं कदापि मीरां-कृत नहीं हो सकतीं जिनमें मीरां के जीवन से ऐसी घटनाओं का संबंध जोड़ दिया गया है जो निश्चित रूप से मीरां के जीवन-काल के बाद की हैं। उदाहरण के लिए, निम्नांकित घटनाओं के उल्लेख करने वाले पद मीरां-कृत नहीं हो सकते—

(क) डाकोर में मीरां के आराध्य गिरिधर की मूर्ति की प्रतिष्ठा से संबन्धित घटनाओं का उल्लेख करने वाले पद—रामदास वर्मा नामक व्यक्ति जो बोडाणा के नाम से प्रख्यात था सन् १७११ के लगभग डाकोर में रहता था। वही द्वारका से श्री रणछोड़जी की मूर्ति चुराकर लाया था और गोपाल जगन्नाथ ताम्बेकर ने सन् १७७२ (संवत् १८२९) में डाकोर का वर्तमान मंदिर बनवाया था।[1] मीरां के पदों की गुजरात की कतिपय प्रतियों में निम्नांकित पद कुछ सामान्य पाठ-भेद के साथ मिलते हैं—

नाथ तमे तुलसी न पत्रे तोलाया
एवा गुन र गोविन्द गवाया ॥ ना० ॥१
बोडाणो बहु नामे समरीया ने बामडीये बंधाया।
महरी करी महाराज पधार्या डाकोर मे दरसाया। ना० ।२
द्वारका थी डाकोर आव्याने ॥ पगले ठ पुजाया।
गंगाबाई ना सुख वधार्या गीरधर गामठी नाया। ना० । ३
गुगुरी सब मो बाबा आर्मी अरबम पी मथकाया ॥
बाह्मणा मां बाह्मणा आप थीयाओ ॥ सांज करी मठाया ॥ ना० ॥४
सोना बराबर तुलक रावीने सबा वाल तोलाया ॥
भगवत ने मुसाभित भापि भक्तन न कहाया ॥ ना० ॥ ५
गुजरात मध्य भमी द्वारका वेद पुराने गवाया ॥
मीरां के हे प्रभु गीरधर नागर चार जुग में गवाया ॥ ना० ॥६[2]

इसी प्रकार एक दूसरा पद है—

मरजी जाननी छे ॥
हारे भारोडी गगनम गयोगाली
बोडाणा संगे माझोरे मारो रंगम । बोडाणा ।
बाम बग्मनो ठरा बज संग तुलसी बाला जाओ रे ॥
मारा रंगम मत ॥

---

(१) यही प्रबंध—परिशिष्ट (मीरां द्वारा सेवित मूर्तियाँ)

(२) विद्या-सभा अहमदाबाद हस्तलिखित पोथी-संख्या १७५८

बोडाणा संगे माता रे मोरा ।। मक्मी तरो तरे ये बैसीने ।
डाकोर मा पेधारो रे मारो बीमस बोडाणा ।।
द्वारका का खबर थै तारे गोमतीना धम मा पेठो रे ।। मारो ।।
गढ़ ममीसर मने दवा ममपास (बोडाणा संगे।)
मीराँबाई के प्रभु मीरधर नागर डाकोरना पास राखो रे मारो। ।[१]

ऊपर लिखे हुए दोनों पदों में सन् १७५५ (संवत् १८१२) के पश्चात् की घटनाओं का विस्तार से वर्णन है और यह वर्णन एकाध पंक्ति तक सीमित नहीं है पूरे पद में व्याप्त है। इससे पता चलता है कि संपूर्ण पद ही बाद में रचा गया है और 'मीरां के प्रभु गीरधर नागर' छाप लगाकर प्रचलित कर दिया गया है। भाषा की दृष्टि से इसमें आधुनिक गुजराती का भी विकृत रूप है। अतः उक्त पदों को निश्चित रूप से अप्रामाणिक पदों की कोटि में रखना चाहिए।

(ख) इसी प्रकार तानसेन के साथ अकबर का मीराँ से मिलने का प्रसंग है। प्रियादास कृत भक्तमाल की भक्तिरसबोधिनी टीका द्वारा जिस भ्रम का प्रारंभ होने लगा था उसका निराकरण उनके युग में ही उन्हीं के नाती वैष्णवदास अपने 'भुष्णांत' में कर चुके हैं। फिर भी कुछ पोथियों में तानसेन और अकबर के मीराँ से मिलने का उल्लेख करने वाला निम्नांकित पद मिलता है —

माई री सांवलिया जान्यो नाथ
देस परखो अकबर आयो, तानसेन के साथ
राग तान इतिहास भजन करि, नाय-नाय सिर माथ
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर कीन्हों माहि समाथ।[१]

उक्त पद में भी उल्लेख समस्त पद में व्याप्त-सा है। उल्लेख करने वाली दूसरी और तीसरी पंक्तियों को निकाल देने पर पद में 'टेक' और 'छाप' की पंक्तियाँ रह जाती हैं। संपूर्ण पद ही प्रियादास के उल्लेख की भ्रमपूर्ण टीका पर आधारित है जो निश्चित रूप से मीराँ के बाद की है। अतः इस पद की अप्रामाणिकता असंदिग्ध है।

(ग) तुलसी के नाम मीराँ का तथाकथित पत्र भी एक पद के रूप में प्रचलित हो गया है। यह भी निश्चित रूप से किसी परवर्ती महापुरुष की कलाबाजी है।

(घ) एक अन्य घटना के उल्लेख करने वाले पदों की स्थिति भी ऐसी ही है। जयमल के वंश का प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध है। उनके पुत्र-पुत्रियों के नामादि

---

(२) वही, १११०
(१) मीरां बृहद पद संग्रह प्राक्कथन पृष्ठ १३०

इतिहास के पृष्ठों में सुरक्षित है। मीरांबाई उनके चाचा की पुत्री थी, उनकी पुत्री नहीं। इसी प्रकार वे एक राणा के पुत्र की पत्नी थीं एक राणा के भाई की पत्नी भी थीं पर किसी राणा की पत्नी नहीं थीं। फिर भी एक पद निम्नांकित रूप में प्रचलित है —

> मीरवर के मन भाई राणा जी ॥
> हूं तो गीरधर के मन भाई ॥
> मेमल के बेर जनम लीनो हे ॥ व्याई राणां कु दीहाई ॥
> भोग भोग साम्या माहारी सजनी ॥ भक्ती प्रगट भेष धाई॥ राणाजी ॥
> ऐसा भगति मोपी राणाजी ॥ चुक पड़ी मन माही ॥
> छत्रीस महूर ब्यापी घट भीतर ॥ चौदिसा छिटकाई ॥ राणाजी ॥
> मात तात सुत बंधु भाई ॥ ये सब झूठी सगाई ॥
> पुरबे सनेही प्रीत लगी है ॥ वामें सुरत मीलाई ॥ राणाजी ॥
> जनम-जनम की दासी राम की ॥ नही मे चारी लुगाई ॥
> चारे ने माहारे राणा फीकी सगाई ॥ राणा ॥[1]

ऊपर के पद का पाठ तो भ्रष्ट है ही साथ ही वो घटनाएं भी ऐसी हैं जिनका उल्लेख मीरां द्वारा संभव नहीं था —

(१) मेमल के बेर जनम लीनो हे।

(२) व्याई राणां कु दीहाई।

ये ऐतिहासिक दृष्टि से असत्य और काल्पनिक घटनाएं हैं। मीरां ने अपने विषय में इस प्रकार की गलती की होगी यह मानना न्याय-संगत नहीं कहा जा सकता। इस पद में एक और बात है। मीरां के मुंह से कहलवाया गया है कि 'नही में चारी लुगाई'। इस प्रकार की शब्दावली निम्न वर्ग के लोगों में प्रचलित है मीरां जैसी सुसंस्कृत राज-परिवार की भक्त नारी के मुख से इस प्रकार का कथन स्वाभाविक नहीं है। इसके अतिरिक्त उक्त पद में आधुनिक गुजराती का विकृत रूप है। अतः इसे किसी प्रकार प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता।

---

(१) विद्या-सभा भद्र — अहमदाबाद हस्तलिखित पोथी-संख्या १७४६; मीरांनी प्रेमवाणी पृष्ठ २९ पर यही पद कुछ भिन्न रूप में मिलता है; 'मीरांबाईना भजनो' पृष्ठ ५८ पर भी पाठ-भेद के साथ।

[२] संवादात्मक गीत—मीराँ की कृतियों में अनेक रचनाएं संवादों के रूप में भी मिलती हैं। इन संवादात्मक रचनाओं का विषय मीराँ का अपना जीवन है। इन संवादों में क्रमशः 'राणा-मीराँ' 'ऊदा-मीराँ' 'पंखी-मीराँ' 'सखी-मीराँ' 'सास-बहू' तथा 'ननद-भाभी' हैं। ये रचनाएं ब्रज राजस्थानी और गुजराती तीनों में मिलती हैं। वस्तुतः ये रचनाएं मीराँ-कृत नहीं हैं।

स्रोत की दृष्टि से ये साधारणतः दो प्रकार की हैं—

(१) राजस्थान और गुजरात में 'मीराँ-मंगल' या 'मीरा-लीला' करने वाली कई मंडलियाँ हैं। 'दीनानाथ की मंडली' का परिचय सूर्यनारायणजी से लेखक को मिला। मेड़ता में भी इस समय एक मंडली है जिसे 'जागरण मण्डल' कहा जाता है। इन सब मंडलियों ने मीराँ के जीवन के संबंध में संवादात्मक कविताएँ लिखी हैं, जिन्हें वे विशिष्ट अवसरों पर नाटकीय रूप से प्रस्तुत करते हैं।

(२) जनता में प्रचलित लोक-गीतों में से कितने ही ऐसे हैं जिनमें मीराँ की कथा संवादों के रूप में मिलती है। मनोहर शर्मा[1] श्रीमती शबनम[2] तथा लेखक ने लोक-परम्परा से कुछ इसी कोटि की रचनाएं संगृहीत की हैं।

उदाहरण के लिए निम्नांकित रचनाएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं—

(क) आदि ऊदी—भाभा ये क्यूँ रे तजी भाभी मीराँ क्यूँ रे लियो बैराग,
कांई थारे मन बसो।
मीराँ—बाई म्हारे मन बसी ऊदा म्हूँ लियो बैराग
माया म्हूँ रे तजी।

अन्त ऊदी—बास्या कूस्या टुकड़ा ये भाभी और मिलेगी सारी छाछ
रो रो भूखा मरो ये भाभी नहीं मिलेगो हरि आय
मीराँ—बास्या दो कूस्या टुकड़ा ये बाई पीस्यां बारी छाछ
म्हे रोवां भूखा मरां ये बाई, जबरे मिलेगो हरि आय
माया में दो यू र तजो[3]

---

(१) 'शोध-पत्रिका'—जून १९५७ भाग ९ अंक ४ मीराँ के भक्तों के 'भजन' लेख पृष्ठ १७१ १९४

(२) मीराँ एक अध्ययन—पृष्ठ २६७ से २६८ तक

(३) मीराँ-बृहद्-पद-संग्रह, प्रकाशन सं० २०१६, पृष्ठ १४ १५; इसी संकलन में 'मतभेद' और 'संघर्ष' नामक अंशों में इस प्रकार की कई रचनाएं हैं जिनमें से कुछ मंडलियों के रचे गीत हैं और कुछ लोक-गीत।

(ख) इस प्रकार की रचनायें गुजराती में भी प्रचलित हैं। एक गुजराती मित्र से निम्नलिखित रचना प्राप्त हुई—

पंथी—मीराँ आतुर थई उभा छो शाने कारणे रे।
मीराँ मुं महीआरियाँ माटे म्यारो पंथ रे।
मीराँ—मारे महिअरीआं ने सासरिआ सोंपा बधा रे।
मुजने ममता लिये छोंडा साधु संत रे।
इत्यादि॥

लगभग ऐसी ही पर इससे अपेक्षाकृत बड़ी एक रचना 'सत्संग मण्डल—नर नारायण मंदिर, कालबादेवी मुम्बई २ से प्रकाशित 'मीराँबाई' नामक संग्रह में संकलित है।

(ग) मेड़ता की 'जागरणमण्डली' के गायकों में प्रचलित उनकी अपनी रचना है—

सांगि राणा—मेड़तणी मीराँ क्यों भेस फकीरी धारो।
मीराँ—उदयपुर राणा रे मने भग फकीरी धारो।
राणा—मैं मीराँ तने यू कहूँ साधां में मत जाय
लाजे पिय मेड़तो अर कुल के लागे दाग
साधां के मत जाव
मत कुल के दाग लगाव
ये बस्त्र अभूखन धारो।
मीराँ—साध संगत प्यारी लगे सुण राणा म्हारी बात
राम नाम हिरदै बस्यो छिन नहिं छोड़यो जाय
मैं गोविंद रा गुण गास्युं—
थारी मैंला में नहिं आमूं मन भेस फकीरी भायो।

• • •

अन्त चरणामृत को नाम ले राणो भेज्यो जहर
कर चरणामृत पी गई प्रभुजी कीन्ही महर
राणो मन में बहुत सरमायो
पुरा जागरण-मण्डल गायो।

ये रचनाएं मीराँ कृत नहीं हैं क्योंकि—

(१) मीराँ अगर संवादात्मक कविताएं लिखती तो संवाद के पात्रों में वे स्वयं नहीं होती। उसके बक्ता अन्य लोग होते।

(२) भाषा की दृष्टि से ये रचनाएं प्राय: आधुनिक गुजराती या आधुनिक राजस्थानी की हैं। मीरां के युग की प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी या प्राचीन ब्रज के रूप इनमें नहीं मिलते।

(३) इनकी परंपरा मौखिक रूप से भी प्राचीन प्रतियों तक नहीं पहुँचती। प्रतिलिपि-परंपराओं की प्रारंभिक स्थिति में किसी भी परंपरा में संवादात्मक पद नहीं मिलते।

(४) इनमें से किसी-किसी में तो मंडलियों आदि की छापें भी हैं। जैसे (ग) में 'राणो मन मे बहुत शरमायो गुरु बामरण-मण्डल मायो'।

(५) कुछ में अन्त में 'पाठ का पुण्य' दिया गया है जो मीरां कदाचित् स्वयं न करतीं।

'मीरां हरि की लाडली रही गुपालहि माय
सुख दारिद्र बिनसै सदा पढ़ै सुनै सुख पाय।

[३] लिपिकर्त्ताओं की असावधानी के कारण भी अनेक पदों का पाठ अशुद्ध हो गया है या किसी अन्य कवि के पद मीरां के नाम से प्रचलित हो गए हैं। दो उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

(क) मीरां की छाप भी अनेक पदों में किसी कारण से अपने मूल रूप में नहीं रह गई। गुजरात की अनेक प्रतियों में यह छाप मिलती है—

"बाई मीरां के प्रभु गिरधरना गुण वाला दर्शन थी दु:खड़ा भागे छे।"[1]
"मीरांबाई के प्रभु गिरधरना गुण हरि हलधर केरा वीरा"[2]

गुजराती परंपरा से हिंदी में आने वाले पदों में भी इसे स्वीकार कर लिया गया है।

वस्तुत: यह भूल गुजराती लिपि के कारण हुई है। प्राचीनतर पोथियों में इस प्रकार की पंक्ति थी—

मीरां (बाई) के प्रभु गिरधर नागर।। हरि हल धर केरा वीरा।। बाद के किसी लिपिक ने नागर के र को दो खड़ी पाइयों के साथ मिला दिया और फिर का ए पढ़कर प्रतिलिपि में कर दिया—

मीरां (बाई) के प्रभु गिरधर नागरए हरि हलधर केरा वीरा।।

'गिरिधर नागण' गुजराती में अर्थहीन है अत: किसी समझदार लिपिकार

---

(१) बृहत् काव्य दोहन भाग ७ पृष्ठ ७०१ पद ६
(२) वही पृष्ठ ७०२ पद २

द्वारा इसको गिरधरना गुण (गिरिधर का गुण) कर दिया गया और इस नासमझी और अधकचरी समझ के कारण पंक्ति इस नए रूप में आ गई—

"मीराँ (बाई) के प्रभु गिरधरना गुण हरि हलधर कउ बीरा ।"

कुछ पंक्तियों का पाठ विकार की एक और सीढ़ी पर चढ़ गया है । 'मीराँ के प्रभु गिरिधरना गुण' का अर्थ ठीक नहीं बैठता अतः कुछ गुजराती लिपि कर्त्ताओं द्वारा इसे 'मीराँ के हे गिरिधरना गुण' कर दिया गया है ।

(ख) इसी प्रकार विद्या-सभा अहमदाबाद की एक पोथी में एक पद की अन्तिम पंक्ति इस प्रकार है —

"मीराँ स्वामी गीरीधरन श्री बीठल भव री भई सो कबहुन भई ।"[1]

के० का० शास्त्री से बात करने पर ज्ञात हुआ कि यह पद 'मीराँ' की ही छाप का है । पर वहीं एक अन्य पोथी में उक्त पद की इस अंतिम पंक्ति का आदि शब्द इस प्रकार लिखा था—

छीत

इसको लिपि-दोष के कारण मीराँ पढ़ लिया गया । प्रतिलिपि में 'चीतस्वामी' (छीतस्वामी) 'मीराँ स्वामी' बन गए और छीत स्वामी का पद मीराँ का पद हो गया ।

[४] मीराँ नाम के उल्लेखमात्र से मीराँ-कृत माने गए पद—

कुछ पद मीराँ-कृत इसलिए मान लिए गए हैं कि उनमें मीराँ का उल्लेख है । इनमें से कुछ पद तो ऐसे हैं जिनमें मीराँ की छाप नहीं है किसी अन्य कवि की छाप है । मीराँ के जीवन पर उनमें अन्य पुरुष के रूप में प्रकाश डाला गया है । मा० मि० महता ने 'जन सिद्धमन' के निम्नलिखित पद को मीराँ-कृत मानकर उद्धृत किया है —

"माई हूँ राणा रणछोड़ तारणे धारे, माई मुं

• • •

जन सिद्धमन गावो ब कुपत में बसी मीराँ राठौड़ ।"[2]

---

(१) हस्तलिखित पोथी-संख्या १०९१ पद ११

(२) "आ पद वाचतां ज ते श्री रणछोड़जीनी मूर्तिमां समाई गई, एकत्व पामी, अहीं के सायुज्य मुक्ति पामी ।" मीराँबाई—पृष्ठ ९८

इसी प्रकार हरिदास वर्मा का एक पद श्रीमती शबनम ने मीराँ के पद के रूप में उद्धृत किया है।[1] गुजराती कवि छोटमदास का 'मीराँ नो मरणो'[2] और 'वैतराम के मजनो' की पंक्तियां भी मीराँ के पदों के रूप में प्रचलित हैं। माहेरो में रूपीजाग्राम के मीरादास ने ८ पद मीराँ के मुंह से कहलवाए हैं। ये पद स्वयं मीराँदास की रचनाएं हैं। माहेरो की कथा से अलग करने पर ये पद मीराँ-कृत ही प्रतीत होते हैं—

उदाहरण के लिए—

> लेजारे कागदया मरसी के पासि रे ॥ टेक ॥
> राम राम कह दीज्यो सबन को। ग्रौर कहज्यो साबास रे ॥ १ ॥
> कागज की विधि होय तुम्हार। तो भाज्यो रच साज रे ॥ २ ॥
> सम्बन्धी मिलि हू इन ग्रवसर। कठिन रहन की लाजि रे ॥ ३ ॥
> बचन विप्र ग्रानन्द उर धरके। गावत मीरांदासि रे ॥ ४ ॥

इन सबको मीराँ के पदों में सरलता से निकाला जा सकता है। कठिनाई वहाँ ग्राती है जहाँ कोई पद मीराँ की छाप से प्रचलित है और साथ ही किसी ग्रन्य कवि की छाप के साथ भी उसका प्रचार है। नीचे के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। मीराँ-छाप का एक पद है—

> बिरहनी फिरै है प्रभुजी ग्रधीरा।
> जायँ परै सोई भली जानै ग्रौर न जाने पीरा।
> कान्हा जानै जिन यह लाई के जिन चोट सही।
> संग की बिछुरी मिलन ना पावै सोवत मन ही रही।
> दीन भई बूझे सखियन को कोई मोहि राम मिलावै।
> बाछी मीरॉ मीन ज्यूं तलफै मिलै भलै सचु पावै।

यही पद कुछ सामान्य परिवर्तन के साथ कबीर की रचनाओं में मिलता है—

> बिरहनी फिरै है नाथ ग्रधीरा
> उपजि बिनां कछू समझि न परई, बांझ न जानै पीरा ॥ टेक ॥
> या बड़ बिथा सोई भल जानें राम बिरह सर मारी।
> कैसो जानै जिनि यहु लाई, कै जिनि चोट सहारी ॥

---

(१) मीराँ-बृहद् पद-संग्रह पृष्ठ १०
(२) वैयक्तिक संग्रह की प्रति
(३) राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज तृतीय भाग, पृष्ठ २११

संप की बिछुरी मिलन न पावै सोच करै अरु काहै ।
जतन करै अरु जुगति बिचारै, रटै राम कूं चाहै ।।
दीन भई बूझै सखियन को कोई मोहि राम मिलावै ।
दास कबीर मीन ज्यूं तलफै मिलै भलै सचुपावै ।। २८४ ।।[1]

इन दोनों पदों में केवल साधारण साम्य नहीं है इनमें अधिकांश पंक्तियाँ जमममिश्र हैं । इससे इतना स्पष्ट है कि ये एक ही पद के रूपान्तर हैं । 'दास कबीर मीन ज्यू तलफै मिलै भलै सचुपावै' के स्थान पर 'दासी मीरां मीन ज्यू तलफै मिलै भलें सचु पावै' हो जाने से या कर दिए जाने से प्रस्तुत समस्या उठ खड़ी हुई है । ऐसी स्थिति में निम्नांकित आधारों पर निर्णय किया जा सकता है —

(१) मीरां-छाप का पद जिस प्रति में है वह लगभग १०० वर्ष पुरानी होगी । कबीर-छाप का पद संवत् १८८१ की हस्तलिखित प्रति में मिलता है (सं० १५६१ की प्रति में तिथि की प्रामाणिकता संदिग्ध है) इससे कबीर-छाप के साथ इस पद की प्राचीनतर परंपरा के प्रमाण हैं ।

(२) मीरां-छाप के पद में 'कोई मोहि राम मिलावै' पंक्ति की भावना 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई' में व्यक्त भावना से मेल नहीं खाती और वर्तमान संदर्भ से मीरां के लिए स्वाभाविक नहीं लगती विशेषकर उस समय जबकि मीरां बिना किसी साहित्यिक या संगीत-संबन्धी बोध के उत्पन्न किए, कह सकती थीं— 'कोई मोहि कान्ह मिलावै' । पद में 'सखियों' के साथ 'राम' शब्द का प्रयोग मध्यकालीन सगुण भक्ति-परंपरा के अनुकूल नहीं है निर्गुण संतों के लिए स्वाभाविक है क्योंकि सखियों का अर्थ उनके लिए साधक 'आत्माएं' है और कोई नहीं ।

(३) भाषा की दृष्टि से मीरां-छाप के पद में कई ऐसे प्रयोग हैं जो प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी या प्राचीन ब्रज में नहीं मिलते—जैसे 'फिरै है' आदि । कबीर की सधुक्कड़ी भाषा के लिए ये अस्वाभाविक नहीं है ।

अत: इस पद के मीरां-कृत न होकर कबीर-कृत होने की संभावना लगभग निश्चय के कोटि की है ।

[४] कुछ पदों में मीरां की स्वाभाविक भावना से भिन्न प्रकार तथा को की भावना मिलती है । ऐसे पद संदिग्ध कोटि में ही रखे जा सकते हैं ।

(१) कबीर ग्रंथावली नागरी प्रचारिणी सभा पद सं० २८४

उदाहरण के लिए निम्नांकित पद उद्धृत किया जा सकता है —

> भोलानाथ दिगाम्बर हे दुख मोरि हरो रे ॥ ध्रु० ॥
> भस्मन आसन बैल की पलथा ॥
> जोगनि (?) के माथा धरो ।१।
> तीनों नयनों में भस्म लगाये ॥
> माथे पर गंगा पधारो ॥ २ ॥
> मिरा के प्रभु गिरधर नागर ॥
> मैं तेरे पया पड़े रे ॥ ३ ॥[1]

भावाभिव्यक्ति की असंगति और भाषा के दोष के साथ ही उक्त छंद में मीरां की भक्ति-भावना का स्वाभाविक रूप भी इस पद में नहीं है। केवल वारकरी और रामदासी संप्रदाय की पोथियों में ही ऐसे दीन पद मिलते हैं। भाव से विशेष प्रभावित संतों की परंपराओं में इस प्रकार की रचना प्रायः मिलती है। उपर्युक्त रचना भी किसी ऐसे ही संत की है। मीरां की छाप के कारण उनकी कृतियों में मिल गई है।

इस प्रकार की समस्या प्रमुखतः संत-भावना वाले पदों के संबन्ध में है। ऐसे पद दो-चार नहीं, दसियों हैं और अनेक परंपरा की प्रतियों में उपलब्ध हैं। जैसा कि मीरां की भक्ति के विषय में अगले अध्याय में निर्धारित किया गया है मीरां रसिकराय की सगुण भाव की भक्त थीं। रामचरदास जैसे प्राचीन सांप्रदायिक संत भी यही कह गए हैं। मीरां के पद मूलतः सगुण-भावना के ही हैं। पर, मीरां उदार वैष्णव थी और संतों के संपर्क में रहती थी।

वारकरी मत के भक्त भागवत मत के हैं विट्ठल के पुजारी हैं। संत-मत का प्रभाव उनके काव्य पर काफी है। मीरां पर भी संतों का सामान्य प्रभाव होना न असंभव है और न अस्वाभाविक पर उनकी मूल-भाव धारा सगुण-प्रेम की थी। विभिन्न प्रतियों के पाठों की तुलना से, बाद के संतों द्वारा मीरां के पदों में किए गए परिवर्तन खोजे जा सकते हैं और उपर्युक्त दृष्टि से अधिक विश्वसनीय पाठ स्वीकार किया जा सकता है।

मुनि जिनविजयजी को किसी १५० वर्ष पुरानी हस्तलिखित पोथी में मीरां के दो पद मिले थे जो उन्होंने भारतीय विद्या-भवन की 'भारतीय विद्या पत्रिका' में प्रकाशित किए थे। उनमें से एक पद का पाठ इस प्रकार है—

(१) तळवडे मठ की प्रति रामदासी संशोधन, धुळे ग्रंथांक १६४

कां गया नेह लगाय प्रभुजी कां ।
बहुत समुद्र छोड़ चले हो
ज्ञान की नाव बनाय प्रभु० ।१।
छोड़ चले हो विसवास संगाती
प्रेम की बात बनाय प्रभु० ।२।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर
हर चरणां चित लाय प्रभु० ।३।

डाकोर की भट्टजी की प्राचीन प्रति में इसका पाठ निम्नांकित है—

प्रभुजी थे कठ्यां गयां नेहड़ा लगाय ।
छाड़्या म्हां विसवास संगाती प्रीत री बाती जराय ।
विरह समंद मा छोड़ गया छो नेहरी नाव चलाय ।
मीरां रे प्रभु कबरे मिलोगा थे बिन रह्या ना जाय ।

(काशी नागरी प्रचारिणी सभा की पोथी में भी यह पद दिया गया है)

प्रथम पाठ का 'बहुत समुद्र' और 'ज्ञान की नाव' दृष्टव्य है। इसके स्थान पर दूसरे पाठ में 'विरह समंद' और 'नेहरी नाव' हैं जो कि न केवल शब्दत्व और अर्थ-संगति की दृष्टि से उपयुक्त हैं पर मीरां की भावना की दृष्टि से भी स्वाभाविक हैं। पहले पाठ में 'प्रेम की बात बनाय' पद के मूल भाव की ओर संकेत करता है और 'बहुत समुद्र' में ज्ञान की नाव में बैठकर छोड़ने वाली बात किसी घुमक्कड़ संत द्वारा किए परिवर्तन की ओर संकेत करती है क्योंकि इसमें 'बहुत' और 'ज्ञान' शब्दों के अतिरिक्त संत-मत की भी कोई बात नहीं है। कोई भी भक्त ज्ञान की नाव में बैठकर और बहुत से समुद्र में पहुंचकर विकल नहीं होगा और न उससे निष्कृति पाने की याचना करेगा। अतएव प्रथम पाठ की अपेक्षा दूसरा पाठ अधिक विश्वसनीय है। (दूसरे पाठ में भी सामान्य अन्तर मिलते हैं पर उनका विवेचन यहाँ अप्रासंगिक होगा।)

[६] भाषा की दृष्टि से जाँच करने पर भी अनेक स्थलों पर मूल पाठ को प्राप्त किया जा सकता है। 'मीरां की भाषा' के विषय में अन्यत्र विचार किया गया है। यहाँ यह कह देना पर्याप्त होगा कि मीरां की मूल रचनाएं उनकी मातृभाषा में और उत्तर भारत की तत्कालीन काव्य भाषा (विशेषतः कृष्ण-काव्य की भाषा) ब्रजभाषा में ही हैं। उनकी मातृभाषा प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी थी जो १४-१५ वीं शताब्दी में गुजराती से अभिन्न थी। मीरां के युग में उसमें थोड़ा-सा अन्तर आने

लगा था। अतः प्राचीन गुजराती या पश्चिमी राजस्थानी का पुट भी उनमें स्वाभाविक है।

[७] अन्य कवियों के पद जो मीरां के नाम से भी प्रचलित हैं —

कबीर	१	पद	रामसनेही गुटका
	९	पद	श्री सन्तगाथा
	१	पद	नागरी प्रचारिणी सभा, कबीरग्रंथावली, पद २८४
सूरदास	९	पद	श्री संतगाथा
नरसी महता	१	पद	भक्त नरसी (पृष्ठ १५४) गीता-प्रेस गोरखपुर
श्रीहितहरिवंश	१	पद	संतवाणी अंक कल्याण पृष्ठ २८१
चन्द्र सखी	६	पद	चन्द्रसखी—जीवनी और काव्य
	१२	पद	चन्द्रसखी और उनका काव्य
जन लछमन	१	पद	रामरसिकावली पृष्ठ ८७८
बख्तावर	४	पद	राग कल्पद्रुम तथा मरुभारती जनवरी ५६
आनंदघन	१	पद	मीरांमाधुरी पृष्ठ ९१
नानूदास	१	पद	रामसनेही गुटका १९१४
तानसेन	१	पद	वैष्णवदास का टिप्पण (बड़ौदा संग्रह की प्रति)
मीरादास (बणीबा)	८	पद	माहेरो (उज्जैन की प्रति)
ललितादासी	२	पद	वैयक्तिक संग्रह का गुटका
गवरीबाई	५	पद	(डाकोर का परमेश्वर दास जी का गुटका)
कुल	७१	पद	

इन पदों के अतिरिक्त और बहुत से पद हैं जो निश्चित रूप से किसी अन्य लेखक के हैं पर मीरां के नाम से प्रचलित हो गए हैं। उदाहरण के लिए, हरिदास वर्मा का पद छोटमदास की मराठी विद्यासभा के गुटके का छीतस्वामी का पद, भारतन मण्डली के भजन, जैतदास के भजन और मीरां नाटकों के रचयिताओं (बलदेवमिश्र आदि) के पद आदि कितनी ही रचनाएँ हैं जो इस कोटि में रखी जा सकती हैं। मीरां की रचनाओं के पाठ-सम्पादन के प्रसंग में प्रक्षिप्तांश अलग करने में इनकी विशेष उपादेयता है।

निम्नांकित स्रोतों के पदों को इस अध्ययन के आधार स्वरूप स्वीकार किया है —

१– डाकोर की भट्ट जी की प्रति (संवत् १६४२ में लिपिबद्ध)

२– काशी की प्रति (नागरी प्रचारिणी की प्रतियों से भिन्न पं० ललिता-प्रसाद सुकुल द्वारा प्रकाशित (डाकोर की प्रति की परंपरा की)

३– नागरीदास द्वारा पद प्रसंग माला में तथा वैष्णवदास कृत भक्तमाल-दृष्टान्त में उद्धृत पद

४– अविचलदास द्वारा लिपिबद्ध संवत् १६६१ की प्रति के पद

५– विद्या-सभा अहमदाबाद की १७०१ की प्रति के पद

६– विनोदचन्द्र की १७०७ की प्रति के पद

उक्त स्रोतों से उपलब्ध मीराँ के पदों को प्रस्तुत अध्ययन का आधार बनाने के दो प्रमुख कारण हैं —

(१) ये पद जिन प्रतियों में लिपिबद्ध हैं वे लिपिकाल की दृष्टि से अन्य प्रतियों से प्राचीनतर हैं। ऊपर उनके लिपिकाल या संकलन-काल का उल्लेख किया जा चुका है।

(२) इन प्रतियों के पद विभिन्न परंपराओं में संकलन करने वाले पद संकलनों तथा विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों और विभिन्न प्रदेशों में लिपिबद्ध पद संग्रहों में मिल जाते हैं जो इनकी प्रामाणिकता को विशेष विश्वसनीय बना देता है।

अबतक मीराँ के पदों का कोई वैज्ञानिक दृष्टि से संपादित संस्करण प्रकाशित नहीं हुआ। जो पद-संग्रह मिलते हैं उनमें संकलन या संचयन आधार-शून्य अथवा संकलन-कर्ता के विवेक और उसकी अपनी रुचि पर आधारित रहता है। इनके संपादकों की दृष्टि विशेष वस्तुनिष्ठ नहीं है। लगभग सभी संपादकों का कहना है कि कोई प्राचीन हस्तलिखित पोथी उपलब्ध नहीं है। ऐसी परिस्थिति में इस समय उन्हीं पदों को स्वीकृत करना उचित है जो संत और वैष्णव दोनों परंपराओं की तथा गुजरात और हिन्दी दोनों प्रदेशों की विभिन्न हस्तलिखित पोथियों में एक साथ मिल जाते हैं और जो कम से कम २००।३० वर्ष पूर्व लिपिबद्ध हो गए हैं। इनमें प्रक्षेप और अप्रामाणिक अंशों के होने का अधिक भय नहीं है।

यहाँ पर डाकोर की प्रति के पद संख्या १७ क के संबंध में यह कह देना आवश्यक है कि यह पद प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता। कारण इस प्रकार है —

(१) प्रति में बाद में जोड़ा हुआ प्रतीत होता है। १७ वें पद के पश्चात् १७ (क) पद का आना इस बात का स्पष्ट संकेत है।

(२) यह पद अपनी समग्रता में विशेषकर प्रथम दो पंक्तियों के साथ किसी अन्य प्रति में नहीं मिलता।

(३) मीराँ कभी अपने मुख से यह नहीं कह सकती कि मैं 'राधिका का अवतार हूँ'। यदि वे ऐसी बातें कह सकती तो उनके नाम से सम्प्रदाय इस भक्ति-प्राण देश में अवश्य चल पड़ता। फिर उनकी निस्पृहता शालीनता और गंभीरता को देखते हुए उनसे इस प्रकार की बात की आशा करना अस्वाभाविक है। जिन्होंने आत्मचरित अपने काव्य में नहीं आने दिया (विष के उल्लेख को छोड़कर) वे अपनी जन्मतिथि का उद्घोष करेंगी यह तनिक भी संभव प्रतीत नहीं होता।

(४) मीराँ यदि स्वयं को राधा का अवतार कहती तो भक्तों में इस बात की चर्चा प्रशंसात्मक या व्यंगात्मक रूप में होती अवश्य और भक्तों के जीवन-चरित लिखने वाले नाभादास, प्रियादास वैष्णवदास तथा नागरीदास जैसे श्रद्धावान भक्त इसको अनुल्लिखित नहीं रहने देते। नाभादास जी तो 'गोपिन' की सी भक्ति के स्थान पर 'राधा' की-सी भक्ति का उल्लेख करते।

(५) मीराँ ने एक पद में राधा-कृष्ण संभोग के अनुभावों का बड़ा सरल वर्णन किया है पर उन्होंने अपने को पूर्णतः तटस्थ रखा है। यदि वे अपने को राधा कहने का दुःसाहस कर सकती तो ऐसे वर्णनों में राधा से अलग हट कर खड़ी न हो जाती उनके साथ तादात्म्य का अनुभव करती। फिर, मीराँ के काव्य में राधा की अत्यन्त उपेक्षा हुई है। यह भी प्रस्तुत मत की ही पुष्टि करता है।

अतएव डाकोर की प्रति के इस पद को प्रामाणिक नहीं माना है।

साधना-पथ

प्रेमाभक्ति

मीराँ के जीवन की समस्तता को समझने के लिए उनके अन्तर्जगत का उद्घाटन आवश्यक है। प्रस्तुत अध्याय में उनकी अस्फुट बिरल आत्माभिव्यक्तियों के आधार पर उनके जीवन-दर्शन की रूपरेखा के निर्माण का प्रयत्न किया गया है, पर मीराँ के भाव और चिन्तन के अद्भुत-से आयामों को आँकने के पूर्व निम्नलिखित तथ्य स्मरणीय हैं —

(१) मीराँबाई रामानुज रामानन्द मध्व निम्बार्क वल्लभ आदि की तरह आचार्य नहीं थीं। दार्शनिक दृष्टि से सृष्टि के चरम सत्य की मीमांसा न उनकी साधना का प्राप्य था और न उनके स्वभाव के लिये सहज प्रकाम्य। अतः मीराँ में पूर्ववर्ती चिन्ता-धाराओं की क्रिया प्रतिक्रिया वैसी सम्भव नहीं थी जैसी कि दर्शनशास्त्र के प्रणेता और व्याख्याता आचार्यों में होती है। वस्तुतः वे दर्शन का सूक्ष्म सिद्धान्त-आगम नहीं सरस साधना का सरल उदाहरण थीं।

(२) मीराँ का व्यक्तित्व कबीर की तरह आघातप्रिय दुर्दम्य मस्ती तथा नेतृत्व और निदेशन की अपराजेय आत्मशक्ति से मंडित नहीं था। निर्भीकता उनमें भी थी किन्तु नारी सुलभ समर्पण की कोमल भावना ने उसे उद्दंड नहीं होने दिया था। अतएव मीराँ द्वारा कबीर के समान पूर्व प्रचलित दार्शनिक मतों का खण्डन-मण्डन सीधे शब्दों में कहीं नहीं हुआ। वे स्वयं आराधना का स्वर थीं समाज के लिए कर्तव्य-पथ का निर्देशक शब्द उनके पास नहीं था।

(३) मीराँ की स्थिति सूरदास जैसे भक्तों से भी भिन्न थी, जिन्होंने किसी विशिष्ट सम्प्रदाय की साधना-पद्धति को पूर्ण आत्म-समर्पण के साथ स्वीकार कर लिया था और जिनके काव्य में आग्रह वही दर्शन व्यवहित या अव्यवहित रूप से कलात्मक अभिव्यक्ति पाता रहा।

यहाँ पर डाकोर की प्रति के पद संख्या १७ ब के संबंध में यह कह देना आवश्यक है कि यह पद प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता। कारण इस प्रकार है —

(१) प्रति में बाद में जोड़ा हुआ प्रतीत होता है। ६७ वें पद के पश्चात् ६७ (ब) पद का आना इस बात का स्पष्ट संकेत है।

(२) यह पद अपनी समग्रता में विशेषकर प्रथम दो पंक्तियों के साथ किसी अन्य प्रति में नहीं मिलता।

(३) मीराँ कभी अपने मुख से यह नहीं कह सकती कि मैं 'राधिका का अवतार हूँ'। *यदि वे ऐसी बातें कह सकती तो उनके नाम से सम्प्रदाय इस भक्ति-*प्राय वेश में अवश्य चल पड़ता। फिर उनकी निस्पृहता शालीनता और गंभीरता को देखते हुए उनसे इस प्रकार की बात की आशा करना अस्वाभाविक है। जिन्होंने आत्मचरित अपने काव्य में नहीं आने दिया (विष के उल्लेख को छोड़कर) वे अपनी जन्मतिथि का उद्घोष करेंगी यह तनिक भी संभव प्रतीत *नहीं होता।*

(४) मीराँ यदि स्वयं को राधा का अवतार कहतीं तो भक्तों में इस बात की चर्चा प्रशंसात्मक या व्यंगात्मक रूप में होती अवश्य और भक्तों के जीवन-चरित लिखने वाले नाभादास प्रियादास वैष्णवदास तथा नागरीदास जैसे प्रताप भक्त इसको अनुल्लिखित नहीं रहने देते। नाभादास जी तो 'गोपिन' की सी भक्ति के स्थान पर 'राधा' की-सी भक्ति का उल्लेख करते।

(५) मीराँ ने एक पद में राधा-कृष्ण संयोग के अनुभावों का बड़ा सरल वर्णन किया है पर उन्होंने अपने को पूर्णतः तटस्थ रखा है। यदि वे अपने को राधा कहने का दुस्साहस कर सकती तो ऐसे वर्णनों में राधा से अलग हट कर खड़ी न हो जाती उनके साथ तादात्म्य का अनुभव करतीं। फिर, मीराँ के काव्य में राधा की असमन्य उपेक्षा हुई है। यह भी प्रस्तुत मत की ही पुष्टि करता है।

अतएव डाकोर की प्रति के इस पद को प्रामाणिक नहीं माना है।

साधना-पथ

प्रेमाभक्ति

मीराँ के जीवन की समस्तता को समझने के लिए उनके अन्तर्जगत का उद्घाटन आवश्यक है। प्रस्तुत अध्याय में उनकी अस्फुट विरल आत्माभिव्यक्तियों के आधार पर उनके जीवन-दर्शन की रूपरेखा के निर्माण का प्रयत्न किया गया है, पर मीराँ के भाव और चिन्तन के अमूल्य-से आयामों को आँकने के पूर्व निम्नलिखित तथ्य स्मरणीय हैं —

(१) मीराँबाई रामानुज रामानन्द मध्व निम्बार्क वल्लभ आदि की तरह आचार्य नहीं थीं। दार्शनिक दृष्टि से सृष्टि के चरम सत्य की मीमांसा न उनकी साधना का प्राप्य था और न उनके स्वभाव के लिये सहज काम्य। अतः मीराँ में पूर्ववर्ती चिंतन धाराओं की क्रिया प्रतिक्रिया वैसी सम्भव नहीं थी जैसी कि दर्शनशास्त्र के प्रणेता और व्याख्याता आचार्यों में होती है। वस्तुतः वे दर्शन का सूक्ष्म सिद्धान्त-वाक्य नहीं सरस साधना का सरस उदाहरण थीं।

(२) मीराँ का व्यक्तित्व कबीर की तरह आत्मविश्वासी दुर्दम्य मस्ती तथा नैपुण्य और निर्वेदन की अपराजेय आत्मशक्ति से मंडित नहीं था। निर्भयता उनमें भी थी किन्तु नारी सुलभ समर्पण की कोमल भावना ने उसे उद्दंड नहीं होने दिया था। अतएव मीराँ द्वारा कबीर के समान पूर्व प्रचलित दार्शनिक मतों का खण्डन-मण्डन लोप पद्यों में कहीं नहीं हुआ। वे स्वयं आराधना का स्वर थीं समाज के लिए कर्तव्य-पथ का निर्देशक दण्ड उनके पास नहीं था।

(३) मीराँ की स्थिति सूरदास जैसे भक्तों से भी भिन्न थी जिन्होंने किसी विशिष्ट सम्प्रदाय की साधना-पद्धति को पूर्ण आत्म-समर्पण के साथ स्वीकार कर लिया था और जिनके काव्य में शायद ही दर्शन व्यवहित या अव्यवहित रूप से कलात्मक अभिव्यक्ति पाता रहा।

(४) तुलसी की तरह नाना पुराण-निगमागम-सार-संग्रह की सचेतन अध्ययन-मननशील प्रवृत्ति और युग-धर्म को शब्दों में साकार करने की कामना भी मीरां में नहीं थी।

इस प्रकार वे न दार्शनिक आचार्य थीं और न साधारण भक्त। किसी पन्थ के निर्देश की बात भी उनके मन में नहीं थी। वे केवल भक्त थीं, भक्ति की साकार भावना थीं चिरन्तन प्रियतम के लिये अनन्त प्रणय का एक मधुर स्पन्दन थीं और प्रणय को दार्शनिक तर्कवाद की आवश्यकता नहीं होती। उसमें जो निरन्तर मन को मोह रहा है, उसका हो जाना या उसे अपना बना लेना ही काफी है। ऐसे प्रेमी के कवि-हृदय होने पर संयोग वियोग की नाना अनुभूतियाँ अनायास ही अभिव्यक्त हो उठती हैं। मीरां के पद तन्मयता के ऐसे ही विरल क्षणों की आयासहीन वाणी हैं। न मतसैद्धान्तिक विवाद उनका अभिप्रेत था, न सैद्धान्तिक वाद उनका प्रतिपाद्य। अतः उनके काव्य में किसी दार्शनिक 'मतवाद' की सूक्ष्म रेखाएँ खोजना अन्याय है।

आराध्य

मीरां के आराध्य कौन थे इस विषय में विभिन्न सम्प्रदायों के साहित्य में उपलब्ध मीरां-सम्बन्धी प्राचीनतम साक्ष्य पर दृष्टि डाल लेना आवश्यक है क्योंकि मतभेद के बावजूद मीरां की जिन मान्यताओं के विषय में उनके विरोधी-अविरोधी सभी एकमत हैं और जो उनके काव्य तथा जीवन की घटनाओं द्वारा समर्थित हैं, उन्हें निश्चित रूप से उनकी विचारधारा के रूप में स्वीकृत किया जाना चाहिये।

कृष्णोपासक सम्प्रदायों का मत

वल्लभ सम्प्रदाय की चौरासी वैष्णवन की वार्ता के अनुसार मीरां ने कृष्णदास अधिकारी के पहुँचने पर 'श्रीनाथजी' के लिए भट दी थी[१] और एक अन्य अवसर पर अपने पुरोहित रामदास से 'ठाकुरजी' के पद गाने का आग्रह किया था।[२] इस पर रामदास ने मीरां को खरी-खोटी भी सुनाई, पर उन्होंने

(१) कृष्णदास अधिकारी तिनकी वार्ता—प्रसंग १

(२) मीरांबाई के पुरोहित रामदास तिनकी वार्ता—प्रसंग १

अपनी बात नहीं कहती । नम्रता और शिष्टता के बावजूद 'ठाकुरजी' के अतिरिक्त किसी अन्य की आराधना का पद गाने की बात के साथ समझौता नहीं किया । इससे पता यह चलता है कि मीराँबाई मीनाथजी के प्रति श्रद्धानु अवश्य थीं, पर उनके इष्टदेव 'ठाकुर' ही थे । नागरीदासजी का भी असंदिग्ध प्रमाण है कि मीराँ पद बनाकर 'ठाकुर' के आगे गाती थीं । उनके जिस पद को नागरीदासजी ने इन ठाकुरजी की पूजा के गीत के रूप में उद्धृत किया है, उसमें स्पष्टत: कहा गया है —

> 'आपुन गिरिवर ग्याव कियौ यह, छाड्यो दूबर पानी'
> मीराँ प्रभु गिरधर नागर के चरण कमल लपटानी ।[1]

'गिरधर नागर' के अतिरिक्त प्रभु के किसी अन्य रूप का उल्लेख यथा, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कोई संकेत भी उनके इस वक्तव्य में नहीं है ।

राधावल्लभी ध्रुवदास[2] चैतन्य सम्प्रदायी प्रियादास[3] निम्बार्क सम्प्रदायी वैष्णवदास[4] तथा अवधूत नाथ-पन्थी रामाबाई[5] आदि विभिन्न सम्प्रदायों के कृष्णोपासक उक्त धारणा से पूर्णत: सहमत हैं । महाराष्ट्र के वारकरी सम्प्रदाय के किसी अज्ञातनामा व्यक्ति द्वारा नामा के नाम से लिखित 'मीराँ-चरित्र'[6] में भी इसी आशय के उल्लेख हैं ।

रामोपासकों का साक्ष्य

अग्रदास के शिष्य रामोपासक नाभादास की साखी भी यही है कि 'लोक-लाज कुल शृंखला तजकर मीराँ ने गिरिधर को भजा ।'[7] आगे भी रामोपासक परम्परा मीराँ के प्रभु 'गिरधर नागर' ही मानती रही ।

---

(१) नागरसमुच्चय—पद-प्रसंगमाला मीराँ-सम्बन्धी प्रसंग १

(२) लाज छाँड़ि गिरधर भजे—भक्तनामावलि-लीला, पृष्ठ १४

(३) 'मेरतें जनमभूमि भूमि हित नैन लगे पगे गिरधारीलाल पिता ही के धाम में' श्री भक्तमाल रूपकला पृष्ठ ७१४

(४) वैष्णवदास का दृष्टांत 'मीराँ गिरधर भजी' का दृष्टांत ।

(५) 'मीराँबाई नाम भजो श्याम सुन्दर' प्राचीन काव्य-माला ग्रंथ छठा मीराँ-माहात्म्य कड़ी–१

(६) प्रथम तातुल केले कृष्णार्पण मीराँ-चरित्र कड़ी १६

(७) श्री भक्तमाल रूपकला पृष्ठ १७६ ।

सन्त-सम्प्रदाय के कथन

इस विषय में कट्टर सन्त-मत की दृष्टि से लिखी गई राघोदास की भक्तमाल का उल्लेख विशेष विचारणीय है, क्योंकि मीरां को सन्त-मत में घसीटने का काफी प्रयास हुआ है। राघोदास का कथन है कि मीरां ने भी हरि भजे लेकिन ये श्रीहरि कौन थे इसका स्पष्टीकरण भी उनकी अगली पंक्तियों में हो गया है। उनके अनुसार ये श्रीहरि रसिकराय थे 'गिरधर' थे जिनके प्रति मीरां का भाव पत्नी-भाव और प्रेम गोपियों का-सा था।[1]

चतरदास ने अपनी टीका में और बिहार वाले सन्त श्री दरिया साहब ने अपनी वाणी में इस बात की पुष्टि की है।[2] संत गरीबदास के पूर्व के किसी सन्त ने इसके विरुद्ध कोई उल्लेख नहीं किया। मीरां को ज्ञानमार्गी कहने की परम्परा का सूत्रपात संवत् १८०० के आस-पास गरीबदास के काल में हुआ तभी से उनके विषय में दो मत हो गये—कुछ सन्त तो उन्हें कृष्ण-प्रेमी ही मानते रहे शेष उन्हें अपने-अपने सम्प्रदाय की भावना के अनुरूप, अविनाशी हरि का ज्ञानमार्गी साधक सिद्ध करते रहे।

इनके अतिरिक्त व्रज निधमन, नन्दराम सुन्दरदास कुँवरी छोटमदास बख्तावर, आदि अनेक साहित्यकारों और भक्तों ने मीरां को गिरिधर अथवा कृष्ण की प्रेम-भाव की भक्त कहा है। 'अध्ययन के आधार' ग्रंथ में यह सामग्री प्रस्तुत की जा चुकी है।

लोकमत

लोक की गवाही भी उक्त मत के पक्ष में है। जनता में प्रसिद्ध है—

नरसी के प्रभु साँवलिया हो सूरदास के श्याम।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, तुलसिदास के राम॥

व्रज का एक लोक-गीत भी इसी आशय की बात कहता है —

मैं हरि बिन ना जीऊं माई।
पान ते पीरी भई मीरां विथा तन छाई॥

---

(१) राघोदास की भक्तमाल मीरां-प्रसंग मूल छप्पय।
(२) (क) श्री गिरिधरहि लाल निहारन वेस अनूपम को धारे—
टीका प्रथम खण्ड।
(ख) सन्त कवि दरिया—एक अनुशीलन, डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी पृष्ठ ७।

लाज गिरधर की दासी मीराँ अपनी मुजराई ।
मनके दरसन देहु मोहि न मुक्ति है माई ॥
मैं हरि बिन० ॥[1]

मीराँ का वक्तव्य

मीराँ ने स्वयं कहा है—

म्हारो तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई

मीराँ के अन्य किसी पद की प्रामाणिकता के संबंध में चाहे कुछ भी कहा जाय इस पद को कोई अप्रामाणिक नहीं मानता। इसमें उनकी घोषणा संदेह की कोई गुंजाइश नहीं छोड़ती। इतना ही नहीं, अन्य पदों में भी उन्होंने स्पष्ट कहा है—

आवे गोकुल की निवासी ।
मथुरा की नारि देखि आनन्द सुखरासी ॥१॥
नाचती गावती ताल बजावती करत विनोद हाँसी ॥२॥
यशोदा को पूरण पुण्य प्रगटहि अविनासी ।
पीताम्बर कटि विराजीत उर मुक्ता सोहासी
चाणुर मुष्टि छोड मारे कंस के फाँस नासी ॥३॥
बीहो के मनिवेसी साथ तिसी बुधि प्रकासी ॥
गिरधर से नवल ठाकुर मीराँ सी दासी ॥४॥[2]

---

(१) पोद्दार-अभिनन्दन-ग्रंथ ब्रज का लोक साहित्य पृष्ठ १००१ ।

(२) सं० १६६६ की हस्तलिखित पोथी—प्रत सं० ६, संवत् १७११ की विद्या-सभा की एक दूसरी हस्तलिखित पोथी में यह पद थोड़ परिवर्तन के साथ दिया हुआ है—

आवे माई गोकुल को वासी ।
मथुरा की नार नीरखत आनंद सुखरासी ॥१॥
एक गावत एक नाचत करत विनोद हाँसी ॥
नन्द जसोदा के पूरन पुंन प्रगटे अवनासी ॥२॥
कांई के चरित कहो हूनी वैसी बुध प्रकासी ॥
पीतांबर कटी बीराजत मरगजा सोहासी ॥
गीरधर छे नवल कुंवर मीराँ छो दासी ॥४॥

इससे स्पष्ट है कि मीराँ के सेव्य और साध्य 'नवल ठाकुर' 'गिरधर' ही थे। उस ठाकुर की विशेषता भी इस पद में इतनी स्पष्ट है कि कोई भूलकर भी नहीं कह सकता कि ये ठाकुर गोकुलवासी यशोदा-पुत्र कृष्ण से भिन्न थे। मीराँ के पदों की प्रसिद्ध छाप 'मीराँ के प्रभु गिरधर नागर' और उनके अनेक उद्गार (मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई आदि) इसी सत्य के साक्षी हैं।

मीराँ का जीवन

भी स्वयं इस बात का प्रमाण है कि वे सगुण साकार कृष्ण की उपासिका थी। उनका ब्रज जाकर और अन्ततोगत्वा द्वारका जाकर रणछोड़ की सेवा में लीन होना किस बात का सूचक है? और सेवकी हितहरिवंश और जीवगोस्वामी जैसों का सम्पर्क किस ओर संकेत करता है? इनमें से कोई तथ्य ऐसा नहीं है जिसकी प्रामाणिकता के सामने प्रश्नवाचक लगाया जा सके।

इस प्रकार, मीराँ के कट्टर विरोधी वल्लभ-सम्प्रदायी और उनके प्रशंसक राधावल्लभी ही नहीं अन्य, तटस्थ कृष्णोपासक सम्प्रदाय उनके आराध्य के रूप में गिरिधर का ही उल्लेख करते हैं। ये ही नहीं सगुण रामोपासक भी मीराँ को 'गिरधर की ही भक्त' मानते थे और निर्गुणवादी सन्तों के प्राचीनतम उल्लेख, युग-युग संचित लोक-मत और उनके अपने कथन तथा कार्य सभी इसी तथ्य की असंदिग्ध स्वरों में स्पष्ट घोषणा करते हैं।

आराध्य का नाम :

मीराँ ने अपने आराध्य को अनेक नामों से पुकारा है। कहीं वे उन्हें गिरिधर कहती हैं, कहीं कान्हा और कहीं गोपाल हरि, मोहन बांके-बिहारी गोविन्द श्यामसुन्दर, नंद-किशोर, रणछोड़ आदि नाम लेकर पुकारती हैं। ये सभी नाम कृष्ण के हैं उन्हीं कृष्ण के जिन्हें युगों से भारतीय जन-मानस कंस-विनाशक यशोदा-पुत्र यादव के रूप में देखता रहा है। मीराँ इन नामों की अपनी विभिन्न विशेषताओं में कभी नहीं उलझीं। उनका एकमात्र अभिप्रेत वही ब्रजबिहारी है जिसकी आराधना के गीत बनकर वे जीवन भर गूँजती रहीं। इन नामों में उन्हें सबसे प्रिय है 'गिरिधर'। यही 'गिरिधरनागर' उनके प्रभु हैं प्रिय हैं जनम-जनम से चलनेवाली प्रीति के आलंबन हैं अवलंबन हैं। मीराँ के मन की मंजुल भावना जब समर्पण के लिए मचलती है, तो इन्हीं गिरिधर के चरणों में पहुँचकर अपने को सार्थक मानती है।

मीरां के एकमात्र आराध्य कृष्ण हैं। उनके अतिरिक्त किसी अन्य के वरण की इच्छा भी इस वियोगिनी ने नहीं की। ये कृष्ण एक हैं अद्वैत हैं, पर मीरां के पदों में उनके व्यक्तित्व की जो व्यंजना होती है, उसका विश्लेषण करने पर प्रमुखतः उनके निम्नलिखित रूप सामने आते हैं—

(क) अवतारी कृष्ण-रूप गिरिधर नागर (सगाकार रूप)

(ख) विष्णु-रूप देवत्वमय सगुण तत्व जो अवतारों के रूप में प्रकट होता है।

(ग) हरि अविनाशी-रूप असीम निराकार तत्व जो ब्रह्माण्ड में व्याप्त है पर उसके परे भी है।

(क) अवतारी कृष्ण-रूप (गिरिधर नागर)

मीरां की समस्त साधना कृष्ण के सगुण-साकार अवतारी रूप पर ही केन्द्रित है। वस्तुतः यही रूप उनकी आराधना का एकमात्र लक्ष्य है। 'विष्णु' और 'हरि अविनाशी' के रूप में भी यही है पर इस कृष्णावतार में भी मीरां के विशेष प्रियरूप हैं—

(१) ब्रज-विहारी यशोदानन्दन तथा गोपीपति रूप।

(२) द्वारकावासी रणछोड़ रूप।

जो नन्द-यशोदा के पुत्र के रूप में प्रकटित हुआ है, जिसकी ब्रज लीला को देखकर मन मुग्ध पाते हैं ब्रज-बालाएं रस मुग्ध हैं जिसके कटि में पीताम्बर, उर में वैजयन्ती माला और कर में बंसी है, उसके दर्शन की भावना ही मीरां के प्राणों में स्पन्दित है। मीरां के ये आराध्य यमुना के तट पर धनु चराते मधुर अधरों पर धर मीठी बानी में बंसी बजाते और स्वयं रीझकर ब्रज की नारियों को रिझाते हैं। इस क्रीड़ा में बलवीर भी उनके साथ हैं। वे सुन्दर हैं कमलदल—लोचन हैं पर भय का नाम नहीं जानते कालिंदी के किनारे खेलते-खेलते उसमें कूद जाते हैं और काल भुजंग को नाथ कर उसके फन-फन पर नृत्य करते हैं।[१] यही उनका ब्रजविहारी यशोदानन्दन रूप है।

कृष्ण के यशोदानन्दन बाल-रूप से अधिक रम्य-मधुर उनका तरुण गोपी-पति रूप है। मीरां का आकर्षण इसी रूप की ओर विशेष है। युवतियों

(१) डाकोर पद १२, १ ४, ७ १२।

के लिए रस-सागर, प्रेमाभक्ति का आलंबन भी यही रूप है। वस्तुतः जो गोपियों का मन हरता है, वही स्वयं मीरां के साथ प्रेमरस-लीलाएं करता है। गोपी कृष्ण से मिलती है और किसी अन्तरंग सखी से सरस प्रणय-व्यथा स्वयं कहती है—

> मेरी माई नैननि भेद किमो।
> ता दिन ते घन स्याम मनोहर, तन मन चोर लियो।
> जैसे कनक कचोले अमृत भारत बन्द पियो।
> बिसरी देह गृह सुत-संपति, परबस प्रान कियो।
> तजि बिजवास मधुपुरी कूं हरि बन (×) कियो।
> मीरां-प्रभु बिसरत नहीं बिछुरे बर्बस मान बहीयो॥[१]

गोपी का मन मानता नहीं है, स्याम की मुरली सुनते ही उसके दर्शनों की लालसा जग जाती है। सखियां मना करती हैं, पर मन हटक में नहीं आता, समस्त वर्जना व्यर्थ जाती है। अब तो चाहे कोई बुरा कहे, भला कहे, वह सब कुछ सुनने और सहने के लिए प्रस्तुत है। ऐसा था उस स्याम के सौंदर्य का प्रभाव।

(२) कृष्ण व्रज को छोड़कर मथुरा में आए थे, वहां वे राजा बने। मीरां को उनके राज से कुछ लगाव नहीं था, उन्होंने कृष्ण के राजसी ठाट की ओर नहीं निहारा। फिर भी द्वारकावासी रणछोड़ कृष्ण के चरणों में मीरां का मन रमा। घर को छोड़ते ही उन्होंने प्रार्थना की—

> राम श्री रणछोर दीजै द्वारका को वास।
> संख चक्र गदा पदुम दरसै मिटै जम की त्रास॥
> सकल तीरथ गोमती के रहत नित्य निवास।
> संख झालर रि मी बाजे सदा सुख की रास॥
> तज्यो देसरु वेस हू तजि तज्यो राणा राय।
> दास मीरां शरण गिरधर तुम्हें सब सब लाज॥[२]

कृष्ण-प्रणय की समस्त रस-लीला वृन्दावन में ही संपादित हुई। *द्वारका में वे गोपी-पति की अपेक्षा जन-जन के आराध्य अधिक हो गए हैं।* मीरां ने रणछोड़ के प्रति जो पद गाए हैं, उनमें पूज्य की महत्ता और गरिमा

---

(१) सं १७ १—विद्या-सभा की प्रति पद २।

(२) नागरीदास पद ६।

के सम्मुख वे नत शिर हैं। इस रूप का तो प्रेयसि की मधुरता में आलिंगन की आकांक्षाओं और वियोग की विकलताओं से अभिनन्दन किया है।

(ख) विष्णुत्व

मीरां के आराध्य कृष्ण पौराणिक भक्त उद्धारक भगवान भी हैं। यहाँ उनमें विष्णुत्व की प्रतिष्ठा हो जाती है। विष्णु के विभिन्न अवतारी रूपों में उन्होंने भय-भव-हारी कार्य किये हैं।[1] वे कहती हैं—

> पिया थारे नाम लुभाणी जी।
> नाम लेतां तिरतां सुण्या जग पाहण पाणी जी।।
> कीरत काई णा किया घणा करम कुमाणी जी।
> गणिका कीर पढ़ावतां बैकुंठ बसाणी जी।।
> अरध नाम कुंजर लयां दुख अवध घटाणी जी।
> गरुड़ छांड़ पग धाइयां पसु-जूण पटाणी जी।।
> अजामील अघ ऊधरे जम-त्रास नसाणी जी।
> पूतनाम-जस गाइयां जग सारां जाणी जी।।
> सरणागत थे वर दियां परतीत पिछाणी जी।
> मीरां दासी रावली अपणी कर जाणी जी।।[2]

उन्होंने सुना है हरि अधम उधारण और भव-तारण हैं, वे डूबते गज की पुकार सुनकर भागते गए, उन्होंने द्रुपद-सुता का चीर बढ़ाकर दुःशासन का मद कुचल दिया, हिरण्यकश्यप का उदर विदारकर प्रह्लाद की प्रतिज्ञा रखी। इसलिए वे इस दयालु उदार भक्तवत्सल भगवान से विकल विनय के स्वरों में पूछती हैं—मेरे लिए इतनी देर क्यों ?

वैदिक और पौराणिक साहित्यों में विष्णु के कई रूप मिलते हैं। ऋग्वेद में वर्णित मन्त्रों से स्पष्ट है कि विष्णु सौर देवता हैं, सूर्य के अन्यतम प्रकार हैं। उनके नाम की निरुक्ति भी इसे ही प्रमाणित करती है। यास्क के अनुसार रश्मियों के द्वारा व्याप्त होने अथवा समग्र संसार को व्याप्त करने के कारण सूर्य विष्णु के नाम से अभिहित है। मीरां के काव्य में विष्णु के इस रूप का कहीं उल्लेख नहीं है।

---

(१) अमलदास लोचनां में वाल्यां काल भुजंग। कालिंदीदह नाथ नाथ्यां काल फन फन निरत करंत। मीरां रे प्रभु गिरिधर, ब्रज वनिता री अंत।। डाकोर पद ३२।

(२) डाकोर, पद २५।

ऋग्वेद में विष्णु को 'ग्रजेय गोप' भी कहा गया है और उनके सर्वोच्च पदके रूप में 'गोलोक' की चर्चा हुई है। वैष्णव-ग्रंथों में इसका विस्तृत वर्णन है। पुराणों में विष्णु-अवतारों की भी अनेक कथा- हैं। मीरां ने कृष्ण को इसी से मिलते-जुलते 'ब्रज के अपराजित गोपी-पति' के रूप में चित्रित किया है। पौराणिक घटनाओं का संबंध भी उनसे जोड़ा है। उनके कृष्ण 'पाप काटनेवाले' अविनाशी तो हैं[1] ही साथ ही उन्होंने अपराधी अजामिल, नीच सदन भीलनी और कुब्जा को भी तारा है गजराज की रक्षा की है और गणिका को विमान पर चढ़ाया है।[2] ये विवरण विष्णु के पौराणिक रूप तथा उनकी अजेय शक्ति और अपरिमित उदारता के ही द्योतक हैं।

(ग) हरि अविनाशी अगम रूप

वैष्णव भक्तों ने भगवान के सगुण रूप को पूजा का विषय बनाया है, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ब्रह्म के निर्गुण निराकार सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान रूप की वास्तविकता को उन्होंने स्वीकार नहीं किया है। सूर की तरह सगुण-लीला-पद गाने का कारण सबसे नहीं किया परन्तु अधिकांश अपने आराध्य के सगुण रूप को भजने के साथ ही उसके सर्वशक्तिमान पूर्णानन्दमय रूप को कभी विस्मृत नहीं करते। मीरां जानती हैं कि अविनाशी हरि के चरण सुभग, शीतल 'कमल-कोमल, जगत-ज्वालाहरण' ही नहीं अपनी विराटता में कल्पनातीत । ब्रह्माण्ड तो उनमें लोटता है। पर, इसी सांस में वे यह भी कह जाती हैं कि—

इण चरण कालिनाग नाथ्यो गोपलीला करण।[3]

तब इस बात में सन्देह नहीं रहता कि मीरां के 'हरि अविनाशी' वही कृष्ण हैं जिन्होंने नन्दनन्दन गिरिधारी बनकर द्वापर में लीला की थी।

रूप और सज्जा :

मीरां ने अपने आराध्य के रूप का वर्णन अनेक पदों में किया है। उनके नैनों में जो नन्दलाल बसे हैं उनकी मोहनी मूरत और सांवरी सूरत है। सुन्दर वदन कमल दल लोचन और नयनों में समा जाने वाली चारित्र

(१) डाकोर पद २।
(२) डाकोर पद ३१।
(३) डाकोर १४।

भंवर, मतवारी अलकें¹—ये सब उस मनमोहन की सुषम मोहिनी मूर्ति में अनन्त आकर्षण भर रहे हैं। मीरां उस रूप में 'नख शिख' में नहीं उलझीं। कलात्मक रूप-वर्णन उनका उद्देश्य भी नहीं था। अतएव कमल करसी सिंह, शंख धुक आदि उन्हें नहीं दिखाई पड़े उन्होंने देखा मनमोहन रूप आकर्षक चितवन और उनके साथ असाधारण मंजुल लीला का परम अकाम्य रस।

मीरां के गिरिधर की साज-सज्जा कृष्ण की परम्परा द्वारा मान्य सज्जा ही है। 'मोर मुकुट माथा तिलक बिराज्या है उनपर पीताम्बर शोभित है कानों में कुंडल की छबि न्यारी अधर पर सुधारस मुरली बिराजती है और उर में बैजयन्तीमाल है।² रूप-रंग की तरह इस साज-सज्जा के भी विस्तृत विवरण इस प्रेम वियोगिनी के पदों में नहीं हैं।

लीला की संगिनी-मुरली

कृष्ण के वेष में चार वस्तुएं प्रमुख हैं—मोर-मुकुट बैजयन्तीमाल पीताम्बर और बांसुरी। एक प्रकार से कृष्ण का बाना उन्हीं से पहचाना जाता है मगर मुरली का महत्व विशेष है। वह कृष्ण के मधुर ब्रजलीला के अभिन्न संगिनी है। उनका आमन्त्रण गोपियों तक उसकी मादक तान बनकर ही पहुंचता है। जो बात शब्दों में नहीं कही जा सकती वह मुरली के स्वरों के सहारे हृदय को हिला देती है। वस्तुतः कृष्ण की कल्पना मुरली के बिना अधूरी है। ज। कृष्ण का रूप गोपियों के मन को माहता है, वहीं उनकी बंसी का रव सुनकर गोपिकाएं तन-मन की सुधि भूल जाती हैं, घर का काम छोड़कर वन की राह लेती हैं। मीरां ने कहा है—

> स्याम सुन्दर गोपीनाथ बंदावन राजे।
> सावन मोरली बाजे॥
> सप्त सुर सहीत राग प्रति तान बजावे॥१॥
> मोह पसु-पंछी द्रुम मुनिजी ध्यान भुलावे॥२॥
> मुरली को घोर सुनत गोपी उठि धाई॥
> मीरां प्रभु गिरिधर मिले तन की ताप बुझाई॥३॥³

---

(१) डाकोर पद ३ ४ ४६।
(२) डाकोर पद ७ ४२ ४६।
(३) विद्या-सभा पद १ (राग माड)।

मुरली का प्रभाव अवर्णनीय है। पशु-पक्षी और द्रुम सब मोहित हैं विकट साधना करनेवाले मुनियों का ध्यान भी विस्मृत हो जाता है। इसलिए सप्त सुर-सहित राग से मंडित यह मुरली स्वाद को सामान्य संगीत का सुमधुर स्वर बना देने वाली साधारण मुरली ही नहीं कृष्ण के रूप-रस की आराधिका और उनके प्रणय-पथ की पुजारिन गोपियों को उनके प्रियतम तक पहुँचाने वाली अलौकिक शक्ति भी है।

विद्वानों ने इस मुरली का आध्यात्मिक दृष्टि से निरूपण किया है। वेणु के तीन अक्षर व+ए+णु तीन अर्थों के द्योतक बताए हैं—'व' ब्रह्म-सुख का द्योतक है, 'ए' ऐहिक सुख को प्रगट करती है। इन दोनों प्रकार के सुखों को जो 'णु' अर्थात् अणु के समान करनेवाली है, वह है वेणु। वेणु में आध्यात्मिक चमत्कार हो या सात्त्विक पर इतना सत्य है कि कृष्ण प्रेम की दीप शिखा मीराँ ने वेणु के आकर्षण में लौकिक सुखों को अवश्य ठुकरा दिया था।

आचार्य वल्लभ ने वेणु-नाद को 'नाम-लीला-रूप' कहा है।[1] कविवर नंददास ने उसे योग माया के समान बताया है।[2] नाथ-संप्रदाय की हठयोग की साधना में जब कुंडलिनी शक्ति ऊर्ध्वमुखी होकर सहस्रार की ओर गमन करती है तब साधक को अनहद नाद सुनाई पड़ता है। यह नाद प्रारम्भ में समुद्र-गर्जन मेघ-गर्जन आदि का सा होता है। फिर घंटे और शंख की सी ध्वनि सुनाई पड़ती है और अन्त में यह ध्वनि किंकिणी वीणा भ्रमर और वंशी की सी हो जाती है।[3] इस प्रकार वंशी का रव हठयोग में अनहद नाद की श्रेष्ठतम अवस्था का प्रतीक है। पर मीराँ को मुरली के इस दार्शनिक अर्थ की कदाचित् चिन्ता नहीं थी। सूर ने मुरली को अनेक रूपों में प्रस्तुत किया है। कहीं वह 'लोकोत्तर रस की दात्री है' कहीं अधर रस लेने वाली सौतिन' है, कहीं 'मानवती पत्नी' है और कहीं 'वन जानेवाली तपस्विनी'।[4] मीराँ के कृष्ण की मुरली केवल गोपियों पर मोहिनी डालनेवाली कृष्ण मधुर संगिनी है। मीराँ स्वयं गोपियों के साथ तादात्म्य कर लेती है। अतः मीराँ

---

(१) आचार्य वल्लभ भागवत १०—२१—५, सुबोधिनी भाष्य।

(२) रासपंचाध्यायी-प्रथम अध्याय।
तब लीनी कर कमल, जोग माया-सी मुरली।

(३) कबीर—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृष्ठ ४६।

(४) सूरसागर नागरी प्रचारिणी सभा पद-संख्या १८३४ १८३६, १२७४ १२७१, १९५८।

की तरह मीरां-काव्य की पोथी को मुरली पर न रोष है, न खीज है। बस वह कृष्ण की है, मन को प्रियतम से मिलने के लिए आकुल कर देती है, भूली ई आत्मा को जगा देती है इसीलिए मीरां को प्रिय है, उसकी आत्मीया है।

लीला-भूमि (वृन्दावन)

वृंदावन मथुरा जिले का वह प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान है, जो कृष्णचन्द्र का क्रीड़ा-क्षेत्र माना जाता है। वैष्णव भक्ति-साहित्य और दर्शन में रसिक शिरोमणि की मधुर लीला का क्षेत्र होने के कारण वृन्दावन को वैकुंठ से भी श्रेष्ठतर कहा गया है।

विभिन्न वर्णनों का विश्लेषण करने पर वृन्दावन के चार रूप मिलते हैं—

(१) ब्रह्म-स्वरूप वृन्दावन

वृन्दावन में नित्य कृष्ण की नित्य-लीला व्याप्त है। वस्तुतः कृष्ण वृन्दावनमय है और वृन्दावन कृष्णमय। अतः वृन्दावन को कृष्ण का रूप भी माना गया है। स्कन्द पुराण के वैष्णव खण्ड में भगवन्माहात्म्य वर्णन करते हुये शाण्डिल्य ने कहा है 'यह व्रज समस्त भूमण्डल में व्याप्त है गुणातीत परब्रह्म भी सर्वत्र व्याप्त रहता है, अतः यह भी व्रज कहा जाता है।' [१] स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्रीजी) ने भी 'भगवत्तत्व' में वृन्दावन को कारण-तत्व-स्वरूप ब्रह्म का स्वरूप बताया है। [२]

(२) नित्यधाम वृन्दावन :

वृन्दावन-सम्बन्धी दार्शनिक निरूपण इसी मर्म के द्योतक हैं। पद्म राण में वृन्दावन-माहात्म्य का वर्णन करते हुए कहा गया है—

'पूर्णे स्थितं निरगारं भुवमेवैश्वर्येण्व्या
नित्यं वृन्दावनं नाम रहस्यं परमं पदम्' [३]

अन्य पुराणों में भी वृन्दावन के वर्णन में उसके 'नित्य' रूप पर जोर दिया गया है। सूरदास आदि हिंदी के अनेक कृष्ण भक्त कवियों ने भी

---

(१) व्रजन व्याप्तिरित्युक्त्या व्यापनाद् व्रज उच्यते।
गुणातीत परब्रह्म व्यापकं व्रज उच्यते।

(२) पृष्ठ ११०

(३) पाताल खण्ड द्वितीय अध्याय।

वृन्दावन को आदि अंतहीन नित्य दिव्य धाम बताया है।[1]

(३) भक्तों के भाव स्थित वृन्दावन :

भक्तों के भाव-लोक में भी रसेश श्रीकृष्ण की रस लीला चलती है। अतः उनका हृदय भी लीला-क्षेत्र वृन्दावन बन जाता है, विशेषकर उस समय जबकि उन्हें अपने हृदय में रासलीला का स्फुरण होता है।

(४) भूलोक स्थित वृन्दावन :

इसके दो रूप हैं—(क) अवतारी कृष्ण की दिव्य लीला-भूमि जहाँ कृष्ण ने गोप और गोपियों के साथ द्वापर में रस लीलाएं की थीं। (ख) वर्तमान भौतिक वृन्दावन जो कृष्ण भक्तों का तीर्थ-स्थल है और जिसको रस कृष्ण-भक्त अलौकिक और पूजनीय मानते हैं।

मीरां के काव्य में वृन्दावन आया है मगर मीरां का वृन्दावन न ब्रह्मस्वरूप है न नित्य धाम और भक्तों की कृष्णानुभूति का मानस लोक। वह भूलोक स्थित वृन्दावन है, जहाँ कृष्ण की लीला हुई थी। उन्होंने कहा है—

> 'मोर मुकुट पीताम्बर सोह्या गल बैजंती मालो।
> बिन्द्राबन मा धेनु चरावां मोहन मुरली वालो।[2]

और उनकी अभिलाषा यही थी कि वे गिरिवर की चाकर बनें और बिंद्राबन की कुंज-गलिन में गोविंद की लीला को गाएं।[3] कृष्णावतार की लीलाओं के रस वृन्दावन के उस भौतिक रूप की ओर ही मीरां ने संकेत किया था जिसके दर्शन उन्होंने स्वयं अपने जीवन में ललिता सखी के साथ किये थे—

---

(१) आदि अन्त जाको नहीं नित्य सुखद बन आहि।
माया त्रिगुण प्रपंच की पवन न परसत ताहि।
वृन्दाविपिन सुहावनो रहत एकरस नित्य।
प्रेम तरंग रंग तहाँ एक प्राण द्वै मित्त।
——ध्रुवदास बयालीस लीला वृन्दावन लीला पृ० १६–२२

(२) डाकोर, पद ३५

(३) वही पद ३५

म्हाँसी म्हांरो लागां वृन्दावन नीको।
घर घर तुलसी ठाकुर पूजां दरसण गोविन्दजी कां।
निर्मल नीर बहया जमणा का भोजण दूध दह्यां कां।
रतन सिंघासण आप बिराज्यां मुकुट धर्‌यां तुलसी कां।
कुंजन कुंजन फिर्‌या सांवरा सबद सुण्यां मुरली कां।
मीरां रे प्रभु गिरिधर नागर भजन बिणा नर फीकां।[1]

वस्तुतः मीरां वृन्दावन के दार्शनिक रूपों के विवेचन में नहीं पड़ीं। सगुण अवतारी कृष्ण उस लीला भूमि वृन्दावन का ही वर्णन उन्होंने किया है, जिसका अनुभव उन्हें या तो कृष्ण-लीला के मानसिक प्रत्यक्ष में हुआ था या जिसे इन्होंने अपनी श्रद्धामयी भौतिक आंखों से स्वयं देखा था।

साधक

साधक का तात्पर्य है, किसी विशिष्ट उद्देश्य की सिद्धि की क्रिया में लीन जीव। आध्यात्मिक क्षेत्र का साधक एक ऐसा पथिक है जो निरन्तर अलौकिक आनन्द के चरम लक्ष्य तक पहुँचने के लिये प्रयत्नशील रहता है।

साधक जीव के सामान्यतः तीन रूप होते हैं—एक उसका वह मौलिक रूप है, जो सृष्टि के आदि में था। सांसारिकता की लपेट में आने से पूर्व जीव का यही रूप रहता है। दूसरा सांसारिकता की भूमिका में मायावृत सुख-दुख समन्वित लौकिक रूप है और तीसरा, वह आदर्श रूप है, जिसकी प्राप्ति की कामना या साधना वह करता है। किसी-किसी दर्शन में प्रथम और-तृतीय रूप अभिन्न होते हैं परन्तु वैष्णव धर्म मुक्ति के अनेक प्रकार मानते हैं। अतः सभी जीवों की अन्तिम अवस्था एक-सी नहीं होती और सभी उस आदि मौलिक रूप को प्राप्त नहीं करते।

मीरां के काव्य में जीव के आदि मौलिक रूप का विवेचन नहीं हुआ। वस्तुतः यह दर्शन का विषय है और उसकी गहराई में मीरां कहीं नहीं उतरीं। उन्होंने जीव को न तो रामानुज के चित्-तत्व के समान देहेन्द्रिय मन प्राण से विलक्षण अनन्त ज्ञानरूप नित्य अव्यक्त अव्यक्त निरवयव निर्विकार और ज्ञानमय बताया है न निम्बार्क की तरह 'प्रज्ञान घन' 'स्वयं ज्योति' और 'ज्ञानमय' कहा है और न वल्लभाचार्य के समान उसमें सद्‌चित् के 'विर्भाव और आनन्द के तिरोभाव की चर्चा उठाई है।

---

(१) वही पद ७

मीराँ के अनुसार सांसारिकता में पड़े जीव तीन प्रकार के हैं—

(क) करम से कुमति कमानेवाले

(ख) भव सागर के मँझधार में पड़े सामान्य जीव और

(ग) साधक।

(क) मीराँ के अनुसार 'यह संसार कुबुधि का भांडा' है। इसमें ऐसे जीव भी हैं जो मूर्ख हैं, जन्म गँवा रहे हैं। जन्म ही नहीं गँवा रहे, कर्मों से (कुकर्मों से) कुमति भी कमा रहे हैं।[1] करम से कुमति कमानेवाले ये जीव वस्तुतः माध्व मत के तमोमय जीवों की कोटि के हैं, जिनमें दैत्य राक्षसों और पिशाचों के साथ अधम मनुष्यों की भी गणना है। वल्लभाचार्य ने इन्हें आसुर संसारी जीव कहा है। निम्बार्क मत के अनुसार ऐसे ही जीव भव-काम में मग्न बुभुक्षु बद्ध जीव होते हैं।

कुकर्म की व्याख्या भी मीराँ ने अपने एक पद में कर दी है। इसके अनुसार साधुओं की निन्दा और असाधुओं की संगत ही कुकर्म है।[2] इसके अतिरिक्त चोरी करना जीव सताना, भोग में लिप्त रहना भी उनकी दृष्टि में अपकर्ष की राह पर ठेलने वाले कर्म हैं। यह व्याख्या भक्ति को अपने जीवन का धर्म-कर्म और सर्वस्व मानने वाली साधिका की है, किसी आचार शास्त्र के तर्क—निष्णात पंडित या तत्वज्ञाता दार्शनिक की नहीं।

एक बात और, मीराँ ने कुगति का कारण प्रभु के रोष से नहीं जीव के अपने कर्म से जोड़कर 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' वाले गीता के सिद्धान्त की स्वीकृति ही प्रगट की है।[3]

(ख) मीराँ के अनुसार दूसरे प्रकार के जीव हैं 'भवसागर के मँझधार' में पड़े हुये सामान्य जीव। ये 'भव-जग-फूल' के बन्धन में बँधे हुए हैं।

---

(१) ये संसार कुबुध रो भांडो साध संगत णा भावाँ।
साधाजण री निंदा ठाणाँ करम राँ कुमत कुमावाँ।
—डाकोर पद ५५

(२) चोर करा न जीव सतावाँ काई करसी म्हारो कोई।
राजकरम्या नरक पड़ेसी भोगीड़ा जम के सीधा।
—नागरीदास पद १

(३) करम गति टारा णारी टराँ।
—डाकोर पद ५४

करमराँ कुमति कमावाँ —वही पद ५५

मीरां ने इस प्रकार के जीवों का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। उनके पदों में संकेतों से 'भी सागर तथा जम-कुल-बन्धन' लगाकर हरि चरण की शरण में न आने वाले जीवों की स्थिति सिद्ध हो जाती है।[1] ये ही वस्तुतः सामान्य जीव हैं, जो संसार के प्रवाह में बहे जा रहे हैं, न विशेष कृपाति के पथ पर हैं और न साधना के उत्कर्षकारी मार्ग पर।

(ग) साधक जीव—मीरां के काव्य में निम्न प्रकार के साधक जीवों के संकेत हैं—

(१) अज्ञान में ही प्रभु की ओर उन्मुख होनेवाले जीव जैसे अजामिल गणिका।

(२) आर्त्त अर्थात् परिस्थितिजन्य विषमता से ईश्वरोन्मुख होनेवाले, जैसे गज द्रौपदी।

(३) प्रभु से स्नेह रखनेवाले जैसे भीलनी।

(४) प्रणय भाव के साधक जैसे—

(क) कुब्जा

(ख) गोपी

(ग) राधिका

(१) अज्ञान में प्रभु की ओर उन्मुख होने वाले जीव

ये वे भाग्यशाली जीव हैं जिन्होंने अनजाने ही प्रभु का नाम ले लिया था और उस नाम के प्रभाव से सांसारिकता से मुक्त हो गए। 'गणिका और पढ़ावता बैकुंठ बसाएणी जी'-से स्पष्ट है कि गणिका ने स्वयं सचेतन रूप से प्रभु को पाने या बैकुंठ पहुँचने का प्रयास नहीं किया था वह तोते को पढ़ा रही थी 'राम राम' और इस नाम का प्रभाव इतना था कि गणिका का अनायास उद्धार हो गया। इसी प्रकार की बात अजामिल के साथ भी हुई। उसके भी अघ ऊपर गए और जम की त्रास मिट गई।[2]

मीरां की आस्था प्रभु की समर्थता कर्मफल और पुनर्जन्मवाद में थी।

---

(१) वही पद ५५

(२) गणिका और पढ़ावतां बैकुंठ बसाएणी जी।
अजामिल अघ उधर जम त्रास टारणी जी।

—डाकोर पद २५

अतः इस आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि गणिका और अजामिल के तरने के मूल में दो बातें होंगी —

(१) प्रभु नाम का प्रभाव।
(२) पूर्व जन्म के कर्म।

(२) आर्त जीव

मीराँ के पदों में उल्लिखित जीवों में से कुछ को आर्त जीव कहा जा सकता है। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण 'गजराज' है।[1] साधना और आराधना वह नहीं जानता। ज्ञान-ध्यान से वह दूर है। मोक्ष की तो कहे कौन धर्म से भी उसे अपरिचय है। उसका तन और मन जो माँगता है, उसके पीछे वह चाहे-अनचाहे जीवन भर दौड़ता है। पर वह अपदर्श होने पर, दुख की निर्मम घड़ियों के आने पर प्रभु के प्रति आत्म-समर्पण कर देता है। गणिका और अजामिल गजराज की तरह आर्त नहीं हैं, अर्थ-काम में लीन मुमुक्षु, बद्ध जीव हैं।

आर्त जीव एक प्रकार के भक्त साधक हैं, जो भौतिक परिस्थितियों से विवश होकर ईश्वरोन्मुख होते हैं। वैसे ये सामान्य जीव हैं पाप और पुण्य दोनों की गतियों से मुक्त भौतिक जीवन की अर्थ-काममय धारा में बहे जा रहे हैं। पर, उनके भीतर कुछ संस्कार है कि समय पड़ने पर अहं का परित्याग करके सबकुछ परमात्मा के ऊपर छोड़ देते हैं और प्रभु-कृपा से यही आत्म—विसर्जन उनका कर्णधार बन जाता है।

(३) स्नेहशील निरीह जीव

तीसरे प्रकार के साधक प्रभु से स्नेह रखने वाले निरीह व्यक्ति हैं जिनका उदाहरण भीलनी है। भीलनी के तरने के अतिरिक्त मीराँ ने इसके विषय में कुछ नहीं कहा है। यहाँ पर उन्होंने परंपरागत कथा का विश्वास करके उसका उल्लेख मात्र किया है।[2]

---

(१) (क) गिरिधारी सरणाँ थारी आयाँ राख्याँ किरपानिधान।
ड्बताँ गजराज राख्याँ भाख्याँ सुमत सुजान॥
मीराँ प्रभु री सरण रावली विनतीं दीस्यो कान॥
—डाकोर पद ११

(ख) हरि हरिज्यो जन की भीर।
बूडते गज ग्राह तारयो किया बाहिर नीर॥
—नागरीदास पद ४

(२) डाकोर पद ११

(४) प्रणय भाव के साधक

मीराँ के काव्य में प्रणय भाव से प्रभु की ओर देखने वाले हैं—कुब्जा पात्री और गोपी-श्रेष्ठ राधा। कुब्जा का तो उल्लेख मात्र उन्होंने किया है।[1] उसकी भक्ति के स्वरूप का स्पष्टीकरण प्रस्तुत वर्णन से नहीं होता। उनके काव्य में साधनापथ के प्रमुख पात्री हैं गोपिकाएँ। गोपी के सामान्य रूप के साथ मीराँ का तादात्म्य हो जाता है। वस्तुतः जहाँ सीधे उनका हृदय अपनी बात नहीं कह पाता वहाँ वह गोपी का आश्रय लेता है।

'गोपी' का वैष्णव संप्रदाय में विशेष महत्त्व है। वह अनुरागात्मिका भक्ति की सफल साधिका ही नहीं, कहीं-कहीं तो देवत्व से परिपूर्ण भी मानी गई है। बृहद् ब्रह्मसंहिता (२ ४ १०३) में गोपी शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है कि गोपी लीला नाम की परदेवता है, जो अपने शरणागत भक्तों की दोषों से रक्षा करती है।[2] भागवत् (दशम स्कंध अध्याय १८, श्लोक ११) के अनुसार तो गोप और गोपियों के रूप में देव ही प्रकट हुए हैं।[3] यही नहीं गोपियों को कहीं 'वैदिक ऋचाओं का अवतार' (वामन पुराण का ब्रह्म-भृगु संवाद) कहीं 'श्रुत्युत्तर ऋचाएँ' (वल्लभकृत श्रीमद्भागवत की सुबोधिनी टीका) और कहीं 'अङ्गस्वरूपा' (पद्मपुराण पाताल-खण्ड) कहा गया है। अचिन्त्यभेदाभेदवाद के अनुसार अचिन्त्याकार भगवान की भगवद्रूपिणी अन्तरंग शक्ति (स्वरूप शक्ति) संधिनी और संवित् होने के साथ ही ह्लादिनी भी है। माधुर्यभाव के भक्त इसी शक्ति को राधा कहते हैं। गोपी भाव अपने उत्कर्ष पर पहुँचकर 'महाभाव' या 'राधा भाव' कहलाता है। अतः गोपी किसी न किसी रूप में ह्लादिनी शक्ति सिद्ध हो जाती है। डॉ० मुंशीराम शर्मा के अनुसार गोपियाँ भिन्न-भिन्न रूपा थीं। उनमें कुछ देव-कन्याएँ थीं कुछ ऋषि थे कुछ ऋचाएँ थीं और कुछ स्वयं प्रभु की अन्तरंग शक्तियाँ थीं। इन सबकी अभ्यासी गोपियों के रूप में ब्रज में एकत्र हुईं। इसी हेतु इन गोपियों के पृथक समूह हैं।[4]

---

(१) वही पद ११

(२) गोपायति जनान् यस्मात् अपमानेन दोषतः
अतो गोपीति विख्याता लीलाख्या परदेवता।

(३) गोपजाति प्रच्छन्ना देवा गोपालरूपिणः।

(४) डॉ० मुन्शीराम शर्मा भारतीय साधना और सूर साहित्य पृष्ठ २९९

मीराँ के काव्य की गोपियों का इतिहास अनकहा ही है, उनके व्यक्तित्व का दार्शनिक विवेचन नहीं हुआ है। वे केवल भक्ति के एक भाव की प्रतिनिधि हैं। इस भाव को गोपी भाव या 'मीराँ-भाव' भी कहा जा सकता है, क्योंकि मीराँ-साहित्य की गोपियाँ उन्हीं के प्रणय भाव की साकार प्रतिमा हैं। मीराँ के पदों में जैसे उनकी आकांक्षाओं का आदर्श ही यथार्थ होकर गोपी बन गया है।

प्रेम-लक्षणा भक्ति-मार्ग के अन्य भक्तों और मीराँ में एक विशेष अन्तर है। मीराँ का हृदय समर्पणशीला प्रणयमूर्ति नारी का हृदय है जबकि अन्य भक्तों को पुरुष शरीर में पके हृदय पर गोपी-भाव का आवरण डालना पड़ता है नहीं तो वे कृष्ण-गोपी-लीला के दर्शक मात्र बनकर रह जाते हैं। अतः मीराँ के काव्य में उनकी भावना स्वयं सीधे व्यक्त हुई है, गोपियों का आश्रय उसे नहीं लेना पड़ा। सूर, नन्ददास हितहरिवंश आदि सभी ने गोपियों का आश्रय लिया है। इसका एक स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि मीराँ के पदों में गोपी का नाम उल्लेख नहीं है।[१] यहाँ गोपी-कृष्ण-लीला, मीराँ-कृष्ण लीला बनकर प्रकट हुई है।

विद्या-सभा की संवत् १९९५ और सं० १७०१ में लिपिबद्ध पोथियों में एक पद है—"स्यामसुन्दर गोपीनाथ वृन्दावन राजे" जिसमें कहा गया है—

> मुरली की घोर सुनत गोपी उठ धाई।
> मीराँ प्रभु गिरिधर नागर मिले तन की ताप बुझाई॥

गोपी और कृष्ण की संयोग-कथा का सार यही है। इसके अतिरिक्त कृष्ण के आकर्षण और वियोग से उत्पन्न अनेक मनोदिशाओं की अभिव्यक्ति भी उनके पदों में है, पर अधिकांश पदों में यद्यपि वातावरण और भूमिका व्रज की है और कृष्ण की भी वही लीला है, जो गोपियों के साथ घटी थी, मगर उसकी नायिका गोपी न होकर मीराँ स्वयं हैं।

---

(१) जिन हस्तलिखित पोथियों को प्रस्तुत अध्ययन का आधार माना गया है उनमें गोपी नाम के साथ कृष्ण-लीला के पद तीन-चार से अधिक नहीं हैं। कुछ पदों में व्रज-नारियों का उल्लेख है, उन्हें भी पोथियों में गिनने पर मुश्किल से एक दर्जन पदों में इस प्रकार के स्पष्ट सीधे उल्लेख मिलते हैं।

दो उदाहरण इस बात को स्पष्ट कर देंगे —

(१) आली म्हारे नैणां बाण पड़ी।
चित चढ़ी म्हारे माधुरी मूरत हियड़ा अणी गड़ी।
कब री ठाढ़ी पंथ निहारां अपने भवण खड़ी।
अटक्यां प्राण सांवरो प्यारो जीवन मूर जड़ी।
मीरा गिरिधर हाथ बिकाणी लोग कह्यां बिगड़ी ॥[१]

(२) सुण्यां री म्हारे हरि आवांगा आज।
म्हैला चढ़ चढ़ जोवां सजनी कब आवां महाराज ॥
दादुर मोर पपीहा बोल्यां कोयल मधुरां साज।
उमंग्या इन्द्र चहूं दिस बरसा दामण छोड़या लाज।
धरती रूप नवा-नवा धर्‍यां इन्द्र मिलण रे काज।
मीरा रे प्रभु गिरिधर नागर बेगु मिल्यो महाराज ॥

ऊपर के दोनों पदों की अभिव्यक्ति से प्रतीत होता है कि मानो इसकी वक्ता कोई कृष्ण की समकालीना प्रेयसि है पर यह बात मीरां के अपने भाव-जगत के विषय भी सत्य है।

राधा :

प्रणय की चरम आनन्द-स्थिति तक पहुँचने वाले भक्तों का आदर्शरूप राधा है। ये साधक ही नहीं साध्यांश भी है। राधा के 'उद्भव के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह अनुमान है कि 'राधा इसी देश की आय जाति की प्रेम देवी रही होगी।[३] डॉ० मुन्शीराम शर्मा का मत है कि 'राधा अपने मूल रूप में ब्रह्म की प्रकृति ही है।'[४] ब्रह्मवैवर्त पुराण के श्रीकृष्ण जन्म खण्ड में लिखा भी है 'ममार्द्धांश स्वरूपात्वं मूल प्रकृतिरीश्वरी'। डॉ० शशिभूषण दास गुप्त ने यह स्थापित करते हुए कि राधावाद का बीज सामान्य शक्तिवाद में है, कहा है कि "जो थी शुद्ध शक्ति रूपिणी क्रम-परिणति के प्रवाह के अन्दर से उन्होंने आकर रूप परिग्रह किया है परम प्रेम रूपिणी मूर्ति में।"[५]

---

(१) डाकोर पद १५
(२) वही पद ४५
(३) सूर साहित्य—(नवीन संस्करण) पृष्ठ १६-१७
(४) भारतीय साधना और सूर-साहित्य पृष्ठ १७५
(५) श्रीराधा का क्रम-विकास पृष्ठ ३

प्राचीन शिला-लेखों या शिला-चित्रों से इस बात पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। कदाचित् इस विषय से सम्बन्धित प्राचीनतम साक्ष्य जोधपुर के पास के मंडोर के पास खुदाई में प्राप्त स्तंभ के ऊपर उत्कीर्णित मूर्तियों का है, जिनमें स्पष्ट रूप गोवर्धन-धारण इत्यादि कृष्ण की पुराणोक्त बाल-लीलाएँ अंकित हैं। यह साक्ष्य पाँचवीं सती का है।[1] राधा के विषय में इन प्रस्तरांकित चित्रों से भी कुछ प्रकाश नहीं पड़ता। बंगाल के पहाड़पुर की खुदाई में प्राप्त (५वीं शती की) शिलाओं में खड़े कृष्ण के साथ गोपी के चित्र को डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या राधा का चित्र ही मानते हैं। मगर यह अनुमान मात्र है, राधा का उल्लेख वहाँ नहीं है। वैदिक साहित्य में 'अजेय गोप विष्णु तो है[2] राधा नहीं है।[3]

गोपी कृष्ण लीला के प्राचीन साहित्यिक उल्लेख भास के नाटक 'बाल चरित' में हैं (भास को कोई ईसा की दूसरी शताब्दी का और कोई ७वीं सती का मानता है) तमिळ साहित्य में 'मेयोन अथवा मयवन' और उनकी प्रिया 'नप्पिनइ' की कल्पना कृष्ण राधा के समान है। ईसवी की दूसरी शती के तमिल ग्रंथ शिलप्पदिकारम् में नवगोप कन्याओं के नृत्य (रास) का वर्णन है।[4] राधा का स्पष्ट उल्लेख वहाँ भी नहीं है।

राधा के प्रारंभिक साहित्यिक तटस्थ (असांप्रदायिक) उल्लेख प्रथम शती की रचना गाथा सप्तशती[5] ई० सन् ७०० और ७२१ के बीच रचित

---

(१) आर्केयोलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया—ऐनुअल रिपोर्ट सन् १९११-१२ पृष्ठ १३५

(२) ऋग्वेद (१-२२-१८)

(३) ऋग्वेद में 'स्तोत्रं राधानांपते' (१-३०-२९) आया है पर वह आराध्या के अर्थ में व्यक्तिवाचक (नाम) नहीं है।

(४) इंडियन कल्चर वोल्यूम ४ २११–२७७ (वी० वी० दीक्षितार)

(५) मुहमारुएण तं कण्ह गोरअं राहिआए अवणेन्तो
एताणं बल्लवीणं अण्णाण वि गोरअं हरसि
—गाहा सतसई (१ २९)

(कुछ विद्वान इस ग्रंथ को चौथी-पाँचवीं सती का मानते हैं)

की 'गउडवहो' की गाथा[1] 'वज्जालग्ग' सुभाषित संग्रह,[2] ध्वन्यालोक[3] आदि में मिलते हैं।

वस्तुत: राधा का जो रूप वैष्णव-साहित्य में आराध्य माना गया वह ईसा के प्रथम १००० वर्षों का निर्माण है जिसकी अभिव्यक्ति तत्कालीन साहित्य विशेषकर तत्कालीन जनभाषा-साहित्य में विशेषरूप से होती रही है, पर वह उपलब्ध नहीं है 'गाहासत्तसई' और 'वज्जालग्ग' जैसे संग्रहों में उसकी शृंगारिक भूमिका का उल्लेख मिल जाता है। राधा का विस्तृत विवेचन और व्यापक प्रचार पुराण साहित्य द्वारा हुआ वह भी बाद के पुराणों द्वारा। वैष्णव-साधना के मेरुदण्ड भागवत पुराण में श्रीकृष्ण का एक विशिष्ट गोपी के प्रति अनुराग वर्णित है। उसमें राधित पद आया है, पर 'राधा' वहाँ नहीं है।[4] हरिवंश पुराण में रासलीला तो है, पर राधा-कृष्ण का युग्म नहीं है। आगे चलकर ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधा शब्द की व्युत्पत्ति और उसके माहात्म्य का प्रतिपादन पद्म पुराण में राधा-पूजन के महत्व का कथन और देवीभागवत में प्रणय की अधिष्ठात्री देवी राधा की पूजा और राधामंत्र के विस्तृत विवेचन हुए।

राधा के व्यक्तित्व के विकास में गीत-गोविन्दकार जयदेव का योग विशेष उल्लेखनीय है। इनकी रस-प्रवण कलात्मक प्रतिभा ने राधा को साधनिक उलझनों से मुक्त प्रणय की मधुरिम लीला की नायिका बना दिया और उनके बाद वह चंडीदास विद्यापति आदि की कला द्वारा विकसित होती हुई ब्रजभाषा के उन धर्म-प्राण भावुक भक्तों-कवियों के पास पहुँची जिनकी पंक्ति में साहित्य का इतिहास मीरां को भी खड़ा पाता है।

इस प्रकार आभीरों की आराध्या आर्यों की प्रेम देवी सांख्य की प्रकृति या 'शक्ति' के रूप से लक्ष्मी राधा का विकास प्रारम्भ में जन-साहित्य

---

(१) मुह-मेह रहा-काररााणो — वरएां हरम्मु वो सरसा ।
वजलन्त लम्मि कौस्तुह — किरणा अन्तोभो कम्हस्स ।।
—गउडवहो—२२

(२) कण्हो जयइ जुआाणो रहा उम्मत्त जोव्वणा जयइ (१ ८ १८)

(३) तेषां गोप वधू विलास सुहृदां इत्यादि ।

(४) अनया राधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतोयामनयद्रहः
—भागवत पुराण (१०—३०—२८)

और बाद पुराणों और ललित कलात्मक साहित्य के द्वारा हुआ और जिस समय मीरां भक्ति के क्षेत्र में अवतरित हुई, उस समय उनके सामने राधा कृष्ण की अंतरंग संगिनी के रूप स्वीकृत हो चुकी थी।

मीरां के पदों के स्वीकृत हस्तलिखित प्रतियों में केवल एक पद ऐसा है, जिसमें वृषभान नंदिनी का उल्लेख है। पद इस प्रकार है—

> सखी वृ बनी वृषभान नंदिनी प्रात समि रण जीते आव।
> मुख परे स्वेद भलक भर छूटी मधुरी चालि गजगति मनभावती॥
> मोहन छैल छबीले नागर सुख ही ओरीया भुजत आवे।
> दोउ सुभट रणजग महारस भासत मनम ठौर नहिं पावे।
> हरी के मन हंसि उदय विराजीत बिन ताराबली हार दैखावत।
> मीरां प्रभु गिरिधर छबी निरखत वदन कोटि रवि कांति मनभावत॥

मीरां का यही एकमात्र पद ऐसा है जिसमें कृष्ण राधा की रति का वर्णन है, वरना मीरां ने संयोग के जो चित्र खींचे हैं उनमें भी मानसिक पक्ष प्रधान है। अधिक से अधिक यह कहकर वे चुप हो गई हैं—'मीरां प्रभु गिरिधर मिले तन की ताप बुझाई'। स्पष्ट रति वर्णन उन्होंने अन्यत्र नहीं किया। इस पद के आधार पर मीरां का मत वृषभान-नंदिनी राधा को कृष्ण की अंतरंग प्रिया के रूप में स्वीकार करने के पक्ष में सिद्ध होता है। यहां यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि मीरां के काव्य में गोपी-कृष्ण शृंगार उक्त राधा-कृष्ण-शृंगार कोटि तक नहीं पहुंचता। सामान्य गोपी कृष्ण के रूप पर मुग्ध है और उनकी बांसुरी के स्वर को सुनकर उनके पीछे 'बावरी' है। 'रति-रण' की स्थिति तक उनकी पहुंच नहीं है।

गौड़ीय वैष्णवों ने माधुर्यभाव की रति तीन प्रकार की मानी है—(१) साधारणी (२) समंजस्या और (३) समर्था। समर्था रति के उपासक का एक मात्र लक्ष्य होता है भगवान का आनन्द। इसके लिये वह शास्त्र की मर्यादा का भी उल्लंघन करने में भी संकोच नहीं करता। इसका दृष्टान्त है गोपिका। यही भाव अपने उत्कर्ष तक पहुंचकर महाभाव या राधाभाव के नाम से विख्यात होता है।[१] कविराज कृष्णदासकृत चैतन्य-चरितामृत में कहा गया है—रस की कारण कान्ताएं परकीया ही हैं। व्रज-वधुएं इस भाव

(१) भागवत संप्रदाय पृष्ठ ५२०

की अवधि है।[1] राधा इन व्रज-वधुओं के बीच में इस भाव की चरमतम अवधि है। इस प्रकार राधा प्रेम का स्वरूप है। वे कृष्ण की वांछा की पूर्ति करती हैं।[2]

मीरां के मौन में भगवद् चर्चा करने के लिये मीरां के प्रतिनिधि बनकर ठहरने वाले हितहरिवंश के भी राधा-कृष्ण की केलि के चित्र बहुत कुछ इसी आशय के द्योतक हैं। हितजी ने रतिकेलि का वर्णन करते हुए राधा को 'सुरत संग्रामिनी' कहा है।[3] मीरां का राधा का उक्त रूप और राधा-कृष्ण की रति की व्यंजना करने वाले अनुभावों का चित्रण गौड़ीय संप्रदाय के राधा-भाव से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। राधावल्लभीय संप्रदाय के 'राधा' भाव के साथ भी उसका सामान्य साम्य है।

---

(१) अतएव मधुर रस कहि तार नाम
स्वकीया परकीया भावे द्विविध संस्थान
परकीया भावे अति रसेर उल्लास।
व्रज बिना इहार अन्यत्र नाहि वास।
व्रज वधूगणेर एइ भाव निरवधि।
तार मध्ये श्रीराधार भावेर अवधि॥
—आदि लीला परिच्छेद ४ पृष्ठ २१

(२) चैतन्य चरितामृत मध्य लीला परिच्छेद ८, पृष्ठ १४९
प्रेमेर स्वरूप देह प्रेमे विभावित
× × ×
कृष्ण वांछा पूर्ण करे एइ कार्य तार॥

(३) विपिन घन कुंज रतिकेलि भुजकेलि
रुचिर श्याम श्यामा मिले शरद की यामिनी।
हृदै अति फूल सम फूल पिय नागरी
करनि कर अति मनौं विविध गुन रामिनी॥
सरसगति हास परिहास आवेस बस
दलित दल मदन बल कोक रस कामिनी॥
(जैश्री) हितहरिवंश सुनि लाल लावन्य भिदे
प्रिया अति सूर सुख सुरत संग्रामिनी॥
—हित चौरासी पद संख्या ४६

कृष्ण की दो प्रियाओं—सत्यभामा और राधा का उल्लेख (विशेषकर सत्यभामा के मान और कृष्ण द्वारा मनाने के साथ) मीरां के नाम से प्रचलित 'सत्यभामानुं रूसणुं' नामक गुजराती काव्य में हुआ है पर जैसा कि सिद्ध किया जा चुका है यह रचना मीरां-कृत नहीं है किसी बाद के कवि गुजराती गरबाकार की है जो 'मीरांनो स्वामी' प्रयोग के कारण मीरां-कृत मानी जाने लगी।

बीसवीं शतीमें लिपिबद्ध माणिकदास के एक हस्तलिखित ग्रंथ में मीरां-छाप का एक पद मिला है, जिसमें 'राधा सत्यभामा चन्द्रावलि, बरसा ललिता और चम्पा' गोपियों का उल्लेख है।[1] प्राचीन पोथियों में इसकी अनुपलब्धि और वर्तमानरूप में इसमें अर्थ-सम्बन्धी असंगतियों के कारण इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है।

पुनर्जन्मवाद और कर्म-सिद्धांत

नर्जन्मवाद :

अन्य वैष्णवों की तरह मीरां का पुनर्जन्म में अटल विश्वास है। मीरां ने कई पदों में अपने 'पूर्व जन्म की' या 'जन्म-जन्म की' कृष्ण-प्रेमिका होने की बात कही है।[2] कहीं उन्होंने अपने को कृष्ण की जन्म-जन्म की दासी और कृष्ण को जन्म-जन्म का साथी कहा है[3] तो कहीं वे 'पूरब जनम के कौल

---

(१) होरी खेलन आयी ब्रजनारी।
राधा सत्यभामा चंद्रावलि बरसा ललिता सुशीले।
चम्पा कुंवरि कनक पट धारे लाजो लाल अबीरे।
नव-नव चीर कुसुम्बी सारी मोहन अभरन सजिए।
नव-नव केलि मदन मोहन सो नवल पिया मिल भजिए।
ताल मृदंग ढोल डमरी सब बाजे बेनु रसाल।
मीरां कहे प्रभु गिरिधर नागर वृन्दावनवासी

(२) दासी मीरां जनम-जनम री म्हारा आंगण आज्यो जी।
—डाकोर पद २८

(३) म्हारो जनम जनम रो साथी थाने ना बिसरया दिन राती।
—वही पद ४३

की और कहीं पूरब जनम की पुरानी प्रीति की याद दिलाती हैं।[1] एक स्थान पर उन्होंने अपने वर्तमान जीवन में गिरिधर के मिलने का कारण ही पूर्व जन्म का 'भाग' माना है।[2] स्याम नाम के महत्त्व का वर्णन करते हुए भी उन्होंने कहा है कि इसके प्रभाव से 'जनम-जनम के पुराने पाप-दोष (खता) नष्ट हो जाते हैं।[3] इससे एक और बात ज्ञात होती है कि मीराँ पुनर्जन्म को ही नहीं मानती थी पुनर्जन्म के साथ पूर्वजन्म के कर्मों का नवीन जन्म में संक्रमित हो जाने में भी उनका विश्वास था।

कर्म-सिद्धान्त

मीराँ प्रेम-लक्षणा भक्ति की साधिका थीं जिसमें कर्मकाण्ड के विशेष महत्त्व नहीं है पर, कर्मवाद में उनका पूर्ण विश्वास था। अद्वैत वेदान्त मत के अनुसार कर्म तीन प्रकार के माने गए हैं—संचित (प्राचीन) संचीयमान (भविष्य में उत्पन्न होनेवाला) तथा प्रारब्ध (वर्तमान)। संचित कर्म घर में रखे गए अन्न संचीयमान कर्म खेत में बीज रूप अन्न और प्रारब्ध कर्म भुक्त अन्न के समान है।[4] मीराँ ने संचित कर्मों का स्पष्ट उल्लेख किया है। जीव की जो जनम-जनम की बाधा है, मीराँ की जो पूर्व जनम की प्रीति है वह सब संचित कर्म ही । अपने कर्मों से कुमति कमानेवाले कदाचित् राणा के कर्मों की बात कहकर उन्होंने प्रारब्ध और संचीयमान कर्मों की ओर भी संकेत कर दिया है।

मीराँ ने कर्म की अनिवार्य शक्ति का वर्णन जोरदार शब्दों में किया है। उनका एक अत्यन्त लोकप्रिय पद है—

करम गति टारै ना री टरै।
सतवादी हरचन्दा राजा डोम घर नीर भरै॥

---

(१) मीराँ (कूं) प्रभु दरसण दीज्यो पूरब जनम रो कोड़।
—वही पद ११

(२) मीराँ रो गिरधर मिल्या री पुरब जनम रो भाग।
—वही पद २९

(३) जनम-जनम रो खतां पुरानी नामां स्याम मट्या री
—वही, पद ५८

(४) भारतीय दर्शन बलदेव उपाध्याय पृष्ठ ४७१

पाँच पाँहुणी रानी द्रुपदा हाड़ हिमालाँ गरो।
कम्म किया बलि लेण इन्द्रासन आयाँ पताल परो।
मीराँ रे प्रभु गिरिधर नागर बिखरूं अमरित करो ॥[1]

कर्मफल की अनिवार्यता के सम्बन्ध में वैदिक युग में ही विचार होने लगा था। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है—'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति।[2]

कर्म सिद्धान्त का दार्शनिक ही नहीं सामाजिक नैतिक मूल्य भी है। इसका यह तात्पर्य है कि समाज में असम्मत मनमानी का सर्वतन्त्र स्वतन्त्र एकाधिकार नहीं हो सकता। साधना की दृष्टि से यह सिद्धान्त आशावाद को जन्म देता है जीव की अपनी शक्तियों में विश्वास उत्पन्न करता है अकर्मण्यता के अंधकार में प्रवेश करने से रोकता है और कर्म संन्यास के मार्ग से हटाकर कर्मयोग की ओर प्रेरित करता है।

मीराँ ने 'साधु संगति के विरोध' को अशुभ कर्म बताया है, पर उसके शुभाशुभ की कोई व्यापक कसौटी उन्होंने नहीं रखी। अगर मीराँ के जीवन को उनके कर्म सिद्धान्त का साकार उदाहरण मानें तो कहना पड़ेगा कि प्रभु अर्पित तथा लौकिक दृष्टि से फलाशा शून्य कर्म सिद्धान्त मीराँ को प्रिय था क्योंकि उनका जीवन स्वयं अपने प्रिय के सामने एक समर्पित आराधना था अगर उसमें स्पृहा थी तो प्रिय को पाने की उनके द्वारा अंगीकृत होने की।

साधना के कारण

इस संसार से विमुख होकर हरि की ओर सम्मुख होने के दो कारणों के संकेत मीराँ के पदों में मिलते हैं—

(क) विराग जन्य—यह संसार नश्वर है। जो कुछ धरणि और गगन में दिखाई पड़ रहा है वह सब विनष्ट हो जायगा इस देह का गर्व व्यर्थ है क्योंकि इसे भी मिट्टी में मिल जाना है और यही संसार की बात वह चहर की बाजी की तरह है, जो संध्या होते ही उठ जाती है।[3] इतना ही नहीं यह संसार कुबुद्धि का भाण्डार है।[4] विषय में व्याप्त इस विनाश की

(१) वही पद ५४
(२) ३-२-१३
(३) डाकोर पद २
(४) वही पद ५५

सर्वग्रासी विभीषिका को परिवर्तन के इस चक्र को जो अस्तित्व और अन स्तित्व का खेल इस भौतिक विश्व के साथ खेल रहा है मीरां अच्छी तरह पहचान चुकी थीं। साथ ही उन्हें संसार की 'कुबुद्धि' का परिचय भी मिल गया था। अतएव यह बात उनके मन में जम गई थी कि यह संसार चिरन्तन रस और अनन्त आनन्द नहीं दे सकता। यही विराग की मूल प्रेरणा है।

इस नश्वर संसार में जीव पड़ा हुआ है। इसके रहस्य को समझकर भी उसका निस्तार नहीं है। इस भव-सागर से जीवन का बेड़ा किसी तरह अपनी सामर्थ्य से पार नहीं होता। यह बेड़ा मझधार में डूब रहा है।[1]

प्रभु सर्वशक्तिमान है। उन्होंने गज को बचाया द्रुपद सुता का चीर बढ़ाया हिरण्यकश्यप का उदर विदारकर प्रह्लाद की प्रतिज्ञा रखी।[2] उनकी सामर्थ्य का कोई पार नहीं है। वे कालीनाग को नाथ सकते हैं गिरि को उठा सकते हैं मघवा का गर्व चूर कर सकते हैं। और क्या कहा जाय ब्रह्माण्ड स्वयं उनके चरणों में लेटता है।[3] उनके नाम में भी असीम शक्ति है। सुनते हैं कि नाम लेने से पानी पर पत्थर तैर गये। गणिका कीर पढ़ाने से ही बैकुंठ चली गई अजामिल के समस्त अघ ऊबर गए और यम की त्रास नष्ट हो गई।[4] शक्ति के साथ ही साथ वे 'अधम उधारण' और दयालु हैं। वे भक्त की पुकार पर अवश्य आते हैं और दया करके उबारते भी हैं। इस बात को वेद पुरान भी कह चुके हैं।

यही कारण है कि संसार से विरक्त मनुष्य भक्ति-भाव से उसी दयालु शक्तिशाली की ओर उन्मुख होता है अर्थात् साधना करता है।

(ख) सहज आकर्षण-जन्य

कृष्ण स्वयं अपने सौंदर्य व को मोहित करते हैं। मीरां के साथ यही हुआ। वे स्पष्ट क ती —

(१) माई री म्हारे नैणा बान पड़ी ।
चित च ी म्हारे माधुरी मूरत हियड़ी अणी गड़ी ॥

---

(१) वही पद २२
(२) वही पद १४
(३) वही पद १४
(४) वही पद २५

अटक्यां प्राण सांवरो प्यारो, जीवन मूर जड़ी ।
मीरां गिरधर हाथ बिकानी लोग कह्यां बिगड़ी ॥[1]

(२) म्हां मोहन के रूप लुभानी
सुन्दर बदन कमल दल लोचन बांकी चितवन नैना समानी ।'[2]

यह आकर्षण एक जन्म का नहीं है, जन्म-जन्म का है ।

इस प्रकार जीव परमात्मा की ओर दो प्रकार से उन्मुख है—एक विरागमूलक अनुराग से दूसरा सहज अनुराग से । यद्यपि ये दोनों मीरां के काव्य में व्याप्त हैं परन्तु दूसरे का स्वर अधिक तीव्र है । उन्होंने संसार के प्रतिविराग की बात बहुत कम कही है, अधिकांश-आत्म-निवेदन में अनुराग के मर्म की ही व्यंजना है ।

---

(१) वही पद १५
(२) वही पद ३

भक्ति-पद्धति

मनुष्य की समस्त साधना चिरन्तन आनन्द की अक्षुण्ण उपलब्धि का प्रयास है। वैदिक ऋषि की 'असत् से सत् तम से ज्योति और मृत्यु से अमृत की ओर जाने की कामना' से लेकर मार्क्स के श्रेणीहीन समाज के स्वप्न तक—सभी के पीछे दुखों से चिर निवृत्ति तथा आनन्द के अन्तहीन उपभोग की ही दुर्दम्य अभिलाषा छिपी है। उपनिषद् के अनुसार यह अभिलाषा दो मार्गों की ओर ले जाती है—प्रेयोमार्ग और श्रेयोमार्ग। पहला संसार की भौतिक रमणीयता का मार्ग है और दूसरा परम कल्याण के साधन का। विवेकी जन के सामने श्रेय का ही वरण करता है। मीरां ने भी यही मार्ग अपनाया था। अलौकिक श्रेय को ही उन्होंने प्रेय बना दिया था। इतना ही नहीं वे त्याग और विरक्ति की अभाव-भूमि की नहीं प्रणयोपलब्धि की सरस उपत्यका की वासिनी थी। इसलिए श्रीमद्भागवत् में श्रीकृष्ण द्वारा उपदिष्ट—ज्ञान कर्म भक्ति—तीनों योगों में से भक्ति याग को ही उन्होंने ग्रहण किया। भक्ति में भी बाह्य आचरणों का आकर्षण उन्हें नहीं भटका सका उसके प्राण-तत्व प्रणय के साथ ही वे एकरस हो गईं।

भक्ति शब्द के अनेक अर्थ मिलते हैं—सेवा आराधना श्रद्धा अनुराग आदि। व्युत्पत्ति के आधार पर भक्ति का अर्थ है—'भगवान का सेवा प्रकार'। परम्परानुसार भक्ति की अनेक परिभाषाएं प्रस्तुत हुई हैं। इनमें सबसे अधिक प्रचलित परिभाषा शाण्डिल्य की है—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' (ईश्वर में परम अनुरक्ति ही भक्ति है)। उन्होंने आत्मरति के अविरोधी विषय में अनुराग को भी भक्ति कहा है।[1] अविच्छिन्न रूप से शुद्ध आत्म-स्वरूप में रत रहना ही आत्मरति है।[2] इस प्रकार जहाँ शाण्डिल्य की प्रथम परिभाषा ईश्वर (सगुण रूप) के उपासकों की दृष्टि से है वहाँ दूसरी में निर्गुण

---

(१) आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्य (नारदभक्ति सूत्र संख्या १८)

(२) अमरधाम, १८ वें सूत्र की व्याख्या, पृष्ठ २४

भगवान की उपासना करने वालों के दृष्टिकोण का भी समावेश है।[1] भागवतकार का कथन है कि प्रेम निरन्तरता के साथ निर्हेतुक तथा निरन्तर होने पर ही 'भक्ति' शब्द द्वारा अभिहित किया जा सकता है।

नारद रचित 'भक्तिसूत्र' में कहा गया है कि 'गर्गाचार्य के मत से भगवान की कथा आदि में अनुराग होना ही 'भक्ति है'[2] और पराशरनन्दन श्री व्यासजी के अनुसार भगवान की पूजा आदि में अनुराग होना भक्ति है।[3] नारद का अपना मत है कि अपने अखिल आचरणों को समर्पित करना और उस (प्रभु) के विस्मरण में परम व्याकुल होना ही भक्ति है जैसे व्रज गोपियों की भक्ति।[4] भक्ति की उक्त परिभाषाओं में गर्ग और पाराशर का लक्ष्य साधनास्वरूप भक्ति पर है और नारद का ध्यान फलासंगशून्य (अनासक्त) कर्मयोग से समन्वित निरतिशय अनुरागमयी भक्ति पर।

नारद पांचरात्र में 'समस्त उपाधियों से विनिर्मुक्त होकर तत्परता के साथ निर्मलतापूर्वक हृषीकेश भगवान की सेवा को ही भक्ति माना गया है।[5] इसमें साधन सापेक्ष भक्ति की बात कही गई है जो बाद के आचार्यों ने अनुरागात्मिका भक्ति से निम्न कोटि की मानी है।

विष्णुपुराण के अनुसार भगवान का अनुस्मरण करने वाले जन के हृदय में भगवान के प्रति जो आसक्तिपूर्ण एव अनपायिनी प्रीति होती है, वही भक्ति कहलाती है। भक्ति सिद्धान्त के प्रतिपादक ग्रंथों में भागवत का विशेष मान है। उसमें कपिल द्वारा प्रतिपादित किया गया है कि वेद विहित कर्मों में लगे हुए जनों की भगवान के प्रति अनन्य भावमयी स्वाभाविकी

---

(१) ज्ञानमार्गी श्री शंकराचार्य ने कहा है—मोक्षकारण सामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते
—प्रेमदर्शन पृष्ठ २४ से उद्धृत

(२) कथादिष्विति गर्गः (सूत्र १७)
पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः (सूत्र १६)

(४) नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति यथाव्रजगोपिकानाम् सूत्र १९-२१

(५) सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्
हृषीकेण हृषिकेश सेवनं भक्तिरुच्यते।
—प्रेमभक्तिपोष महात्मा श्री देवरामजी महाराज पृष्ठ २९

सात्त्विक प्रवृत्ति का नाम भक्ति है। अबाध्य गंगाधारा के समान वह सर्वान्तर्यामी के प्रति गुणश्रवण मात्र से प्रादुर्भूत अविच्छिन्न मनोगति है।

मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन का नेतृत्व करने वाले आचार्यों ने भी इन्हीं व्याख्याओं को स्वीकार किया है।

निम्बार्क का मत है कि रूपादि विषयक अर्थात् भगवान के रूप गुण आदि के विषय में समग्र चित्त को व्याप्त कर लेने वाली वृत्ति भक्ति है।[1] निम्बार्क मतानुयायियों का आग्रह उक्त प्रकार की चित्तवृत्ति के अभ्युदय पर है। यह उदय चाहे किसी भाव के साथ (दास्य-सख्य-माधुर्य इत्यादि) हो पर गौडीय वैष्णवों की साधना-प्रणाली के समान माधुर्य भाव पर इनका विशेष बल रहता है। रामानंदी मतानुसार पराभक्ति को ही महत्त्व दिया गया है और पराभक्ति है परानुरक्ति। श्री वैष्णवमताब्जभास्कर में कहा गया है—'विवेकादि सप्त साधनों से जिसकी उत्पत्ति है, यमनियमादि जिसके आठ अंग हैं तैलधारावत् निरन्तर संस्मृति से उत्पन्न ऐसी अनुरक्ति का नाम ही पराभक्ति है।[2] वह प्रीतिरूपा भी है।[3] इनके अनुसार भक्ति कर्म ज्ञान तथा ध्यानयोग तीनों के आधार पर ही खड़ी है क्योंकि उसकी उत्पत्ति और विकास विवेक योग-साधना और संस्मृति पर निर्भर है।

वल्लभ ने भक्ति की परिभाषा इस प्रकार की है—'भगवान में माहात्म्य ज्ञानपूर्वक सुदृढ़ सर्वाधिक सतत स्नेह ही भक्ति है। मुक्ति का अन्य उपाय नहीं है।[4] मध्व भी 'भगवान के माहात्म्य-ज्ञान से उद्भूत परानुरक्ति' को ही भक्ति मानते हैं।[5]

---

(१) भागवत संप्रदाय ३४८,

(२) सा तैल धारा सम नित्यसंस्मृति सन्तान रूपेशि परानुरक्तिः।
भक्तिर्विवेकादिक सप्तजन्या तथा यमाद्यष्ट सुबोधकाङ्गा ॥
श्री वैष्णवमताब्जभास्कर श्लोक ६२

(३) तत्त्वमुक्ताकलाप कारिका २६ की टीका।

(४) माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः
स्नेहोभक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नचान्यथा।
—तत्त्वार्थदीप निबंध (ज्ञानसागर बम्बई) श्लोक ४६,

(५) द फिलॉसफी ऑव रामानुज, डॉ० कृष्णदत्त भारद्वाज पृष्ठ १७०

हिन्दी के भक्त-कवियों ने भक्त-जीवन की रम्य झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं जिनमें भक्ति के स्वरूप की व्यंजना हो जाती है। तुलसी ने जिसे 'राम पद नेह' कहा है, सूर के शब्दों में जो 'गोपाल के द्वारा गोपी का मनहरण' है, 'जहाज के पंछी की उड़कर फिर जहाज की ओर की गति' है, कबीर जिसे 'हरिरस का खुमार' कह गए हैं वह सब भक्ति ही है। मीरां का 'गिरधर के रंग में रचना' भी इसी का पर्याय है।

भक्ति के भेद प्रभेदों का विवेचन लगभग सभी संप्रदायों में हुआ है। मध्ययुगीन भक्ति-काव्य संबंधी प्रबंधों में इनका प्रायः विवरण दिया गया है। उक्त मतमतान्तरों के विवेचन का निष्कर्ष यह है—

(१) भक्ति का संबंध मूलतः भावना से अर्थात् चेतना के राग-तत्व से है।

(२) इस राग तत्व को ज्ञान का समर्थन या आश्रय मिलता है।

(३) राग का केन्द्र निरन्तर आलम्बनमय तत्व है, जिसे ईश्वर या भगवान के नाम से अभिहित किया गया है।

(४) अनुराग एकोन्मुख होता है अन्य को वहाँ स्थान नहीं है अन्य की स्थिति उस राग के आवरण या विकास के साधन या सहायक के रूप में हो सकती है।

मीराँ की भक्ति :

नाभादास के कथन से स्पष्ट है कि 'मीरां ने प्रेम भाव की भक्ति की थी उनका प्रेम गोपियों का-सा था और प्रेम का आलम्बन रसिक शिरोमणि श्रीकृष्ण थे।[1] लगभग उसी युग के एक संत संप्रदाय के प्रचारक और शिष्य रूप रामदास द्वारा किए गए उल्लेखों से इस मत की पुष्टि होती है। उन्होंने तो यह भी स्पष्ट कर दिया है कि मीरां ने गिरधर का भजन पति के भाव (पत्नी-भाव) से किया था।[2] नारदभक्तिसूत्र में प्रेमाभक्ति की परिभाषा देने के पश्चात् कह दिया गया है 'यथा व्रजगोपिकानाम्'।[3] इससे पता चलता

---

(१) भौभक्तमाल वपकला पृष्ठ ७१३

(२) गोपिन की सी प्रीति रीति कलिकाल दिखाई।
रसिक राइ बस गाई निडर ग्यौ संत सुभाई।
मीवत भक्ति पुराई कै पति सो गिरधर ही सजै। आदि।
—मूल छप्पय पुरोहितजी के संग्रह की पोथी से

(३) सूत्र २१

है कि 'भक्तिसूत्र' के रचयिता के अनुसार प्रेमाभक्ति का आदर्श गोपियाँ ही थीं। भक्तिकाल में (नाभादास-ध्रुवदास के समय में) नारदभक्तिसूत्र प्रेमाभक्ति का निदर्शन करने वाले प्रामाणिक सूत्र माने जाते थे और भक्तों में उनका मान था। अतः यह असंदिग्ध है कि प्रेमरूपा भक्ति का सुन्दर उदाहरण होने के कारण ही मीराँ की भक्ति को, नाभादास तथा परवर्ती भक्त और संतों ने 'गोपियों की-सी' भक्ति होने का स्पृहणीय महत्व प्रदान किया है।

मीराँ के अपने पदों में भी उनके रसमार्गी (प्रेमाभक्ति के साधक) होने के स्पष्ट संकेत हैं। यथा

(१) मीराँ गिरधर नट नागर भगत रसीली जाची।[1]
(२) साजां सिंगार सुहागां सजणी प्रीतम मिल्यां भाय
बरूया साजना साजरो म्हारो सुहागो अमर हो जाय।[2]
(३) ना छाको रस रूप माधुरा छोण बण्या हमरी री।[3]
(४) रंग भरी राग भरी राग सूँ भरी री।[4]
(५) आंसु आंजल सींच-सींच प्रेम बेल बूयां।[5]
(६) मा छब देख्यां मोह्यां मीराँ मोहन गिरधर धारी मी।[6]
(७) चंचल चित चलयां णा चालां बाध्या प्रेम जंजीर।[7]
(८) प्रेमभगति रो पैंडा म्हारो और न जाणो रीत।[8]

बाल रूप इस प्रकार हुई। कृष्ण के सुंदर वदन कमल दल लोचन बांकी चितवन तथा बंसी के मधुर स्वरों ने मीराँ के मन को मोह लिया। सौंदर्य के बाण ने उनके प्राणों को बेध दिया और उनका चित्त प्रेम की जंजीर से बंध गया।[9] कृष्ण-मिलन की कामना से विकल मन को स्वप्न में परिणय भी हो गया पर वह विलास-सपाती नेह की नाव पर बैठाकर विरह के समुद्र में छोड़ गया।[10] वियोग की निशा का प्रारम्भ हुआ। व्यथित प्राणों ने द्वार पर खड़े होकर राह देखी रात गिन-गिन कर काटी अन्य अनेक कष्ट सह कर

(१) काशी पद ८३
(२) वही पद ८९
(३) वही पद ८८
(४) वही पद ७३
(५) डाकोर पद १
(६) वही पद ४
(७) वही पद ६
(८) वही पद ९
(९) वही पद ३ ४ ५ ६
(१०) वही पद ३६ ११

वह निष्ठुर न आया। आखिरकार एक दिन साधना सफल हुई, साजन घर आया और युग-युग के पश्चात् विरहिन को प्रियतम प्राप्त हुए।[1] संयोग और वियोग की नाना दशाओं के अनेक चित्र मीराँ के काव्य में हैं पर, उन सबकी भूमिका यही है। इसे प्रेम कहें प्रेम-लक्षणा भक्ति कहें पराभक्ति नाम दें, यही एक प्रणय-भाव उनके हृदय की मूल निधि है, जिसके बल पर उन्होंने इस संसार की उपेक्षा करके राजसी सुख को ठुकरा कर एकाकी साधना-पथ पर कदम रखने का साहस किया था।

प्रेम के इस सरस भाव के अतिरिक्त मीराँ में वैराग्यमूलक दास्य-भाव का एक सीधा स्वर और है। भक्ति की सिद्धावस्था में पहुँचकर संसार उनकी आँखों के सामने से हट गया था और संयोग में अलौकिक मिलन सुख तथा वियोग में अभाव की निरन्तर मधुर पीड़ा द्वारा उनकी चेतना के सामने भावाभाव रूप में वही श्यामसलोना रहता था। पर उनके जीवन में ऐसे अवसर भी आए थे विशेषकर वैधव्य के पश्चात् जब संसार उनके सामने संघर्ष पीड़ा लांछन प्रतारणा लेकर खड़ा था और उनके मन में उसके लिए घृणा रोष उपेक्षा और अन्त में वैराग्य उत्पन्न हो गया था। जीवन की इन घड़ियों में प्रभु के विराट, शक्तिशाली अशरणशरण भक्तवत्सल रूप के सामने प्रणत होकर आर्त स्वर में उन्होंने अपनी व्यथा का निवेदन या सामर्थ्यवान प्रभु की दया-याचना की है।

नारद भक्ति सूत्र में भक्ति को द्विधा कहा गया है—(१) प्रेमरूपा और (२) गौणी। प्रेमरूपा भक्ति अमृत स्वरूपा है। इसको उपलब्ध करके मनुष्य सिद्ध, अमर और तृप्त हो जाता है। फिर न वह शोक करता है न द्वेष न किसी वस्तु में आसक्त रहता है और न (विषय भोग में) उत्साहित। उसे पाकर मानव उन्मत्त स्तब्ध और आत्माराम बन जाता है। यह कर्म ज्ञान और योग से भी श्रेष्ठ है।[2] इसको पाकर प्रेमी इसी को देखता है इसी को सुनता है इसी का वर्णन-चिन्तन करता है।[3] यही भूमा है, शेष अल्प है।[4] जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, मीराँ की भक्ति का मूल स्वर

---

(१) काशी, पद ७९ (२) नारद भक्ति सूत्र ३-४-५-६

(३) वही ५५

(४) यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति
स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति
तदल्पम् यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्
—छान्दोग्योपनिषद् ७-२४-१

शोक-रोग भय से मुक्त अमृतस्वरूप इसी प्रेमाभक्ति का है, जिसके कारण वे उन्मत्त और आत्माराम बन गई थीं।[1] तीर्थ व्रत ज्ञान-कथा काशी-करवत और जोगी के जोग की उपेक्षा करके अमृत के प्याले (प्रेमाभक्ति) की ओर मुड़कर एक गिरिधर मय हो गई थीं।[2] इसी को श्रीमद्भागवत में अहैतुकी निर्गुण भक्ति कहा है, जिसमें भक्त की चित्तवृत्ति तथा कर्म-प्रवाह स्वभावतः अविच्छिन्न रूप से भगवान की ओर बहते हैं।[3] गीतोक्त तत्व ज्ञानी की भक्ति भी यही है क्योंकि वह भी सब कुछ में वासुदेव को ही देखता है।[4]

जहाँ भक्ति भक्ति के लिए, भगवद्-प्रेम के लिए ही नहीं होती उसका उद्देश्य भूमानन्द से भिन्न होता है, तो उसे गौणी भक्ति कहा जाता है। इसकी प्रमुख विशेषता भेददृष्टि है। गौणी भक्ति गुण-भेद तथा भावादि भेद से तीन प्रकार की होती है।[5]

(क) गुण-भेद से—तामसी राजसी तथा सात्विकी
(ख) भावविभेद से—अर्थार्थी जिज्ञासु तथा आर्त

मीरां की भक्ति में गौणी भक्ति का स्वर गौण है। उसमें से केवल सात्विकी और आर्त भक्ति के उदाहरण उनकी भावाभिव्यक्तियों में मिलते हैं।

---

(१) इमरित पाइ विषा क्यूं दीजै पद ९
प्यालो अमृत छांड्यां रे कुण पीवां कड़वां नीम्यां रो।
—पद ६४
भयां बावरा सुध-बुध भूलां पीव बाध्या म्हारी आस —पद ८१
यह प्रेमासक्ति एक होकर भी ग्यारह है। इसकी ११ आसक्तियां हैं। मीरां में इन आसक्तियों का विवेचन आगे किया गया है।

(२) तीरथ बरतां ग्याण कथंती कहा लयां करवत कासी।
जोगी होयां जुगत णा जाण्यां उलट जणम री फांसी।
—डाकोर पद २
प्यालो अमृत छांड्यां रे कुण पीवां कड़वां नीम्यां री।
—डाकोर पद ६४

(३) भागवत ३/२९/११-१२
(४) अध्याय ७/१७
(५) नारद भक्तिसूत्र ५६

तामसी भक्ति निम्नतम कोटि की भाव-साधना है। वह क्रोध से हिंसा दंभ और मत्सरता को लेकर भेद-दृष्टि से की जाती है।[१] भेद-दृष्टि मीरां में नहीं थी। अपने युग के प्रकाण्ड पण्डित श्री जीवगोस्वामी को पुरुष की जो उद्बोधक व्याख्या उन्होंने सुनाई थी वह उनकी अभेद दृष्टि का परिचायक है। रामदास पुरोहित और कृष्णदास का कलेजा कटु व्यवहार भी उनके मन में रोष का एक स्फुलिंग नहीं उठा सका। हिंसा दंभ मत्सरता का लेशमात्र भी कहीं उनके वचनों में नहीं है।

राजसी भक्ति विषय यश और ऐश्वर्य की कामना से भेददृष्टिपूर्वक केवल प्रतिमादि के पूजन के रूप में ही की जाती है।[२] मीरां गिरधर की मूर्ति की पूजा करती थी चरणामृत लेती और नित उठ दर्शन के लिए जाती थी।[३] तुलसी-ठाकुर पूजा तथा गोविन्द जी दर्शनों के कारण ही उन्हें वृन्दावन विशेष सुन्दर लगा था।[४] पर, दिव्य न भूलने वाली तथा राज-परिवार सुख वैभव को तृणवत् त्याग देने वाली यह पूजा यश विषय और ऐश्वर्य की कामना से नहीं थी। न उन्होंने प्रभु से लौकिक कीर्ति की याचना की न सुख मांगा, उनकी एक ही रट थी—'मीरां रे प्रभु कब रे मिलोगे थे बिण रह्या न जाय'।[५] सात्त्विकी भक्ति में पूजा पापनाश के उद्देश्य से सब कर्मफलों को भगवान में समर्पित करके अथवा कर्तव्य भाव से की जाती है।[६] मीरां ने भवसागर भय जग-कुल-बंधन सब हरि-चरणों में डाल दिए थे। उनका संयोग-वियोग सब गिरिधर में ही केन्द्रित था। मंदिर में जो सेवा-पूजन वे करती थीं गोविन्द-गुण गाती थीं उससे तो नाम प्रताप से—जनम-जनम की व्यथा मिटती थी[७] पाप मिटता था भव-सागर से तारण होता था और

---

(१) श्रीमद्भागवत ३ २९, ८

(२) श्रीमद्भागवत ३ २९ ९

(३) चरणामृत रो नेम सकारे नित उठ दरसण जास्यां।
—काशी पद १०७

(४) घर-घर तुलसी ठाकुर पूजा दरसण गोविन्दजी का।
—डाकोर, पद ७

(५) डाकोर पद ११

(६) श्रीमद्भागवत ३ २९, १०

(७) सांवरो नाम जपां जप प्राणी कोट्यां पाप कट्यां री।
जनम-जनम की खता पुराणी नामां स्याम मट्यां री॥
—डाकोर पद ५८

पुष्ट मिलता था।[1] पर उनका कृष्णानुराग प्रमुखतः हृदय की दुर्दम्य प्रेरणा के कारण था सामाभाव या कर्तव्याकर्तव्य के भाव से नहीं। भेद-बुद्धि का भी मीराँ में अभाव है। इस प्रकार सात्विकी गौणी भक्ति का एक पहलू ही मीराँ में क्षीण रूप में मिलता है, अपनी समग्रता में वह भी उनमें नहीं है।

साधन भेद से भक्ति के दो भेद किए जाते हैं—अपरा और परा। अपरा भक्ति उसे कहते हैं जिसमें भक्ति प्राप्त करने के साधनों की विवीक्षा रहती है। पराभक्ति वह भक्ति है जिसमें साध्य लक्ष्य की प्राप्ति के अतिरिक्त किसी भी साधन की आवश्यकता शेष नहीं रहती।[2] पराभक्ति साध्य स्वरूपा है, अपराभक्ति साधन स्वरूपा है। मीराँ की भक्ति पराभक्ति है। गिरिधर की रूप-रस-माधुरी पर मुग्ध इस अनन्य साधिका की समस्त आकांक्षाएँ प्रियतम में ही केन्द्रित हैं। उसे कृष्ण की प्रतीक्षा है, और केवल इसलिए कि वे प्राण प्रिय हैं। वह उन्हीं के प्रेम में मग्न है, उन्हीं के संयोग से उल्लसित और वियोग से विकल है। मीराँ की जिस प्रेमाभक्ति का उल्लेख किया जा चुका है वह स्वयं पराभक्ति है।[3] पराभक्ति के जो छ भेद कहे जाते हैं, वे वस्तुतः भक्तिभाव

---

(१) स्यामनामरा भाम जहाज्याँ भो सागर तर जास्याँ।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर गुण गावा सुख पास्याँ।
—काशी पद १०१

(२) प्रेम भक्ति योग महाराज श्री देवदासजी महाराज डाकोर,
३० पृष्ठ सं० १९९९

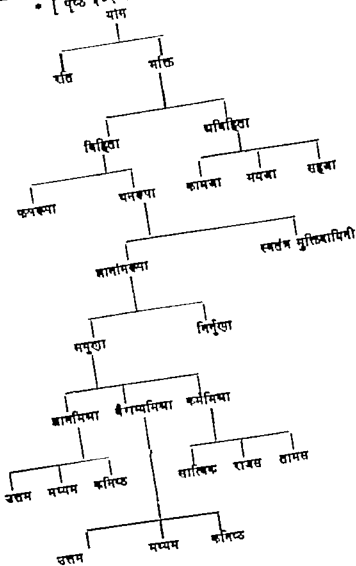
(३) पराभक्ति ६ प्रकार की मानी गई है—
१—नित्या : हर दशा में भगवान का स्मरण करते रहना।
२—प्रेमलक्षणा : भगवान के प्रेम में मग्न उनके संयोग में प्रसन्न और वियोग में विकल होना।
३—निष्कामा भगवान के अतिरिक्त अन्य किसी सुख या मोक्ष की चाह न करना।
४—तुलना सारे संसार को ईश्वरमय देखना।
५—अनन्या : अन्य आश्रय त्यागकर एक भगवान का आश्रय ही लेना।
६—निर्गुण : अखिल विश्व में एकमात्र भगवान को ही सत्-रूप समझकर किसी भी भावना से भगवान में लगना।
—प्रेम भक्ति योग पृष्ठ ४८-४९

के छः पहलू हैं, जो एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न स्वतंत्र नहीं हैं। उनमें से कई के उदाहरण मीराँ में मिल जाते हैं। जैसे

सिद्धा—मग जोता दिए बीता सजणी रैन पड्या दुखराशी (पद ८६)

जनम जनम रो साथी थाणे ना बिसर्यां दिणराती (पद ४२)

• [पृष्ठ १४१ का टिप्पण १]



प्रेमलक्षणा —(पद ४८, ४९, ५१ आदि) अनेक पद।

निष्कामा —थारा चरणां काम रा म्हा थारां दरसाणां री (पद ६४)

अनन्या —और आसरो णा म्हारा थे बिणा तीन लोक मझार (पद १२)।

पर, मीराँ का मुख्य भाव प्रेम-भाव ही है।

निम्बार्क संप्रदाय के श्रीभट्ट के प्रधान तथा अन्तरंग शिष्य हरि व्यास कृत 'सिद्धान्त रत्नांजलि' में भक्ति के नाना प्रभेदों का वर्णन मिलता है।[1] मीराँ की भक्ति विधि-विधानाश्रित नहीं थी यद्यपि वे विधि विधानों का कबीर की तरह खण्डन नहीं करती थीं। पूजा में भी उनकी रुचि थी भगवान के मन्दिर में कीर्तन-नृत्य करती थीं, पर विधि-विधान की उन्होंने चिन्ता नहीं की। वेद और पुराण के विषय में उन्होंने स्पष्ट कह दिया था कि हरि-रूप का वर्णन उनकी सामर्थ्य के बाहर है। इसमें परम्परागत विधि-विधानों के प्रति इस गिरिधर की प्रेयसि का भाव स्पष्ट है। अतः मीराँ को अविहिता भक्ति पथ का पथिक ही मानना चाहिए। इस पर वे काम या अपवाद नहीं पाई थीं। अतएव सहजा-अविहित भक्त के रूप में ही उनकी प्रतिष्ठा होती है।

जो कुछ थोड़े-बहुत विधि-विधान उनमें थे उसके आधार पर उनमें फलरूपा विहिता भक्ति की किरण देखी जा सकती है, पर यह भाव उनमें प्रमुख नहीं था।

वल्लभ-संप्रदाय के लोगों ने मीराँ को मर्यादामार्गी कहा है। शुद्धाद्वैत दर्शन के पंडित कांकरोली के श्री कंठमणि शास्त्री ने लेखक को बताया कि

---

*(१) देखें पृष्ठ ३४०

(२) वेद पुराण सकल ही देखे अन्त न लावै पार। विनोद पद ८
बिरद बखाणी मिलियां णा जाणयां थाका वेद पुराण।
डाकोर, पद ११

(३) 'मीराँबाई जेवा परमभक्तनो साथे भगवद्वार्ता करतां श्री गुसांईजीये गोविन्द देवने अटकाव्या। प्रेम वाली शंका थाय तो तेना समाधानमां लखवानु के चोराशी वैष्णवो पुष्टिपुष्टि जीव हता मीराँबाई मर्यादामार्गी हतां अने तेमनो अंगीकार श्री महाप्रभुजीये द्वारा न होतो।
—चोराशी वैष्णवनी वार्ता वैष्णव ३७मा सार, पृष्ठ ९५

कृष्णका नाम लेकर विष पीने के कारण कृष्ण को स्वयं विषपान करना पड़ा था। इस प्रकार प्रभु को कष्ट देना भक्त के लिए अनुचित है अतएव मीराँ को उच्चकोटि का भक्त नहीं माना गया। वस्तुतः वल्लभ-संप्रदाय का यह मत मीराँ के वल्लभानुयायी न होने के कारण बन गया है। मीराँ में विधि विधान और शास्त्रीय मर्यादाओं के पालन करने के भाव प्रमुख नहीं हैं, वे कृष्णानुराग के क्षेत्र में प्रेम के अतिरिक्त अन्य किसी भाव-विचार या पद्धति से प्रेरित नहीं हैं। तीर्थ-व्रत ज्ञानोपदेश काशी में करवत लेने की अनुपादेयता की ओर उन्होंने प्रगट रूप से संकेत किया है। वल्लभाचार्य के अनुसार मर्यादा-मार्ग केवल वेद-प्रतिपादित कर्म और ज्ञान का मार्ग है। इसका ध्येय सायुज्य मुक्ति होता है। मीराँ ने कभी सायुज्य मुक्ति की कामना नहीं की और न कर्म-ज्ञान का पथ पकड़ा था।

रूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृत सिंधु तथा उज्ज्वलनीलमणि में चैतन्य सम्प्रदाय की दृष्टि से भक्ति का जो विवेचन है उसके अनुसार मीराँ की भक्ति उत्तमा भक्ति की कोटि में आती है। उत्तमा की तीनों विशेषताएं इनमें थी[1]—

(१) अन्य की अभिलाषा से शून्यता[2]
(२) ज्ञान-कर्मादि से अनावृत होना[3]
(३) कृष्ण की उनके अनुकूल उपासना[4]

उत्तमा भक्ति तीन प्रकार की कही गई है—साधन-भक्ति, भाव-भक्ति तथा प्रेमा-भक्ति।[5]

---

(१) अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ।।
—भ० र० सि०—पूर्व विभाग, लहरी १ श्लोक ९

(२) म्हारा री गिरधर गोपाल दूसरा णा कयां। —डाकोर पद १

(३) । नेम धरतां प्यारा वचना कहा नथी करवत वाली।
—वही पद २

(४) कृष्ण की सुन्दर मनमोहिनी मूर्ति के सरस स्वभाव के अनुकूल प्रेम की उपासना ही है। यह मीरा में है।

(५) सामर्थ्य साधनं भावः प्रेमा चेति त्रिधोदिता।
—भ० र० सि०—पूर्व लहरी २ श्लोक १

साधन-भक्ति में बाह्य साधनों द्वारा साधक भक्त इष्ट की ओर उन्मुख होता है। इससे भाव-भक्ति जागृत होती है। इस साधन-भक्ति के भी दो प्रकार हैं—वैधी भक्ति और रागानुगा भक्ति। वैधी भक्ति शास्त्रोक्त (विशेषकर श्रीमद्भागवत) विधि-विधान द्वारा की जाती है। उसके चौंसठ अंग हैं। इनमें से कुछ की व्यंजना मीरां के पदों में हो जाती है, जैसे साधु-अनुवर्तन कृष्ण-हेतु से भोगादि-त्याग गीत संकीर्तन आदि। किशनगढ़ का मीरां का चित्र इस बात का साक्षी है कि वे वैष्णव-चिह्न (तिलक) भी धारण करती थीं। साथ ही गुरु-पादाश्रय गुरु से शिक्षा-दीक्षा जैसे अंग उनके जीवन में सामान्य अर्थ में नहीं मिलते। उनके गुरु सखा प्रिय सभी कुछ गिरिधर थे।

रागानुगा भक्ति व्रजवासियों की रागात्मिका भक्ति के अनुसरण पर की जाती है। इसमें ध्यान और स्मरण द्वारा कृष्ण तथा उनकी लीला की अनुभूति की जाती है। यह प्रयत्न की अपेक्षा रखती है। मीरां की भक्ति व्रजजनादि के समान ही थी पर वह प्रयत्न-साध्य नहीं थी, अनुकरणात्मक प्रयास भी उसके पीछे नहीं था। इस 'जनम-जनम की दासी' के मन में कृष्ण माधुर्य के प्रति जो आकर्षण था वह मूलतः सहज और स्वाभाविक था।

भाव-भक्ति कृष्ण अथवा उनके भक्त के प्रसाद से अथवा साधनाभिनिवेश से उत्पन्न होती है। इसका रूप आंतरिक भाव में आधारित होता है। मीरां में इसी भाव भक्ति की ही प्रधानता थी। कृष्ण से अपूर्व चाकरी देने की याचना करते हुए उन्होंने कहा है —

> चाकरीमां दरसण पास्यूं।
> सुमरण पास्यूं खरची॥
> भाव भगत जागीरी पास्यूं।
> तणम तणम री सरसी॥[1]

इससे भाव भक्ति का उल्लेख उनके पदों में स्वयं मिल जाता है। यही उनके लिये प्रकाम्य है।

भाव भक्ति का जब परिपाक होता है तब वह रसरूप प्रेमाभक्ति में परिणत हो जाती है। मीरां के अनेक पदों में प्रेमाभक्ति की व्यंजना है। एक दो स्थानों पर उन्होंने रसीली भक्ति का उल्लेख भी किया है—मीरां री गिरिधर नागर भक्ति रसीली जांची।[2]

---

(१) डाकोर, पद ३५
(२) काशी पद ८३

इस प्रकार चैतन्य सम्प्रदाय द्वारा व्याख्यात उत्तमा भक्ति के तीनों सोपान जिन्हें तीन प्रकार का कहा गया है मीरां में मिल जाते हैं।

नवधा-भक्ति

भागवत में भक्ति नव प्रकार की अर्थात् नवधा कही गई है। शिवपुराण ब्रह्मवैवर्तपुराण आदि में प्राय इसका अविकल उल्लेख है। ये नौ प्रकार हैं —श्रवण कीर्तन स्मरण पादसेवन वंदन अर्चन दास्य सख्य और आत्म-निवेदन।

नवधा भक्ति वस्तुत साधनस्वरूपा भक्ति है। मीरां मूलत प्रणय के पंथ की अनुगामिनी थीं जहाँ विधि-विधानों का विशेष महत्व नहीं है। फिर भी मीरां ने सामान्य विधि-विधानों का सदैव पालन किया। एक पद में उन्होंने कहा है—

> माई म्हा गोविन्द गुण गास्यां।
> चरणाम्रतरो नेम सकारे नित उठ दरसण जास्यां॥
> हरि मंदिरमां निरत करावां घूघरयां घमकास्यां।
> स्याम नाम रा झांझ चलास्यां भौ सागर तर जास्यां॥[1]

इसमें नवधा भक्ति के कीर्तनादि अंगों का स्पष्ट उल्लेख है। काशी पद ८२ में दास्य तथा[2] डाकोर पद ४१ में स्मरण[3] के संकेत हैं। आत्म-निवेदन तो उनके अधिकांश पदों में है ही। इस प्रकार सख्य को छोड़कर उनमें नवधा के लगभग सभी प्रकारों के दर्शन हो जाते हैं पर मीरां की भक्ति इन नव विधानों के विधान तक सीमित नहीं थी। उसमें प्रणय का केन्द्रीय भाव प्रधान था जिसने इन विधानों को भी सरस रमणीयता प्रदान करदी थी।

एकादश आसक्तियाँ।

मीरां की प्रेमाभक्ति का विवेचन किया जा चुका है। नारद भक्ति सूत्र के अनुसार यह प्रेमरूपाभक्ति एक होकर भी 'आसक्ति' के आधार पर एकादशधा होती है—

---

(१) काशी पद १०१
(२) मीरां दासी जनम जनम री म्हारो लाल दयाल।
(३) सावण कह गयां अजां रा अयां कर म्हाने भोलगयां।

(१) गुणमाहात्म्यासक्ति (२) रूपासक्ति (३) पूजासक्ति
(४) स्मरणासक्ति (५) दास्यासक्ति (६) सख्यासक्ति
(७) कान्तासक्ति (८) वात्सल्यासक्ति (९) आत्म-निवेदनासक्ति
(१०) तन्मयासक्ति (११) परम विरहासक्ति

इनके उदाहरण क्रमशः (१) देवर्षि नारद (२) मिथिला के नरनारी (३) लक्ष्मी (४) प्रह्लाद (५) हनूमान (६) अर्जुन (७) कृष्ण की अष्ट पटरानियाँ (८) नंद-यशोदा (९) विभीषण (१०) याज्ञवल्क्य और (११) व्रज के नर-नारी हैं।

व्रज की गोपियों में समस्त आसक्तियों का समाहार था। उनमें प्रेम की समस्त छवियों का पूर्ण प्रकाश था। अनेक भक्तों में एकाधिक आसक्तियाँ मिलती हैं। मीरां में उक्त आसक्तियों में से अधिकांश पल्लवित हुई थीं। वैसे कान्तासक्ति, रूपासक्ति और तन्मयासक्ति ही उनमें विशेष थी। सख्यासक्ति और वात्सल्यासक्ति का अभाव था। परमविरहासक्ति तो जैसे उनकी साधना की प्राणधारा थी। उनका समस्त काव्य रूपासक्ति और परम विरहासक्ति के ताने-बाने से बना है। इस तरह दिवानी के जीवन में संयोग के कुछ विरल पल और वियोग की युगों-सी रातें बसी हैं न दिन में भूख है, न रात में निद्रा। पिया के बिना देस सूना है, प्रतीक्षा करते-करते पैरा पंडर पड़ गए हैं पर उनके अधरों पर एक ही प्रश्न सजग है—'कब मिलोगे ?

शरणागति अथवा प्रपत्ति

पांचरात्र विष्वक्सेन संहिता के अनुसार 'भगवद्रूप प्राप्य वस्तु की इच्छा रखने वाले उपायहीन व्यक्ति की प्रार्थना में पर्यवसायिनी निश्चयात्मिका बुद्धि ही प्रपत्ति का स्वरूप है। इसी का नाम शरणागति है। इसकी शास्त्रीय संज्ञा 'न्यास' है। श्रीवैष्णव मत के अनुसार तो 'भगवान के चरणों में अपने को मिटा देना आत्माभिमान छोड़कर, सब धर्मों का परित्याग करके शरणापन्न होना ही प्रपत्ति है।'[1] यह भक्ति का सार है।

---

(१) अहिर्बुध्न्य संहिता (३७।३१) में शरणागति की व्याख्या इस प्रकार की है—
अहमस्म्यपराधानामालयो किञ्चनो गतिः।
त्वमेवोपायभूतो मे भवति प्रार्थना मतिः।
शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यताम् ॥

प्रपत्ति के तीन आकार या विशेषण हैं [१] अनन्य शेषत्व (भगवान का ही दास होना) [२] अनन्य साधनत्व (एकमात्र भगवान को ही इष्टप्राप्ति का उपाय मानना) [३] अनन्य भोग्यत्व (अपने को एक भगवान का ही भोग्य समझना)।[1]

प्रपत्ति से भगवत्कृपा प्राप्त होती है और भगवत्कृपा से भगवान प्राप्त होते हैं। अतः प्रपत्ति साधन-स्वरूपा ही है। भक्ति (साधन स्वरूपा) में साधन विशेष का स्वीकार है, प्रपत्ति में साधनानुष्ठान का स्वीकार नहीं है, केवल भगवान का ही स्वीकार है। प्रपत्ति में भगवत्सेवा भगवान के नाम का जप, कीर्तन आदि का नियम नहीं है, परन्तु ये कार्य आवश्यक भी नहीं हैं।[2]

मीराँ उपायहीन थीं हों अथवा नहीं भी थीं तो उन्होंने शरणापत्ति के अतिरिक्त अन्य उपायों का इच्छापूर्वक त्याग कर दिया था और आर्त स्वर में यही कहा था—'थे बिण कोण खबर ल्यो म्हारा गिरधारी'।[3] उनका संसार के सम्मुख अचल रहने वाला अभिमान प्रभु के सम्मुख झुक गया था। उन्हें न अपने गुणों का गर्व था, न साधना की शक्ति का अहंकार। उन्होंने गुणागार नागर की जगतारण और भवभीति-निवारण प्रवृत्ति और सामर्थ्य के सामने आत्म-समर्पण कर दिया था[4] और वे कृपानिधान गिरधारी की शरण में पहुँच गई थीं।[5] प्रपत्ति का स्वरूप मीराँ की अधोलिखित पंक्तियों में तो अत्यन्त स्पष्ट हो गया है—

---

(१) भागवत संप्रदाय डा० बलदेव पृष्ठ २१७।२१८

(२) भक्ति और प्रपत्ति का स्वरूपगत भेद—देवर्षि रमानाथ शास्त्री नाथद्वारा पृष्ठ ४६

(३) डाकोर, पद ४२

(४) म्हा गुणहीन गुणागार नागर म्हा हिवड़ो रो साज।
जगतारण भौभीत निवारण थे राख्या गजराज।
हार्‌याँ जीवण सरण रावली कठे जावाँ ब्रजराज।
मीराँ के प्रभु और णा कोई राखा अब री लाज।।

—काशी पद ६१

(५) गिरधारी सरणाँ थारी आयाँ राख्याँ किरपानिधान।

—डाकोर, पद ११

अब तो निभायाँ बाह गह्याँ री लाज ।
असरण सरण कह्याँ गिरधारी पतित उधारण पाज ।
भोसागर मँझधार अधारा थे बिण घणो अकाज ।
जुग-जुग भीर हरी भगतारी दीज्या मोच्छ निवाज ।
मीराँ सरण गह्याँ चरणां री लाज रख्याँ महाराज ।।[1]

मीरां की उक्ति प्रमुखतः प्रेमभाव की है पर यह स्थिति भक्ति-साधना की दूसरी और उच्चतर स्थिति है। प्रभु के सामने सर्वस्व समर्पित करके निस्व होने पर ही प्रभु द्वारा अनुराग-पूर्वक ग्रहण होता है। भक्त भगवान का होकर ही उसकी प्रेमाभक्ति का अधिकारी हो पाता है। कुछ संस्कार या सहज प्रवृत्ति भी कुछ परिस्थितियों का आग्रह था कि मीरां प्रभु के सम्मुख उपायहीन शरणागत के रूप में खड़ी हो गई और अनुराग की तीव्रता के साथ उनमें प्रेमाभक्ति का उदय हो गया है।

पांचरात्र में प्रपत्ति दो प्रकार की मानी गई है—आर्त्त और दृप्त। वल्लभ संप्रदाय में इसके दो भेद किए गए हैं—मर्यादिकी और पुष्टिमार्गी।[2]

प्रारम्भ में मीरां की यह शरणागति आर्त्त भाव की थी। 'विपता की प्यारी मति' के कारण 'भगत सँघारने काम राणा' इस संसार में उपस्थित थे। 'काम-ध्यान' उनका प्रभु था। लोक-मर्यादा उनके विरोध में थी परम्परा का रोष अप्रगट नहीं था। अतएव उनका विषम और आर्त हो जाना स्वाभाविक था। पर विपन्नता उनकी प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं थी आर्त्त भाव उनका सहज भाव नहीं था। भक्तिद्रोही सामंतशाही से संघर्ष करके भी अपराजित रहने वाली महाप्राण मीरां उस स्थिति से तुरन्त आगे पहुँच गईं।

मीरां दृप्त शरणागत नहीं थीं। 'इस देह के विगत प्रारब्ध कर्मों को भोगने के बाद अन्य देह न धारण करनी पड़े'—केवल इसी भाव को लेकर वे भगवान की शरण में नहीं पहुँची थीं। उन्हें तो मुख्यतः भगवान के रूप और उनकी लीला के सौन्दर्य ने मोहा था।

पुष्टिमार्गी मीरां को मर्यादामार्गीय मानते हैं परन्तु उनके जीवन का विवेचन उन्हें सूर से किसी प्रकार कम पुष्ट जीव सिद्ध नहीं करता।

---

(१) डाकोर पद ६८

(२) भक्ति और प्रपत्ति का स्वरूपगत भेद देवर्षि रमानाथ शास्त्री, भागद्वार पृष्ठ २१

विषय-रस का पूर्ण त्याग था। उनकी साधना विषयों से ही नहीं, विषयासक्ति से भी मुक्त भक्त की साधना थी।

(२) अखण्ड भजन[1]

विषय से विरक्त होकर, प्रभु को अपने अनुराग का केन्द्र बना देना, भक्ति का दूसरा और उच्चतर साधन है। गीता में स्वयं कृष्ण ने कहा है—हे अर्जुन जो पुरुष मुझमें अनन्य चित्त होकर नित्य-निरन्तर मुझको स्मरण करता है उस निरन्तर मुझमें लगे हुए योगी के लिए मैं सुलभ हूँ।[2] वस्तुतः विषय-त्याग वैराग्य है भगवद् भजन अभ्यास। त्याग अभावात्मक क्रिया है और भजन भावात्मक। भजन के बिना त्याग चिरन्तन नहीं हो सकता, त्याग से रिक्त मन को अगर प्रभु-प्रेम नहीं भाता तो फिर वह विषयों से भर जाता है। मीराँ ने प्रेमाभक्ति की साधना में 'भजन' को काफी महत्त्व दिया है। उन्होंने कहा भी है—

'भज मन चरण कँवल अविनाशी।[3]

(३) लोक-समाज में भी भगवद्-गुण श्रवण और कीर्तन[4]

प्रेमाभक्ति विषय-विरोधी होते हुए भी लोक-समाज विरोधी नहीं है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि 'जिस वाणी से अधोक्षज भगवान् की कथा न कही जाकर विषयों की बातें कही जाती हैं वह वाणी मृषा और असद् है।[5] भगवान् ने स्वयं कहा है कि—'जो लोग मुझमें मन लगाकर श्रद्धा और आदर के साथ मेरी नाम-गुण-लीला-कथा को सुनते गाते और उसका अनुमोदन करते हैं उनकी मुझमें अनन्य भक्ति हो जाती है।[6]

---

(१) अव्यावृतभजनात्—नारद भक्तिसूत्र ३६

(२) अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः (८।१४)

(३) डाकोर, पद २

(४) लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनात्—सूत्र ३७

(५) मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा
न कथ्यते यद्भगवानधोक्षजः। —१२ १२ ४८

(६) तामें शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृता
मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि॥
—श्रीमद्भागवत ११ २६,२९

मीराँ ने लोक-समाज का बहिष्कार नहीं किया, लोक की भक्ति-विरोधी प्रवृत्तियों का ही तिरस्कार किया था। भक्तों से वे पिता जानकर मिलती थीं, वृन्दावन के रसखेतों में घूमीं और घुंघरू बाँधकर नाची थीं। अपने गीतों में भी उन्होंने गोविन्द का गुण ही गाया है—

'माई म्हा गोविन्द गुण गास्याँ।'[1]

(४) मुख्यतया महापुरुषों की कृपा अथवा भगवत्कृपा :

अन्य साधनों का महत्त्व है परन्तु मुख्य रूप से महत्कृपा (भगवत्सम्बन्धी प्रेमीगण) की कृपा से प्रेमरूपा भक्ति उत्पन्न होती है। इस कृपा का प्रारम्भ सत्संग से (समस्त संगों का निवारण करने वाले सत्संग से) होता है। श्रीमद्भागवत् में इसे योग, ज्ञान, धर्म, वेदाध्ययन, तप, त्याग, व्रत, यज्ञ, तीर्थ, यम और नियम—इन सबसे अधिक वशीभूत करने वाला बताया गया है।[2]

'नारद भक्ति सूत्र' में यह भी कहा गया है—'महापुरुषों का संग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है। उसकी कृपा से ही संग भी मिलता है'[3] क्योंकि भगवान में और उनके भक्त में भेद का अभाव है। अतएव उस (महत्संग) की ही साधना का उपदेश आदेश देवर्षि नारद ने दिया है।

सत्संग मीराँ के जीवन की प्रमुख विशेषता थी। इसी के कारण भौतिक संघर्ष उनके जीवन में आए। अगर वे 'साधु-संगति' से दूर महलों की दीवारों की बंदिनी बनकर भगवद् भजन करतीं तो राणा का सामंतीय रोष उन्हें अपराधी घोषित करके दण्डित करने का कुचक्र न रचता। मीराँ इस विषय में उदार भी बहुत थीं, उनमें साम्प्रदायिकता नाममात्र को नहीं थी। हितहरिवंश, कृष्णदास और जीवगोस्वामी विभिन्न संप्रदाय के लोग थे पर मीराँ को साम्प्रदायिकता से काम नहीं था, वे इस बात को भूलकर सबसे मिलती थीं। साधु संगति की बात उन्होंने अपने पदों में भी कही है—

---

(१) मीराँ पद १०१

(२) श्रीमद्भागवत् ११ १२ १-२

(३) महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च। लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव।

—सूत्र ३९,४०

(४) तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम् तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्।

—सूत्र ४२ ४१

(क) माया छोड़्या बंधा छोड़्या छयो सूतो ।
साधा संग बैठ बैठ लोक लाज खूयो ।[1]

(ख) *साधा जन री सिवो ठाणाँ करमरा कुगत कमावाँ*
साध संगत मा भूल मा जाणा मूरख जनम गुमावाँ ।[2]

प्रेमरूपा भक्ति के प्रधान सहायक

भक्तिसूत्र में साधनों से सम्बन्धित कुछ बातों को प्रसंग से दुबारा कहा गया है। उन्हें भी साधन के अन्तर्गत ही गिनना चाहिए, परन्तु उनकी प्रमुखता न होने के कारण प्रायः भक्ति के सहायक के रूप में उनकी व्याख्या की गई है। ये निम्नांकित हैं[3]—

(१) भक्ति-शास्त्र का मनन
(२) भक्ति उद्बोधक कर्म
(३) सुख-दुःख इच्छा लाभ आदि का पूर्ण त्याग हो जाय उस काल की प्रतीक्षा में अर्ध क्षण भी व्यर्थ न बिताना
(४) अहिंसा सत्य शौच दया आस्तिकता आदि आचरणीय सदाचारों का भलीभाँति पालन
(५) सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्त होकर भगवान को ही भजना

अन्तराय बाधा और निषेध

महर्षि नारद ने दुस्संग सर्वथैव त्याज्य बताया है क्योंकि वह काम क्रोध मोह, स्मृतिभ्रंश बुद्धिनाश एवं सर्वनाश का कारण है। ये काम क्रोधादि पहले तरंग की तरह (क्षुद्र आकार में) आते हैं, फिर समुद्र का आकार धारण कर लेते हैं। भक्ति के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा दुस्संग ही है।[4] इसके अतिरिक्त कुछ निषेध और हैं जैसे—

(१) लोक-हानि की चिन्ता का
(२) भक्ति में सिद्धि मिलने से पूर्व लोक-व्यवहार का

---

(१) डाकोर, पद १
(२) वही पद ५५
(३) सूत्र ७६ से ७९ तक
(४) सूत्र ४३ ४४ ४५
(५) सूत्र ६१, ६२ ६३, ६४

(३) स्त्री धन आत्तिक और मीरों के चरित्र सुनने का
(४) अभिमान दंभ आदि का।

मीरां के जीवन में उक्त बातों में स किसनी का निर्वाह किस सीमा तक था यह तो नहीं कहा जा सकता। शास्त्र का ज्ञान उन्हें था इसका प्रमाण जीवगोस्वामी के प्रण छुड़ाने वाली घटना है। प्रेम-लक्षणा भक्ति में जीव और परमात्मा का क्या सम्बन्ध है कम-से-कम यह मीरां भलीभांति समझ चुकी थीं और समझा सकती थीं। श्रीमद्भागवत के एक दो स्थलों के भाव भी उनकी कविता में ज्यों-के-त्यों उतर आ ये हैं इससे भी उनका शास्त्र ज्ञान व्यक्त हुआ है। शक्ति के उद्बोधक कर्मों से मीरां का जीवन भरा पड़ा था। कुसंग का विनाश की बाधा के रूप में उन्होंने अपने काव्य में ही चित्रित किया है। सुसंग मीरां की दृष्टि में साधु-संग था।

लोक-व्यवहार भी मीरां के लिए भगवद् नाते ही था। सांसारिक हिताहित उनके सम्मुख अपहीन बात रह गई थी। वैभव और उपभोग दंभ और अभिमान का प्रश्न ही उन्होंने नहीं एन दिया था। राज-परिवार के सुख के त्यागने और शिष्य न मुड़ने वाले मत्त में उपभोग की अकामता स्वयं सिद्ध है।

पूर्व प्रचलित विचार-धाराएँ और मीरां की साधना

कोई व्यक्ति सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव से अछूता नहीं रह सकता। यह दूसरी बात है कि वह उस प्रभाव का पूर्णतः या अंशतः ग्रहण करे या उसके फलस्वरूप तदनुकूल परिवर्तन आने के बजाय उनमें विरोध की शक्ति जागृत हो पर सामाजिक परिस्थितियाँ प्रभावित अवश्य करती हैं। मीरां के जीवन-दर्शन पर भी उनके युग में वर्तमान उन विचार-धाराओं ने जिनके संपर्क में वे आई थीं प्रभाव डाला होगा इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं है।

मीरां का जन्म एक सामंत परिवार में हुआ था जो एक प्रकार से युद्ध की ज्वालाओं में हँसकर भिड़ने में ही जीवन का महत्व मानता था पर उनके ऊपर छाया एक ऐसे व्यक्ति (दूदाजी) की रही जो तलवार की कला का ही साधक नहीं था धर्म का भी अनुचर था युद्ध-वीरता का स्वामी होते

(१) देखिए, मीरां-पद ६४ तथा श्रीमद्भागवत् ६ १२ २२

हुए भी जो भारतीय संस्कृति का सेवक था। अतः अपने शैशव से ही मीराँ को साधु-संतों और विभिन्न विचार-धाराओं के धर्म प्राण व्यक्तियों के सम्पर्क का सौभाग्य मिला था।

मीराँ के युग में प्रचलित प्रमुख दर्शन निम्नांकित थे—

[क] भारतीय दर्शन

- (१) निगममूलक दर्शन— (वैदिक प्रमाण पर आधारित)
  - अद्वैतवाद ——
    - शांकर अद्वैत
    - विशिष्टाद्वैत
    - शुद्धाद्वैत
  - द्वैतवाद
  - द्वैताद्वैतवाद
  - अचिन्त्य भेदाभेदवाद
- (२) वैदिक प्रमाण को अस्वीकार करके चलने वाले मत—(१) नाथ मत
  (२) संत मत

[ख] विदेशी दर्शन

- (१) सूफी मत
- (२) इस्लाम

टिप्पणी हितहरिवंश के राधावल्लभ-संप्रदाय और हरिदास के टट्टी संप्रदाय की दर्शन-पद्धति का उद्भव मीराँ के समय मे ही हुआ था।

वैदिक प्रमाण पर आधारित भारतीय दर्शन और मीराँ

भारत का दीर्घजीवी प्रथमतम प्राचीन दर्शन (वेदान्त दर्शन) अपने जन्म के लिये वैदिक साहित्य का आभारी है। मीमांसा के दूसरे विभाग उत्तर मीमांसा में उपनिषदो द्वारा स्थापित यही आत्मवादी दर्शन है। अतः वेदान्त का दूसरा नाम 'उत्तर मीमांसा' भी है।

वेदान्त दर्शन उपनिषद् के ज्ञान पर आधारित है। यह 'ज्ञान' क्या है इसके निर्णय के अनेक प्रयास इस देश में हुए और प्रत्येक प्रमुख प्रयास ने एक स्वतंत्र दार्शनिक संप्रदाय को एक विचार-विकास को जन्म दिया। शंकराद्वैतवाद विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद आदि इसी का फल है। इनमें शंकराचार्य का प्रयास इतना सफल सिद्ध हुआ उनके अद्वैत वेदान्त की इतनी

अधिक प्रतिष्ठा हुई कि 'वेदान्त' शब्द से प्राय: 'शांकर वेदान्त' का अर्थ ग्रहण किया जाने लगा। परवर्ती कोई भी दर्शन ऐसा नहीं हुआ जो शांकर वेदान्त से अप्रभावित रहा हो। भक्तिवादी दर्शनों में यह प्रभाव अनुकरण नहीं, विरोध की प्रेरणा के रूप में था।

(१) शांकराद्वैतवाद :

शंकर के सिद्धांत के मुख्य स्तम्भ हैं—अनिर्वचनीय ख्यातिवाद मायावाद विवर्तवाद और ज्ञानवाद। शंकर के अनुसार केवल ब्रह्म है (सत् है) और सब मिथ्या है—वस्तुत: 'नहीं है'। यह दृश्य वैभिन्य भ्रम या अज्ञान है। इस दृष्टि से भक्त और भगवान का भेद और इस भेद पर आधारित भक्ति, सब भ्रम है, असत् है।

शंकर ने ब्रह्म के स्वरूप लक्षण (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म) के साथ ही उसके तटस्थ लक्षण की भी चर्चा की है जिसके अनुसार ब्रह्म जगत्सष्टा जगत् संहारक सगुण सर्वेश्वर आदि विशेषणों से युक्त कहा जा सकता है। ब्रह्म का यह रूप भक्ति का आधार हो सकता था परन्तु शंकर ने साथ में यह भी कहा कि यह तटस्थ लक्षण केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही ठीक है, पारमार्थिक दृष्टि से नहीं। ब्रह्म के ये गुण औपाधिक गुण हैं, अर्थात् माया कृत हैं। माया द्वारा आच्छन्न ब्रह्मको ही ईश्वर, सगुण ब्रह्म या अपर ब्रह्म कहते हैं।[१] इस अवस्था में पारमार्थिक दृष्टि से असत् मायाकृत गुणों से (मायावच्छिन्न) ब्रह्म को भजने की कामना कौन कर सकता है? अत: शंकर का 'ब्रह्मवाद' भक्ति की चर्चा करके भी मूलत: भक्ति का विरोधी रहा और आगे चलकर समस्त भक्तिवादी संप्रदायों ने शंकर-मत का घोर विरोध किया। इसका प्रभाव अगर किसी पर रहा तो समाज के उपरले स्तर के बुद्धिजीवी वर्ग पर, जिनकी आस्था को उसने बौद्ध धर्म के मुक्तिज्ञान से मुक्त कर दिया। मीरां जैसी भक्तिप्राण नारी पर जो मोर-मुकुट-पीताम्बरधारी गिरिधर पर तन-मन वार चुकी थी शंकर के प्रभाव की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

(२) विशिष्टाद्वैतवाद :

शांकराद्वैत के पश्चात् सबसे अधिक प्रचार हुआ श्रीवैष्णव संप्रदाय के प्रधानाचार्य रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद का। रामानुज-शिष्य-परम्परा की

(१) भारतीय दर्शन डॉ० उमेश मिश्र पृष्ठ ३५६

१३वीं पीढ़ी में सुप्रसिद्ध स्वामी रामानन्द हुए।[1] उत्तर में भक्ति को लाने का श्रेय इन्हीं को दिया जाता है।[2] रामानन्द ने रामानुज द्वारा प्रचारित भक्ति-पद्धति में सामान्य अन्तर कर लिया था। इसी परिवर्तित रूप ने उत्तर भारत के सगुण और निर्गुण भक्तों को प्रभावित और प्रेरित किया था।

मीरांबाई के रामानन्दी संप्रदाय के संतों के सम्पर्क में आने के प्रमाण हैं। उनके पुरोहित वैरागी (रामदास के पिता) स्वयं रामानन्दी कृष्णदास पयहारी के शिष्य थे।

रामानुज के अनुसार तीन तत्त्व हैं—ईश्वर, चित् तथा अचित्। मीरां के आराध्य विशिष्टाद्वैतवाद के ईश्वर के समान कल्याण-गुणों के आकर, अनन्त ज्ञान-आनन्द-स्वरूप और सगुण (अर्थात् समस्त सुन्दर गुणों से विभूषित) हैं। उसके सम्बन्ध में सजातीय विजातीय या स्वगत भेदों की चर्चा मीरां में कहीं नहीं है। जीवन की जिस चरम स्थिति का चित्र उन्होंने खींचा है उससे परमात्मा के अन्तर्गत विभिन्न मुक्त आत्माओं की स्थिति के उल्लेख से ईश्वर में स्वगत भेद होने का संकेत खोजा जा सकता है, परन्तु वह अत्यन्त अस्पष्ट है।[3] ईश्वर के विभिन्न रूपों में उनकी श्रद्धा प्रगट रूप से 'अर्चावतार' 'अन्तर्यामी' तथा 'पर' (श्रीवासुदेव-स्वरूप) स्वरूपों पर ही है। 'विभव' और 'व्यूह' स्वरूपों का संकेत नहीं मिलता।

जीव के तात्त्विक विवेचन के अभाव में भी मीरां की यह मान्यता स्पष्ट है कि ईश्वर और जीव में भेद है। कृष्ण और गोपी के मिलन में भी कृष्णत्व और गोपीत्व का अभाव नहीं होता। अगम के देश में भी मुक्त आत्माएं अपने व्यक्तित्व को समाप्त नहीं करतीं। रामानुज के अचित् तत्त्व की (विशेषकर मिश्रसत्त्व अर्थात् माया की) मीरां ने विशेष उपेक्षा कर दी है। रामानन्दी सम्प्रदाय की साधना पद्धति से मीरां की साधना कई बातों में भिन्न थी। उन्होंने न 'रहस्यत्रय' के रूप में प्रचलित मूलमन्त्र द्वयमन्त्र और

---

(१) रामार्चन-पद्धति श्लोक १-६। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तीसरी-चौथी पीढ़ी लिखा है
(२) भक्ती द्राविड़ ऊपजी लाए रामानन्द
परगट किया कबीर ने सप्तदीप नवखण्ड।
(३) भरी भेमरा होय हुय केला करां।
—काफी पद ७१

परममन्त्र को अपनाया और न भवसागर से तारने वाले 'रा रं नाम मम' का जप किया। उनका तो एकमात्र मन्त्र 'गिरधर नागर' था। मीराँ के पंच संस्कार होने का भी कोई प्रमाण नहीं है।

वैष्णव-मताब्ज-भास्कर में मान्य भी स्मृति-भेद हैं जिनकी प्रेरणा से भक्त उनका यश-कीर्तन गाता है उनके चरणों की वन्दना करता है विधि विधान से उनकी पूजा करता है, उनकी दासता करता है सखा भाव रखता है, और अपने आपको सर्वथा उनके अर्पण कर देता है।[1] मीराँ की साधना में प्रायः सभी बातें हैं। बस वे अपने आराध्य को सखा नहीं प्रियतम मानती हैं।

रामानन्दी सम्प्रदाय में प्रपत्ति का विशेष महत्व है। वस्तुतः यह मार्ग ही प्रपत्ति का मार्ग है। अपने आपको भगवान की शरण में छोड़ देना ही प्रपत्ति है प्रपत्ति की विशेषता न्यास है। न्यास के छः अंग हैं—भगवान के प्रति अनुकूलता का संकल्प प्रतिकूलता का वर्जन; भगवान सदा रक्षा करेंगे इस बात में अनन्य विश्वास करना भगवान् का वरण और कार्पण्य। मीराँ के जीवन में यह प्रपत्ति पूर्ण रूप से भासित थी। वह एक तरह से बिना शर्त समर्पण का उत्कृष्ट उदाहरण थीं। गिरिधर के अतिरिक्त किसी अन्य के वरण का उन्होंने जीवन भर प्रतिकार किया और डंके की चोट यही कहा—

म्हारों री गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।

माध्व-मत या द्वैतवाद :

रामानुज की मृत्यु के १०० वर्षों के भीतर दक्षिण में एक मत जन्मा जिसे अपने प्रतिष्ठापक आचार्य मध्व के नाम पर 'माध्वमत' की संज्ञा मिली। इसे 'ब्रह्म सम्प्रदाय' भी कहा जाता है। मध्व दार्शनिक क्षेत्र में द्वैतवाद के प्रतिष्ठापक और धार्मिक साधना के क्षेत्र में भक्ति के समर्थक थे।

उदयपुर के पुजारी परिवार की किंवदंती के अनुसार मीराँ माध्व मतानुयायी माधवेन्द्र पुरी के सम्पर्क में आई थीं[2] सम्भावना इस बात की है

---

(१) रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ, पृष्ठ ११

(२) बलदेव विद्याभूषण रचित 'प्रमेय रत्नावली' में उद्धृत माध्व मत की गुरु-परंपरा इस प्रकार है—

(१) मध्व (२) पद्मनाभ (३) नरहरि (४) माधव (५) अक्षोभ्य (६) जयतीर्थ (७) ज्ञानसिंधु (८) दयानिधि (९) विद्यानिधि (१०) राजेन्द्र (११) जयधर्म (१२) पुरुषोत्तम (१३) ब्रह्मण्य (१४) व्यास तीर्थ (१५) लक्ष्मीपति (१६) माधवेन्द्र पुरी।

कि वे माधवेन्द्र पुरी नहीं उनके शिष्य माधव के सम्पर्क में आई हों।

माध्व मत द्वारा मान्य दश पदार्थ—द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष विशिष्ट, अंशी शक्ति सादृश्य और अभाव का उल्लेख मीराँ में कहीं नहीं है। उन्होंने माध्व की तरह सगुण ब्रह्म को स्वीकार किया है।

माध्व ने पाँच प्रकार के भेद शाश्वत माने हैं—[1]

(१) ईश्वर और जीव का भेद—ईश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान जीव अल्पज्ञ अल्प-शक्तिमान है।

(२) ईश्वर व जड़ जगत्—ईश्वर चेतन है सृष्टा है जगत जड़ है, सृष्टि है।

(३) जीव व जगत—जीव चेतन जगत जड़

(४) जीव व जीव—अनुभव से भेद मोक्षावस्था में भेद

(५) जड़ और जड़—परस्पर-भेद का भेद

मीराँ के अनुसार भी गिरिधर और व्रज गिरिधर की गोपियाँ भिन्न हैं। 'चहर की बाजी' के समान मिटनेवाला यह संसार भी 'अविनाशी कृष्ण' से भिन्न है,[2] मगर चेतन और अचेतन का भेद मीराँ के यहाँ नहीं है, है भी तो कृष्ण की बाँसुरी के साथ जड़ और चेतन झूम उठते हैं और यह भेद निरन्तर और शाश्वत नहीं रहता।[3] मीराँ के लिए जीव सब एक-से हैं उनमें पुरुष और नारी का भी भेद न ।[4] इस तरह मीराँ ईश्वर और जगत् के भेद को मोटे तौर पर मानती हैं जीव-जीव जीव-जगत और जड़ जड़ के भेद को उन्होंने स्वीकार नहीं किया है।

माध्व मतानुसार मोक्ष के जो प्रकार माने गए हैं[5] उनमें से मीराँ ने सदैव ध्यान द्वारा प्रियतम के सामीप्य का प्रयत्न किया और अन्त में जैसी

---

(१) भारतीय दर्शन डॉ० बलदेव उपाध्याय पृष्ठ ५२१

(२) डाकोर, पद २

(३) विद्या-सभा सं० १९९५, पद १

(४) मीराँ-जीवगोस्वामी-वार्तालाप यही प्रबन्ध पृष्ठ २००

(५) (१) कर्मक्षय (२) उत्क्रान्तिलय (३) अचिरादिमार्ग (४) भोग

सालोक्य	सामीप्य	सारूप्य	सायुज्य

कि लोक की मान्यता है उन्होंने सायुज्य प्राप्त किया। माध्व ने विष्णु की उपासना पर ज़ोर दिया। विष्णु के अवतारों में राम और कृष्ण को उन्होंने लिया है परन्तु गोपाल रूप की उपासना का उल्लेख उन्होंने नहीं किया। गोपाल की उपासना उनके यहाँ नहीं है, राधा का नाम भी यहाँ नहीं आया। इसके विरुद्ध मीराँ गिरिधर गोपाल के प्रणय-पंथ की ही एकनिष्ठ पथिक थीं।

माधवेन्द्रपुरी की गोपाल-भक्ति से साम्य :

माध्व मतानुयायी आचार्यों में माधवेन्द्रपुरी का स्थान अद्वितीय है। वे वस्तुतः माध्व-चैतन्य-सम्प्रदायों की संधि के आचार्य थे। मीराँ का उनसे सम्पर्क हुआ हो या नहीं मगर मीराँ की भक्ति-पद्धति पर माधवेन्द्रपुरी का प्रभाव प्रतीत होता है। सर्व प्रथम माधवेन्द्रपुरी ही ने माध्व सम्प्रदाय में गोपाल की पूजा का प्रारम्भ किया। उनकी गोपाल की मूर्ति की प्राप्ति का लेकर कई अलौकिक कथाएँ प्रचलित हैं जिनका सारांश यह है कि माधवेन्द्रपुरी जी का स्वप्न के भीतर तालाब में गोपाल की मूर्ति मिली वृन्दावन में उन्होंने उस मूर्ति की प्रतिष्ठा की और गोपाल भक्ति का प्रचार किया। माधवेन्द्र पुरी मूलतः विष्णु भक्त थे दार्शनिक नहीं थे। कृष्ण उनके हृदय पर ऐसे छा गए थे कि वे बंगाल की श्याम प्रस्तर की श्रीकृष्ण मूर्तियों को देखकर ध्यान-मग्न हो जाते थे। चैतन्य-पूर्व युग के वैष्णवों में माधवेन्द्र पुरी ने वृन्दावन की आध्यात्मिक महिमा जागृत करने में अथक परिश्रम किया।

मीराँ के आराध्य भी गिरिधर गोपाल थे उन्हीं की मोहनी पर मीराँ ने अपना तन-मन-प्राण वार दिया था। दर्शन की चिन्ता को त्यागकर ध्यान के एकमात्र लक्ष्य उनके दृष्टि पथ पर उतर आते थे और उनके श्वासों में बस गए थे।

इस प्रकार मीराँ पर माध्व मत का विशेष प्रभाव नहीं था। प्रभाव था माधवेन्द्र पुरी द्वारा प्रतिष्ठित 'गोपाल' की अनन्य प्रेमलक्षणा भक्ति का।

चैतन्य-मत (अचिंत्य भेदाभेदवाद)

चैतन्य-सम्प्रदाय के साथ में मीराँ का मिलना प्रसिद्ध है परन्तु मीराँ द्वारा जीवगोस्वामी के प्रति कुछ कहा गया था परन्तु व्रज में घटी उससे ज्ञात होता है कि उस समय व्रजस्थ चैतन्य संप्रदायी गोस्वामियों से मीराँ को सौजन्य विषय नहीं था और उन्होंने मगर उनसे सम्पर्क में आकर कुछ लिए। था तो

कठोर ब्रह्मचर्य के अहंकार में बँधे हुए श्रीजगोस्वामी को सहज जीवन की सच्चा दी थी।

महाप्रभु चैतन्य ने स्वयं माधवेन्द्र जी के शिष्य केशव भारती से संवत् १५६६ में सन्यास की दीक्षा ली थी। उनके मत का प्रचार अद्वैताचार्य और नित्यानन्द के द्वारा बंगाल से प्रारम्भ हुआ था। इस मत की दार्शनिक रूपरेखा को अन्तिम रूप (विधि-विधान की व्यवस्था भक्ति-शास्त्र आदि) बाद में वृन्दावन में स्थित छः गोस्वामियों द्वारा प्राप्त हुआ। अतः जिस समय मीराँ को गिरिधर गोपाल से प्रेम हुआ और उनके मन में गोपाल भक्ति जगी उस समय चैतन्य-मत का दार्शनिक रूप पूर्णतः व्यवस्थित नहीं हुआ था। हाँ मीराँ के भक्ति जीवन के प्रस्फुटन में ही चैतन्य की 'भक्ति' के सामान्य रूप का विशेष प्रचार हो गया था। अतः मीराँ पर अचिन्त्यभेदाभेदवाद की दार्शनिक चिन्ता का नहीं सामान्य चैतन्य भक्ति के आंदोलन का प्रभाव हो सकता है।

चैतन्य मत का सारांश यह है—"व्रज-स्वामी नन्द के पुत्र श्रीकृष्ण ही आराधनीय भगवान हैं। उनका धाम है वृन्दावन। व्रज की गोपिकाओं के द्वारा की गई रमणीय उपासना ही साधकों के लिए माननीय प्रामाणिक उपासना है। श्रीमद्भागवत् निर्मल प्रमाण-शास्त्र है। प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है।"[१]

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि 'गोपिन की प्रीति रीति' निभाने वाली और कान्तभाव से गिरिधर को भजने वाली प्रेम-वियोगिनी मीराँ के भक्तिभाव का ऊपर वर्णित भाव के साथ कितना साम्य है। दार्शनिकों द्वारा निर्णीत चार पुरुषार्थ प्रसिद्ध हैं—अर्थ धर्म काम और मोक्ष। चैतन्य ने पाँचवें पुरुषार्थ के रूप में 'प्रेम' की प्रतिष्ठा की। मीराँ की समस्त भक्ति वस्तुतः इसी पुरुषार्थ का प्रतिरूप है। गौड़ीय वैष्णवों ने सर्व प्रथम भक्ति रस की अवतारणा की। इस रस की साधिका का दृष्टान्त है, गोपिका।

(१) "आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
शास्त्रं भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्
श्री चैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो न परः"
—भागवत् संप्रदाय पृष्ठ ५१६ से उद्धृत

गोपी-भाव अपने चरम रूप में 'महा भाव' या 'राधा-भाव' कहलाता है। मीराँ की साधना को देखते हुए भाव अगर इसे 'मीराँ-भाव' कह दें तो विशेष अतिशयोक्ति नहीं होगी।

निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैतवाद

डॉ० भंडारकर ने गुरु परम्परा की पीढ़ियों के आधार पर इनका समय ई० सन् ११६२ के लगभग माना है।[1] इनकी गुरु-परंपरा में ब्रजभाषा-कवि श्री भट्ट के अंतरंग तथा प्रधान शिष्य हरिव्यासजी ने निंबार्क संप्रदाय के अन्तर्गत 'रसिक सम्प्रदाय' की नींव डाली। इन दोनों का आयुष्य काल विवाद का विषय है। अतः इनसे मीराँ का सम्पर्क भी अनिश्चित है।

द्वैताद्वैतवाद की 'पदार्थ मीमांसा' अपनी दार्शनिक जटिलता के साथ मीराँ के काव्य में कहीं लक्षित नहीं है। केवल निंबार्क की साधना-पद्धति और मीराँ की आराधना में मोटे रूप में कुछ साम्य मिलता है। न निंबार्क के "ज्ञानघन स्वयं ज्योति' तथा 'ज्ञानमय जीव' की बात मीराँ ने की है और न प्राकृत, अप्राकृत और काल—इन तीन प्रकार के अचित् (चेतनाहीन पदार्थ) का विवरण कहीं उनके काव्य में है। बस अविद्यास्मितादि समस्त प्राकृत दोषों से रहित और अशेष ज्ञान बल आदि कल्याण-गुणों का निधान[2] सगुण ब्रह्म जो भक्तों के लिए पुरुषोत्तम नारायण कृष्ण है मीराँ के गिरिधर से कुछ मिलता है। निंबार्क मत के अनुसार भक्तों के लिए भगवान श्रीकृष्ण की चरण-सेवा छोड़कर अन्य उपाय नहीं है।[3] कृष्ण ही परम देव हैं। कृष्ण की प्राप्ति का साधन है भक्ति जो शान्त दास्य सख्य वात्सल्य और उज्ज्वल इन पाँच भावों से पूर्ण है। उज्ज्वल रस के भक्त हैं, गोप और राधा। मीराँ की भक्ति उक्त भक्ति-पद्धति से इस अर्थ में मिलती है कि मीराँ स्वयं उज्ज्वल-रस की भक्त थीं और एकमात्र कृष्ण उनके उपास्य हैं। इस संप्रदाय में 'प्रेम लक्षणा अनुरागात्मिका पराभक्ति' को साधना-पद्धति में श्रेष्ठतम स्थान दिया गया

---

(१) वैष्णविज्म शैविज्म एंड अदर माइनर सैक्ट्स पृष्ठ ८७

(२) दश श्लोकी श्लोक ४

(३) वही श्लोक ८

(४) दशश्लोकी-टीका हरिव्यास पृष्ठ ११

है।'[1] संप्रदाय के आचार्यों ने उक्त भक्ति का जो विश्लेषण किया है, मीराँ की भक्ति उसका उदाहरण जैसी प्रतीत होती है। मगर निम्बार्क मत में कृष्ण ही सब कुछ नहीं हैं। राधा को निम्बार्क ने 'अनुरूप सौभगा' माना है वे 'कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति हैं। कृष्ण के समान ही आराध्य हैं। मीराँ की आराधना में राधा का रूप प्रमुख नहीं है। कृष्ण गोपियों और गोपीश्रेष्ठ राधा के भी माधुर्य भाव के उसी प्रकार के आलंबन हैं जैसे कि स्वयं मीराँ के। वस्तुतः इस विरहिन वियोगिनी की व्यथा राधा से किसी प्रकार कम नहीं है और इसके मानसिक प्रत्यक्ष का विलक्षण रस भी राधा-कृष्ण के संयोग-सुख से कम कमनीय नहीं है। मीराँ का आत्मीय प्रियतम कृष्ण के सामने आत्म समर्पण की अनुभूति को सहज में अपना लेता है उसे 'राधा' की कल्पना की आवश्यकता नहीं रहती।

वैदिक प्रमाण को अस्वीकार करके चलने वाली दर्शन-पद्धतियाँ :

वैदिक प्रमाण में विश्वास न करने वाली वा प्रमुख विचार-धाराएँ भारत में जन्मी वे थीं चार्वाक जैन और बौद्ध दर्शन की धाराएँ। चार्वाक और जैन-दर्शन भागवत धर्म को प्रभावित नहीं कर सके पर वह बौद्धों से पूर्णतः अछूता नहीं रहा। इन दोनों की क्रिया-प्रतिक्रिया बहुत समय तक साथ-साथ चलती रही। ई० पूर्व पाँचवीं शताब्दी में जन्मा बौद्ध मत (बुद्ध का निर्वाण ई० पूर्व ४८३ में हुआ था) पहली सदी तक आते-आते महायान और हीनयान दो धाराओं में बँट गया। हीनयान चिन्तन और साधना की पूर्व परम्परा को निर्ममतापूर्वक अक्षुण्ण रखने के प्रयास में विकासहीन हो गया और महायान प्रचार की उतावली में लोक-रुचि के आकर्षक तत्वों को आत्मसात् करने में स्वयं बदलता रहा। यही महायान बाद में 'मंत्र चमत्कार की सिद्धि' के चक्कर में पड़कर मंत्रयान बना और जब मंत्रयान में मद्य और मैथुन का प्रवेश हुआ तो वही वज्रयान के रूप में (ई० ८०० से ११७५ तक) सामने आया। वज्रयानी सिद्धों की विकृति जब चरम सीमा पर पहुँची तब

---

(१) 'रूपादि-विषयक-दर्शन-श्रुतिश्रवणादिप्रभृतिस्याभाविक भागवत्स्वरूप गुणादिविषयक-भागवतात्मवृत्तिर्मनोवृत्ति'—अर्थात् भगवान के रूप गुण आदि विषय में समग्र चित्त को व्याप्त कर लेनेवाली मनोवृत्ति उत्कृष्ट भक्ति है।'

—भागवत संप्रदाय, पृष्ठ ३४८

पैबाद्वैत मत के सयोग से उसने नवीन रूप धारण किया जिसे सिद्धमार्ग अवधूत मत या योग मार्ग के नाम से पुकारा गया। यही योग-मार्ग नाथ मत था।

नाथ-मत

मीराँ के सामने परवर्ती बौद्ध मत भी नहीं था। नाथ-मत की धारा भी सूख चुकी थी केवल उसके अवशेष थे। उसकी गूँजमात्र दूसरे साधन मार्गों (वारकरी निर्गुण सम्प्रदाय आदि) में थी। हिंदी में कुछ विद्वानों और विदुषियों का मत है कि मीराँ की साधना नाथ-मत के सिद्ध-योगी से सम्बन्ध रखती थी। इसका आधार मीराँ-छाप के व पद हैं जिनमें 'जोगी' या उसका 'जोग' किसी-न-किसी रूप में वर्तमान है। मीराँ-छाप के इस भाव के कतिपय पद तो प्रणामी सम्प्रदाय की मीराँबाई तथा अन्य संतों के हैं।

मीराँ-छाप के दो पदों में शिव-स्तुति प्राप्त होता है। इस अध्ययन की आधारभूत प्रतियों में वे पद नहीं हैं। वारकरी संप्रदाय की पोथियों में वे संगृहीत हैं, मगर भाषा और भावाभिव्यक्ति के आधार पर स्पष्ट है कि वे मीराँ की क्या मीराँ-युग की भी रचना नहीं हैं।

मीराँ ने वस्तुतः योग-मत का विरोध स्वयं अपने पदों में व्यक्त किया है। उन्होंने स्पष्टतः कहा है—

'भज मन चरण कंवल अविनासी

× × ×

कहा भयां थां भगवा पहर्यां घर तज भया सन्यासी

जोगी होयां जुगत ना जाणा उलट जनमरा फांसी।'[1]

मीराँ की प्रेमासक्ति उनके आराध्य का सगुण स्वरूप है वह सब योगियों की साधना पद्धति के प्रतिकूल पड़ता है। ब्रज और द्वारका का निवास रणछोड़जी चतुर्भुजजी तथा कंमश्याम के मंदिरों की पूजा जीवगोस्वामी हितहरिवंश आदि के संपर्क मीराँ के योग-मत से प्रभावित होने का समर्थन नहीं विरोध करते हैं।

मीराँ के पूर्व योग-मत का प्रभ व वैष्णव सम्प्रदायों में भी व्यापक थी। जयदेव [और रामानन्द की रचनाओं में योग-मत की प्रबल धारा के दर्शन

(१) डाकोर, पद २

होते हैं। महाराष्ट्र के महानुभाव और वारकरी तथा बंगाल के सहजिया संप्रदायों में योग-मत की साधना-पद्धति का प्रवेश था। रामानन्द के पश्चात् योग-मत का प्रभाव निर्गुणी संतों में रह गया। सगुण वैष्णव धर्म ने अपने को उससे पूर्णतः मुक्त कर लिया था। मीराँ के समय में उत्तर के कृष्णोपासक प्रेमी भक्तों में नाथ-संप्रदाय का प्रभाव तनिक भी नहीं रहा था। अतः मीराँ पर उसके प्रभाव की कल्पना निराधार है। वल्लभ संप्रदाय के लोग मीराँ के कठोर आलोचक थे। अगर मीराँ योग-मत के प्रभाव में होतीं तो वल्लभी उन्हें स्पष्टतः योगमार्गी कहकर फटकारते और वेद-विरोधी होने के आरोप लगा सकते थे। पर, यह नहीं हुआ क्योंकि मीराँ पर योगियों का प्रभाव नहीं था।

संत-मत और मीराँ :

संत-मत की कतिपय विशेषताओं की व्यंजना मीराँ के कई पदों में है। कुछ विद्वानों ने इसी आधार पर मीराँ पर संत-मत का गहरा रंग माना है।[1]

संत-मत का विकास योग-मत और वैष्णव-धर्म की मध्यवर्ती भूमि पर हुआ था। यह मत वस्तुतः विभिन्न साधनाओं के मिलन-बिन्दु पर जन्मा था। इसमें वैष्णवों की भक्ति सूफियों का प्रेम और नाथों की योग-साधना सब एक साथ मिल गए थे। अतः कतिपय बातें वैष्णव सगुण उपासकों और निर्गुणी संतों में उभयनिष्ठ थीं। संत प्रेम की साधना के पक्ष में थे कृष्ण-भक्त भी प्रेमाभक्ति (प्रेम) को श्रेष्ठतम साधना मानते थे। संतों का निर्गुण निराकार सत्ता है, जो प्रेममय होने के कारण सगुण तो है पर साकार नहीं है। भक्तों का सगुण आराध्य निर्गुण निराकार भी है। इस प्रकार साकार के सम्बन्ध में विरोधी होते हुए भी आराध्य के निर्गुण-निराकार रूप की स्थिति के सम्बन्ध में उनमें विशेष विरोध नहीं है (दार्शनिकों की सूक्ष्म व्याख्याओं में विरोध है सामान्यतः नहीं)। अतएव मीराँ और संत-मत के परस्पर सम्बन्ध की व्याख्या में दो भिन्न क्षेत्रों की चर्चा आवश्यक है—

(१) वह भाव-तत्व जो मीराँ तथा संतों में भक्ति-आंदोलन के फलस्वरूप उभयनिष्ठ है।

---

(१) मीराँ-स्मृति-ग्रंथ बंगल बोगरिए मीराँ संगुप्रसाद बहुगुणा पृष्ठ १९

(२) यह भावना जो मीराँ में संत-मत के प्रभाव से या प्रेरणा से जगी थी।

पहले क्षेत्र में विशेष उल्लेखनीय तत्व प्रेमतत्व है। आलवारों की भक्ति-परम्परा में प्रेमतत्व का विकास वैष्णव संप्रदायों में स्वतन्त्र रीति से हुआ संतों में यह प्रेम भाव वैष्णव-साधना और सूफी-प्रेम-पद्धति का मिश्रित रूप था (प्रेम भाव का स्वरूप सूफी था और आदर्श भारतीय) मीराँ तथा कबीर आदि के प्रेमोद्गारों में कहीं-कहीं विशेष सादृश्य दिखाई पड़ता है विशेषकर उन स्थलों पर जहाँ आराध्य का स्वरूप अनिर्दिष्ट है।

> सखी मेरी नींद नसांनी हो।
> पिय को पंथ निहारतां सब रैन बिहानी।
> सखियन मिलि सीख दई मन एक न मानी।
> बिन देख्यां कल ना परै जिय ऐसी ठानी।
> अंग छीन व्याकुल भई मुख पिय पिय बानी।
> अन्तर वेदन बिरह की वाहि पीर न जानी।
> ज्यों चातक घन कों रटै मछरी जिन पानी।
> मीराँ व्याकुल बिरहणी सुध बुध बिसरानी।[1]

मीराँ का उक्त कथन जैसे कबीर के इस सिद्धान्त-वाक्य का उदाहरण है—

> कबीर हँसणा दूर करि, करि रोवण सौं चित्त
> बिन रोया क्यूं पाइए, प्रेम पियारो मित्त[2]

पर वस्तुतः यह साम्य दो परम्पराओं के उभयनिष्ठ साधना तत्व के कारण है प्रभाव नहीं है।

कहीं-कहीं पर मीराँ पर संत-मत की भावना का प्रभाव भी है। वे कहती हैं—

> जाणां अगम वा देस काल देख्यां डरां।
> भरा प्रेम रा होज हंस केल्या करां।
> साधां संत रा संग ग्यान जुगतां करां।
> धरां सांवरो ध्यान चित्त उजली करां।
> सील घघरा बांध सीस तिरणां करां।

(१) नागरीदास पद ६

(२) कबीर ग्रंथावली बिरह की अंग पृष्ठ ९, दोहा २७

सायां ओस सिंगार धोण्या री रातड़ी ।
सांवलिया थूं प्रीत मोर थूं भौलड़ा ।[1]

यहाँ उनके 'अगम' लोक को देखकर संतों के उस लोक की ओर ध्यान चला जाता है, जिसे कबीर के शब्दों में यों कहा जा सकता है—

'अगम अगोचर गमि नहीं तहाँ जगमगै ज्योति'[2]

इसी प्रकार मीराँ का पद—

'म्हा गिरधर रंग राती ।
पंचरंग च ला पहेर्‍यां सखि म्हा झुरमट खेलण जाती ।,[3]

स्पष्टतः संतों की निर्गुण प्रेम-लीला से सादृश्य रखने वाले भाव की व्यंजना करता है। पर यह प्रभाव सामान्य है। इससे अधिक प्रभाव सूर पर नाथ और संत मत का है। इस प्रभाव का क्षेत्र लीला की अनुभूति तथा प्रेम का क्षेत्र है। कहीं-कहीं मीराँ अपने प्रियतम के साथ इतनी तन्मय हो जाती हैं कि उनकी सगुणता-निर्गुणता की चलना छूटकर एक सरस भावानुभूति में परिणत हो जाती है। इसके अतिरिक्त मीराँ पर न संतों के द्वैताद्वैत विलक्षण भावाभावविनिर्मुक्त त्रिगुणातीत अलख अगोचर ब्रह्म की भावना का प्रभाव है, न उनकी हठयोग की साधना का। न उन्होंने संतों की तरह वैदिक शब्द-प्रमाण की उपेक्षा की और न गुरु के 'अनिवार्य शब्द-बाण' की अपेक्षा।

विदेशी दर्शन : सूफी-मत :

मीराँ के समय में राजपूतों की राजनीति से ही नहीं, धर्म से भी इस्लामी ध्वज धारियों का विरोध चल रहा था उधर हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था अपनी रक्षा के लिए सतर्क हो रही थी। अतः मीराँ के गीतों में इस्लामी पैगंबरवादी एकेश्वरवाद का अप्रभाव अस्वाभाविक नहीं था। सूफियों का दर्शन भी उन दिनों विदेशी था पर सूफियों की भावना अपनी उदारता

---

(१) काशी पद ७१
(२) कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १२ साखी ४
(३) डाकोर, पद १०
(४) भारतीय साधना और सूर-साहित्य डॉ० मुंशीराम शर्मा पृष्ठ ६३–८९

और प्रेमशीलता के कारण भारतीय भावधारा और चिन्तन के साथ आत्मीयता स्थापित कर चुकी थी।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि मीरां के गीतों में सूफ़ी विचार-धारा से प्रेरणा या प्रभाव ग्रहण किया पर मीरां और सूफ़ियों के जीवन-दर्शन में केवल प्रेम-साधना (विशेषकर प्रेम विरह सौंदर्य) को लेकर थोड़ा-सा साम्य है। उनकी सरस साधना वस्तुतः उनकी अनुभूति के अतिरिक्त सरस भक्ति-आंदोलन के प्रभाव के फलस्वरूप थी जो आलवार युग में प्रारम्भ हो गया था और मीरां के समय कृष्ण-सम्प्रदाय ही नहीं रामावत संप्रदाय को भी प्रभावित करने लगा था। अतएव इस साम्य को साम्य के रूप में ही मानना चाहिए, प्रभाव रूप में नहीं।

सूफ़ी की साधना प्रेम की साधना है। उनके अनुसार दुनियां में जो कुछ है इश्क का जलवा है। मौत इश्क की बेहोशी है। जिन्दगी इश्क की होशियारी है। नेकी इश्क की कुरबत है। गुनाह इश्क से दूरी है। सूफ़ियों का यह प्रेम एकांतिक और भाव-विह्वल है। मीरां की साधना भी प्रणय की साधना है। उनका प्रेम भी एकान्तिक है। उस प्रेम में भी विह्वलता है, इसीलिए वे दरद की मारी दर-दर डोलती हैं। प्रेम के अतिरिक्त सूफ़ियों की 'प्रेम की पीर' मीरां की 'विरह-कथा' से कुछ मिलती है। मीरां कहती हैं—

'घायल री घूमां फिरां म्हारो दरद न जाण्या कोय।

और सूफ़ी जायसी ने कहा था—

"जा महं कठिन खड़ग की धारा। तेहि तें अधिक विरह के झारा।

प्रेम और सौंदर्य का चिर सम्बन्ध है इब्नुल अरबी के अनुसार प्रेम का मूल कारण ही सौंदर्य है।[1] मीरां भी 'मोहन के रूप पर लुभानी थीं सुन्दर बदन कमल दल लोचन बांकी चितवन उनके नयनों में समा गई थी।[2] प्रेमी का यह प्रेम व्यर्थ नहीं जाता। हाफ़िज़ ने कहा है कि क्या कोई ऐसा

---

(१) द मिस्टीकल फिलॉसफी ऑव मुहीयुद्दीन इब्नुल-अरबी ए० ई० एफी फीमी पृ० १७३

(२) डाकोर पद ३

भी प्रेमी हुआ है जिसके हाथ पर यार ने दया-दृष्टि न की हो।[1] मीराँ के विकल प्रणय-स्वर के साथ ही मीराँ के सुखसागर स्वामी श्याम उनके भवन में पधारते हैं और वे आनन्द मनाती हैं।[2]

मगर मीराँ की प्रेम साधना और सूफियों के 'इश्क' में अन्तर है। मीराँ सगुण के स्नेह से बस रही थीं। उन्हें रिझाने वाले उनके समर्पण को स्वीकार करनेवाले साकार गिरिधर थे। अतः उनकी प्रेमसाधना अधिक स्वाभाविक थी। सूफियों का प्रेम निर्गुण के प्रति होने के कारण अधिकांशतः या तो काल्पनिक रहा और दर्शन का आश्रय लेकर खड़ा हुआ या भौतिक माध्यम को लेकर स्थूलता के पास आ गया। मीराँ के प्रेम का आदर्श भारतीय है। पुरुष प्रियतम के रूप में कृष्ण की स्वीकृति उनके स्वभाव के अनुकूल ही नहीं भारतीय भक्ति-दर्शन के अनुकूल भी थी। सूफी-मत के साधन-सम्बन्धी विवरणों का संकेत भी कहीं मीराँ में नहीं है।

निष्कर्ष :

(१) मीराँ पर प्रभाव प्रमुखतः वैष्णव-दर्शन का था। इस प्रभाव का क्षेत्र भी अधिकांशतः भक्ति-पद्धति थी। ब्रह्म-जीव-जगत-सम्बन्धी विवेचनों की चिन्ता मीराँ ने नहीं की थी।

(२) संत-मत के प्रभाव की एक क्षीण धारा भी मीराँ के काव्य में है पर यह धारा क्षीण ही नहीं गौण भी है। सूफियों की प्रेम-भावना से सामान्य सादृश्य होने पर भी सूफी-भाव मीराँ में नहीं है न साधना की दृष्टि से न साधना के आदर्श की दृष्टि से।

(३) मीराँ पर विशेष प्रभाव रामानन्द की प्रपत्ति, चैतन्य की माधुर्यभक्ति तथा माधवेन्द्रपुरी की गोपाल-पूजा का है।

---

(१) ईरान के सूफी कवि बाँके बिहारी तथा कन्हैयालाल पृष्ठ ११८

(२) डाकोर, पद ४४

भक्ति का उद्भव और विकास

भक्ति के उद्भव और विकास के सम्बन्ध में सामान्यतः चार मत हैं —

(१) पहला मत है हॉपकिन्स, वेबर और ग्रियर्सन आदि पाश्चात्य विद्वानों का जो महाभारत पर 'सेंट जॉन्स गॉस्पेल' का प्रभाव मानते हैं[1] और कृष्ण कथाओं को ईसाई कहानियों का रूपान्तर।[2] कभी-कभी यह कहकर भी कि 'भक्ति के स्वरूप की कल्पना भारतीय है'[3] उसे मध्य एशिया के ईसाइयों के प्रभाव द्वारा विकसित मानते हैं।

(२) दूसरा मत चार्ल्स इलियट तथा डॉ॰ ताराचन्द जैसे इतिहासकारों का है जो इसे भारतीय कहकर भी आंशिक रूप से मुसलमान प्रभाव में पनपी मानते हैं।[5]

(३) तीसरा मत डॉ॰ सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या जैसे विद्वानों का है, जो भक्ति के विकास में अनार्य तत्वों का पर्याप्त योग मानते हैं।

(४) चौथा मत उन विद्वानों का है जो भक्ति को पूर्णतः वेदों से ही विकसित मानते हैं। वेणीराम शर्मा[6] तथा नारायण तीर्थ[7] ने तो उद्धरण देकर

---

(१) इंडिया ओल्ड एण्ड न्यू, हॉपकिन्स पृष्ठ १४५
(२) जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सुसाइटी सन १९०७ पृष्ठ ९५१
(३) एन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग २ पृष्ठ ५४८
(४) वही पृष्ठ ५५०
(५) हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म इलियट, जिल्द ३ पृष्ठ ४५८
इन्फ्लूएंस ऑव इस्लाम आन इंडियन कल्चर, डॉ॰ ताराचन्द पृष्ठ १२९
(६) कल्याण भक्ति-अंक वेदों में भक्ति लेख पृष्ठ ४१-४३
(७) भक्ति-चन्द्रिका, पृष्ठ ७७-८२

सिद्ध किया है कि श्रुति में भक्ति के नामस्मरणादि नवधा प्रकारों के प्रवर्तक मंत्र भी हैं।

सबके अपने-अपने तर्क हैं जिनके विस्तार में जाना वर्तमान संदर्भ में अनावश्यक है। पर वस्तुतः भक्ति हमारे अनुराग के भाव पर केन्द्रित है और यह भाव मानव के लिए इतना स्वाभाविक और सहज है कि वह अपने जन्म के लिए शिक्षा और ज्ञान का मुखापेक्षी नहीं है और संस्कृति के विकास के साथ ही वह भी विकसित होता जाता है। अतः शाण्डिल्य के भक्ति सूत्र की यह उक्ति कि 'भक्तिः प्रमेया श्रुतिभ्यः' (१।२।९) (भक्ति श्रुति से जानी जाती है) अविश्वसनीय नहीं है। साथ ही यह भी एक सत्य है कि भारतीय संस्कृति और उसके साथ भक्ति-भावना द्रविड़ तत्त्व भी अपने में समेटे है। भक्ति के विकास के इतिहास को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में बाँट सकते हैं—

(१) प्रारम्भिक रूप —प्रथम उत्थान
(२) दक्षिण में विकसित रूप —द्वितीय उत्थान
(३) रामानन्द आदि आचार्यों द्वारा उत्तर में प्रचारित रूप —तृतीय उत्थान

प्रथम उत्थान :

भक्ति शब्द का इस अर्थ में प्रथम प्रयोग जिसमें कि वह परवर्ती भक्तों में प्रचलित हुआ श्वेताश्वतर उपनिषद् में मिलता है।[1] वेदों में भी भक्ति का बीज मिल जाता है। अग्नि[2] और इन्द्र[3] के प्रति अनुरागपरक स्तुतियाँ ऋग्वेद में हैं। अनुराग का रूप स्नेह तक ही सीमित नहीं है प्रणय की शृंगारिकता भी उसमें है। पुरुष सूक्त में ईश्वर की भावना भी पुरुष के रूप में की गयी है।

भक्ति के उपास्यदेव विष्णु का नाम ऋग्वेद में अपेक्षाकृत कम प्रयुक्त हुआ है पर उनकी कुछ ऐसी विशेषताओं की ओर संकेत है जो उनके रूप

---

(१) यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः — ६।२३
(२) ऋग्वेद १।१।५
(३) वही, ८।९८।११

की परवर्ती कल्पना में विशेष उपादेय हुई।[1] उदाहरण के लिए विष्णु को गोपा (रक्षक) त्रिविक्रम श्रीपति धर्म का आधार आदि कहा गया है। धीरे-धीरे ऋग्वेद के प्रधान देवता इन्द्र का महत्त्व विष्णु को मिलता गया। यजुर्वेद में तो कहा गया है कि विष्णु ही विश्व है। विष्णु पवित्र रूप में समग्र विश्व में वर्तमान है। विष्णु अक्षय है, ध्रुव है, पोषक है।[2] ब्राह्मण ग्रंथों में विष्णु की एकता यज्ञ के साथ हो गयी।[3] इस समय तक वे परम देवता बन गये।

वैष्णव धर्म के उपास्य देवता का दूसरा नाम नारायण है। नारायण सृष्टि-विषयक भावना के भी केन्द्र थे। प्रारंभिक काल में विष्णु और नारायण भिन्न थे। यद्यपि इन दोनों नामों का प्रयोग कभी-कभी परमात्मा के लिए भी हो जाता था पर इनका एकीकरण कदाचित् तैत्तरीय आरण्यक की रचना के समय तक नहीं हो पाया था।[4]

प्राचीन वैष्णव सम्प्रदाय के दो नाम मिलते हैं—भागवत मत तथा पांचरात्र मत। पांचरात्र मत का नामान्तर सात्वत मत है। सात्वत लोग भी यादव क्षत्री थे जिनमें कृष्ण का जन्म हुआ। ये लोग जहाँ गये वहाँ इस धर्म को प्रचारित करते रहे। इनके आराध्य और मूल प्रवर्तक वासुदेव कृष्ण थे। प्रारंभ में वासुदेव और कृष्ण ये दोनों नाम विष्णु तथा नारायण की भाँति पृथक्-पृथक् प्रयुक्त होते थे आगे चलकर ये दोनों शब्द एक दूसरे के पर्याय बन गये। अन्त में वासुदेव-कृष्ण भी विष्णु नारायण से मिलकर अभिन्न हो गये और वैष्णव धर्म पूर्णतः संगठित हो गया।[5]

---

(१) विष्णु के विविध रूपों के लिए देखिए, आसपेक्टस आफ अर्ली विष्णुइज्म जे गोंडा
(२) हिन्दू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ त्रिवेणीप्रसाद सिंह पृष्ठ ६२
(३) शतपथ ब्राह्मण द्वितीय अध्याय पंचम ब्राह्मण में यज्ञरूप विष्णु का सविस्तर इतिहास दिया है।
(४) अर्ली हिस्ट्री आफ द वैष्णव सेक्ट पृष्ठ १८ १९
(५) सात्वतास डॉ एन० के० आयंगर प्रोसीडिंग्स आफ द सेवेन्थ ओरियंटल कॉन्फ्रेंस कलकत्ता सन् १९०३
(६) वैष्णव-धर्म परशुराम चतुर्वेदी पृष्ठ २१–२२

पाणिनि के अष्टाध्यायी में 'वासुदेवार्जुनाभ्यांवुन' (४।३।९८) सूत्र से ज्ञात होता है कि वासुदेव धर्म ईसा की ६-७ वीं शताब्दी पूर्व तक अवश्यमेव जन्म ले चुका था।[1] नानाघाट के गुहाभिलेख तथा घोसुंडी और बेसनगर के शिलालेखों का साक्ष्य है कि ईसा से २०० वर्ष पूर्व तक यह अत्यन्त सार्वप्रिय और प्रतिष्ठित हो गया था। ईसवी सन् के चौथे और पाँचवें शतक में इसकी विशेष उन्नति गुप्त सम्राटों द्वारा हुई और पांचरात्र संहिताओं—जैसे अहिर्बुध्न्य परम संहिता सात्त्वत संहिता आदि की रचना भी हुई।[2]

यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि वैष्णव धर्म का जो रूप बाद में प्रचलित हुआ उसके निर्माण में पुराणों का विशेष योग है। अठारह पुराणों में से लगभग आधे पुराणों का सम्बन्ध वैष्णव धर्म से नितांत स्फुट है। मत्स्य कूर्म वाराह तथा वामन इन चार का तो नामकरण तथा निर्माण भगवान विष्णु के चार अवतारों को ही लक्ष्य कर किया गया है। नारद ब्रह्मवैवर्त पद्म विष्णु तथा श्रीमद्भागवत इन पाँच पुराणों में विष्णु के आध्यात्मिक रूप और महिमा का विवेचन है।[3]

द्वितीय उत्थान :

उत्तर के सात्वतों द्वारा वासुदेव भक्ति दक्षिण में पहुँची थी पर वहाँ भक्ति का इतना प्रचार हुआ कि उत्तर बहुत पीछे रह गया। आळ्वार भक्तों की रससिक्त वाणी ने जनता को भगवान की दिव्य लीला के दर्शन कराकर उसका मन मोह लिया और वैष्णव आचार्यों ने उसे शास्त्र य पीठ पर प्रतिष्ठित किया। वैष्णव भक्त कवि 'आळ्वार'-नामक प्रख्यात हैं। इनकी संख्या १२ मानी जाती है। इनमें कई तथाकथित निम्नवर्ग के लोग और

---

(१) पाणिनि का समय—३५० ई॰ पू॰ कीथ पर भारतीय विद्वान उसे ६-७वीं शती पूर्व का मानते हैं—डॉ॰ बाबूराम सक्सेना सामान्य भाषा विज्ञान (सं १९९९) पृष्ठ-२०५

(२) भागवत-सम्प्रदाय डॉ॰ बलदेव उपाध्याय पृष्ठ ९९

(३) वही पृष्ठ १४१ १४२

(४) बारह आळ्वार इस प्रकार हैं (१) पोयगै आळ्वार (२) भूतत्ताळ्वार, (३) पेयाळ्वार, (४) भक्तिसार तिरुमळिसै आळ्वार, (५) शठकोप-नम्माळ्वार, (६) मधुरकवि (७) कुलशेखर, (८) विष्णुचित्त-पेरियाळ्वार, (९) गोदा-आण्डाल (रंगनायकी), (१०) विप्रनारायण-तोण्डर-डिप्पोडि (११) मुनिवाहन-तिरुप्पाण (१२) नीलन-तिरुमंगैआळ्वार

एक स्त्री भी थी। इसकी ४००० कविताओं का बृहद् संग्रह 'नालायिर दिव्य प्रबन्धम्' कहलाता है। पवित्रता की भावना के कारण यह संग्रह 'तमिलवेद' के नाम से पुकारा जाता है।

इन भक्तों के युग में तीन महत्त्वपूर्ण बातें हुईं—

(१) जाति-पाँति सम्बन्धी ऊँच-नीच का भाव भक्ति के क्षेत्र से हट गया। तिरुप्पन जैसे अन्त्यज आदरणीय भक्तों की कोटि में पहुँच सके।

(२) नारियों के प्रति सामंतीय दृष्टिकोण समाप्त हुआ और वे भक्ति की समान अधिकारिणी बनीं। कारकैकाल अम्मैयार तथा आण्डाल जैसी भक्त नारियाँ सम्मानित हुईं।

(३) जनभाषा के महत्त्व की प्रतिष्ठा हुई। देशी भाषा में लिखे गये शटकोपाचार्य के तिरुविरुत्तम आदि ग्रंथ वेदों के समान मान्य और महनीय माने गये।

इधर आलवारों ने जनता को भक्ति के द्वारा धर्म की रसात्मक अनुभूति करा रहे थे कि संस्कृतज्ञ विद्वानों ने भक्ति की भावना को वैदिक दर्शन की भूमिका पर प्रतिष्ठित करना प्रारंभ कर दिया। आलवारों के बाद तमिल प्रदेश में आचार्यों की एक परम्परा मिलती है जिसने तमिल वेद का संस्कृत वेद के साथ सामंजस्य स्थापित करके भक्ति-दर्शन का प्रतिपादन किया। इन आचार्यों में आदि आचार्य थे रंगनाथ मुनि (८२४ ई० –९२४ ई०) जिन्हें वैष्णव जगत नाथमुनि के नाम से जानता है। इनके पश्चात श्रीरङ्गम की गद्दी पर क्रमशः राममिश्र और यामुनाचार्य बैठे। यामुनाचार्य भी नाथमुनि के ही समान अध्यात्म तत्त्व के ज्ञाता थे। उन्होंने अलवार काव्यों के प्रचार प्रसार का भी कार्य किया और नवीन ग्रंथों का प्रणयन भी।

इसी बीच एक घटना घटी। ८०० ई० के आसपास शंकराचार्य का उदय हुआ।[१] उन्होंने मायावाद से आच्छादित विशुद्ध अद्वैत मत की प्रतिष्ठा की। जीव और ब्रह्म का भेद भी मायाकृत होने के कारण आराधक और आराध्य का प्रश्न ही उठ गया। 'जो है' उसको समझ लेना ही–ज्ञान है–

(१) जन्म–७८८ ई०, मृत्यु या संन्यास ८०० ई०– ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर, कीथ पृष्ठ ४७६

जीवन की एकमात्र साधना बन गया। शंकराचार्य के इस भक्तिविरोधी मायावाद की बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। अलवारों की भक्ति-परम्परा आचार्यों की दर्शन-प्रणाली और शंकर के मायावाद की प्रतिक्रिया—इन तीनों आयामों से बनी भूमिका पर चार ऐसे दार्शनिक सिद्धांतों ने जन्म लिया जिन्होंने समस्त भारत की धर्म-साधना का रूप ही बदल दिया।

वस्तुतः भक्ति-दर्शन की प्रतिष्ठा और प्रचार का कार्य सुसंगठित रूप से इन्हीं वैष्णव-सम्प्रदायों और उनकी परवर्ती शाखा-उपशाखाओं द्वारा हुआ। ये हैं–(१) श्रीवैष्णव (२) हंस (३) रुद्र तथा (४) ब्रह्म सम्प्रदाय। इन्हीं से भक्ति के विकास के तृतीय चरण का प्रारम्भ होता है।

भारतीय भक्त परंपरा और मीराँ :

(१) श्रुतियों में भक्ति का बीज मान लेने पर यह निष्कर्ष अनिवार्य है कि संहिताओं की श्रद्धा-मूलक अनुराग की व्यंजना करने वाले मंत्रों के रचयिता ऋषियों के हृदय में राग का यह तत्व अवश्य रहा होगा जो स्वाभाविक रूप से विकसित होकर ईश्वरानुरक्ति में परिणत हो जाता है। इस प्रकार भक्ति के विकास के इतिहास में वैदिक साहित्य का जो स्थान है वैदिक मंत्रों के द्रष्टा-स्रष्टा ऋषियों का वही स्थान भक्त-परंपरा में है। ये लोग प्रमुखतः प्रबुद्ध उपासक कर्मकाण्डी तथा ज्ञान के पुण्य पथ के साधक थे। भक्ति की किरण भी उनके सरस मन को स्पंदित करती थी। पर, अग्नि या इन्द्र से माता-पिता का अनुरागात्मक सम्बन्ध जोड़ने वाले उपासकों की साधना का मीराँ की भक्ति से कोई विशेष साम्य नहीं है, न आराध्य के स्वरूप और न अनुरक्तिमूलक आराधना की दृष्टि से।

(२) दूसरा वर्ग उन भक्तों का है, जिन्हें पौराणिक कहा जा सकता है। इनका संबन्ध विष्णु के किसी-न-किसी अवतार से रहा है, उदाहरण के लिए हनुमान सुग्रीव गोप गोपी आदि। इनमें से किसकी सत्ता यथार्थ थी इसका निर्णय कठिन है परन्तु भक्तों के भाव-जगत में वे वास्तविकवत ही हैं। 'नारद भक्तिसूत्र' तथा 'शाण्डिल्य भक्ति सूत्र' से भक्तिशास्त्र के अनेक प्राचीन आचार्यों का पता लगता है—पाराशर्य गर्ग शाण्डिल्य शेष उद्धव अरुणि बलि हनुमान विभीषण कश्यप और बादरायण। इनमें कई नाम पौराणिक भक्तों के हैं। इनकी भक्ति भावना का स्वरूप काव्य तथा भक्ति ग्रन्थों में दिये हुए इनके जीवन संबन्धी उन विवरणों से ज्ञात होता है जो प्रायः तथ्यमूलक न होकर

कवियों और लेखकों की अपनी भावना के प्रतिबिम्ब हैं। इन भक्तों में से मीरां की तुलना केवल गोपियों से हो सकती है जो कृष्ण की माधुर्य भाव की भक्त थीं। गोपियों से भी मीरां की यह समानता सामान्य भाव की दृष्टि से ही हो सकती है क्योंकि गोपी-जीवन का एक ही बात सर्वमान्य है कि वे कृष्ण की प्रेम लक्षणा भक्ति की साधिका हैं। नारद ने भी प्रेमरूपा भक्ति के लक्षण के पश्चात् 'यथा-गोपिकानाम्' कहकर गोपियों की उक्त सामान्य विशेषता की ओर संकेत किया है। मीरां की साधना इसी गोपी भाव की थी। श्रीमद्भागवत में कृष्ण ने उद्धव को संदेशा देकर भेजते समय कहा था—हे उद्धव! गोपियों ने अपना मन मुझे समर्पित कर दिया है, मैं ही उनके प्राण हूं मेरे लिए उन्होंने अपने देह के सारे व्यवहार त्याग दिये हैं। वे गोपियाँ मुझे प्रियातिप्रिय समझती हैं। मेरे दूर रहने पर मुझे स्मरण करके वे दारुण विरह-यन्त्रणा से व्याकुल होकर अपनी देह की सुधि भूल जाती हैं मैं उन गोपियों की आत्मा हूँ और वे मेरी हैं।"[1] इस दिवानी मीरां के विषय में यही बात कही जा सकती है। मीरां ने गिरिधर के प्रेम में समस्त लौकिक संबन्ध छोड़ दिये थे। जबसे उनके नयन 'मन्न मोहन की निपट बंकट छबि' में अटके थे तब से वे 'खान-पान सुध-बुध बिसार कर' उन्हीं के ध्यान में लीन रहती थीं। गोपियों के समान ही उनके 'हृदय में विरहानल लग गयी थी'[3] और वे पात की तरह पीली पड़ गयी थीं। पर उन्होंने प्रयत्न-क इस दुस्तर पथ को नहीं त्यागा। अतः गोपियों के समान लोक-लाज कुल की मर्यादा त्याग कर श्यामसुन्दर पर जीवन वारने वाली मीरां को अगर भक्त-हृदय गोपिका का अवतार मानने लगा हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। फिर भी मीरां और गोपियों में अंतर स्वाभाविक है। गोपियों का व्यक्तित्व अधिकांश में काल्पनिक है। उसमें अनेक भक्तों की मनोहर भावुकता और कवियों की रमणीय कल्पनाओं का समावेश है, मीरां का व्यक्तित्व ऐतिहासिक है। उसकी अपनी सीमाएँ हैं। प्रचलित मान्यतानुसार गोपिकाएँ कृष्णावतार के साथ थीं

---

(१) श्रीमद्भागवत १०।४६।४-६

(२) माता छाड़्या बंधी छाड़्या छांड़्या सगा सुवां —डाकोर, पद १
लोक लाज कुल री मरज्यादा जगमां मैं ना राख्यां री
—डाकोर, पद १८

(३) —श्याम बिना ये ब्याकुल सखि उर अगन जागी
तड़क तड़क तन पा पड़ा विरहागन लागी। —काशी पद ६१

(४) पात ज्यूं पीली पड़ी री लोग कह्यां पिंडरोग —काशी पद ७१

कृष्ण मीरां की भावना में साकार हुए थे । इस प्रकार गोपिकाएं एक आदर्श हैं, जो भक्तों की कल्पना में बसता है, मीरां एक यथार्थ है, जो जगत के सामने है। एक आध्यात्मिक स्वप्न है दूसरा लौकिक सत्य ।

द्वितीय उत्थान के भक्त :

सात्वतों के दक्षिण में पहुंचने पर वहां भागवत धर्म का विशेष प्रसार हुआ पर भक्ति की एक ऐसी रसधार फूटी, जिसने दक्षिण को ही आप्लावित नहीं किया उत्तर की भावप्रवण भूमि के शुष्क भक्ति-उपवन को फिर लहलहा दिया। इस रसधार को प्रवाहित करने वाले भक्त आलवार थे। इनकी संख्या बारह मानी जाती है। इनका उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

आलवार विशुद्ध भक्ति-पथ के पथिक थे। भक्ति के सामने उन्होंने सब बन्धन शिथिल कर दिये थे। पीमूगी आलवर का कथन है "भक्त जिस ढंग से भी उपासना करें, उसी ढंग से चक्रधर विष्णु उनका उपास्य बन जाता है।'[1] मीरां की समस्त साधना का सर्वस्व कृष्णानुराग है। उनके आराध्य एक ऐसे कृष्ण हैं जिनके लिए किसी विशिष्ट पूजा-अर्चा की आवश्यकता नहीं उनके प्रति प्रेम होना ही पर्याप्त है। पूदत्तालवार ने कहा है 'वह ईश्वर है। पृथ्वी आकाश आठों दिशाओं वेद वेदार्थ सबमें अन्तर्निहित है पर आश्चर्य है कि उसका निवास है मेरे हृदय में। मीरां का हरि अविनाशी है, काल की फांस उसको नहीं छू पाती। वह इतना विराट है कि ब्रह्माण्ड स्वयं उसके चरणों में भेटता है पर वह मीरां के हृदय में बसता है।[२] शठकोप की उपासना मीरां की तरह गोपी भाव की थी। वे भगवान को नायक मानते और अपने को नायिका के रूप में प्रस्तुत करते थे। हां पेरियाल्वार (विष्णुचित) की भक्ति मीरां से भिन्न प्रकार की थी। उन्होंने वात्सल्य भाव को प्रधानता दी है। कृष्ण के शैशव के चित्रों से उनकी तुलना केवल सूर से की जा सकती है।

मीरां के साथ विशेष तुलनीय है गोदा (रंगनायकी) जो मीरां की तरह ही प्रियतम की आराधना के गीत बनकर युग-युग से भक्त-मानस को मुखित कर रही है।

---

(१) तमिल और उसका साहित्य पृष्ठ ५६
(२) म्हारा पियां म्हारे हीयड़े बसतां ना आवां ना जाती।

मीराँबाई तथा गोदा आण्डाल

वैष्णव भक्त कवयित्री आन्डाल का तमिल साहित्य में वैसा ही सम्मान है जैसा हिन्दी में मीरा का। दोनों गोपी भाव की साकार प्रतिमाएँ थीं दोनों की भक्तिरसाप्लुत सरस वाणी में भक्त हृदय निनादित है और यद्यपि दोनों के भौतिक जीवन की परिस्थितियों में आकाश-पाताल का अन्तर था दोनों के जीवन का अन्त एक ही प्रकार से माना जाता है 'अपने प्रियतम के साथ सशरीर सायुज्य' द्वारा। मीरा और आन्डाल की भक्ति भावना में बहुत साम्य था। दोनों अपने प्रियतम के अनुराग के रंग में एक-सी रंग गयी थीं। आन्डाल के प्रियतम 'काम सिंह सम कमलनयन तथा सूर्य चन्द्र सम आनन' वाले हैं। उनके कपोल गोल अधर अरुणारे, नासा शुक-सा और भौंहें धनु के समान हैं। उनके गले में वनमाला और मुख पर मुस्कान शोभित है।[1] मीरा के आराध्य भी 'सुन्दर वदन कमल दल लोचन बैन में समा जाने वाली बाँकी चितवन वाले हैं।[2] उनकी भारिज सी भौंहें मतवाली अलकें टेढ़ी कटि है।[3] दोनों को अपने इस मनोहर रूपवाले प्रिय का वियोग असह्य हो गया था। वियोगिनी आन्डाल मेघों को संबोधित करके कहती है 'नीले कालीन की नाईं आकाश में बिछे हुए हे मेघो मुक्तानिधि बरसाने वाले हे दानियो! तुम्हीं बताओ सुन्दर साँवरे की बात क्या रही। इस आधी रात में मैं इस तरह चारों ओर से झुलस रही हूँ। मेरी इस दशा पर तनिक तरस खा जाओ। दरद दिवानी मीरा के विकल स्वर में भी यही है —

'काला-पीला बदळ्या उमड्या बरस्या चार घरी।
म्हारा पिया परदेसां बसता भीजा द्वार ठाडी।

बस दोनों की आकांक्षा यही है कि उनके प्रिय को मिलन का सौभाग्य उन्हें प्राप्त हो। मीरा ने उसके लिये 'रतन आभरण भूषण छाँड्या' भगवा धारण किया। अपने इष्टदेव को प्राप्त करने के लिये आन्डाल भी सब कुछ करने के लिए तैयार है। आन्डाल ने संपूर्ण समर्पण करके कृष्ण को पा

---

(१) श्री गोदाम्बाकृत गीतावली—अनु० श्री रामनाथाचार्य पृष्ठ १
वैष्णवधर्मविवर्धिनी सभा —शिवपुरी ग्वालियर (१९२१)
(२) डाकोर, पद ४
(३) डाकोर, पद २
(४) श्री गोदाम्बाकृत गीतावली पृष्ठ २८

लिया था। सपने में उसे साँई मिले और उन्होंने विधिपूर्वक विवाह रचाया।[1] मीराँ के साथ भी यही हुआ

'माई म्हाणो सुपना मां परण्यां दीनानाथ।'[2] जनम-जनम की दासी मीराँ की प्रार्थना थी 'म्हाने चाकर राखो जी'। आण्डाल की भी कामना थी कि सदैव सेविका रहूँ।[3]

पर, मीराँ और आण्डाल के व्यक्तित्व में अन्तर था दोनों दो विभिन्न परिस्थितियों को पार कर भक्त बनी थीं। मीराँ ने राजकीय वैभव और आदर देखा था विवाह और वैधव्य का सामना किया था अतएव उनके प्रणय में मर्यादा अधिक है। वे तन की तपन को मन की विरह-व्यथा या हृदय के संयोगसुख में डुबाये रहीं। आण्डाल एक भक्त साधु द्वारा पालित तथा जीवन के प्रारम्भ से ही भगवदर्पित थी और उनकी परिस्थिति ने उन्हें इतना संकोची नहीं बनाया था। अतएव वे कह देती थी 'जैसे ब्राह्मणों के यज्ञ में देवताओं को लक्ष्य करके अर्पित की जानेवाली हवि को कोई जंगली स्यार सूँघने लगे वैसे ही चक्रधर, शंखधर भगवान को लक्ष्य कर उभरे हुए मेरे उरोजों को यदि मानवों के उप भोग्य बनाने की चर्चा चली तो हे मन्मथ! मैं जीवित नहीं रहूँगी।'[1] मीराँ इतनी निस्संकोची कभी नहीं हुईं, उनकी प्रणयभावना इतनी प्रगल्भ और स्थूलोन्मुख नहीं थी कि वे अपने उरोजों की चर्चा कर सकें। 'प्रियतम घर आ गये युग-युग जोवते विरहणी को पिय मिले हैं' पर मीराँ संयोग-सुख का वर्णन अंग-अंग आणंद छायो हो' कहकर ही कर देती हैं।[2] हाँ एक पद में मीराँ ने राधा का रति के बाद के रूप का वर्णन किया है पर वहाँ 'राधा' नाम देकर अपने को तटस्थ दर्शक बना रखा है।

आलवारों के पश्चात् दक्षिण में आचार्य-युग आता है, पर आचार्यों ने इस भक्ति-दर्शन को शास्त्रीय रूप दिया। मीराँ भक्त थीं आचार्य नहीं। अतएव दक्षिण के आचार्यों से मीराँ की तुलना का कोई प्रश्न नहीं है।

---

(१) तमिल और उसका साहित्य पृष्ठ ९२

(२) चतुर्वेदी (?) पद १९

(३) आन्दाल सेंट्स स्वामी सिद्धान्त भारती पृष्ठ १०

(१) तमिल और उसका साहित्य पृष्ठ ९३

(२) चतुर्वेदी (?) पद ७९

तृतीय उत्थान के भक्त

(क) भारत के पूर्वोत्तर प्रान्त असम में एक समय शाक्तों का अवलम्ब केन्द्र था। वहाँ वैष्णव धर्म की महिमा को बढ़ाने वाले प्रमुखतम भक्त थे शंकरदेव और उनके शिष्य माधवदेव। शंकरदेव (जन्म सन् १४४९) महापुरुषिया धर्म के प्रवर्तक थे। इन्होंने भगवान व्रजनंदन की रूप-माधुरी और उनके प्रति भक्तिभाव के सरस पद लिखे हैं जिनकी मीराँ के पदों से तुलना की जा सकती है। रामचरित के अवलम्बन पर कई एक भाषा नाटकों (नाटों) का भी इन्होंने लिखा है। इनका दीक्षामंत्र है 'शरण' जगन्नाथ श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम पर इन्होंने मीराँ की तरह माधुर्य भाव का नहीं दास्य भक्ति के प्रति विशेष आग्रह रखा। अतएव मीराँ की भक्ति की तन्मयता तथा प्रेमस्निग्धता इनमें नहीं है। दूसरे ये भक्त-आचार्य थे। इनका महत्व भक्ति प्रचारक और साधना के व्यवस्थापक होने रूप में है। मीराँ का जीवन एकमात्र भक्ति की साकार प्रतिमा का जीवन था।

(ख) बंगाल में भक्ति के आंदोलन का श्रेय सहजिया वैष्णवों तथा चैतन्य और उनके साथियों को है। सहजिया वैष्णव मत पर सहजयानियों का पर्याप्त प्रभाव है मीराँ इससे मुक्त हैं। सहजिया स्त्री भाव से भगवान की आराधना करते हैं मीराँ में यह भाव सिद्धान्त ही नहीं सहज था। सहजिया मार्ग रस-मार्ग है काम-मार्ग नहीं। मीराँ की साधना में काम का उन्नयन इस सीमा तक हो गया था कि वह पूर्णतः आध्यात्मिक हो गया था। पर सहजिया-पंथी वैदिक विधि-विधान के विरोधी हैं क्योंकि वे इसे वैधी भक्ति मानते हैं। इस प्रकार वे दक्षिण मार्ग के नहीं वाममार्ग के पक्षपाती हैं। मीराँ नित्य उठकर पूजा-पाठ भी करती थीं। मंदिर में सेवा भी उनका नियत काम था। उन्होंने वेदविहित धर्म का कभी विरोध नहीं किया।

(ग) महाराष्ट्र के महानुभाव पंथ (इसे पंजाब में जयकृष्णि पंथ और गुजरात में अच्युत पंथ कहते हैं) के संतों और मीराँ की भक्ति-भावना में पर्याप्त वैषम्य है। इन पर नाथों के साथ ही साथ इस्लाम का भी प्रभाव है। मूर्ति न पूजना श्रीकृष्ण और दत्तात्रेय से संबद्ध स्थानों पर चबूतरे बनवाना—आदि बातें इनमें प्रचलित हैं। अपने मत को गुप्त रखने की परिपाटी ने उन्हें सबसे अलग रखा है। मीराँ में रहस्य गुप्त कुछ नहीं है। उन्होंने प्रकट की भक्ति की थी और वह भक्ति थी प्रकट ही थी। इस पंथ के प्रवर्तक चक्रधर महाराज भी गुरु और प्रचारक भी थे। मीराँ से तुलना करने

लिया था। सपने में उसे साँई मिले और उन्होंने विधिपूर्वक विवाह रचाया।[1] मीरां के साथ भी यही हुआ

'माईं म्हाणे सुपना मां परण्यां दीणानाथ।'[2] जनम-जनम की दासी मीरां की प्रार्थना थी 'म्हाने चाकर राखो जी'। आण्डाल की भी कामना थी कि सदैव सेविका रहूँ।[3]

पर, मीरां और आण्डाल के व्यक्तित्व में अन्तर था दोनों दो विभिन्न परिस्थितियों को पार कर भक्त बनी थी। मीरां ने राजकीय वैभव और आदर देखा था विवाह और वैधव्य का सामना किया था अतएव उनके प्रणय में मर्यादा अधिक है। वे तन की तपन को मन की विरह-व्यथा या हृदय के संयोगसुख में छुपाये रहीं। आण्डाल एक भक्त साधु द्वारा पालित तथा जीवन के प्रारम्भ से ही भगवदर्पित थी और उनकी परिस्थिति ने उन्हें इतना संकोची नहीं बनाया था। अतएव वे कह देती थी 'जैसे ब्राह्मणों के यज्ञ में देवताओं को लक्ष्य करके अर्पित की जानेवाली हवि को कोई जंगली स्यार सूँघने लगे वैसे ही चक्रधर, शंखधर भगवान को लक्ष्य कर उभरे हुए मेरे उरोजों को यदि मानवों के उप भोग्य बनाने की चर्चा चली तो मैं जीवित नहीं रहूँगी।'[1] मीरां इतनी निस्संकोची कहीं नहीं हुई, उनकी प्रणयभावना इतनी प्रगल्भ और स्थूलो न्मुख नहीं थी कि वे अपने उरोजों की चर्चा कर सकें। 'प्रियतम घर आ गये जुग-जुग जोवते विरहणी को पिय मिले हैं, पर मीरां संयोग-सुख का वर्णन अंग-अंग आणंद साजां हो' कहकर ही कर देती हैं।[2] हाँ एक पद में मीरां ने राधा का रति के बाद के रूप का वर्णन किया है, पर वहाँ 'राधा' नाम देकर अपने को तटस्थ दर्शक बना रखा है।

आलवारों के पश्चात् दक्षिण में आचार्य-युग आता है पर आचार्यों ने इस भक्ति-दर्शन को शास्त्रीय रूप दिया। मीरां भक्त थीं आचार्य नहीं। अतएव दक्षिण के आचार्यों से मीरां की तुलना का कोई प्रश्न नहीं है।

---

(१) तमिल और उसका साहित्य पृष्ठ ६५
(२) डाकोर पद ११
(३) आलवार संदूत स्वामी सिद्धान्त भारती पृष्ठ ३०
(१) तमिल और उसका साहित्य पृष्ठ ६३
(२) डाकोर, पद ७९

तृतीय उत्थान के भक्त

(क) भारत के पूर्वी प्रान्त असम में एक समय शाक्तों का अवलम्ब केन्द्र था। वहाँ वैष्णव धर्म की महिमा को बढ़ाने वाले प्रमुखतम भक्त थे शंकरदेव और उनके शिष्य माधवदेव। शंकरदेव (जन्म सन् १४४९) महापुरुषिया धर्म के प्रवर्तक थे। इन्होंने भगवान् व्रजनन्दन की रूप-माधुरी और उनके प्रति भक्तिभाव के सरस पद लिखे हैं, जिनकी मीराँ के पदों से तुलना की जा सकती है। रामचरित के अवलम्बन पर कई एक भाषा नाटकों (नाटों) को भी इन्होंने लिखा है। इनका दीक्षामंत्र है-'शरणं म जगन्नाथ श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम'। पर इन्होंने मीराँ की तरह माधुर्य भाव को नहीं अपनाया, दास्य-भक्ति के प्रति विशेष आग्रह रखा। अतएव मीराँ की भक्ति की तन्मयता तथा प्रेमातिरेकता इनमें नहीं है। दूसरे, ये धर्म-प्रचारक थे। इनका महत्त्व भक्त, भक्ति-प्रचारक और साधना के व्यवस्थापक तीनों रूप में है। मीराँ का जीवन एकमात्र भक्तिरूपी साकार प्रतिमा का जीवन था।

(ख) बंगाल में भक्ति के आन्दोलन का श्रेय सहजिया वैष्णवों तथा चैतन्य और उनके साथियों को है। सहजिया वैष्णव मत पर सहजयानियों का पर्याप्त प्रभाव है, मीराँ इससे मुक्त है। सहजिया स्त्री-भाव से भगवान की आराधना करते हैं, मीराँ में यह भाव सिद्धान्त हो नहीं सहज था। सहजिया मार्ग रस-मार्ग है, काम-मार्ग नहीं। मीराँ की साधना में काम का उन्नयन इस सीमा तक हो गया था कि वह पूर्णतः आध्यात्मिक हो गया था। पर सहजिया-पंथी वैदिक विधि-विधान के विरोधी हैं क्योंकि वे रस वैधी भक्ति मानते हैं। इस प्रकार वे रसिक भाव के नहीं कामभाव के पक्षपाती हैं। मीराँ नित्य उठकर पूजा-पाठ भी करती थी। मंदिर में सेवा भी उनका नियत कार्य था। उन्होंने वेदविहित धर्म का कभी विरोध नहीं किया।

(ग) महाराष्ट्र के महानुभाव पंथ (इसे पंजाब में जयकृष्णि पंथ और गुजरात में अच्युत पंथ कहते हैं) के संतों और मीराँ की भक्ति-भावना में पर्याप्त वैषम्य है। इस पंथ पर शाक्तों के साथ ही साथ इस्लाम का भी प्रभाव है। मूर्ति न पूजना, श्रीकृष्ण और दत्तात्रेय से सम्बद्ध स्थलों पर चबूतरे बनवाना—आदि बातें इसमें प्रचलित हैं। भक्त मन को शुद्ध रखने की परिपाटी से उन्हें अलग माना गया है। मीराँ में ये बातें नहीं हैं। उन्होंने प्रकट का भक्ति की थी और वह भक्ति भी प्रकट ही थी। इस पंथ के प्रवर्तक चक्रधर महाराज स्त्री-पुरुष और प्रचारक भी थे। मीराँ से तुलना करने

योग्य दो व्यक्तियों के नाम उल्लेखनीय हैं एक दामोदर पंडित की पत्नी हिराम्बा का और दूसरा मायदेवाचार्य की चचेरी बहन महदंबा का । हिराम्बा ने वैराग्य लेकर पति को भी इस ओर प्रेरित किया था पर उनके जीवन में मीरां की तरह न कोई संघर्ष था और न लोक को व प्रभावित कर सकीं । महदंबा का महत्व विशेष है पर मीरां के अनुराग की उत्कटता और तन्मयता उसमें नहीं थी ।

(च) वारकरी पंथ के संत मीरां की तरह कृष्णोपासक हैं, उनके सर्वश्रेष्ठ देवता पंढरीनाथ बालकृष्ण के रूप हैं और वे राम के भी वैसे ही निष्ठावान उपासक हैं । भक्ति और अद्वैत ज्ञान के सामंजस्य के साथ योग मत का प्रभाव भी इन पर है । 'अद्वैत ज्ञान' की विस्तृत चर्चा मीरां के पदों में नहीं है योग-साधना भी वे नहीं करतीं । राम की उपेक्षा उन्होंने नहीं की पर उनके प्रति मीरां की निष्ठा वैसी नहीं है, जैसी कृष्ण के प्रति । वारकरी भक्तों के समान ही वे वर्णाश्रम धर्म के प्रति विशेष श्रद्धालु नहीं थीं । ज्ञानदेव, नामदेव एकनाथ और तुकाराम जैसे महान संतों द्वारा पोषित इस संप्रदाय में मुक्ताबाई जसी प्रसिद्ध नारी भक्त भी हुई हैं, पर मीरां के समान प्रणय भाव की भक्ति की सरसता वे उपलब्ध नहीं कर सकीं ।

(छ) पश्चिम तथा मध्यप्रदेश (गुजरात तथा हिन्दी प्रदेश) के प्रचलित भक्ति सम्प्रदायों में प्रमुखतः संत सूफी, कृष्ण भक्त और राम भक्त थे । संतों और सूफियों से मीरां की भक्ति-भावना कहाँ तक मेल खाती है, यह पीछे स्पष्ट किया जा चुका है । राम-भक्तों के वर्ग किये जा सकते हैं— (१) मर्यादा मार्गी जिनमें श्रेष्ठतम भक्त थे तुलसीदास और (२) रसिक भाव के भक्त जिनमें प्रतिनिधि रूप में कृष्णदास पयहारी को लिया जा सकता

(१) मर्यादामार्गी दास्य भाव के मतानुसार तुलसी ने 'पूरन राम सुप्रेम पीयूषा'[1] और 'रामहि केवल प्रेम पियारा'[2] कहकर राम प्रेम के महत्व को स्वीकार किया है पर उनका प्रेम चातक के समान 'रामचरण अनुराग'[3] तक सीमित था जबकि मीरां संयोग-वियोग के रस की अधिकारिणी हैं।

---

(१) मानस अयोध्याकाण्ड, २०७—५, ६

(२) वही १३५-१

(३) विनय पत्रिका पद ८२

मीरां की उपासना दिव्य द्वारा आलोकित राजमार्ग है जिसपर शास्त्र-वर्णित विधि-विधानों की चिंता किये बिना भी चला जा सकता है। तुलसी का पथ 'सूधो' होते हुए भी पथिक द्वारा आचार-सम्बन्धी औपचारिकता की अपेक्षा करता है।

(२) रामावत सम्प्रदाय में रसिक भाव की भक्ति का उन्मेष शठकोप (नम्मालवार) के समय तक हो गया था। कृष्णदास पयहारी के समय तक तो यह इतनी विकसित हो चुकी थी कि उसके बिखरे सूत्र को एकत्र कर एक नयी साधना-पद्धति का रूप दिया जा सकता था।[1] मीरां की भक्ति का साम्य इससे इसी अर्थ में है कि उपासना का रूप शृंगारिक है और ये लोग रसमयी विस्तृत पद्धति का अनुसरण करते हैं। 'रसिक संतों के अनुसार साधना का परम लक्ष्य दिव्य दम्पति का सेवा-सुख और युगल-केलि के साक्षात्‌ रस का आस्वादन है।[2] मीरां के आराध्य गिरिधर थे राधा-कृष्ण दम्पति नहीं। राधा की आराधना मीरां ने नहीं की। रसिक साधना के विकास की चार दशाओं[3] में से दो तो मीरां में मिलती ही नहीं। वस्तुतः रसिक सम्प्रदाय की परवर्ती साधनापद्धति कृष्ण-भक्ति-पद्धति के अनुसरण पर ही विकसित हुई थी। इससे मीरां की भक्ति के सरस भाव का ही विशेष साम्य है।

(३) कृष्ण-भक्त सामान्यतः कृष्ण के रसिक रूप के उपासक थे और इस रूप की लीला का विशेष विस्तार गोपी-कृष्ण लीला में हुआ है। सूरदासजी का 'वात्सल्य' की मधुराई के प्रति अगाध स्नेह है। उनके गुरु वल्लभाचार्य ने प्रारम्भ में बाल-कृष्ण की आराधना पद्धति ही चलाई थी। बाद में गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने किशोर कृष्ण की युगल लीलाओं तथा युगल उपासना का प्रारम्भ किया था। मीरां ने बाल-रूप पर अपना ध्यान केंद्रित नहीं किया।

---

(१) रामभक्ति में रसिक संप्रदाय पृष्ठ ८८

(२) वही पृष्ठ १७९

(३) आचार्य उपसत्ति अथवा ज्ञान दशा
सम्बन्ध-दीक्षा अथवा वरण दशा
साकेतलीला-प्रवेश अथवा प्राप्ति दशा
लीला-सुखभोग अथवा आत्मानुभव दशा

व्रजविहारी गोपी-पति रूप ही उन्हें विशेष रिझाता रहा है। हितहरिवंशजी की आराध्या राधा थीं।[1] राधा और मधुपति का विहार रस ही हरिवंश का इष्ट तत्त्व है। हरिदास की दृष्टि राधा-कृष्ण पर थी और जैसा कि नाभादास जी ने कहा है—उनका जुगल नाम से नेह था और वे नित्य कुंज विहारी को भजते। मीरां की दृष्टि राधा पर कदाचित नहीं के बराबर थी वे सीधे राधा-पति की 'निपट बंकट छबि' में अटकी थीं।

नरसिंह मेहता की भक्ति का स्वरूप सामान्य है। किसी संप्रदाय से विशेष रूप से संबद्ध न होने के कारण उनमें आग्रहपूर्वक कृष्ण के किसी रूप का ग्रहण नहीं था। सब कुछ तजकर हरि भजन और राधा-कृष्ण की ललित लीला के प्रति अनुराग का भाव इनकी साधना की विशेषता थी। गुजरात के कुछ विद्वानों का मत है कि इनके भीतर भक्ति की ज्वाला चैतन्य मत के प्रभाव से जगी थी। मीरां में भी कृष्ण-लीला के प्रति प्रेम था पर वह लीला उनके भाव-लोक में कृष्ण-मीरां-लीला बन गई थी।

इस प्रकार अन्य कृष्ण भक्तों और मीरां में दो बातों का विशेष अन्तर था—

(१) अन्य भक्त बाल-कृष्ण या राधा-कृष्ण रूप की उपासना विशेष रूप से करते थे पर मीरां के सामने विशेषतः कृष्ण का सुन्दर 'प्रियतम' रूप था।

(२) अन्य कृष्ण-भक्त राधाकृष्ण लीला के दर्शक थे या नारी-भाव की कल्पना करके उस लीला के रस का आस्वादन करते थे। मीरां के लिए यह लीला अपने और श्रीकृष्ण के वैयक्तिक प्रणय की सहज लीला थी।

मीरांबाई-संप्रदाय

'एनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एंड एथिक्स' में मीरां-संबन्धी चार उल्लेख हैं। उनमें से एक में कहा गया है कि व्यापक रूप से प्रचलित विशेषकर नारियों में एक और आराधना-पद्धति है और वह है बाल-गोपाल अथवा शिशु कृष्ण की। यह संप्रदाय उत्तर भारत और बम्बई प्रेसीडेंसी में फैला हुआ है।[2] इसका एक उपसंप्रदाय है जिसे सोलहवीं शताब्दी में राजपूताना की प्रसिद्ध राज

---

(१) श्रीराधा सुधानिधि श्लोक ७९।

(२) ग्रियर्सन का 'भक्तिमार्ग' शीर्षक लेख पृष्ठ ५४६ बी, 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में भी इसी आशय का उल्लेख है—देखिए जिल्द ६, पृष्ठ २०६

कुमारी और कवयित्री मीरांबाई ने स्थापित किया। इसमें आराध्य देव हैं कृष्ण रणछोड़।

एच० एच० विल्सन अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'दी रिलीजस सेक्ट्स ऑव हिन्दूज' में इसी आशय की बात कह चुके हैं। उन्होंने मीरांबाई के अनुसार रणछोड़ की पूजा और वल्लभ संप्रदायियों से इनके मौलिक भेद की बात के साथ यह भी कहा है कि 'इन्हें एक अलग उपसम्प्रदाय की अपेक्षा पूर्ववर्ती संप्रदाय का ही एक अंग माना जा सकता है ऐसा प्रतीत नहीं होता कि पश्चिमी भारत के अतिरिक्त कहीं अन्य स्थानों पर इनके बहुत-से अनुयायी थे। जहाँ विल्सन मीरां के अनुयायियों को एक स्वतंत्र उपसंप्रदाय में अन्तर्गत रखने से हिचकते हैं, वहाँ विश्व कोष में इसे विश्वास के साथ स्थापित किया गया है। इसी प्रकार विल्सन का 'पश्चिमी भारत' विस्तृततर होकर विश्वकोष' में पुराने बम्बई प्रदेश (पश्चिमी भारत) और 'उत्तर भारत में बदल गया है।

कम-से-कम महाराष्ट्र गुजरात और उत्तर भारत में अभी तक 'मीरां-संप्रदाय' नाम का कोई संप्रदाय नहीं बना। अन्य कोई ऐसा सम्प्रदाय या उपसंप्रदाय भी प्रचलित नहीं है जिसके अनुयायी मीरांबाई को उसकी प्रवर्तिका के रूप में मानते हों अथवा उन्हें अपनी गुरुपरंपरा में स्थान देते हों। अतः विल्सन का यह कथन स्वीकार नहीं हो सकता।

मीरां का जीवन वस्तुतः साम्प्रदायिकता के पाश से मुक्त था। उनके संपर्क में हितहरिवंश व्यास और वल्लभ आदि संप्रदाय के अनेक भाग आए। साधु-संत भी उनसे मिलते रहते थे परन्तु किसी संप्रदाय की सीमा में वे नहीं बँधी किसी दार्शनिक मतवाद ने उन्हें मतवाला नहीं बनाया।

मीरां अपनी भक्ति भावना में इतनी डूब गई थी कि उनका जीवन कृष्णमय हो गया। कोई निंदा करे कोई वंदना करे इसकी उन्हें चिंता नहीं थी कोई उनकी बात सुन या न सुने कोई उनके कीर्तन में आए या न आए, उनके पद को गाए या न गाए, इससे उन्हें कोई मतलब नहीं था। भक्ति के आवेश में स्वान्तःसुखाय व आत्म-समर्पण के गीत गाती थी। संप्रदाय का प्रवर्तकत्व अन्य लोगों को प्रभावित करने उनके लिए चरम पद को पाने के साधनों की व्याख्या करने तथा भक्त-आचार्य दोनों होने की अपेक्षा रखता है। मीरां में ये बातें बिल्कुल नहीं थी अतः संप्रदाय चलाने की कल्पना भी उनके लिये स्वाभाविक नहीं थी।

मीरां एक नारी थी और मध्यकाल में शूद्रों और नारियों की क्या हालत थी यह किसी से छिपी नहीं है। पति को परमेश्वर' माननेवाली अबला को 'परमेश्वर को पति' मानने का अधिकार भक्ति-आन्दोलन के कारण मिल गया था। तत्कालीन स्थिति को देखते हुए यह भी एक प्रगतिशील कदम था। 'नारी को साधना की दुर्गम घाटी माननेवाले और अपने ब्रह्मचर्य के गर्व में 'उसका मुँह तक न देखनेवाले' सामाजिक नेताओं के युग में किसी व्यक्ति के एक नारी के शिष्य होने तथा उससे दीक्षा लेने की बात बहुत स्वाभाविक नहीं लगती। दीक्षा के बिना शिष्य नहीं बनते और शिष्यों के बिना संप्रदाय नहीं बनते।

मीरां के विषय में एक व्यापक अनुश्रुति है —

> नाम रहेगो नाम सै सुनो सयाने लोग।
> मीरां सुत जायो नहीं शिष्य न मूंड्या कोय।

इस अनुश्रुति का व्यापक प्रचार है। मीरां की अगर कोई शिष्य-परंपरा होती तो इस दोहे के वक्तव्य का प्रतिकार अवश्य हो जाता। साथ ही मीरां के समस्त पदों के संरक्षण का स्वाभाविक साधन होता और मीरां के दर्शन की व्याख्याएँ और टीकाएँ हो गई होतीं। अन्य धर्मगुरुओं की तरह मीरां को भी भवसागर में पड़े जीवों के उद्धारक के रूप में चित्रित करने का प्रयत्न होता। मगर यह कुछ नहीं हुआ। केवल उनके गीत गूँजते रहे और जनता उन्हें आदर की दृष्टि से देखती थी।

कुछ मीरां नाम के ऐसे व्यक्ति भी हो गए हैं जिनका संबन्ध विभिन्न संप्रदायों से रहा है। प्रणामी संप्रदाय में ही एक मीरां हुई हैं। बाँसवाड़े में उनकी कुछ रचनाओं की भी चर्चा की जाती है। हो सकता है कि मेड़तणी मीरां से भिन्न ऐसी ही किसी मीरां के संप्रदाय के विषय में विल्सन ने सुना हो। श्री तारकनाथ अग्रवाल का अनुमान है कि मीरां शाह अजमेरी जो सूफी संप्रदाय के थे उनकी दरगाह ख्वाजा के द्वारा प्रतिस्थापित हो जाने के बाद उनके मुरीद अधिक संख्या में पैदा हो गए और सूफी होने के नाते सम्भवतः इन मुरीदों ने निर्गुण पद गाए होंगे जो मीरां नाम के साम्य के कारण मीरांबाई पदों में भी स्थान पा गए होंगे और विल्सन के भ्रम का कारण भी हो गए होंगे।[१]

---

(१) मीरां स्मृतिग्रंथ परिशिष्ट, पृष्ठ १४–१५

इस क्षेत्र में इधर एक उल्लेखनीय घटना घटी है। श्री अरविन्द के एक प्रतिभाशाली शिष्य और संगीतकार भक्त श्री दिलीपकुमार रॉय और उनकी शिष्या कुमारी इन्दिरा देवी का कथन है कि उन्हें मीराँबाई का साक्षात्कार हुआ है और प्रायः व कभी आध्यात्मिक विषयों पर निर्देश देने और कभी गीत सिखाने उनके पास प्रस्तुत हो जाती हैं। इन्दिराजी के गीत-संग्रह 'प्रेमांजलि' में 'डायरी से' के अन्तर्गत श्री रॉय ने अनेक प्रसंगों में मीराँ से मिलन के स्पष्ट उल्लेख किए हैं। उदाहरण के लिए यह उल्लेख द्रष्टव्य है—

On 27 10-51 Mira came to me What about R. M and his question I asked. Her answer somewhat startled me and later R. M too She said, But let him know this once and for all that Mira has come to teach you how to worship and not to be worshiped "

मीराँ से यह प्रश्न करने पर कि 'क्या आप गुरु हैं' उन्होंने कहा कि "मैं कृष्ण द्वारा प्रेषित हूँ और एक ऐसे मित्र के रूप में आती हूँ जो भक्ति के विषय में कुछ अधिक जानता है।

इन्दिरा जी के कथनानुसार उनको तो मीराँजी स्वयं अपने भजन सिखाती हैं और इस प्रकार के मीराँ-भजनों के तीन संकलन प्रेमांजलि दीपांजलि और सुधांजलि नाम से प्रकाशित भी हो चुके हैं।

अध्यात्म के प्रति अतिशय श्रद्धावान व्यक्तियों के लिए तो इन्दिराजी और श्री रॉय की बात कोई आश्चर्यजनक सत्य नहीं है। पर, विज्ञान की वस्तुनिष्ठ दृष्टि उक्त कथनों को इसी रूप और इसी अर्थ में स्वीकार नहीं कर सकती। यह ठीक है कि इन्दिरा जी क गीतों में कृष्ण प्रणय की भावना का वैसा ही स्वर है जैसा कि मीराँ के पदों में। कहीं-कहीं तो भावना ही नहीं शब्दावली तक मीराँ की पदावली की है। 'सखी मैं चाकर गिरधर की' किस ओर बसे रे घनस्याम सखी री बस वहीं बनवारी' आदि अनेक गीत इस बात के प्रमाण हैं।[1] (हो

(१) लगभग सभी गीतों में मीराँ की छाप या उनका उल्लेख है। उदाहरण के लिए है। दीपांजलि क गीतों की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत हैं —

[पृष्ठ १८६ पर देखिए]

सकता है कि मीरां का नाम और छाप देखकर भावे वशकर कुछ भक्त इन्हें भी मीरां-पदावली में सम्मिलित कर लें) पर भाषा-शैली की दृष्टि से इन्हें मध्ययुगीन मेड़तणी मीरां द्वारा लिखाया गया नहीं कहा जा सकता। खड़ी मिश्रित खड़ी-बोली गीत के नए फॉम और कहीं-कहीं अत्याधुनिक प्रचलित शब्दावली इस बात के असंदिग्ध प्रमाण हैं कि इनकी रचयिता मेड़तणी मीरां नहीं स्वयं इन्दिरा जी हैं। हां यह सत्य है कि ये गीत मीरां के पदों के अनुकरण पर भावावेश की दशा में गाए गए हैं। इनमें से कुछ गीत सरस और साहित्यिक भी हैं।

कहने का तात्पर्य केवल यही है कि मीरां का कोई संप्रदाय अभी तक नहीं है पर अब लगता है कि मीरां सम्प्रदाय की स्थापना होती जा रही है और आश्चर्य नहीं कि कबीर-पंथ की तरह साम्प्रदायिकता विरोधी मीरां के नाम पर भी धार्मिक पंथ का निर्माण हो जाए।

[पृष्ठ १८५ की शेष टिप्पणी]

(i) मीरा जनम-जनम की दासी पायो री मनचायो

(ii) मीरा के प्रभु गिरिधर नागर (१८-१-५७)

(iii) दुखमय भंजन करुणा सागर (७-११-५९)

(iv) मीरा के हर रोम रोम में मोहन समोयो री (१६-३-५७)

(v) मीरा दासी बनकर आई (२२-७-५८) इत्यादि।

(२) द्रष्टव्य है : (१) सावन के बादलो मुझको भी ले चलो उस देश जहाँ बसते हैं गोपाल हमारे। (१६-९-५९)

(२) जा श्याम से कह दे कि सखी हमको सताया न करे।

(३) सखी यह कौन आता है कहो यह कौन आता है।

(सुधांजलि ११०)

अनुभूति और अभिव्यक्ति

भाव-बोध और अनुभूति

मीरां का काव्य परम् सौन्दर्यमय सत्य की अनुभूतिमयी वाणी है। कबीर का पौरुष तुलसी का शील चैतन्य और सूर की अन्तर्दृष्टि उसमें नहीं है, फिर भी भावना की भूमि पर अनुभूतिमयता के मार्मिक स्तर पर वह अपने युग की महत्तम काव्य चेतना का समधर्मी है। युग-युग के लोक-मानस का प्यार इसका प्रबल प्रमाण है।

मीरां की अनुभूति एक विशिष्ट स्तर की अनुभूति है। वह बोध बोध साक्षात्कार से बहुत आगे के अर्थात् आस्वादन के स्तर की है। उसमें सत्य का साक्षात्कार और सौन्दर्य का बोध ही नहीं दोनों का आस्वादन भी है और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उनका यह 'सत्य और सौंदर्य' परमार्थ का परोपजीवी नहीं है। 'दर्शन' उसे कुछ भी कहे—लोकगत अथवा लोकातीत पर मीरां के लिए वह (भक्तिमय रसिक) प्रत्यक्ष ही है। धर्म का वह आध्यात्मिक रूप उसकी भावभूमि में अवतरित होकर परम सत्य बन गया है।

मीरां के काव्य की आत्मा नैतिक मर्यादाओं और सामन्त मूल्यों की अस्त-व्यस्त परंपराओं की धार कभी नहीं अटकी। उन्हें जीवन भर संघर्ष करना पड़ा। विवाह के दिन से मृत्यु की घड़ी तक लौकिक विषमताएं, युग और असमर्थता उनके संगी रहे। आध्यात्मिक दृष्टि से भी वियोग उनकी साधना का अनिवार्य अंग था। पर, उसमें विक्षेप का आभास नहीं है निरोध की पुष्टता है। उनके काव्य में भी यही आशा और अभिलाषा का भिन्न चीत्कार नहीं है अपितु आस्था का पूर्णतम स्वर है। लौकिक विषाद भी जैसे उनकी भावना में घुल-मिलकर प्रसादमय हो गया।

मीरां का भाव-बोध अपने युग के अन्य सगुण-साधना-परायण भक्तों से कुछ भिन्न था। उन्होंने रसिक को देखा रस को नहीं। उनकी दृष्टि भाव पर थी पंथ की परवाह उन्होंने नहीं की लिया '[illegible]' का सहारा।

नहीं खोजा। जैसा कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है उस समय सगुणवादी नाना पुराणों के मंथन में लगे थे, निगमागम-सम्मत पथ की खोज चल रही थी। साधना का राजपथ बन रहा था। मीराँ ने केवल लक्ष्य को पहचाना और उस ओर बढ़ गईं। जहाँ उनके चरण पड़ते गए, राह बनती गयी—सीधी सरल प्रेम की राह, जो न दर्शन की मुखापेक्षी थी और न किसी सम्प्रदाय की अनुवर्तिनी। इसका एक अनिवार्य परिणाम यह हुआ है कि उनका समस्त भावलोक आद्योपान्त प्रियतम प्रधान है पंथ यहाँ गौण है, लगभग नगण्य।

मीराँ ने सहा अधिक कहा कम है। कल्पयुगव्यापी विरह को वे एक-एक सिहरन में समेटे संयम से आरती का दीप सँजोती रहीं हैं। इसलिए उनकी भावाभिव्यक्ति में वैविध्य और विस्तार अधिक नहीं है। इस दृष्टि से शायद वे अनुभूति की सीमित पूँजी की ही स्वामिनी हैं पर संवेदना की मौलिकता अतल और गहराई की दृष्टि से गाँठ की यह थोड़ी सा पूँजी धर्म-दर्शन और काव्य परंपरा के लिए उधार के विशाल भाव-वैभव से अधिक मूल्यवान है।

साधना की ओर उन्मुख होने के क्षण से सिद्धि की वेला तक की आध्यात्मिक यात्रा में मीराँ की भावना क्रमश लौकिक से अलौकिक की ओर बढ़ती गयी जिसमें प्रमुख तीन सोपान थे—प्रथम रोष और करुणा का द्वितीय विराम दैन्य और दास्य का और तृतीय प्रेम का।

रूप और यौवन से भरे मीराँ के नारी-जीवन को जब वैधव्य का अभिशाप मिला तो वे विषाद में डूब गईं और उन्होंने अपने को अधिकाधिक गिरिधर की ओर मोड़ने का प्रयास किया। राजकीय रोष और पारिवारिक प्रतिष्ठा ने उनकी राह रोकी जिसमें ही विरोध उठे वर्जनाएं आईं पर मीराँ के प्राणों में संघर्ष की अपराजेय शक्ति थी। वे झुकी नहीं। उनमें दुख और व्यथा के साथ रोष जगा। यह रोष द्विधा था। इसका एक रूप था विवशता जन्य उस निर्मम काल-व्याल के प्रति जिसने असमय में ही मीराँ का सिंदूर

---

(१) मीराँ के काव्य में निम्नांकित भाव-धाराएं हैं—

(क) लौकिक के प्रति मूलतः वैराग्य और गौणतः रोष और करुणा की

तथा (ख) अलौकिक के प्रति मूलतः प्रेम और गौणतः दैन्य तथा दास्य की।

पोछकर उन्हें दुर्भाग्य का भागी बनाया था।[1] अतएव अविनाशी का आश्रय लेकर उन्होंने इस भौतिक विवशता को इस काल-व्याल को पराजित करने का प्रयत्न किया था। निर्मम काल के अतिरिक्त उनका रोष इस दुष्ट संसार के प्रति भी था जिसने सामाजिक नीति और प्रतिष्ठा के नामपर उनके जीवन वनको कण्टकाकीर्ण कर दिया और विष देकर मारने के कुचक्र रचे। यही नहीं मीराँ सामंतीय समाज की उस अन्यायपूर्ण स्थिति के प्रति भी सजग थीं जिसमें 'मूरख सिंहासन विराजते और पण्डित दरदर भटके फिरते हैं।'[2]

संसार के प्रति रोष के इस भाव के ऊपर मीराँ ने शीघ्र ही विजय प्राप्त कर ली। उन्होंने संसार की असारता और नश्वरता को समझ लिया[3] और इसलिए इसमें पड़े हुए भव-जीवों के लिए उनके हृदयमें करुणा जगी। पर, यह भाव अत्यंत क्षणिक था। इसके ऊपर वैराग्य छा गया। मीराँ का मन संसार से संसार के सुख-दुःख से इसकी माया से हट गया। वे भव सागर और जग के बंधनों को तुच्छ बताकर पल-पल कृष्ण रूप की ओर उन्मुख होने लगीं। इस अनुराग के साथ मीराँ को अनेक बार आराध्य की महत्ता और अपनी लघुता का अनुभव हुआ। कदाचित् अपनी भौतिक सामर्थ्य के साथ आध्यात्मिक साधना की शक्ति की सीमाओं का आभास भी उन्हें हुआ। अतएव उन्होंने अत्यन्त आर्त कातर स्वर में भवतारन 'भवभीत निवारण' प्रभु से अपनी लाज

---

(१) जग सुहाग मिथ्या री सजनी होवाँ हो मिट जासी
बरन कर्यां अविनासी म्हाँ को काल ब्याल ना खासी।

× × ×

म्हारो सगण के देस काल देख्यां डरां।

(२) बिध बिधनारी न्यारी।
मूरखजन सिंहासन राजाँ पंडित फिरता द्वाराँ,
नदियाँ नदियाँ निरमल धाराँ समुद्र करयां जल खाराँ।

(३) संसारी जीवाँ बरणा जगत सौं संसारी उठि जासी।

× × ×

यो संसार चहर री बाजी साँझ पड्याँ उठ जासी। —शा० पद १

(४) भौ सागर जग बंधन झूठाँ झूठाँ कुल्याँ भ्याती
पल-पल थारा रूप निहारां निरख निरख मदमाती —शा० पद २५

रक्षा करने के लिए प्रार्थना की । 'अजामिल गजराज भीलनी आदि के उदाहरण देकर गिरधारी को शरण की दुहाई दी और अपनी पीर हर लेने के लिए निवेदन किया ।' पर, धीरे-धीरे जग छूटता गया भव-बंधन टूटते गये मीरां में साधनाजन्य विश्वास बढ़ता गया उनकी आर्तभावना श्रद्धा और श्रद्धा अनुराग में बदल ही गई । यही अनुराग का भाव अन्ततोगत्वा मीरां की समस्त साधना का—उनके भक्त-जीवन और काव्य का—केंद्र बिन्दु बना ।

सामान्यतः नारी के कर्तव्य की चरम सीमा उसके प्रेयसी होने में ही समाप्त नहीं होती उस पर मातृत्व का गुरु भार भी आता है । पर, मीरां के लौकिक जीवन में मातृत्व अंकुरित नहीं हो पाया । वैधव्य की अगन ने उसे असमय में ही झुलसा दिया । इसी अतृप्त प्रणय और अनंकुरित मातृत्व के कारण आध्यात्मिक क्षेत्र में उनका माधुर्यभाव (रमणीत्व) लौकिक तीव्रता के साथ उभरा वात्सल्यादि से मर्यादित नहीं हो पाया ।

मीरां का प्रणय भाव आध्यात्मिक होते हुए भी लौकिक दृष्टि से स्वाभाविक और सहज है । सामाजिक संबंधों और रूढ़ नैतिकता के सबल बांधों की उपेक्षा करके नारीत्व के प्राणों में मचलती हुई आत्मसमर्पण की चिरन्तन दुर्दम्य कामना ही मीरां के प्रणय का मूल स्रोत है । दुनिया की आँख बचाकर भी नारी और पुरुष के हृदय का जो शाश्वत गूढ़ भाव मानव के समस्त जीवन को परिचालित कर रहा है, वही भव्य बनकर मीरां की कामना में बसा हुआ है । मीरां का भाव चिरन्तन नारी का चिरन्तन भाव है । दर्शन उसका समर्थन करता है ठीक है, मगर दर्शन की स्वीकृति और समर्थन पर वह जीवित नहीं

---

(१) छोड़ मत जाज्यो जी महाराज ।
म्हां अबला बल म्हारो गिरधर थे म्हारो सरताज ।
म्हा गुणहीन गुणागर नागर म्हांहिवड़ो रो साज ।
जगतारण भौभीत निवारण थे राख्यां गजराज ।
हारयां जीवण सरण रावलां कठ जावां व्रजराज ।
मीरां रे प्रभु और णा कोई राखा अबरी लाज ।
(२) अबलो निभायस्यां बांह गह्यां री लाज ।
× × ×
हरि थें हरयां जणकी भीर ।
बूड़ता गजराज राख्यां करयां कुंजर धीर । —क्रा० ९८, ९९

है। रामानन्द, मध्व निम्बार्क और वल्लभ न होते तब भी वह होता उसी रूप में होता।

मीरां की भावना नारीत्व के चिरन्तन अभाव की भावना है जो पूर्णत्व चाहती है 'पाकर' उसे अधिकृत नहीं कर सकती तो अपने को समर्पित करके अपने को खोकर, उसे पाना चाहती है उसकी होकर उसे अपनाना चाहती है। जो उसके अधिकार में बँधता नहीं है उसके सामने पराजित होकर उसे उसकी विजय में बाँध देती है।

मीरां और कृष्ण का संबंध प्रणय मूलक है। शायद इसलिए कि वह जो ज्ञान के लिए अगम्य है स्वयं प्रेम का भूखा है भिखारी है। वह असीम है, पर सीमा से एक होना चाहता है। मीरां के अपने भाव की साकार मूर्तियाँ-गोपियाँ भी कृष्ण की प्रणयिनी हैं। यह प्रेम कृष्ण के रूप-सौन्दर्य और उनकी लीला की मनोहारिता के कारण जग्मा है। राह में कृष्ण मिलते हैं। उनके शीश पर मोरमुकुट है माथे पर तिलक है कानों में कुंडल हैं और काली अलकें शोभित हैं।[1] सुंदर बदन है कमल-दल-लोचन हैं बाँकी चितवन है।[2] निपट बाँकी छवि पर नयन अटक गये हैं।[3] उस रूप पर मन लुभा गया है।[4] कृष्ण के सौंदर्य का जादू कितना मादक है कि जिस दिन से श्याम की मूरत निहारी है एक घड़ी उसका बिस्मरण नहीं हो सका और (मीरां) उसके हाथ बिक गयी है।[5] नयन ललक ललक कर अकुलाते हैं पर एक बार वहाँ अटक कर, अब लौटते नहीं हैं।[6]

कृष्ण का रूप तो अनूप है ही। उसे देखते ही सुध बुध कुल लोक-लाज सब बिसर जाती है।[7] मगर उनके पास मनमोहन रूप के अतिरिक्त एक और आकर्षण का मंत्र है और वह है अधर पर सजने वाली सुधारस मुरली।[8] श्याम कृष्ण हैं श्याम कमरिया है, श्याम जमुना का नीर है कृष्ण वहाँ मुरली बजाते हैं।[9] सावन की जब यह मुरली बजती है तो सप्त सुर सहित राग अत्यन्त तान जगाता है। मानव तो क्या पशु-पक्षी भी मोहित हो जाते हैं पर

---

(१) रा० पद ४
(२) वि० पद ७
(३) रा० पद ५
(४) वि० पद ७
(५) का० पद ८८
(६) वही पद ८०
(७) रा० पद ६१
(८) रा० पद ४६
(९) काशी पद ९४

...ुओं की भी यही दशा होती है, मुनियों का ध्यान भी टूट जाता है। उस स्वर को सुनकर गोपी भी उठकर चल देती है।[1]

प्रणय का यह व्यापार एकांगी नहीं है। कृष्ण आराध्य के महान मंच पर एक आत्मलीन अनासक्त मुरली वादक नहीं हैं। वे रीझते हैं, रिझाते हैं। वियोग की विकलता में गोपी यह प्रगट कर देती है—सांवरे मार्‌या तीर

री म्हारा पार निकस गयां सांवरे मारया तीर।
चपल चित चस्यां ना चस्यां बांध्या प्रेम जंजीर।[2]

कृष्ण के रूप और गुण की मनमोहनी शक्ति पहले अनजाने अपना काम करती रही। कदाचित् कुछ छेड़-छाड़ भी हुई होगी मगर मीरां ने इसकी चर्चा नहीं की। धीरे-धीरे जो छवि आंखों में थी हृदय में उतर गयी। नयनों का आकर्षण मन का बंधन बन गया। तब प्राणों की प्रणय-विकलता संकोच के बांध को तोड़ने लगी पीड़ा के पहरे का प्रभाव कम होने लगा। पहले चर्चा सखियों में चली फिर गुरुजन भी समझ गये उन्होंने टोका मगर देर हो चुकी थी प्रणयिनी प्रेम के पंथ पर इतनी बढ़ गयी थी कि लौटना संभव नहीं था। सखियों से उसने कहा—

आली री म्हारे नैणा बाण पड़ी।
चित चढ़ी म्हारे माधुरी मूरत हियड़ा अनी गड़ी।[3]

मगर सखी को भेद देने पर भी समाज मन की विवशता नहीं समझा तब उसे चिन्ता हुई। इधर स्थिति बिगड़ती (बनती) गयी। प्रेम की गांठ कई बार झटकने से भी नहीं टूटी और मन की बात मगन ही नहीं गज-धावक से मस्त-शिथिल डगमगाते पग भी बहकने लगे तो उसने स्वयं अपने को समझाया—

अब तो बात फैल गयी जैसे बरछ बट की।
अब तू सोच करत काहे उर छाप लटकी।[4]

और इस प्रकार रूप रस मुग्धा संयोग-सुख के मनोरम लोक में विचरने लगी।

वियोग प्रणय की साधना है संयोग उसकी सिद्धि है। मीरां के काव्य में साधना-पक्ष प्रबल है। सिद्धि के क्षणों में उनकी वाणी प्रायः मौन हो जाती

---

(१) विद्या-सभा सं० १६९५, पद १ (२) डाकोर, पद ७
(३) वही पद ६ (४) डाकोर, पद १५
(५) विद्या-सभा पद ३

है। फिर भी संयोग की मर्म-कथा अनकही नहीं रही। इस संयोग-जन्य प्रणय भाव के तीन प्रमुख सोपान हैं —

(१) दृष्टि-पथ का मिलन-सुख (परिचय और आकर्षण)
(२) लीला-क्रीड़ा में संयोग-सुख (आत्मीयता और साहचर्य)
(३) एकान्त संयोग-रस (तादात्म्य)

प्रथम स्थिति की चर्चा पीछे हो चुकी है। मग के पहरे में नयन-पथ का सहज प्रमोसस संयोग-सुख साहचर्य के सहारे अधिक प्रगाढ़ होता जाता है। होली का पर्व है। सामाजिक विषमता की ऊबड़खाबड़ भूमि आत्मीयता के रस में डूब गयी है ऊँचनीच की काल्पनिक दीवारें ढह गयी हैं। उन्माद ने सबको एक स्तर पर ला दिया है। रंग के साथ राग की होली होती है[1] और रंग की झरी के साथ संयोग सुख बरसता है। यमुना के किनारे इस प्रकार के संयोग के अनेक अवसर आते हैं जहाँ कृष्ण वंशी बजाते और क्रीड़ा करते हैं।[2]

कृष्ण की यह रसलीला रसोत्सव के समान है जिसमें अनेक गोपियाँ भाग लेती हैं। मगर यह केवल इन्द्रिय-रस की स्वार्थपूर्ण क्रीड़ा नहीं है जन-सुख का कारण भी है। सब जानते हैं गोकुल के वासी वास्तव में नन्द और यशोदा के पुण्य से धरा पर प्रकटित अविनाशी प्रभु हैं। व्रजवनिताएं इसी लीलाकारी के संयोग-सुख के लिए नाचती गाती ताल बजाती हँसती और आनन्दित होती हैं।[3]

---

(१) रंग भरी राग भरी राग सूं भरी री।
होली खेल्या श्याम संग रंग सूं भरी री।।
उड़त गुलाल लाल बादरा रो रंग लाल।
पिचकां उड़ावां रंग रंग री झरी री।
चोवा चन्दण अरगजा म्हां केसर णो गागर भरी री।
मीरां दासी गिरधर नागर चेरी चरण धरी री।।
काशी पद ७१

(२) डाकोर पद ७

(३) विद्या-सभा सं० १६६५ पद १
डाकोर पद ६२

एकान्तिक संयोग

मीराँ के काव्य में एकांत संयोग के मधुर और मादक चित्र भी हैं, जिनमें मीराँ के प्रणय भाव का अनिष्टतम रूप व्यक्त होता है। इन चित्रों को निम्नलिखित कोटियों में रखा जा सकता है

(क) मीराँ के वैयक्तिक मिलन के चित्र—
(ख) राधा की रति के चित्र

मीराँ के वैयक्तिक संयोग के चित्र वे हैं जिनमें मीराँ ने गोपी के साथ तादात्म्य करके या अपनी अनुभूति की बात उत्तम पुरुष में कही है। ऐसे चित्र भी प्रायः दो प्रकार के हैं। एक में कृष्ण का सगुण-साकार रूप सब कुछ है, दूसरे में सगुण कृष्ण कहीं-कहीं निर्गुण की झलक भी दिखा जाते हैं। इस परिस्थिति-भेद के कारण आश्रय के तत्कालीन भावों में भी भिन्नता रहती है।

मीराँ का कथन है साजन म्हारे घर आयां हो।
जुगां जुगा री जोवतां विरहण पिव पायां हो।
रतण करां नेवछावरां ले आरत साजां हो
प्रीतम दयां सनेसड़ां म्हारों बधों नेवाजां हो।
पिय आया म्हारे साँवरा अंग आनन्द साजां हो।
मीराँ रे सुख सागरा म्हारे सीस विराजां हो॥[1]

यहाँ संयोग की अनुभूति साध्वी पत्नी की अनुभूति है, किशोर कामिनी की नहीं। प्रियतम घर आये। प्रिया के लिए यही प्रसन्नता की बात है। उसका नारीत्व विलास के पथ का चंचल पथिक नहीं है अतः वह प्रिय के ऐन्द्रिक उपभोग की कामना-कल्पना में नहीं अटती। उसका स्वागत कामना से नहीं भावना (श्रद्धा और प्रेम की भावना) से करती है। कभी-कभी रसिक-शिरोमणि त्रिभुवन के सुन्दरतम रागों को बजाकर हठात् प्रिया का बुला लेते हैं और दोनों रस सिंधु में झकझोरी करते हैं।[2]

मीराँ के वैयक्तिक मिलन के कुछ चित्रों में निर्गुण-निराकार आदियोंके भाव की हलकी झलक सी आ गयी क्योंकि वहाँ मीराँ ने अपने और प्रियतम के मिलन में परमात्मा और आत्मा के मिलन की ओर संकेत करके उसे

(१) काशी पद ७९
(२) विद्या-सभा संवत १९९५, पद २

आध्यात्मिकता के रंग में रंग दिया है।[1] मीराँ का एक पद ऐसा भी मिलता है, जिसमें मीराँ ने राधा कृष्ण एकान्त रति के अनुभावों का वर्णन किया है। आध्यात्मिकता की दृष्टि से कृष्ण रसेश हैं और गोपियाँ उनकी आनन्द प्रसारिणी सामर्थ्यशक्तियाँ। मगर लौकिक संभोग की दृष्टि से यह अत्यन्त स्थूल और मांसल संयोग है। यह चित्र भी मीराँ के काव्य का अपने ढंग का अकेला चित्र है

> सखी जु बनी वृषभानु नन्दनी आज रमि रण जीते आवे।
> मुख परे स्वेद मसक मट छूटी मधुरी चाल मयमति मजावती।
> मोहन छैल छबिले नागर मुख ही ढोरिया भूमत गावे।
> कोउ सुभट रणखेत महारस मासित मदन ठौर नहि पावे।
> हरि के भाव छवि उदय विराजीत बिन तारावली हार देखावत।
> मीराँ प्रभु गिरिधर छवि निरखत अन्न कान्ति रवि कांति लजावत।[2]

गौड़ीय वैष्णवों ने संभोग के चार प्रकारों का कथन किया है—संक्षिप्त संकीर्ण समृद्धमान और सम्पन्न। वस्तुतः प्रेमी युगल के संयोग की ये चार अवस्थाएं विप्रलंभ शृंगार की चार स्थितियों पर ही आधारित हैं। संक्षिप्त संयोग पूर्वराग के पश्चात् प्रेमी युगल का प्रथम मिलन है। लाज के पहरे के कारण यह मिलन संक्षिप्त ही रहता है।[3] संकीर्ण संक्षिप्त मान के बाद आता है। मानजन्य दुख की स्मृति के फलस्वरूप मिलन के आनन्द को पूर्ण नहीं होने देता। प्रवास के अनन्तर जो मिलन होता है, वह अत्यन्त आनन्दमय होने के कारण

---

(१) म्हाँ गिरधर रँगराती।
पचरँग चोला पहेर्‍याँ सखि म्हा झुरमट खेलन जाती।
वाँ झुरमट माँ मिल्या साँवरो देख्याँ तन मन राती।
जिनरो पिया परदेस बस्याँ लिखलिख भेज्या पाती।
म्हारा पियाँ म्हारे हीयड़े बसताँ ना आवाँ ना जाती।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर मग जोवाँ दिन राती॥
—डाकोर, पद १०

(२) विद्या-सभा संवत १९९५, पद ४

(३) तनक हरि चितवाँ म्हारी ओर
हम चितवाँ थे चितवौ ना हरि हिवड़ो बड़ो कठोर।
—काशी पद ७५

समृद्धिमान कहलाता है। प्रेम-वैचित्र्य की दशा के पश्चात् का संयोग मा से पूर्ण होता है और सम्पन्न संयोग कहलाता है।[2] मीरां के काव्य में सं के चित्र अधिक नहीं हैं। फिर, रसविवेचन की सूक्ष्मताओं पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया था। अतः उनमें उदाहरण खोजना कठिन है। हाँ संक्षि समृद्धमान और सम्पन्न संयोग के कुछ चित्र उनमें मिल जाते हैं।

वियोग

मीरां के काव्य का विशेष वैभव वियोग व्यंजना में है। जैसा कि कहा जा चुका है मीरां का काव्य प्रणय की सिद्धि (संयोग) का नहीं उस साधना का काव्य है और वियोग ही प्रणय-साधना का केन्द्र-बिन्दु

उन्होंने आँसुओं के जल से ही सींच-सींच कर प्रेम की बेलि बोई वियोग की विकल घड़ियों को संयोग की सुखानुभूति से अधिक दुलराकर रख जनम-जनम की इस दरदविवाणी प्रणयिनी के चिर सजल नयनों में जैसे युग की प्रतीक्षा समा गयी थी और अपने के 'अपनेपन' में खो जाने के लिए उनकी आत्मा छटपटा रही थी।

मीरां की आत्मा दीपक की लौ के समान है जो अनन्त प्रकाश में वि जाने के लिए जल रही है। कभी-कभी यह अंतर्मुखी होकर जब अपने भी बसती है, तब उस अन्तर के कण-कण में ही प्रकाश दिखायी पड़ता है। प्रकाश के अतिरिक्त कुछ और है भी नहीं। तब अनायास उसके मुख निकल पड़ता है —

> 'जिनरो पिया परदेस बस्या री लिखि लिख भेजत' पाती
> म्हारा पिया म्हारे हियरे बसतां ना आवां ना जाती।'

मगर यह अनुभूति मीरां के काव्य में अपवाद स्वरूप है।

---

(१) साजन म्हारे घर आया हो।
   जुगां-जुगां री जोवतां बिरहिण पिउ पायांहो।
   —काशी पद ५

(२) रंग भरी राग भरी राग सूं भरी री। —वही पद ५
   होली खस्या

(३) डाकोर, पद १०

गौड़ीय वैष्णव-रस-शास्त्र के अनुसार विप्रलंभ की चार अवस्थाएं होती हैं पूर्वराग मान प्रेम वैचित्य तथा प्रवास। पूर्वराग अनुराग की उत्पत्ति से लेकर प्रियतम साक्षात् मिलन (संयोग होने) तक की अवस्था है। यह पूर्वराग चित्र-दर्शन साक्षात् दर्शन या स्वप्न-दर्शन से हो सकता है या रूप और गुण के प्रशंसात्मक वर्णन के श्रवण से।

चित्र दर्शन की बात मीरां ने नहीं कही। व्रज-नारी के लिए श्याम सलोने के साक्षात् दर्शन उपलब्ध थे[1] उसकी सतत् अभिलाषमयी चिन्ता स्वप्न के एकान्त लोक में भी उसे कृष्ण से मिला देती थी। मीरां का स्वप्न मिलन सामान्य मिलन नहीं है, इसमें परिणय तक हो जाता है।[2]

कृष्ण के रूप और गुण का आकर्षण तो है ही पर गोपियों के मन को विवश कर देता है मुर्ली का स्वर। यह स्वर यमुना के किनारे से आता है और गोपियों के मन को हर लेता है।[3] इसे सुनने पर न नीर नहीं घर पाती और वियोग के बादल उनके हृदयाकाश को घेर लेते हैं।

प्रणय में मान होता है। इसीसे प्रणय की एकरसता टूटती है और आवेश को तीव्रता मिलती है। मान की दशा सकारण भी होती है और अकारण भी। मान का अवसर चिर प्रतीक्षा में बैठने वाली मीरां को नहीं मिलता। अगर मान कोई कर रहा है, तो वह मनभावन ही है जिसे मनाने के लिए मीरां सब कुछ करती है। गोपी एक अवसर पर हरि से कहती है—'तुम

---

(१) हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि पृष्ठ १८२

(२) तारा बप वैरयां घटकी।
कुल कुटुम्ब सजण सकल बार बार हटकी। —डाकोर, पद ६३

(३) माई म्हानो सुपणामां परण्यां दीनानाथ।
छप्पण कोटां जणां पधारयां दूल्हो सिरी व्रजनाथ।
सुपणां मां तोरण बंध्या री सुपणां मां गह्या हाथ।
सुपणां मां म्हारो परण गया पायां अचल सुहाग।
मीरां रो गिरधर मिल्या री पूरब जनम रो भाग॥
—डाकोर, पद ३६

(४) मुरलिया बाजां जमना तीर
मुरली म्हारा मन हर लीन्हो चित्त धरां णा धीर।
—काशी, पद ९४

तनिक हमारी ओर देखो। हम तो तुम्हारी ओर देखते हैं तुम नहीं दृष्टि फेरते।'[1] इस स्वर की आत्मीयता बताती है कि यह स्थिति संयोग के बाद की है, पूर्व राग की नहीं। कृष्ण मान किए बैठ हैं। यहाँ मान का हेतु प्रगट नहीं है पर इतना स्पष्ट है कि कमसे कम श्रुत और दृष्ट हेतु यहाँ नहीं है, अनुमित हेतु हो सकता है। यह भी सम्भव है कि यह मान निर्हेतु ही हो। जब प्रभु लीला के लिए लीला कर सकते हैं तो मान के लिए मान करना अस्वाभाविक नहीं है।

प्रेम-वैचित्य

वियोग में प्रेम के कारण चित्त की दशा जब अनुरागमयी होती है तब विप्रलम्भ शृंगार का रूप प्रेम-वैचित्य कहा जाता है। यह अनुराग-दशा तीन प्रकार की होती है —

(क) रूपानुराग—प्रियतम के रूप में अनुराग

(ख) आक्षेपानुराग—अनुराग में प्रियतम या प्रियतम की वस्तुओं प्राप्ति पर आक्षेप करना

(ग) रसोद्गार—बीती रस-लीला की स्मृति

वियोग की रूपानुराग दशा के मीरां के काव्य में अनेक स्थल हैं।[2] उन्होंने आक्षेप नहीं किया। दोष देना उनके स्वभाव के विरुद्ध था। न उन्होंने मुरली को बैरिन कहा न किसी के प्रति सपत्नीत्व का भाव प्रदर्शित किया। कृष्ण को उपालंभ भी नहीं दिये। अपनी सारी पीर को समेट कर बस इतना कहा—'तुम्हारा हृदय बड़ा कठोर है।'[3] प्रेम-वैचित्य की रसोद्गार दशा भी मीरां

---

(१) तनक हरि चितवां म्हारी ओर।
हम चितवां थे चितवों ना हरि हिबड़ो बड़ो कठोर।
म्हारी आसा चितवण थारी और ना दूजा दौर।
ऊभ्यां ठाढ़ी अरज करूं छूं करतां करतां भोर।
मीरां रे प्रभु हरि अविनासी देस्यूं प्राण अंकोर।।
—काशी पद ७५

(२) स्यामल बदन कमल दल लोचण पीताम्बर पटवारो।
मोर मुगट मकराकृत-कुंडल कांधा मुरली बारो।
× × ×
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर थे म्हा प्राण अधारो।।

(३) काशी पद ७५

में नहीं है। उनकी दृष्टि आगे देखती है। प्रिय के आने की प्रतीक्षा की विक-लता लेकर वे पंथ पर खड़ी हैं।

मीराँ की भावना में निराशा नहीं है निष्क्रिय विषाद की शिथिलता भी नहीं है। अतएव अतीत की रसलीला की मधुर स्मृति में अपना मन डुबाने की बजाय सजग प्रतीक्षा में पलकें खोलकर बैठना उन्हें पसन्द है। व अवसाद मयी नहीं चिर सजग साधिका हैं। उनके दुख में पराजय की घुटन और निराशा नहीं है। प्राचीन रसानुसार उनमें केवल इतना है कि वर्तमान की अभावजन्य विकलता से अतीत की भावमयी सरसता की व्यंजना हो जाती है। सत्य यह है कि उन्होंने रस को भी नहीं देखा वे सदा रसिक या रसेश को देखती रही हैं।

प्रवास

प्रियतम जब प्रिया के पास नहीं रह पाता तब विप्रलंभ की प्रवास दशा होती है। मीराँ के इस संबंध में दो प्रकार के वक्तव्य हैं। एक के अनुसार उनका प्रियतम उनके हृदय में बसा हुआ है न वह आता है न जाता है।[1] वे नित्य उसके दर्शन पाती हैं। ऐसी स्थिति में प्रवास का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरे प्रकार के वक्तव्य प्रिय के प्रिय से दूर रहने के सूचक हैं।[2] यह प्रवास भी दो प्रकार का है—

(१) अदूर—जब प्रिय दूर हों पर आगमन होने की अनुभूति होती रहे जैसे कालीय दमन में

(२) दूर—जब प्रिय कहीं बहुत दूर हों। रस के पंडितों ने इसके भी तीन भेद कर दिये हैं—भूत (व्यतीत)

---

(१) म्हारो प्रीतम हिरदाँ बसताँ दरस लह्याँ सुखरासी।

—काशी पद ९५

जिनरो पियाँ परदेस बसा री लिख लिख भेज्याँ पाती।
म्हारा पियाँ म्हारे हीयरे बसताँ ना आवाँ ना जाती॥

—डाकोर, पद १०

(२) (क) पिया बिन सूनी छै म्हारो देस। —डाकोर पद ५३

(ख) दुख्या री म्हारे हरि आवाँगा आज। —वही पद ४५

(ग) तड़पाँ नीयरा जाणाँ कब मिलस्याँ दीनानाथ।

—काशी पद ८१

(घ) तसी भरी धीर मनाओ हो।

मवन (वर्तमान) तथा
भाविन (भावी मानवाला)

मीरां ने कालियन्मन का उल्लेख किया है पर उसमें कृष्ण की असीम सामर्थ्य की ओर विश्वासपूर्ण संकेत है जिससे विरह नहीं कृष्ण की शक्ति के प्रति आस्था जागती है।[१] मगर कई अन्य मार्मिक प्रसंग इस अदूर प्रवास के हैं। एक दिन की बात है प्रियतम की प्रतीक्षा में प्रिया उसी समय सो जाती है जब वह आता है। दोनों पास हैं पर नींद की दीवार ने उन्हें अलग कर रखा है।[२] कृष्ण मीरां या गोपियों से दूर कहीं नहीं गये। हिंदी में कृष्ण के दूर प्रवास के चित्र प्रायः भागवत पर आधारित हैं। मीरां में इस 'प्रवास' का विवरण-वर्णन कहीं नहीं है। कहीं-कहीं उनकी दीर्घ प्रतीक्षा से कृष्ण के कहीं दूर चले जाने का संकेत मिलता है पर उनसे केवल इसी बात की व्यंजना नहीं होती। अतः निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

विरह की दशाएं: काव्यशास्त्रियों ने वियोग की दस दशाओं का उल्लेख किया है—अभिलाषा, चिन्ता, गुणकथन, स्मृति, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण। इन दस अवस्थाओं से मिलती-जुलती प्रवास विरह की दस स्थितियाँ काव्य-शास्त्र में और बतायी गयी हैं—असौष्ठव अथवा मलिनता, सन्ताप, पाण्डुता अथवा विकृति, कृशता, अरुचि, अधृति अथवा चित्त की अस्थिरता, विवशता अथवा अनालम्बन, तन्मयता, उन्माद तथा मूर्छा। गौड़ीय संप्रदाय के भक्ति-रस विवेचक रूपगोस्वामी ने भी विरह की दस दशाओं का उल्लेख किया है—चिन्ता, जागरण, उद्वेग, तन्मयता, मलिनता, प्रलाप, व्याधि, उन्माद, मोह तथा मृत्यु (दशमीदशा)। इनमें से ६ दशाएं तो वही हैं जो काव्यशास्त्रियों ने बतायी हैं।

वस्तुतः उक्त विवेचन अपने सामान्य और मोटे रूप में ही ठीक है। यह आवश्यक नहीं कि विरह में उक्त समस्त दशाएं हों ही और न यही कहा जा सकता है कि उक्त दस दशाओं में कोई एक या अनेक दशाएं अपने अमिश्रित रूप में होती हैं ऐसी दशा भी हो सकती है। जो चिन्ता और उद्वेग के बीच की

---

(१) डाकोर, पद १२
(२) कहितां मम रस बीतों दिवस बीता जोय।
हरि पधारा आंगणा गया म्हूं अभागिन सोय।
—डाकोर, पद २६

हो। इसी प्रकार चिन्ता न होकर दिवास्वप्न की स्थिति भी हो सकती है जिसका उल्लेख ऊपर कहीं नहीं है। दिवा-स्वप्न स्मृति और चिन्ता से ही भिन्न नहीं है, अभिलाषा से भी भिन्न है।

मीराँ के काव्य में उक्त अनेक दशाओं के चित्र मिल जाते हैं। एक बात इस विषय में उल्लेखनीय है कि मीराँ का वियोग आनन्द की सजग साधना है, वह शिथिल अनुभूति नहीं है। अतः उनका वियोग प्रलाप उन्माद व्याधि जड़ता और मरण की दशाओं तक नहीं पहुँचता। उनमें अभिलाषा चिन्ता गुणकथन स्मृति और उद्वेग का आधिक्य है। रूपगोस्वामी द्वारा उल्लिखित समस्त अवस्थाओं की उनके काव्य में अभिव्यक्ति नहीं मिली है। मृत्यु, प्रलाप आदि तो मीराँ में बिलकुल नहीं हैं। जो हैं, उनमें से कुछ के उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं।[1]

---

(१) अभिलाषा—जग मा जीवणा थोड़ा कुण ल्यां भवभार।
मात पिता जग जनम दयाँरी करम दयाँ करतार
खायाँ खरच्याँ जीवण जावाँ काँई कर्याँ उपकार।
साध्याँ संगत हरिगुण गास्याँ और णा म्हारी लार।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर थे बल उतर्याँ पार ॥१॥
—काशी पद ८४

उद्वेग — सजणी कब मिलस्या पिव म्हारा।
चरण कवल गिरधर सुख देख्याँ राख्याँ नैणा नेरा।
निरखाँ म्हारो चाव घणेरो मुखड़ा देख्याँ थारा
व्याकुल प्राण धर्याँ णा धीरज बेग हर्याँ म्हाँ पीरा।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर थे बिण तपण घणेरा ॥२॥
—काशी १७

गुणकथन—थे बिण म्हारे कोण खबर ले गोवरधन गिरधारी।
मोर मुगट पीताँबर सोभाँ कुंडल री छबि न्यारी।
भरी सभा मा द्रुपद सुताँरी राख्याँ लाज मुरारी।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर चरण कमल बलिहारी ॥३॥
—डाकोर पद ४२

जागरण—प्यारे दरसन दीज्यो आय थे बिना रह्या न जाय।
जल बिना कमल चंद बिना रजणी थे बिना जीवण
जाय।

मीराँ की रहस्य-भावना :

'रहस्य' शब्द अत्यंत प्राचीन है पर आज हिन्दी में जिस रहस्य भावना और रहस्यवाद की चर्चा होती है वह अर्थ की दृष्टि से अँगरेजी में मिस्टीसिज्म का पर्याय है। mystic शब्द ग्रीक muo धातु से बना है जिसका अर्थ है 'अधर और आँखें बंद करना'। बाद में यह जीवन और मृत्यु की गहराई के चरम सत्यों को समझने वाले के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा और धर्म विकास की नयी धारा में रहस्यवाद 'परमोच्च के साथ प्रत्यक्ष मिलन के परम पवित्र आनन्द को उपलब्ध करने के मानवी मन के प्रयत्न' के अर्थ से विभूषित हो गया। हिन्दी में इसी अर्थ को लेकर 'रहस्य' की व्याख्याएं हुई और इसे सामी या वैदिक भावना सिद्ध करने के प्रयास हुए।

प्रचलित अर्थ में रहस्यवाद की दो अनिवार्य विशेषताएं हैं।

(१) आलंबन निराकार अलौकिक निस्सीम तत्व।

(२) इस तत्व (सत्ता) के प्रति प्रणय का भाव।

मीराँ में प्रणय का भाव तो है ही पर उनके प्रणय-भाव के आलंबन सगुण-साकार गिरिधर गोपाल हैं जिन्होंने ब्रज में अवतार लेकर अनेक लीलाएं की थीं। अतएव इस प्रचलित रूढ़ अर्थ में रहस्य भावना मीराँ में मूलतः नहीं है।

भक्तिवादी दर्शनों में जहाँ ब्रह्म के सकल कल्याण गुण-विधान साकार रूप (ईश्वर रूप) की प्रतिष्ठा है वहाँ उसके अनन्त असीम सर्वव्यापी रूप की भी स्वीकृति है। भक्त भी भगवान् के संपूर्ण रूप के प्रति अतिशय अनुराग

[पृ ४०१ का शेषांश]

व्याकुल व्याकुल रैण बिहावाँ बिरह कलेजो खाय।
दिवस ना भूख निदरां रैणा मुखसूं कह्या ना जाय।
कोण सुणे कासूं कहियां री मिल पिव तपण बुझाय।
क्यूं तरसावां अन्तरजामी आय मिलो दुख जाय।
मीरां दासी जनम जनम री थारी नेह लगाय ॥४॥

—काशी पद ९०

रखते हुए उसकी असीम निराकार सत्ता को जानता-मानता है। इस 'रूप रेख गुन जाति जुगत बिन' निराकार सत्ता को दूर ही नहीं मानते थे तुलसी भी 'राम सिया' के सर्वव्यापी रूप की ओर संकेत करके इस विषय में अपनी मान्यता की अभिव्यक्ति कर चुके हैं। मीरां भी अपने आराध्य के उस सर्वमय और सर्वातीत रूप को पहचानती थीं। इस बात को उन्होंने नहीं भुलाया कि जो उनके मानस में प्रणय का आलंबन बनकर लीला कर रहा है जिसकी आराधना के गीत बनकर वे स्वयं गूंज रही हैं उसका एक अगम्य और अनिर्वचनीय रूप (पक्ष) भी है, जिसे वेद पुराण भी नहीं व्यक्त कर सके।[1] जब मीरां इस अगम्य के लोक की चर्चा करती हैं तो उनकी भावना रहस्योन्मुख हो जाती है। उन्होंने कहा है

चलां अगम वा देस काल देख्यां डरां।
भरा प्रेम रा हौज हंस केल्यां करां।
साधां सन्त रो संग ग्यान जुगतां करां।
धरां सांवरो ध्यान चित उजला करां।
सील घूंघर बांध तोष निरतां करां।
साजां सोल सिंगार सोणा री राखड़ी।
सांवलया सूं प्रीत औरां सूं आखड़ी॥[2]

पर संतों से मीरां की रहस्यानुभूति उस बात में भिन्न है कि जहाँ वे (संत) 'निर्गुण निराकार' को ही एक मात्र चरम सत्य कहते हैं मीरां उसे अपने सगुण सुन्दर 'श्याम' के लीला-लोक का विस्तार मात्र मानती हैं। सांवलिया उनके नयनों के सामने मोर मुकुट धारण करके आ जाता है यह उसका रस-रूप है श्रेष्ठ लीलाकारी रूप है पर कोई यह न समझे कि मोर-मुकुट उसकी सीमा है, ब्रजलीला के बाहर वह है ही नहीं अतः उसके उस विराट रूप का संकेत भी मीरां कर देती जिसके चरणों पर ब्रह्माण्ड भेंटता है।[3] उस अन्तर्यामी रूप

---

(१) बिरद बखाण्या चारणा ना जाण्या वाको वेद पुराण
(२) काशी, पद ७१ —डाकोर पद ११
(३) मन थें परस हरि रे चरण।
सुभग सीतल कंवल कोमल जगत ज्वाला-हरण।
इण चरण ब्रह्मांड भेट्यां नखसिखां सिरि धरण।
—डाकोर, पद १४
इण चरण कालिन्द्री नाथ्यां गोपलीला करण।

का भी उल्लेख कर देती है, जो उसके अन्तर में बसा हुआ है।[1] इस प्रकार मीराँ की यह रहस्य भावना उनकी सगुण भावना का ही एक विस्तार है। जैसे अवतारी कृष्ण के ब्रजवासी मधुर रूप के प्रिय होते हुए भी उन्होंने उनके मथुरावासी कंसान्तक रूप की ओर भी संकेत कर दिया है उसी प्रकार उसके निर्गुण निराकार असीम 'हरि अविनाशी' रूप की ओर भी संकेत है। यह करना न तुलसी भूले हैं और न सूर।

'रहस्य' जिस 'रहस्' शब्द से बना है उसके अर्थ हैं—गुप्त भेद, मान स्वमय लीला गूढ़तत्व और एकान्त स्थान। मीराँ की भावना रहस्योन्मुख इस अर्थ में भी है कि उन्होंने अपने अन्तर्जगत् के एकान्त में आनन्दमय लीला के गूढ़ तत्व का रसास्वादन किया है। यह लीला उनके अन्तरतम में निरन्तर चल रही है जब जमुना सब बही है।

वे कहती हैं

> मुरलिया बाजा जमुना तीर।
> मुरली म्हारो मन हर लीन्हो चित धरां ना धीर।
> स्याम कन्हैया स्याम कमरयां स्याम जमण रो नीर।
> धुण मुरली सुण सुध बुध बिसरां जरजर म्हारो सरीर।
> मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर बेग हरयां म्हा पीर।

सामान्यतः इस पद को सगुण साकार की ब्रज-लीला का पद माना जाता है, पर एक प्रश्न है। 'मुरली के स्वरों की यह लीला कहाँ हो रही है? स्पष्टतः इस लीला का क्षेत्र मीराँ का भाव-जगत् है और दिव्य-धाम की लीला से मुक्त चिरन्तन प्रभु रसिक रूप में मीराँ की आत्मा में प्रेममयी लीला के लिए अवतरित हो गया है। यहाँ मीराँ और अन्य सगुण भक्तों की भावना में तनिक अन्तर है। जहाँ सूर आदि राधा-कृष्ण की लीला के दर्शन-रस से तृप्त हैं जहाँ तुलसी राम-सिया की झाँकी को सौभाग्य मानते हैं वहाँ अनुरागिनी मीराँ स्वयं उस लीला में भाग लेने वाली एक पात्र है। इस प्रकार

---

(१) म्हारा साँवरो ब्रजवासी।
  बरण करयाँ अविनाशी म्हारो काम क्याल ना कासी।
  म्हारो प्रीतम हिरदां बसतां बरस लह्याँ सुख रासी।
  मीराँ रे प्रभु हरि अविनासी सरण गह्याँ थे दासी॥
  —कादी, पद ९५

मीरां की यह भावना निर्गुणियों और सगुण भक्तों की सामान्य भाव भूमि के मध्य की है। एक ओर निर्गुणियों की तरह उनकी आत्मा प्रेमरस लीला में स्वयं भाग लेती है, दर्शक जैसी आस्वादक नहीं है दूसरी ओर उनकी यह लीला सगुण-साकार मनमोहन की सीमा है (निराकार अनन्त उसका विस्तार है) गगन की गुफा के दिवा रात्रि से मुक्त उदय-अस्त-हीन लोक में कोरे निर्गुण तत्व की कल्लोल नहीं है।

निर्गुण-भक्त बिना बाती बिना तेल के दीप के प्रकाश में पारब्रह्म के जिस खेल की चर्चा करता है, वह मूलतः सगुण भक्तों की 'हरिलीला' से विशेष भिन्न नहीं है। डॉ॰ मुंशीराम शर्मा ने वेद पुराण तन्त्र और आधुनिक विज्ञान के आधार पर यही निष्कर्ष निकाला है कि 'हरिलीला आत्मशक्ति की विभिन्न क्रीड़ाओं का चित्रण है।[१] राधा कृष्ण गोपी आदि सब अन्तःशक्तियों के प्रतीक हैं। डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी के अध्ययन का निष्कर्ष है कि "रहस्य वादी कविता का केंद्र-बिन्दु वह वस्तु है जिसे भक्ति-साहित्य में लीला कहते हैं। यद्यपि रहस्यवादी भक्तों की भाँति पद पद पर भगवान का नाम लेकर भाव-विह्वल नहीं हो जाता परन्तु वह मूलतः है भक्त ही। ये भगवान अगम अगोचर तो हैं ही वाणी और मन के भी अतीत हैं फिर भी रहस्यवादी कवि उनको प्रतिदिन प्रतिक्षण देखता रहता है संसार में जो कुछ घट रहा है और घटना सम्भव है वह सब उस प्रेममय की लीला है भगवान के साथ यह निरन्तर चलने वाली प्रेम केलि ही रहस्यवादी कविता का केन्द्र बिन्दु है।[२] अतः मीरां की प्रेम-भावना में 'लीला' के इस निर्गुणत्व-निराकारत्व तक और कदाचित् उससे परे भी प्रसारित अरूप रूप का स्फुरण होना अस्वाभाविक नहीं है। आध्यात्मिक सत्ता में विश्वास करने वाले की दृष्टि से यह यथार्थ है सत्य है। पश्चिम के विचारों के अनुकरण पर इस 'मिस्टिसिज्म' या रहस्यवाद' कहना अनुचित है। यह केवल रहस् (आनन्दमयी लीला) है और मीरां की भक्ति-भावना में इसी 'रहस्' का स्वर है।

---

(१) कल्याण वर्ष १४

(२) भारतीय साधना और सूरदास पृष्ठ १०८

(३) साहित्य का साथी पृष्ठ १४

परंपरा और प्रयोग

मीराँ ने अनुभूति के अमूल्य क्षणों को सरस शब्द ही नहीं सराग स्वर भी दिए। सामान्य छंद का सहारा उन्होंने नहीं लिया क्योंकि छंद कविता को लय तो दे सकता है राग नहीं वह एकमात्र संगीत की सिद्धि है और इसमें संदेह नहीं कि सुप्रयुक्त राग अभिव्यक्ति को सबल ही नहीं उसके प्रभाव को व्यापक भी बनाता है। कदाचित् इसीलिये अपने युग के अन्य महान भक्तों की तरह उन्होंने भी आत्माभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में 'गेय पद' को चुना जो साहित्य और संगीत की मिलन-भूमि पर जन्मा काव्य-रूप है और जिसमें भावधर्मी शब्द-साधना संगीत के स्वर-विधान में आकार ग्रहण करती है। मीराँ का यह सौभाग्य था कि उन्हें पद की कई शताब्दियों की विकसित परंपरा का उत्तराधिकार अनायास ही मिल गया।

अनेक भारतीय विद्याओं के समान संगीत-शास्त्र का मूल स्रोत भी वेद ही माना जाता है।[1] सामवेद जिन दो भागों में विभाजित है उन्हें पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक की संज्ञा दी गई है। इस आर्चिक शब्द का अर्थ ही है— 'गेय मंत्रों का संग्रह'। वेद में उदात्त अनुदात्त और स्वरित ये तीन स्वर मिलते हैं। ऋक् प्रातिशाख्य में प्रथम द्वितीय तृतीय और चतुर्थ स्वरों का वर्णन है। भारतीय शिक्षा के अनुसार संगीत के सात स्वर सामगान के स्वरों के रूपान्तर हैं। पर यह सब होते हुए भी सत्य यह है कि वैदिक साहित्य में मध्यकालीन संगीत के मुख्याधार राग का उस अर्थ में प्रयोग नहीं मिलता जिसमें वह परवर्ती संगीत शास्त्र में प्रयुक्त हुआ।

संगीत शास्त्र के प्रथम ज्ञात आचार्य दत्तिल मुनि माने जाते हैं,[2] जो भरत के पूर्ववर्ती थे। उन्होंने सर्वप्रथम वादी अनुवादी तथा विवादी स्वरों की

---

(१) नाट्यशास्त्र १ ११ संगीत मकरंद १ १८

(२) दत्तिल मुनि के व्यक्तित्व तथा काल के संबंध में मतभेद है। प्राचीन परंपरा उन्हें संगीत तथा नाट्यशास्त्र के जन्मदाता

[पृष्ठ ४०७ पर देखिए]

परिभाषा तथा जातियों और सप्त स्वरों का संक्षिप्त विवेचन और स्वर-संख्या के आधार पर 'औड़व पाड़व तथा सम्पूर्ण' वर्गों में रागों का विभाजन प्रस्तुत किया भरत ने दत्तिल के अनुकरण पर पर अधिक विस्तार से 'जाति' के अनुसार रागों का वर्गीकरण किया पर इनकी एक मौलिक उद्भावना थी 'जातियों का रस और भावों से सम्बन्ध स्थापित करना।'[1] भरत के पश्चात् हरिवंश पुराण के विष्णु पर्व में छः ग्राम रागों का उल्लेख है और कहा गया है कि 'भीम जाति की स्त्रियों ने देवगधार राग में चालिक्य-गीत गाए'।[2]

ग्राम-रागों के प्रचलन की एक और परंपरा के अस्तित्व का प्रमाण दक्षिण भारत में कुडुमियमालाइ अभिलेख में मिलता है, जिसके अक्षर ७वीं सदी के हैं। इसमें यद्यपि परंपरागत रीति से नामोल्लेख नहीं है पर सप्त रागों को 'शोडव' अर्थात मध्यम ग्राम षड्जग्राम साधारित पंचकाम कैशिक मध्यम कैशिक के रूप में प्रस्तुत किया है, जो नारद-शिक्षा के ग्रामरागों से मिलते प्रतीत होते हैं। सामग्री परंपरा की दृष्टि से यह अभिलेख अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके संपादक श्री पी० आर० भंडारकर का तो मत है कि ये सप्तराग नाट्यशास्त्र से भिन्न किसी अन्य परंपरा के हैं।[3] यहाँ पंचतंत्र का उल्लेख भी अप्रासंगिक न होगा जिसकी एक कथा इस सम्बन्ध में मनोरंजक

पंचभरतों (नंदी कोहल दत्तिल, भरत तथा मतंग) में से एक मानती है। इधर विद्वानों का मत है कि ये कोहल के समकालीन और भरत के पूर्ववर्ती थे। —V V Narsinghacharya—The early writers on music (The Journal of the music Academy, Madras October 1930 pp 259)

(१) अध्याय २९
(२) अध्याय ८९, ८२ ८३
(३) "It is clear that the Seven rags of this inscription did not exist in the time of Bharatiya—Natya—Shastra When they came into existence is not known the present inscription being the earliest record"—Kudumiyamalai Inscription of Music Epigraphia India Vol. XII 1914 pp 266

पद-रचना

परंपरा और प्रयोग

मीरां ने अनुभूति के अमूल्य क्षणों को सरस शब्द ही नहीं सराग स्वर भी दिए। सामान्य छंद का सहारा उन्होंने नहीं लिया क्योंकि छंद कविता को लय तो दे सकता है राग नहीं जो एकमात्र संगीत की सिद्धि है और इसमें संदेह नहीं कि उपयुक्त राग अभिव्यक्ति को सबल ही नहीं उसके प्रभाव को व्यापक भी बनाता है। कदाचित् इसीलिये अपने युग के अन्य महान भक्तों की तरह उन्होंने भी आत्माभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में 'गेय पद' को चुना, जो साहित्य और संगीत की मिलन-भूमि पर जन्मा काव्य-रूप है और जिसमें भावधर्मी शब्द-साधना संगीत के स्वर-विधान में आकार ग्रहण करती है। मीरां का यह सौभाग्य था कि उन्हें पद की कई शताब्दियों की विकसित परंपरा का उत्तराधिकार अनायास ही मिल गया।

अनेक भारतीय विद्याओं के समान संगीत-शास्त्र का मूल स्रोत भी वेद ही माना जाता है।[1] सामवेद जिन दो भागों में विभाजित है उन्हें पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक की संज्ञा दी गई है। इस आर्चिक शब्द का अर्थ ही है—'गेय मंत्रों का संग्रह'। वेद में उदात्त अनुदात्त और स्वरित ये तीन स्वर मिलते हैं। ऋक् प्रातिशाख्य में प्रथम द्वितीय तृतीय और चतुर्थ स्वरों का वर्णन है। नारदीय शिक्षा के अनुसार संगीत के सात स्वर सामगान के स्वरों के रूपान्तर हैं। पर यह सब होते हुए भी सत्य यह है कि वैदिक साहित्य में मध्यकालीन संगीत के मुख्याधार राग का उस अर्थ में प्रयोग नहीं मिलता जिसमें वह परवर्ती संगीत शास्त्र में प्रयुक्त हुआ।

संगीत शास्त्र के प्रथम ज्ञात आचार्य दत्तिल मुनि माने जाते हैं[2] जो भरत के पूर्ववर्ती थे। उन्होंने सर्वप्रथम वादी अनुवादी तथा विवादी स्वरों की

---

(१) नाट्यशास्त्र १ ११ संगीत मकरंद १ १८

(२) दत्तिल मुनि के व्यक्तित्व तथा काल के संबंध में मतभेद है। प्राचीन परंपरा उन्हें संगीत तथा नाट्यशास्त्र के जन्मदाता

[पृष्ठ ४०७ पर देखिए]

परिभाषा तथा जातियों और सप्त स्वरों का संक्षिप्त विवेचन और स्वर-संख्या के आधार पर 'औडव षाडव तथा सम्पूर्ण' वर्गों में रागों का विभाजन प्रस्तुत किया भरत ने दत्तिल के अनुकरण पर, पर अधिक विस्तार से 'जाति' के अनुसार रागों का वर्गीकरण किया पर इनकी एक मौलिक उद्भावना थी 'जातियों' का रस और भावों से सम्बन्ध स्थापित करना।[1] भरत के पश्चात् हरिवंश पुराण के विष्णु पर्व में छः ग्राम रागों का उल्लेख है और कहा गया है कि 'भीम जाति की स्त्रियों ने देवगंधार राग में चालिक्य-गीत गाए'।[2]

ग्राम रागों के प्रचलन की एक और परंपरा के अस्तित्व का प्रमाण दक्षिण भारत में कुडुमियामलइ अभिलेख में मिलता है, जिसके अक्षर ७वीं शती के हैं। इसमें यद्यपि परंपरागत रीति से नामोल्लेख नहीं है पर सप्त रागों को 'षोटराग' अर्थात् मध्यम ग्राम षड्जग्राम साधारित पंचमम कैशिक मध्यम कैशिक के रूप में प्रस्तुत किया है जो नारद-शिक्षा के ग्रामरागों से मिलते प्रतीत होते हैं। मागधी परंपरा की दृष्टि से यह अभिलेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके संपादक श्री पी० आर० भंडारकर का तो मत है कि ये सप्तराग नाट्यशास्त्र से भिन्न किसी अन्य परंपरा के हैं।[3] यहाँ पंचतंत्र का उल्लेख भी अप्रासंगिक न होगा जिसकी एक कथा इस सम्बन्ध में मनोरंजक

पंचभरतों (नंदी कोहल दत्तिल, भरत तथा मतंग) में से एक मानते हैं। इधर विद्वानों का मत है कि ये कोहल के समकालीन और भरत के पूर्ववर्ती थे। —V V Narsinghacharya—The early writers on music (The Journal of the music Academy Madras October 1930 pp 259)

(१) अध्याय २९
(२) अध्याय ८९, ८२, ८३
(३) "It is clear that the Seven rags of this inscription did not exist in the time of Bharatiya—Natya—Shastra When they came into existence is not known the present inscription being the earliest record"—Kudumiyamalai Inscription of Music Epigraphia India Vol. XII 1914 pp 266

सामग्री प्रस्तुत करती है। उसमें एक संगीतज्ञ गया सप्त स्वर त्रैग्राम नवरस छत्तीस वर्ण आदि संगीत के १८५ तत्वों की चर्चा करता है।

इस परंपरा का एक विशेष उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है—मतंग मुनि कृत 'बृहद्देशी' जो नारद के संगीत मकरन्द (वीं शती) के पूर्व की रचना है। इस ग्रंथ में सबसे पहले 'राग' शब्द की विशद और ऐसी व्याख्या मिलती है जिसका अनुसरण आगे चलकर हुआ। मतंग ने स्वधिक संगीत (मार्ग) की चर्चा न करके देसी (लोक-संगीत) पर सविस्तर विचार किया है। उन्होंने अपने एक पूर्ववर्ती याष्टिक मुनि का भी उल्लेख किया है जिन्होंने गीति का विवेचन करते हुए उसके पाँच भेद किए थे—शुद्ध भिन्न वेसर, गौड़ और साधारित। मतंग ने गीति की जो परिभाषा और भेद दिए हैं उसकी ओर गीति या पद-काव्य के अध्येताओं का ध्यान अभी तक नहीं गया है। 'बृहद्देशी' राग के उद्भव के सम्बन्ध में भी मौलिक सामग्री प्रस्तुत करती है। अस्तु उन्होंने गीति के सात प्रकार बताए हैं—(१) शुद्ध (२) भिन्नक (३) गौड़िक (४) राग-गीति (५) साधारणी (६) भाषा गीति (७) विभाषा गीति।

राग गीति अन्य गीतियों से केवल रसात्मकता के कारण भिन्न है। इसमें रसोद्बोधन या भाव-जागरण की सामर्थ्य विशेष होती है। मतंगमुनि के अनुसार राग स्वर और वर्ण के सुन्दर सामंजस्य का नाम है जो मानव हृदय को रंजित करे[1] और रागगीति के व्यापक स्वर रचनाएं हैं जो प्रदीप्तकारी साहित्यपूर्ण वर्णों से विभूषित हों।[2] लोक-गीतों पर आधारित यही स्वर विभूषित राग-गीतियाँ साहित्य में यथार्थ की साधना बनकर पद कहलाईं।

---

(४) पंचतंत्र का रचनाकाल लगभग पांचवीं शती माना जाता है।

(१) स्वरवर्णविशेषेण ध्वनिभेदेन वा पुनः
रज्यते यन य कश्चित् स रागः सम्मतः सताम्
योऽसौ ध्वनि विशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः
रंजको जनचित्तानां स च राग उदाहृतः
बृहद्देशी २८० २८१ —पृष्ठ ८१

(२) ललितैर्गमकश्चित्रैः प्रसन्नरौरसैः समः
रञ्जकैः सुरतस्वर्गं रागगीतिरुदाहृता
—इत्यादि, वही (३००) पृष्ठ ८१

यह कोई संयोग की बात नहीं है कि मतङ्गमुनि के इस विश्लेषण के कुछ बाद ही अपभ्रंश तथा अपभ्रंश और हिन्दी के संधिकालीन भाषा के साहित्य में पद विपुल रूप में उपलब्ध हैं। वस्तुतः 'लोकगीत' की यही पुत्री 'रागगीत' 'पदगीत' की जननी है।

'पद' नामकरण के मूल के सम्बन्ध में प्रायः विद्वान मौन हैं। एकाध का सुझाव है कि यह शब्द दक्षिण के आलवार भक्तों की रचनाओं के साथ प्रचलित हुआ। इसी प्रकार 'धातु' शब्द के सम्बन्ध में कुछ भ्रम फैल गए हैं। कुछ लोग तो इसे आधुनिक निर्माण ही मानते हैं पर ये दोनों शब्द काफी प्राचीन हैं। पद के सम्बन्ध में बृहद्देशी का एक उद्धरण विचारणीय है—

भवमीर्त (?) पदं गीत्वा प्रथमे कला निर्वाह्य विभज्यितनयन यदा द्वितीया कला मध्यमलयेन (?) देवमित्यनेन पदेन प्रथमिति सङ्गेत[३]

उक्त उद्धरण में 'भवमीर्त पदं गीत्वा' प्रयोग से स्पष्ट है कि प्रारंभ में पद का अर्थ चरण ही था। 'पदं गीत्वा' कथन के सहारे 'पद-चरण के गीत गाकर' ही अर्थ देता था पर धीरे-धीरे पद शब्द (प्रभु) पद-वन्दना गीत' के लिए रूढ़ हो गया। धातु शब्द का प्रयोग भी बृहद्देशी में अनेक स्थानों पर मिलता है।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, नीच जाति की स्त्रियों के देव सोमेश्वर राग में धार्मिक गीतों के गाने के प्रमाण हरिवंश में उपलब्ध हैं। इनकी भाषा लोक-भाषा ही रही होगी। अभिजातवर्गीय साहित्य धर्म और दर्शन की गम्भीर और व्याकरण-जटिल भाषा होने के कारण संस्कृत में संगीतमय गीतिकाव्य प्रारम्भ में नहीं पनपा। कालिदास जैसे भावुक-हृदय नाटकीय कलाकार ने अभिज्ञान शाकुन्तल विक्रमोर्वशीय आदि नाटकों में गीतियाँ रचीं पर प्राकृत की, संस्कृत की नहीं। कालिदास-कृत ऋतुसंहार भी गीति-काव्य तो है पर राग-धातु-परम्परा (पद-परम्परा) के अन्तर्गत उसे नहीं रखा जा सकता। सच यह है कि संस्कृत

---

(३) बृहद्देशी—आनन्द, पृष्ठ ५२

(४) प्रथमा द्रुतलीके स्याद् द्वितीया विलम्बिता भवेत्॥

× × × —वही पृष्ठ ८२

कलान्ते द्विगुण चारौ द्विनिरन्तरे वाद्यहीना स्यात्॥

—वही, पृष्ठ ४०

में क्षेमेन्द्र से पूर्व रागाश्रित गीति-परम्परा के वर्णन नहीं होते। क्षेमेन्द्र के दशावतार चरित की गीति-शैली का अनुकरण आगे चलकर रागों के उल्लेख के साथ जयदेव-कृत गीतगोविन्द में हुआ। जयदेव ने इसी परम्परा में हिन्दी में पद भी लिखे जिनकी चर्चा आगे की गयी है।

हिन्दी का प्राचीनतम रूप सिद्धों की वाणियों में मिलता है। इनकी भाषा साहित्यिक अपभ्रंश काल की वह लोक-भाषा है, जो धीरे-धीरे आधुनिक भाषा का रूप ले रही थी। डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची और डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने इसे अपभ्रंश[1] विनयतोष भट्टाचार्य ने उड़िया[2], महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने बंगला[3], आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पुरानी बिहारी या पूर्वी बोली मिली अपभ्रंश[4] और राहुलजी ने मगही कहा है।[5] सिद्धों के अनुसार यह संधा-भाषा है। वास्तव में इसका भाषाशास्त्रीय रूप मगही और मैथिली से बहुत मिलता है। सिद्धों के पदों का एक प्राचीन संग्रह है "चर्याचर्य विनिश्चय"[6] जिसमें सरहपा शबरपा लुइपा कण्हपा शान्तिपा आदि तेईस सिद्धों के ५० पद संकलित हैं। इसके रचनाकाल की दो सीमाएं हैं—पूर्ववर्ती ८०० ई० और परवर्ती ११० ई०। चर्यापदों में से प्रत्येक के साथ उसके राग का नाम दिया हुआ है जो सम्भवतः उनके तिब्बती रूपान्तरों के साथ भी मिलता है।[7] ये राग हैं—पट मंजरी, गउड़ा गुंजरी गुर्जरी और देशीरव देवकी धनसी पटमंजरी बंगाल भैरवी मल्लारी मालसी मालसी गबुड़ी धनरी बराड़ी

---

(१) The Origin and Development of the Bengali Language page 42, Oriental Journal pt. I page 252 (Oct. '33–Sept. 34)

(२) साधनमाला—गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज, संख्या ४१ पृष्ठ ५३

(३) बौद्धगान औ दोहा पृष्ठ २४

(४) हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृष्ठ

(५) गंगा पुरातत्वांक पृष्ठ २५४

(६) यह नाम हरप्रसाद शास्त्री का दिया हुआ है। विधुशेखर शास्त्री इसे आश्चर्यचर्याचय डॉ० बागची चर्यागीतिकोष डॉ० सेन चर्यागीति और कुछ अन्य विद्वान चर्यापद कहना अधिक समीचीन समझते हैं।

(७) सिद्ध साहित्य डॉ० धर्मवीर भारती पृष्ठ ४५

बराड़ि रामकरी। इनमें से अधिकांश राग नारदकृत संगीत (७वीं और ११वीं शती के बीच की रचना) जैसे प्राचीन ग्रंथ में भी मिल जाते हैं।

सिद्धों की इस परम्परा का विस्तार नाथ-साहित्य में हुआ। पर नाथों और सिद्धों के बीच की कड़ी के रूप में मत्स्येन्द्रनाथ का नामोल्लेख आवश्यक है जो गोरखनाथ के गुरु माने जाते हैं। कुछ विद्वान लुइपा, मीननाथ और मत्स्येन्द्रनाथ को एक ही व्यक्ति मानते हैं। इनका रचनाकाल १०वीं शती है।[1] डॉ० कल्याणी मल्लिक ने सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति में जोधपुर की किसी प्रति के आधार पर चार पद उद्धृत किए हैं। भाषा की दृष्टि से ये बहुत प्राचीन नहीं लगते।[2] शायद मौखिक परम्परा के पथ पर परिवर्तन के शिकार हो गए हों। गोरखनाथ के नाम से जो पद प्रचलित हैं उनमें कितने सचमुच प्राचीन हैं यह कहना कठिन है। कुछ तो कबीर दादू और नानक के नाम पर भी गाए जाते हैं और कुछ लोकोक्ति और जोगीड़ों के रूप में भी चल पड़े हैं। जो भी हो इनकी रागमयता असंदिग्ध है और इनमें कुछ प्राचीन पद भी मिले हुए हैं जो संत-पद-परम्परा के पूर्वज हैं।

तेरहवीं शती के जयदेव कृत गीत गोविन्द का मुख्य अंश गीतिमय ही है और इन गीतों में रागों तथा तालों का भी उल्लेख है।[3] इन्हीं जयदेव के दो हिन्दी पद भी उपलब्ध हैं। एक में इड़ा–पिंगला की साधना की चर्चा है और दूसरे में "गोविन्दहि भज" का उपदेश। वैष्णव भक्त रामानन्द के समय तक हठयोगी साधना के

(१) डॉ० बागची ने इनके कौलज्ञान निर्णय ग्रंथ का रचना-काल ११वीं शती माना है।

(२) राग धनासरी (धनाश्री)
अलेख अबूझी आप लीयो बीतराग ॥
ज्यों ज्यों नर स्वारथ करै कोई न सवारो काम ।टेक।
सत निरंजन पाइये कहै मछन्दर नाम।।१।।

(३) ये राग हैं—मालव गौड़ गुर्जरी वसन्त रामकरी कर्णाट, देशाख देशवराड़ी, गुणकरी, मालव, भैरवी।

(४) डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी इनके रचयिता को गीत गोविन्दकार से भिन्न मानते हैं पर जैसा कि परिशिष्ट में स्पष्ट किया गया है ये दो भिन्न व्यक्ति नहीं प्रतीत होते।

विरोधी नहीं थे। इसी से गंगा-जमुनी समन्वय जयदेव में स्पष्ट है, रामानन्द में भी था। जयदेव के ये पद गूजरी और मारू रागों में हैं और भावाभिव्यक्ति तो नहीं पर शिल्प की दृष्टि से पदगीति के सुन्दर उदाहरण हैं।

रामानन्दजी (जन्म सन् १२११) द्वारा रचित कतिपय पद मिलते हैं जिनमें से एक राग बसन्त के अन्तर्गत गुरु ग्रंथसाहिब में दिया हुआ है—'कत जाइए रे घर रंग लागो मेरा चितु न चले मन भइउ पंगु।' डॉ॰ पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल द्वारा एकत्र सामग्री के आधार पर डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'रामानन्द की हिन्दी रचनाएं' में रामानन्दजी का एक और पद है 'हरि बिनु जन्म वृथा खोयो रे'।

रामानन्द जी के पश्चात् पद-साहित्य रचयिताओं की चार परम्पराएं स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं

(१) साकार-सगुण-उपासकों की (वैष्णव)
(२) निराकारवादियों की (संत)
(३) लौकिक शृंगार और ओज की
(४) संगीत-शास्त्रियों की

पहली तीन धाराएं भाव (साध्य) प्रधान हैं चौथी में संगीत (प्रसाधन) प्रमुख है। मीरां के पूर्व ये चारों धाराएं विकास के चरम शिखरों के निकट पहुँच गई थीं।

(१) सगुण-साकार की भक्ति से प्रेरित होकर विपुल पद-साहित्य रचा गया। जयदेव से लेकर मीरां तक इसके विकास की अनेक कड़ियां सामने आ गई हैं। यह वह युग था जब राम और कृष्ण समस्त उत्तरभारतीय साधना में प्रमुख रूप से परिव्याप्त हो गए थे। हिन्दी ही नहीं अहिन्दी प्रदेश के अनेक भक्त ब्रजी में पद लिखने लगे थे। गुजरात के नरसिंह मेहता और भालण महाराष्ट्र के चक्रधर, आसाम के शंकरदेव इन सबने ब्रजी के किसी न किसी रूप में पद रचना की है। ब्रज तथा निकटवर्ती प्रदेश के विष्णुदास सूर और कुंभनदास तो मीरां के पूर्ववर्ती थे ही। इन्होंने-हिन्दी में उद्धृत पंक्तियों के कुछ प्रमाणमाला तिलक भी मीरां पूर्व के हो सकते हैं। इन सबने पद का पूर्वप्रचलित रूप ही लिया और टेक तथा अन्तरों को शास्त्रीय संगीत के स्वरों में ढाला। सूर के अतिरिक्त किसी अन्य भक्त में प्रयोगों की बहुलता और छन्दों का रागों के साथ समन्वय का कलात्मक प्रयास नहीं मिलता। हां मिथिला की अमराइयों में विद्यापति ने अपने गीतों को परम्परागत पद के

मोड़ा भिन्नरूप दिया। साहित्यिक रूढ़ियों में जकड़े इस शृंगारिक महाकवि ने संगीत की रूढ़ियों की निर्मम उपेक्षा की है और अपने गीतों को शास्त्रीय संगीत के पथ से हटाकर लोक-गीत और साहित्यिक लयात्मकता के साँचे में ढाला है।

(२) पद-परंपरा का प्रारम्भिक विकास सिद्ध-नाथ-संत परंपरा द्वारा ही हुआ। आत्मानुभूति लोक-संगीत तथा टेक और अन्तरा से समन्वित पद-रूप इन तीनों तत्वों का निर्वाह संतों ने किया। निराकारवादियों की पद-परंपरा का प्रारंभ अहिंदी भाषी सन्त नामदेव (मराठा) ने किया था। इनके ६२ पद तो गुरु ग्रंथसाहिब में ही मिलते हैं जिनमें गूजरी सोरठ धनाश्री टोडी आदि अनेक रागों का उल्लेख है। नामदेव की इस परंपरा में त्रिलोचना बेणी सधना रैदास धना नानक पीपा और सेना के नाम उल्लेखनीय हैं, पर इस परंपरा का चरम विकास कबीर में मिलता है जिन्होंने हरिदास के खुमार में पैब के चाखने के परे के सत्य को शब्दों में बाँधा था। जहाँ इस पद-परंपरा को सूर ने चिरवंदनीय कला और रस की रम्यतम छटाएं दीं वहाँ कबीर ने उसे क्रान्तिकारी स्वर और लोकगीत की सहजता प्रदान की।

(३) मीराँ के पूर्व लौकिक शृंगार और मोक्ष के पदों की सुन्दरतम परंपरा राजस्थान के प्राचीन साहित्य में मिलती है। संवत् १५१२ में जालौर के चौहान अखैराज के आश्रित बीसनगरा नागर (ब्राह्मण) पद्मनाभ ने 'कान्हड़दे प्रबंध'[1] की रचना की थी जिसमें कान्हड़दे और अलाउद्दीन के युद्ध का वर्णन है। इसमें पाँच भावप्रवण गीत भी हैं।[2]

---

(१) राजस्थान पुरातन ग्रंथमाला, ग्रंथांक ११ (जयपुर)

(२) अलाउद्दीन की पुत्री पिरोजा अपने पिता के विरोधी कान्हड़दे के पुत्र और अपने प्रेमी वीरमदे के वरासयी होने पर सती होने को प्रस्तुत होती है उस समय का एक गीत है:

राग मालवगु सामेरी ॥ (खण्ड ४ से)
पूरब प्रेम संभारीउ आंसूडे भीजइ हारडी ॥
गुण कोडी अवगुण थया, अम्ह कहि कारणि सिणगारडी ॥
ध्रुपद ॥ सगुण सलूण राउल क्यहपूं किस्यूं।
हूं ता प्रेम पहेलडी तू सौनगिरउ चहुआणडी ॥
× × ×
तुं अमरापुरि संचरयउ हुं मरणि न मेल्हुं साथ की ॥ सगुण० ॥

विरोधी नहीं थे। इसी से गंगा-यमुनी समन्वय जयदेव में स्पष्ट है रामानन्द में भी था। जयदेव के ये पद गूजरी और मारू रागों में है और भावाभिव्यक्ति तो नहीं पर शिल्प की दृष्टि से पदगीति के सुन्दर उदाहरण हैं।

रामानन्दजी (जन्म सन् १२९९) द्वारा रचित कतिपय पद मिलते हैं जिनमें से एक राग बसन्त के अन्तर्गत गुरु ग्रंथसाहिब में दिया हुआ है—'कत जाइए रे घर रंग लागो मेरा चितु न चलै मन भइउ पंगु'। डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल द्वारा एकत्र सामग्री के आधार पर डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'रामानन्द की हिन्दी रचनाएं' में रामानन्दजी का एक और पद है 'हरि बिनु जन्म वृथा खोयो रे'।

रामानन्द जी के पश्चात् पद-साहित्य रचयिताओं की चार परम्पराएं स्पष्ट दिखाई पड़ती है

(१) साकार-सगुण-उपासकों की (वैष्णव)
(२) निराकारवादियों की (संत)
(३) लौकिक शृंगार और प्रोज की
(४) संगीत-शास्त्रियों की

पहली तीन धाराएं भाव (साध्य) प्रधान हैं चौथी में संगीत (प्रसाधन) प्रमुख है। मीरां के पूर्व ये चारों धाराएं विकास के चरम शिखरों के निकट पहुँच गई थीं।

(१) सगुण-साकार की भक्ति से प्रेरित होकर विपुल पद-साहित्य रचा गया। जयदेव से लेकर मीरां तक इसके विकास की अनेक कड़ियाँ सामने आ गई हैं। यह वह युग था जब ब्रजी और कृष्ण समस्त उत्तरभारतीय साधना में प्रमुख रूप से परिव्याप्त हो गए थे। हिन्दी ही नहीं अहिन्दी प्रदेश के अनेक भक्त ब्रजी में पद लिखने लगे थे। गुजरात के नरसिंह मेहता और मालवा महाराष्ट्र के चक्रधर, असम के शंकरदेव इन सबने ब्रजी में किसी न किसी रूप में पद रचना की है। ब्रज तथा निकटवर्ती प्रदेश के विष्णुदास सूर और कुंभनदास तो मीरां के पूर्ववर्ती थे ही। दकनी-हिन्दी में छद्मपूत पंथियों के कुछ अज्ञातनामा लेखक भी मीरां पूर्व के हो सकते हैं। इन सबने पद का पूर्वप्रचलित रूप ही लिया और टेक तथा अन्तरों को शास्त्रीय संगीत के स्वरों में ढाला। सूर के अतिरिक्त किसी अन्य भक्त में प्रयोगों की बहुलता और छन्दों का रागों के साथ समन्वय का कलात्मक प्रयोग नहीं मिलता। हाँ मिथिला की अमराइयों में विद्यापति ने अपने गीतों को परम्परागत पद से

मोड़ा निश्चय दिया। साहित्यिक रूढ़ियों में उलझे इस शृंगारिक महाकवि ने संगीत की रूढ़ियों की निर्मम उपेक्षा की है और अपने गीतों को शास्त्रीय संगीत के पथ से हटाकर लोक-गीत और साहित्यिक समारमकता के साँचे में ढाला है।

(२) पद-परंपरा का प्रारम्भिक विकास सिद्ध-नाथ-संत परम्परा द्वारा ही हुआ। भावानुभूति लोक-संगीत तथा टेक और अन्तरा से समन्वित पद-रूप इन तीनों तत्वों का निर्वाह संतों ने किया। निराकारवादियों की पद-परंपरा का प्रारंभ महाराष्ट्री भाषी सन्त नामदेव (मराठा) ने किया था। इनके ६२ पद तो गुरु ग्रंथसाहिब में ही मिलते हैं जिनमें गूजरी सोरठ धनाश्री टोडी आदि अनेक रागों का उल्लेख है। नामदेव की इस परंपरा में त्रिलोचना बेणी सधना रैदास धना नानक पीपा और सेना के नाम उल्लेखनीय हैं पर इस परंपरा का चरम विकास कबीर में मिलता है जिन्होंने हरिरास के सुमार में मैंव के जीवन के परे के सत्य को शब्दों में बाँधा था। जहाँ इस पद-परंपरा को सूर ने चिरस्मरणीय कला और रस की रम्यतम छटाएं दीं वहाँ कबीर ने उसे क्रान्तिकारी स्वर और लोकगीत की सहजता प्रदान की।

(३) मीरां के पूर्व लौकिक शृंगार और भाव के पदों की सुन्दरतम परंपरा राजस्थान के प्राचीन साहित्य में मिलती है। संवत् १२१२ में जालौर के चौहान अखैराज के आश्रित वीसनगरा नागर (ब्राह्मण) पद्मनाभ ने कान्हड़दे प्रबंध [1] की रचना की थी जिसमें कान्हड़दे और अलाउद्दीन के युद्ध का वर्णन है। इसमें पाँच भावप्रवण गीत भी हैं।[2]

---

(१) राजस्थान पुरातन ग्रंथमाला ग्रंथांक ११ (जयपुर)

(२) अलाउद्दीन की पुत्री फिरोजा अपने पिता के विरोधी कान्हड़दे के पुत्र और अपने प्रेमी वीरमदे के बराक्षयी होने पर सती होने को प्रस्तुत होती है, उस समय का एक गीत है :

राग मालवणु सामेरी ॥ (खण्ड ४ से)

पूरब प्रेम संभारीउ आंसूडे भीनउ हारजी ॥

गुण पीटी अवगुण गया, प्रभु कहि कारणि तिजयारजी ॥

ध्रुपद ॥ सगुण सलूण राउल किसरूं किस्यूं।

हूं ता प्रेम गहेलडी तु सोनगिरउ बहुमाणजी ॥

× × ×

तुं अमरापुरि सचरयउ हूं मरणि न मेल्हु साथ जी ॥ सगुण० ॥

इसी प्रसंग में 'सुपियार दे' छाप से उपलब्ध गीतों का उल्लेख भी महत्वपूर्ण है। सुपियारदे का काल १५०० वि० के आसपास माना जाता है। इनके नाम से धनाश्री आदि रागों में अनेक गीत प्रचलित हैं जिनमें पद के रचना-कौशल के सौंदर्य का मार्मिकता के साथ निर्वाह है।[१] गीति-काव्य के विकास पर कार्य करनेवाले शोधकों को राजस्थानी की विशाल गीतिधारा की ओर ध्यान देना चाहिये। पद्मनाभ और सुपियारदे के अतिरिक्त नरपति, सिवायच चौमुखा[२] बारहट चोहथ[३] हरिसूर, बीठ्सूरा[४] सामजी महडू आदि अनेक गीतिकार हैं, जिनका काल मीरा और सूर से पहले पड़ता है और जिनके अनेक प्रोज्वल गीत हस्त-लिखित प्रतियों में उपेक्षित पड़े हैं।

(४) संगीतकार कवियों के पद साहित्य और धर्म ही नहीं, संगीत भी पद-रचना की एक महान प्रेरणा रहा है। अमीर खुसरो ने अपनी रचना 'नुह सिपेहर' में हिन्दुस्थान का गौरव बढ़ाने वाले दस तत्वों में संगीत की चर्चा सविस्तार की है और ख्वाजा मेसूदराज सैयद मुहम्मद हुसैनी ने ता हिन्दवी के संगीत को सूफियों के लिये सबसे बड़ा आकर्षण माना है।[५] मीरां के पूर्व पद रचयिता संगीतकारों में तीन नाम विशेष उल्लेखनीय हैं अमीर खुसरो बैजूबावरा और गोपाल नायक।

एटा जिले के पटियाली ग्राम में संवत् १३११ में जन्मा दिल्ली के तख्त पर ग्यारह बादशाहों के उदय-अस्त का साक्षी अमीर खुसरो मसनव का ही धनी नहीं भारतीय और ईरानी संगीत पद्धतियों का भी माहिर था।

---

(१) (राग धनाश्री)
सुपियारदे सुंदरि आसकरण मराण्यड है काई।
× × ×
बहिनि बड़ड भरबड है ! तस्री बाड ॥
सुपियारदे सुंदरि ॥

(२) अनूप संस्कृत लाइब्रेरी बीकानेर, हस्तलिखित प्रति सं० ९९

(३) JASB (NS) Nov 1917 pp 234

(४) Descriptive Catalogue Section II pt. I pp. 45
(तेस्सितोरी)

(५) खिलजीकालीन भारत, सैयद अतहर अब्बास रिजवी, १९५४ पृष्ठ १७९-१८०

उन्होंने मलीर साजगरी इमन उश्शाक आदि अनेक रागों की सृष्टि की बरवा राग में लय रखने का प्रणाली प्रवर्तन किया और उर्दू कव्वाली-भजन की पद्धति पर बहुत से पद लिखे। बसन्त के पद और झूले के गीत तो मधुरता आत्माभिव्यक्ति और संगीतात्मकता के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध हैं[1] और उल्लेखनीय बात यह है कि पद की सबसे बड़ी विशेषता 'टेक' की पद्धति का लोकगीतों के अनुरूप प्रयोग किया।

'गायिकी कानड़ा' राग के यशस्वी रचयिता गोपालनायक का जीवन वृत्त अज्ञात-सा ही है। प्रायः लोग अकबरकालीन गोपाललाल को गोपालनायक से मिला देते हैं। १२ वीं शती पूर्वार्द्ध में विजयनगर-नरेश देवराज के दरबारी और शारंगदेव-कृत संगीत रत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ ने ताल अध्याय की टीका में कहा है 'मनुकतालवस्तु गोपालनायकेन राग बर्वरेण गुप्तवद प्रयुक्तम्। केप्टेन विलियर्ड के अनुसार वे १३१ ई० में देवगिरि से मलिक काफूर के साथ दिल्ली आए और उन्होंने खुसरो को पराजित किया। कुछ भी हो राग कल्पद्रुम में इनके कुछ पद संकलित हैं, जो साहित्य की दृष्टि से सामान्य हैं।[2]

इन दोनों के अतिरिक्त बैजू का नाम भी मीरां के पूर्ववर्ती संगीतज्ञ पदकारों में आदर से लिया जा सकता है। मानकुतूहल के फारसी अनुवादक फकीर उल्लाह के अनुसार नायक बख्शू और कर्ण के साथ बैजू भी मानसिंह दरबार के प्रसिद्ध गायक थे। मानकुतूहल के अनुसार संगीतकार के लिए पदकर्ता होना आवश्यक था।[3] गोपाल नायक की अपेक्षा बैजू के पद अधिक

---

(१) झूले के गीत: जो पिया आवन कह गए
 अजहुँ न आए स्वामी हो।
 जो पिया आवन कह गए
 आवन कह गए आए न बारह मास।
 जो पिया आवन कह गए
 अजहुँ न आए जियरा भयो है उदास।

(२) जय सरस्वती गनेश महादेव अखिल सूर्य सब देव।
 देहो मोय विद्या कर कंठ पाठ॥ —आदि

(३) मानसिंह और मानकुतूहल पृष्ठ १२२ (श्री हरिहर निवास द्विवेदी, ग्वालियर)

साहित्यिकता लिए हुए हैं। उनमें लोक-जीवन की निश्छलता और कलात्मक संगीतात्मकता का सुन्दर समन्वय है।[1]

मीरां के पदों की डाकोर तथा काशी की प्रतियों में रागों का उल्लेख नहीं है। वैजनाथदास के टिप्पण और नागरीदास कृत नागरी-समुच्चय में जो पद उद्धृत हैं उनमें भी रागों के नाम नहीं दिए गए। वारकरी रामदासी तथा रामसनेही संप्रदाय में उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों में भी रागोल्लेख का अभाव है। संवत् १६१५ की विद्या सभा की प्रति में केवल दो पदों पर 'राग मारु' और 'राग काफी' के उल्लेख हैं। मीरां की स्वीकृत पदावली के कुछ पदों के साथ कहीं-कहीं परवर्ती प्रतियों में रागों के नाम दिए हुए हैं। उनकी गणना करने पर मीरां के पदों के कम से कम २७ रागों में गाए जाने के संकेत मिलते हैं—

> मालव भैरो कान्हड़ा जोगिया तिलग प्रभाती, पूर्वी एकताला कल्याणी मल्हार, सिंधु आसावरी काफी टोडी, धानी पीलू, बरवा बागेश्वरी भैरवी ललित सोरठ, कालेंगड़ा कमोद देश पीलू परज बिहाग मारू हमीर, झिंझोटी।

जैसे मीरां के नाम से प्रचलित समस्त पदों में रागों की संख्या ९२ से ऊपर पहुँच जाती है। ऐसा भी हुआ है कि एक ही पद विभिन्न प्रतियों में विभिन्न रागों के साथ उद्धृत मिलता है। इनमें से कुछ राग तो मीरां के बाद के हैं जैसे दरबारी कान्हड़ा मीयां की मल्हार। इन रागों की योजना निश्चित रूप से तानसेन ने की थी जो मीरां के परवर्ती थे। मीरां ने अपने किसी पद में राग-रागिनी ग्राम मूर्छना तान आदि शब्दों का वैसा प्रयोग नहीं किया जैसा कि कहीं-कहीं सूर के पदों में मिलता है।[2]

मीरां का मल्हार राग

मीरां के नाम पर मल्हार का एक विशिष्ट रूप मीरां की मल्हार राग कहलाता है। महाराष्ट्रीय ज्ञानकोष के अनुसार यह राग आसावरी थाट से उत्पन्न होता है। इसका आरोहावरोह सोलह स्वर का होता है अतएव इसकी जाति संपूर्ण है, वादी स्वर मध्यम तथा संवादी षड्ज है और गाने का समय

(१) जहां कहुं उन बिन मन करो जात है संयम करतें कर मन किया है विगार। —ध्वनि

(२) सूर सागर—प्रथम स्कंध पद ११५१ तथा पद ११५३

रात्रिका दूसरा प्रहर माना जाता है। इस राग में दो गंधार, दो धैवत और दो निषाद होते हैं।[1]

लखनऊ के एक प्रसिद्ध हिन्दू संगीतज्ञ के कथन के आधार पर श्री भातखण्डे का कहना है कि 'मल्हार और कानड़ा मिलकर मीरा की मल्हार हो जाते हैं।'[2]

महाराज सवाई प्रतापसिंह देव ने (राज्य-काल-सं० १७७६ १८ ४) 'संस्कृत के प्राचीन ग्रंथों को मथकर' संगीत-रत्नाकर के आधार पर 'संगीत सार' नामक बृहद् ग्रंथ की रचना की थी जिसमें उन्होंने मल्हार के विषय रूप 'भूरमल्हार' 'नायक रामदास की मल्हार' 'बुरिया मल्हार' 'नर मल्हार' और 'गौड़ मल्हार' की उत्पत्ति तथा उनके स्वरूपों का विवरण दिया है। 'मीराँ की मल्हार जैसी किसी मल्हार का उल्लेख उन्होंने नहीं किया। चतुर पण्डित द्वारा बताये गये मल्हार के भेदों में भी मीराँ की मल्हार का नाम नहीं है। मीराँ की जन्मभूमि के प्रदेश राजस्थान की एक रियासत के स्वामी और अठारहवीं शताब्दी के (मीराँ के लगभग दो सौ वर्ष बाद के जब कि वे समस्त भारत के बंदनीय हो गई थी) एक हिन्दू राजा का अपने ग्रंथों में सूर, मिया तानसेन तथा रामदास आदि की मल्हार का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हुए भी मीराँ की मल्हार का अनुल्लेख यह महत्वपूर्ण प्रश्न जाग्रत करता है कि 'क्या उस समय मीराँ की मल्हार नाम का कोई राग अस्तित्व में था और अगर था तो क्या इतना नगण्य था कि संगीत के ग्रंथों में उल्लेख भी न हो? संगीतमय पदों

---

(१) हा राग असावरी थाटांतुन उत्पन्न होतो यांचे आरोहावरोह दोन्हि स्वरानी होतात म्हणून याची जाति सम्पूर्ण आहे, वादी स्वर मध्यम तथा संवादी षड्ज आहे। गान समय रात्री चा दूसरा प्रहर मानीतात या रागांत दोन धधार दोन गंधार दोन धैवत व दोन निषाद हे स्वर आवश्याचा गायकांचा परिपाठ आहे। पृष्ठ (२) ५५

(२) भातखण्डे संगीतशास्त्र प्रथम भाग. पृष्ठ २४७-२५१

(३) संगीत सार पृष्ठ २४७-२५१

(४) मेघसोरठदेशाख्या ब्रयावन्ती तथैव च।
स्याद् बुरिया पुरवासी नामकी मल्युजकाः ॥
तानसेनी तथा गौंडोहारपौ भ्रंमनामिका।
इतिमल्लारिका भेदा व्यवहारे बुधैमता ॥

की रचना में निपुण होते हुए भी मीरां को संगीत के शास्त्रीय विवेचन में कोई रुचि नहीं थी। तानसेन आदि की तरह रागों की स्वरूप मीमांसा की बात तो दूर रही कुम्भनदास गोविन्द स्वामी आदि के समान संगीत की शास्त्रीय शब्दावली का प्रयोग भी उनके पदों में नहीं है। उनके नाम से मीरां की मल्हार चलने के दो संभाव्य कारण हैं,—

(१) मियाँ को प्राय 'मिया' भी लिखा जाता था। हो सकता है कि 'मीया लिपि दोष के कारण मीरां बन गया और 'मीया की मल्हार' मीरां की मल्हार बन गई और फिर धीरे धीरे उसका एक स्वतंत्र रूप विकसित हो गया।

(२) मीरां ने वर्षा-सम्बन्धी कुछ बहुत सुन्दर पद लिखे हैं। मल्हार राग का सम्बन्ध इस ऋतु से विशेष माना जाता है। हो सकता है कि मीरां-*काव्य-संगीत के प्रेमियों ने इन पदों के आधार पर मीरां की मल्हार की* कल्पना की जो कालान्तर में सूर, मीरां और रामदास की मल्हार के समान ही प्रसिद्ध हो गई।

संगीत की प्राचीन परंपरा मौखिक अधिक रही है और लिपि-दोष उसे अधिक प्रभावित करने में सक्षम नहीं रहा। अतएव यही अधिक संभव प्रतीत होता है कि उनके पदों के आधार पर उनके पद-प्रेमी संगीतज्ञों का निर्माण है।

समय सिद्धांत

यह एक परंपरागत मान्यता है कि प्रत्येक विशिष्ट राग का विशिष्ट ऋतु तथा विशिष्ट प्रहर से संबन्ध होता है। दत्तिल भरत तथा मतंग ऋषि के ग्रंथों से इस दिशा में कोई संकेत नहीं है। नारद के संगीत मकरंद में प्रथम बार इसका उल्लेख मिलता है। आधुनिक युग में इस सिद्धांत की सत्यता के संबंध में मतैक्य नहीं है।

संगीत-मकरंद में रागों का जो समय दिया है उसके अनुसार मीरां के पदों के रागों की पीछे की हुई सूची में से प्रातः काल गाये जाने वाले राग ललित तथा मल्हार हैं दोपहर को गाये जाने वाला देवी है। शेष के संबन्ध में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं है। 'संगीत-रत्नाकर' में अधिकांश ग्राम रागों और कुछ रागों का गायन-काल दिया हुआ है। पुण्डरीक विट्ठल के अनुसार

---

(१) रागाज एंड रागिनीज, गांगोली, पृष्ठ ८०

तक सूर्या के टोड़ी और भैरवी सवेरे गाने योग्य राग हैं। इस प्रकार विभिन्न संगीतशास्त्रियों द्वारा दी गयी सूचियों या श्लोकों के आधार पर मीरां के पदों के रागों के गायन-काल का निर्णय किया जा सकता है, परन्तु पद-काल-सिद्धांत की वैज्ञानिकता के विषय में बहुत मतभेद है।[2] वस्तुतः इसका आधार अत्यन्त अल्प अस्थायी तथा अस्पष्ट है और फिर प्राचीन रागों के स्वरूपों में भी परिवर्तन हुआ है। इस संबंध में एक कठिनाई और है। अष्ट छाप के कवियों के पदों के समान मीरां के पदों के गायन-काल के संबंध में कोई विश्वसनीय सूचना उपलब्ध नहीं है।

भावानुकूल राग

मीरां के पदों में भावानुकूल रागों का निर्वाह एक बड़ी विशेषता है। सामान्यतः राग शब्द का अर्थ ही है 'जो रंगता हो अर्थात् मन में एक निश्चित भावना या भाव-तरंग उठा देता हो'।[1] मीरां के पद भिन्न-भिन्न रागों में प्रायः गाये जाते हैं, उनके द्वारा व्यक्त भाव पद के मर्म से संबद्ध भाव के पोषक हैं। अधिकांश राग करुण और शृंगार से सम्बद्ध हैं, जैसे जोगिया का सम्बंध करुण से है, आसावरी पीलू, हमीर, भैरवी शृंगार, तिलंग करुण शृंगार जोगिया करुण और देस चंचल शृंगार से सम्बद्ध हैं। वास्तव में मीरां का करुण मय जीवन गिरिधर के प्रेम से संचित था। करुणा और शृंगार का प्राधान्य उसमें स्वाभाविक ही था पर उसे यथार्थ और स्वर दोनों के सहारे एक साथ उतार सकना महान प्रतिभा और सम्यक् अभ्यास का ही परिणाम है।

---

(२) हमारे यहाँ राग-रागनियों को दिन तथा रात्रि के नियमित समयों पर गाने की जो प्रथा चली आ रही है, वह केवल काल्पनिक है।

—गीत सूत्रसार, बनर्जी, पृष्ठ ५८

"मैं समय के महत्व को मानने वालों में से एक हूँ।

—भातखंडे संगीत शास्त्र, भातखंडे पृष्ठ ७६

(१) रागाज एंड रागिनीज गांगोली, पृष्ठ १

गीति-तत्त्व

पूर्व जिसके स्वरूप और परंपरा पर विचार किया जा चुका है, मीराँ की आत्माभिव्यक्ति का बाह्याकार मात्र है, उसका प्राण तो गीति-तत्त्व है। उनके हृदय की अश्रुस्नात तपन और मिलन के क्षण की प्रतीक्षा में व्याकुल जनम-जनम की प्रीति, राग और लय का सहारा पाकर अनायास मुखरित हो उठी है और सहज (सब नहीं) संगीत के लोक-रंजक स्वरों में अनुभूति का अपनत्व उद्गार ही तो गीति है, अतः अनजाने ही मीराँ मधुर गीतों की राजकुमारी के अभिनन्दन की अधिकारिणी बन गई है।

प्रायः गीति का विवेचन 'लिरिक' के तत्वों के सहारे किया जाता है पर प्राचीन भारतीय आचार्यों ने भी गीति पर विस्तार से विचार किया है। (महात्मा मातङ्ग द्वारा किए गए वर्गीकरण का उल्लेख तो पीछे किया जा चुका है।) यह ठीक है कि प्राचीन गीत संगीत के अन्तर्गत विवेचित है, पर रसात्मकता का व्यंजक होने के कारण वह साहित्य की परिधि के भी बाहर नहीं है। भरत ने नाटक की विभिन्न संधियों में विभिन्न रागों के (गीत) गाने की व्यवस्था और मतंग मुनि ने प्रबन्ध-काव्य के अन्तर्गत भी गीति की योजना का विधान किया है। कुछ भी हो, इन गीति-सम्बन्धी उल्लेखों और विवेचनों पर आधुनिक साहित्यिक दृष्टि से विचार करना चाहिए।

---

(१) 'न नादेन विना गीतं न नादेन विना स्वराः'
'मूलमोनादो गुहावासी हृदयवासि सूक्ष्मकः'

—बृहद्देशी पृष्ठ

(२) रंजकं सुरसंदर्भं रागगीतिरथाहृता ॥

—वही पृष्ठ ८०

(३) शशिविरहेव रजनी विजलेव नदी लताहृतपुष्पेव
अनलंकृतेव नारी गीतिरलङ्कार हीना स्यात् ॥

—वही पृष्ठ ४०

प्राचीन भारतीय मनीषा ने गीति के निम्नांकित तत्वों पर विशेष बल दिया है —

*(१) हृदयवासी अति सूक्ष्म भाव तत्व (भाव स्पन्दन)
(२) रंजक सुरसन्दर्भ (संगीतात्मकता) तथा
(३) प्रमकृति

इसके साथ ही गीति का केन्द्रीय मूलतत्व राग माना है जो भाव की लहर से हृदय को रंजित करता है (रंजति इति राग।)

पाश्चात्य परंपरा भी तीव्र वैयक्तिक सुख-दुखात्मक आवेग की संगीतात्मक शाब्दिक अभिव्यक्ति को गीति मानती है[१] तथा भाव या विचार की एकता और अन्विति पर बल देती है।[२]

मीराँ की गीतिमयता के कतिपय तत्व और आयाम इस प्रकार हैं :—

(१) आत्मानुभूति और संयमित भावातिरेक

मीराँ का समस्त काव्य उनकी एकान्तिक तथा सर्वथा वैयक्तिक भाव-सम्पत्ति पर आधारित है। सूर राधा की कथा के चित्रकार हैं, वहाँ वे दर्शक हैं, भोक्ता नहीं। मीराँ की कथा उनकी अपनी कथा है, उनकी व्यथा उनकी अपनी व्यथा है, वह आरोपित नहीं आत्मानुभूत सत्य है। इसी प्रकार जब कि तुलसी का दास्य-भाव और दर्शन उन्हें उन्मुक्त नहीं होने देता और आराध्य की गरिमा की सचेतनता उन्हें सतत सावधान करती रहती है, मीराँ मुक्त हैं उनके माधुर्य में गरिमा घुल जाती है, प्रणय में लौकिक निषेध मिट जाते हैं बरजने की बात नहीं रहती उनके व्यापार में स्वच्छंदता आ जाती है और अनुभूति अन्तरंग की गहराइयों को माप आती है। उस युग के दो

---

(१) Lyrical it may be said, implies a form of musical utterance in words governed by over mastering emotion and set free by a powerfully concordant rhythm—Lyrical Poetry Ernest Rhys Foreward, pp 6

(२) Lyrical shall turn on some single thought feeling and situation
Golden Treasury Palgrave F T page IX

* इसका फुटनोट पिछले पृष्ठ पर है—(१) (२) (३)

महान व्यक्ति तुलसी और कबीर दोनों अपने युग के अनेक सामाजिक प्रश्नों से चिन्तित थे। उनकी लोक मंगल कामी बौद्धिकता वंदनीय है पर यह शुद्ध गीति की एक महामहिम बाधा है। मीरां ने अपने और आराध्य के बीच किसी को नहीं रखा—धर्म सम्प्रदाय समाज किसी को भी नहीं। इस प्रकार मीरां के गीतों में शुद्ध आत्मानुभूति का अभिमिश्रित तत्त्व है, जो दर्शन और कला किसी की भी अतिशयता के भार से भी आक्रान्त नहीं है।

गीति न सुख का अट्टहास है और न दुख का हाहाकार।' जैसा कि महादेवी वर्मा ने कहा है—'वास्तव में गीत के कवि को आर्तक्रन्दन के पीछे छिपे दुखातिरेक को दीर्घ निश्वास में छिपे हुए संयम में बांधना चाहिए। मीरां के हृदय में बैठी हुई नारी और विरहिणी के लिए भावातिरेक सहज प्राप्य था उनके बाह्य राजरानीपन और आन्तरिक साधना में संयम के लिए पर्याप्त अवकाश था।[1] 'हेरी मैं तो दरद दिवानी मेरा दरद न जाने कोय' या 'पिया बिन सूनो है म्हांरा देस'—जैसी पंक्तियों में उनके संयत मन की साधनाभूत व्यथा है जिनमें न अभावों का अतिरंजित कोलाहल है, न सिद्ध संयम की पाषाणी जड़ता।

मीरां के गीतों में बाह्य का विवरण-चित्रण अधिक नहीं है। जहां वे कृष्ण के रूप और उनकी लीलाओं का वर्णन करती हैं वहां भी उनकी आत्मा का अनुप्रवेश है। 'चित चढ़ी म्हारे माधुरी मूरत हियरा अनी गड़ी' या 'रंग भरी राग भरी राग सू भरी री' जैसी पंक्तियों में बाह्य रूप-लीला की अपेक्षा उनका अन्तर्जगत ही अधिक ध्वनित है।[2] 'तनिक हरि चितवौ म्हारी ओर' या 'सुनो री म्हारे हरि आवेंगे आज' में तो उनके अन्तरंग का सीधा आत्मनिवेदन है वाणी के परिधान में उनकी सर्वथा अपनी माया आकांक्षा और व्यथाएं ही प्रस्तुत हैं, जिनमें न कला का परायापन है, और न दर्शन की दुर्बोध प्रतीकात्मकता।

---

(१) साम्य गीत भूमिका पृष्ठ ६–७

(२) The lyric has the function of revealing in terms of pure art, the secrets of inner life its hope, its fantastic joys, its sorrow its delirium— Encycpopaedia Britanica, 14th Ed xiv 532

प्राय: गीति कवि के व्यक्तित्व की प्रत्यक्ष व्यंजना करते हैं। मीराँ में तो वैयक्तिकता और आत्मगतता बहुत अधिक है, पर उनका यह वैशिष्ट्य वैचित्र्य की सीमा की ओर कहीं नहीं बढ़ा। उनकी संवेदनशीलता सर्वत्र व्यापक मानवीय स्तर की है। उनकी अनुभूति के क्षणों में युग-युग के सत्य ध्वनित हैं। इसलिए जहाँ उनकी वैयक्तिकता उनके पदों को मार्मिकता प्रदान करती है, वहीं उनकी मूलभूत अनुभूतियाँ (Elemental feelings) उन्हें सार्वसंवेद्य भी बना देती हैं।

गेयता :

वैसे तो कविता और संगीत का काफी निकट का सम्बन्ध है।[1] पर प्राचीन काल से ही संगीत को गीति का अनिवार्य तत्व माना गया है। 'गीति' और 'लिरिक' शब्द स्वयं इस बात के प्रमाण हैं। वस्तुत: आत्मानुभूति गीति का कन्द्र है संगीत उसकी परिधि। मीराँ में दोनों का सुन्दर सामंजस्य है। उनके पदों में शब्दार्थ की साधना संगीत के स्वरों के साथ एकरस हो गई है। वहाँ संगीत भाव को अनुकूल परिवेश प्रदान करता है। इस दृष्टि से वे हरिदास गोपालनायक तानसेन और बैजू जैसे संगीतज्ञ कवियों से पूर्णत: भिन्न हैं जिनके पदों में संगीत साध्य है और काव्य संयोगवश प्राप्त 'बाइप्रोडक्ट' मात्र। आधुनिक गीतिकारों के वर्ग में भी उन्हें नहीं रखा जा सकता है क्योंकि इनमें से अधिकांश परंपरागत रागाश्रित संगीत के नहीं सामान्य लयात्मकता के प्रयोक्ता हैं।[2] मीराँ में संगीत तो परंपरागत है, पर वह आत्मसत्ता न होकर अभिव्यक्ति का साधक है। उसमें राग ही नहीं छंदों का निर्वाह भी है और उसकी एक बड़ी विशेषता यह है कि वह शास्त्राक्रान्त नहीं शास्त्र सम्मत है।

मीराँ स्वयं शास्त्र-बद्ध नहीं शास्त्र-सिद्ध थी। शास्त्राभ्यासी इतनी स्वच्छंद, उन्मुक्त अकृत्रिम आत्मानुभूतिपरक गीतियाँ नहीं लिख सकता और संगीत के व्याकरण से अपरिचित के लिए रागों का ऐसा आश्चर्यजनक निर्वाह संभव नहीं। वस्तुत: उनके पदों में रागों का निर्वाह उनके नाम पर 'मीराँ

---

(१) कुछ विद्वानों का मत है 'Poetry is music in words and music is poetry in sound.'—The New Dictionary of thoughts pp. 470

(२) निराला को इसका अपवाद कहा जा सकता है।

की मल्हार' राग का प्रचलन और इन पदों का एकाकिन ग्राम-वधू से लेकर संगीत के कला-पारखियों तक के कण्ठों को शताब्दियों से मुग्ध करना, उनके सफल गेयत्व के अकाट्य प्रमाण हैं।

अन्विति और संक्षिप्ति

प्रायः गीति किसी एक पर पूर्ण भाव को चित्रित करता है। उसमें विस्तार अधिक नहीं रहता वह किसी आगत या अनागत सुख-क्षण का क्षण के रूप में निर्मित स्मारक है। मीरां के पद आकार में प्रायः संक्षिप्त हैं (अधिकांश ४-६ चरणों के ही हैं) और घनीभूत अनुभूति के व्यंजक हैं अतएव वहां उनमें वैविध्य और भाव-विस्तार का अभाव है वहां गीति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता भाव की अन्विति का पूर्णतः निर्वाह है। छायावादी युग के गीतों की तरह केन्द्रापगामी प्रवृत्ति उनमें बिलकुल नहीं है। प्रत्येक पद में प्रायः एक ही भाव की विवृति है। कहीं-कहीं तो अनेक पद किसी एक ही भाव या अवस्था के चित्र हैं, उनमें आवृत्ति का दोष आ जाता है साधारणतः गीति की आत्मा टेक में समाई रहती है शेष पद उसका विस्तार या शृंगार करता है।

गीति का अन्तरंग विभाजन भाव के स्वरूप आधार पर किया गया है और बहिरंग फॉर्म के पर यहां इनके विस्तार अनावश्यक है क्योंकि मीरां के प्रसंग में इनका उत्तर 'भक्ति' और 'पद'—इन दो शब्दों में मिल जाता है।

मीरां ने प्रबंध तो लिखा ही नहीं गीत भी संबद्ध नहीं स्वच्छंद रूप से लिखे। उनके गीतों में उनका अन्तरंग अभिव्यक्त है, इसलिए प्रयत्न करने पर उसमें प्रणय-कथा का सूक्ष्म सूत्र खोजा जा सकता है [1] पर वास्तव में वे प्रणयिनी साधिका की विभिन्न मनोदशाओं की मुक्त स्वच्छंद अभिव्यक्तियां मात्र हैं। ये मुक्त गीतियाँ भी तीन प्रकार की हो सकती हैं—स्वानुभूतिपरक, अध्यात्ममूलक तथा बाह्यवस्तुमूलक। बाह्य वस्तुमूलक (Objective) गीत वस्तु-के वर्णन चित्रण पर आधारित होते हैं जो मीरां में नहीं है। उनके तो पिय भी परदेस में नहीं उनके मनोन्नेय में बसे हैं। अध्यात्ममूलक गीतों

(१) आंसू में एक विशिष्ट योजना के कारण कथा का हलका सूत्र दिखाई पड़ने लगता है इसी प्रकार योजना करने पर मीरां के पदों में भी संभव है।

कवि अपने भाव को किसी अन्य पर अध्यास या आरोप करता है। महादेवी ने 'रात' को लेकर अन्यापदेशिक आत्माभिव्यक्ति की है। मीराँ ने अपनी भावनाओं का अध्यास नहीं किया न लौकिक लाज से न कला के आग्रह से। वे तो स्पष्टतः कहती हैं—माई मेरो पिया बिन असूणों देस।

> सेज असूणी भवन अकेली रैण भयंकर भेस।
> भाव असूण प्रीतम प्यारे, बीते जोबन-बेस ॥

इस प्रकार मीराँ के गीत शुद्ध स्वानुभूतिपरक हैं। चाहे प्रकृति हो चाहे समाज अन्ततोगत्वा उन्हें आत्मोन्मुख या कृष्णोन्मुख ही करते हैं।

आत्मप्रधान गीतों में कुछ कल्पना प्रधान होते हैं, कुछ चिन्तन और कुछ भाव-प्रधान। पल्लव (पंत) में कल्पना, कामायनी के बड़ा सर्ग (प्रसाद) में चिन्तन और सोपान (बच्चन) में भाव प्रधान है। मीराँ के गीत भी भाव प्रधान हैं भाव ही नहीं भावावेग-प्रधान हैं। प्रायः उनके पदों में भावों के चित्र नहीं हैं आवेग की व्यंजना है। विफल प्रतीक्षा की खिन्नता का एक चित्र है—

> पियरो पंथ निहारता सिगरी रैण बिहाणी हो।
> ज्यूँ चातक घन कूँ रटै मछली जिमि पानी हो
> मीराँ व्याकुल बिरहणी सुध बुध बिसराणी हो।

यहाँ खिन्नता जैसा सामान्य भाव भी विकलता का आश्रय लेकर उद्दीप्त हो उठा है और जब वे यह कहती हैं—आए मेरे सजना फिरि गए अगना मैं अभागण रही सोय' तो मन में एक व्यथामयी घुमड़न-मलाल और मसोस के साथ छटपटाहट में परिणत हो जाती है क्योंकि अब उनके पास शिकायत और उपालम्भ का सहारा भी नहीं रहा। मीराँ के काव्य में ऐसे और कितने ही उदाहरण खोजे जा सकते हैं। उनका अधिकांश विरह काव्य ऐसा ही है।

---

(१) म्हारी बूँदन मेहा बरसें
ऊपर सुरपति गरजें मा
सुनी सेज स्याम बिनु लागत
कूक उठी पिया करके हे मा

(२) यह संसार चहर की बाजी

गीत प्रायः तीन प्रकार के होते हैं—संगीत-गीत, लोक-गीत और साहित्यिक कला-गीत। मीरां के पदों का व्यक्तित्व तीनों प्रकारों की रंग रेखाओं से बना है। पहले प्रकार के गीत संगीत के रागों को प्रस्तुत करने के लिए लिखे जाते हैं। मीरां ने समस्त पद रागमय लिखे हैं, पर वे रागसक्ती नहीं हैं। लोक-गीत की अनेक तर्जें भी उनके पदों में घुली-मिली हैं। होली के गीत मीरां ने लिखे ठीक उसी लय पर जिसपर ब्रज में होली गाई जाती है और वे इतने लोकप्रिय हुए कि न जाने कितने अज्ञातनामा जन-कवियों का भावुकत्व भी उनमें मिल गया। सावनी की तो कितनी ही तर्जें उनमें मुखरित हैं। हाँ लोक-गीतों में लोक-जीवन का सामाजिक पक्ष प्रायः चित्रित रहता है, जिसकी अभिव्यक्ति मीरां में अत्यन्त क्षीण है। कलागीतों की कोटि में भी मीरां के पदों को पूर्णतः नहीं रखा जा सकता क्योंकि सूर या महादेवी का सचेतन शिल्प और साज-सज्जा उनमें नहीं है, पर इन पदों की साहित्यिकता से इनकार करना भी असंभव है। अनुभूतिमयता के आधार पर तो उन्हें द्विवेदीजी के शब्दों में 'सनातन साहित्य का शृंगार' कहा जा सकता है।

पाश्चात्य दृष्टि से मीरां के पदों में लिरिक के अधिकांश आदर्श गुणों का समावेश है।

भारतीय दृष्टिकोण से मीरां के गीतों में हृदयस्पर्शी अतिसूक्ष्म भाव तत्व रंजक सुर-संदर्भ और रागमयता तो है, अलंकृति अपेक्षाकृत अल्प है। शिल्प में ही नहीं अनुभूति और कल्पना में भी अलंकृति नहीं है, जो है, वह सहज सौंदर्य और रमणीयता है और वह भी संवेदना के स्तर पर। यह वस्तुतः मीरां की एक महान उपलब्धि है और कदाचित् एक उल्लेखनीय अभाव भी।

छंद-विधान

कविता का छन्द से चिर संबंध है। कलात्मक कृतियों के फल-स्वरूप उसमें अनेक सुधार और संस्कार होते आये हैं भावना का अनिर्वचनीय पोषक बनने की मुक्ति और स्वच्छन्दता भी उसे मिलती रही है पर उसका पूर्ण लोप कभी नहीं हुआ क्योंकि उपयुक्त छंद कविता के राग-तत्व की रक्षा करके उसे तीव्र ही नहीं बनाता उसके प्रभाव को व्यापक और अपेक्षाकृत अधिक ग्राह्य और आह्लादक बना देता है।[1] पंतजी के शब्दों में कविता का हृत्कंपन है।[2] छंद का प्राण तत्व लय है, जो अन्तर्वेग से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध है। यह लय 'हमारे हृदय हमारे फेफड़े हमारी नाड़ियों को प्रभावित कर देती है।[3] अतएव भावानुभूति की प्रभावोत्पादक और मन को छूकर तदनुरूप अनुभूति जगा देनेवाली अभिव्यक्ति का लय शक्ति से सम्बन्ध होना स्वाभाविक है।

मीरां ने राग रागनियों में पदों की रचना की है पर उन्होंने परंपरागत छंद-विधान का भी जाने या अनजाने उपयोग किया है। अनेक स्थलों पर तो उन्होंने छंद के शास्त्रीय बंधनों को अछूता रखकर भी उसे राग में ढाल दिया है और कहीं-कहीं कुशलतापूर्वक इन बन्धनों को ढीला करके उसे एक नया कलात्मक रूप प्रदान कर दिया है। पद के प्रमुखतः दो भाग हैं, टेक और

---

(१) पाणिनि के अनुसार छंद ('चदि' धातु से) का मूल अर्थ ही आह्लादन है—चदि आह्लादने दीप्तौ च—पाणिनीय धातुपाठ, भ्वादिगण। यास्क के अनुसार इसका अर्थ है आच्छादन करना।
(छंदः छादनात् छन्दांसि छादनात्—यास्ककृत निरुक्त, दैवत काण्ड ७-१२)

(२) पल्लव प्रवेश पृष्ठ २१

(३) लीलाधर गुप्त पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त पृष्ठ २२७

अन्तरा। टेक केन्द्रीय भाव की व्यंजक प्रथम पंक्ति होती है। आचार्य भरत ने उसके लिये 'ध्रुवक' शब्द का प्रयोग किया है। अन्तरा चरणों के उस वर्ग को कहते हैं जिसके पश्चात् ध्रुवक की आवृत्ति होती है।

टेक की दृष्टि से मीरां के पद दो वर्गों में रखे जा सकते हैं —

(१) वे पद जिनमें टेक का लक्षण शेष पद में (अंतरा में) भी पूर्णतः या अंशतः चरितार्थ होता है।[1]

(२) वे पद जिनमें टेक पद के शेषांश के छंद से भिन्न छंद की होती है।[2]

अन्तरे के छंद की दृष्टि से मीरां के पदों को फिर तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है

(१) एक ही छंद के पादों की अनेक आवृत्तियों पर आधारित पद [3]

(२) अनेक छंदों के पादों के संयोग से बने पद [4]

(३) छंद-शास्त्र के नियमों से मुक्त पद[5]

मीरां के पदों में टेक का कोई एक रूप नहीं मिलता। १२ मात्राओं से लेकर ३५ मात्राओं तक की टेकें मीरां ने प्रयुक्त की हैं। अतः टेकों में अनेक छंदों के चरणों का खोजा जा सकता है। उदाहरण के लिए—

(१) स बरे मा ह्या वीर १२ मात्राएं। अन्त आदित्य जाति का तोमर छन्द

(२) मन में परम हरि रे चरण १४ मात्राएं प्रथम प्रकार मनु मानव जाति का विजात छंद

---

(१) डाकोर पद ५, १९, ३० ३१ ३२ ३५, ३७ ४३ ४४ ४८ ५५, ६८
काशी पद ७१ ८१ ८४ ८७ ८९, ९० ९१

(२) डाकोर पद २ ३ ४ ६ ७ ८, ९, १०
काशी पद ७२ ७४ ७५, ७७ ७९, ८० ८२

(३) डाकोर, पद ८, १४ ३१ का० ८३ ९८

(४) काशी, पद ७० १०२

(५) काशी ७०

(३) मारो रूप देख्यां अटकी	१६ मात्राएं, तैथिक जाति का हंसी छन्द (यति दोष है क्योंकि ८ ७ के स्थान पर ७ ८ पर यति)
(४) भज मन चरण कमल अवनासी	१६ मात्राएं, अन्त में म जगण न तगण संस्कारी जाति का चौपाई छन्द
(५) देखा माई हरिमन काठ कियो	१८ मात्राएं, अन्त में ।।ऽ पौराणिक जाति का शक्ति छंद
(६) माई री म्हां लिया गोबिदां मोल	२ मात्राएं, ११ ६ पर यति महावेशिक जाति का हंसगति छन्द
(७) आली म्हांणे लागां बृन्दावण नीकां	२२ मात्राएं १२ १० पर यति अन्त ।ऽऽ, महारौद्रिक जाति का कुंडिल छन्द
(८) स्यामसुन्दर पर वारां जीवड़ा डारां स्याम	२५ मात्राएं, यति १३ १२ पर, अन्त में ऽ महाअवतारी जाति का सुगीत छन्द

छन्दशास्त्र के आचार्यों ने एक मात्रा के पाद वाले छन्द (चांद्रिक जाति के छन्द) से लेकर ३२ मात्रा के पाद वाले (लाक्षणिक जाति के छन्द) छन्दों का तो विशेष विवेचन किया ही है ३२ मात्राओं से अधिक के पादों से बने छन्दों (दण्डक छन्द) की भी व्यवस्था की है। इस बात का भी निर्णय कर दिया गया है कि एक जाति के छन्द के कितने भेद हो सकते हैं (जैसे मात्रिक लाक्षणिक जाति के ३५२४५७८ छन्द बन सकते हैं) अतएव मीरां की प्रत्येक टेक किसी न किसी छन्द के पाद की विशेषता से समन्वित कही जा सकती है, पर वस्तुतः मीरां में इस बात की ओर उपेक्षा का भाव ही विशेष रूप से लक्षित होता है। उनकी अनेक टेकें हैं जिनमें किसी प्रसिद्ध छन्द के लक्षण उपलब्ध नहीं होते। 'थे जीम्यां गिरधरलाल' (का० ८२) में १३ मात्राएं हैं, इसलिए इसे मात्रिक भागवत जाति का कहा जा सकता है, पर इस जाति का

अन्तरा। टेक केन्द्रीय भाव की व्यंजक प्रथम पंक्ति होती है। आचार्य भरत ने उसके लिये 'ध्रुवक' शब्द का प्रयोग किया है। अन्तरा चरणों के उस वर्ग को कहते हैं जिसके पश्चात् ध्रुवक की आवृत्ति होती है।

टेक की दृष्टि से मीराँ के पद दो वर्गों में रखे जा सकते हैं —

(१) वे पद जिनमें टेक का लक्षण शेष पद में (अपदों में) भी पूर्णतः या अंशतः चरितार्थ होता है।[1]

(२) वे पद जिनमें टेक पद के शेषांश के छंद से भिन्न छंद की होती है।[2]

अन्तरे के छंद की दृष्टि से मीराँ के पदों को फिर तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है

(१) एक ही छंद के पादों की अनेक आवृत्तियों पर आधारित पद[3]

(२) अनेक छंदों के पादों के संयोग से बने पद[4]

(३) छंद-शास्त्र के नियमों से मुक्त पद[5]

मीराँ के पदों में टेक का कोई एक रूप नहीं मिलता। १२ मात्राओं से लेकर १५ मात्राओं तक की टेकें मीराँ ने प्रयुक्त की हैं। अतः टेकों में अनेक छंदों के चरणों को खोजा जा सकता है। उदाहरण के लिए—

(१) साँवरे मार्‌या तीर   १२ मात्राएं। अन्त आदित्य जाति का तोमर छन्द

(२) मन में परम हरि रे चरण   १४ मात्राएं प्रथम प्रकार लघु मानव जाति का विजात छंद

---

(१) डाकोर पद ५, १९, ३०, ३१, ३२, ३५, ३७, ४३, ४४, ४८, ५५, ६८

काशी पद ७१, ८१, ८४, ८७, ८९, ९०, ९१

(२) डाकोर पद २, ३, ४, ६, ७, ८, ९, १०

काशी पद ७२, ७४, ७५, ७७, ७९, ८०, ८२

(३) डाकोर, पद ८, १४, ३१, का० ८१, ९८

(४) काशी पद ७०, १०९१

(५) काशी ७०

(३) मारो रूप देख्यां ग्रटकी	१६ मात्राएं, तैथिक जाति का हंसी छन्द (यति दोष है क्योंकि ८ ७ के स्थान पर ७ ८ पर यति)
(४) भज मन चरण कमल अवनासी	१६ मात्राएं, अन्त में न जगण न तगण संस्कारी जाति का चौपाई छन्द
(५) रुणा माई हरिमन काठ किय्यां	१८ मात्राएं, अन्त में ॥ऽ पौराणिक जाति का शक्ति छन्द
(६) माई री म्हां लिया गोविंदा मोल	२० मात्राएं, ११ ९ पर यति महादैशिक जाति का हंसगति छन्द
(७) म्हाली म्हांरो लागां वृन्दावण नीकां	२ मात्राएं १२ १० पर यति अन्त ।ऽऽ, महारौद्रिक जाति का कुंडल छन्द
(८) स्यामसुन्दर पर वारां जीवड़ा वारां स्याम	२५ मात्राएं, यति १३ १२ पर, अन्त में ऽ महावतारी जाति का सुगीत छन्द

छन्दशास्त्र के आचार्यों ने एक मात्रा के पाद वाले छन्द (चांद्रिक जाति के छन्द) से लेकर ३२ मात्रा के पाद वाले (लाक्षणिक जाति के छन्द) छन्दों का तो विशेष विवेचन किया ही है ३२ मात्राओं से अधिक के पादों से बने छन्दों (दण्डक छन्द) की भी व्यवस्था की है। इस बात का भी निर्णय कर दिया गया है कि एक जाति के छन्द के कितने भेद हो सकते हैं (जैसे मात्रिक लाक्षणिक जाति के ३५२४५७८ छन्द बन सकते हैं) अतएव मीरां की प्रत्येक टेक किसी न किसी छन्द के पाद की विशेषता से समन्वित कही जा सकती है, पर वस्तुतः मीरां में इस बात की ओर उपेक्षा का भाव ही विशेष रूप से लक्षित होता है। उनकी अनेक टेकें हैं, जिनमें किसी प्रसिद्ध छन्द के लक्षण उपलब्ध नहीं होते। 'थे जीम्यां गिरधरलाल' (का ८२) में १३ मात्राएं हैं इसलिए इसे मात्रिक भागवत जाति का कहा जा सकता है, पर इस जाति का

एकमात्र प्रसिद्ध छन्द है चंद्रमणि जिसमें ११ वीं मात्रा में लघु मकार ही होना चाहिए। उस नियम का पालन उस पंक्ति में नहीं है। इसी प्रकार पिया म्हारे मैणां आगां रहज्यो जी' में २२ मात्राएं हैं जो महारौद्र जाति के छन्दों की विशेषता है पर इस जाति के किसी प्रचलित छन्द की यति के नियम का पालन इसमें नहीं है, न राधिका (११ ६) का न कुण्डल (१२, १०) का और न कुण्डल (१२ १०) का। ऐसे अन्य अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

परंपरागत छंद

मीरां के पदों में छन्द-विधान की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय वर्ग उन रचनाओं का है जो वस्तुतः किसी छन्द का ही वेष रूप हैं। रागों के गाए जाने के कारण ही उन्हें पद की संज्ञा मिली है। इनमें कुछ में तो टेक का भी अलग अस्तित्व नहीं है। नीचे कुछ ऐसे ही पदों के उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं जो छन्दशास्त्र के अनुसार किसी छन्द विशेष के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं

(१) यौगिक जाति का सार छन्द २८ मात्राएं, १६, १२ पर यति, अन्त में दो गुरु

ये बिण म्हारे कोण खबर ले गोवरधण गिरधारी।
मोर मुगट पीताम्बर सोमां कुंडल री छब न्यारी।

सार छन्द मीरां का प्रिय छन्द प्रतीत होता है। किसी एक छन्द के इतने उदाहरण मीरां के नहीं मिलते जितने 'सार' छन्द के। काशी की प्रति ८० ६८ डाकोर की प्रति ६१ ४८ ८२ आदि पद सार छन्द के अन्तर्गत आते हैं।

(२) महातैथिक जाति का ताटंक छन्द (३० मात्राएं यति १६ १४ पर, अन्त में तीन गुरु)

सांवरो म्हारी प्रीत निभाज्यो जी।
थे छो म्हारो गुण रो सागर औगुण म्हां बिसराज्यो जी।
लोक सूं सीमयां मन सूं पतीज्यां मुखड़ा सबद सुणाज्यो जी।
दासी थारी जनम जनम री म्हारा आंगण आज्यो जी
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर बेड़ा पार लगाज्यो जी ॥ –डाकोर, पद २८

(३) महामात्रिक जाति का सरसी छन्द (२७ मात्राएं, १६, ११ पर यति अन्त में एक गुरु एक लघु)

तनक हरि चितवाँ म्हारी ओर
हम चितवाँ थे चितवाँ णा हरि हिवड़ो बड़ो कठोर।
म्हारी आसा चितवण थारी आर ण दूजा दोर।
ऊभ्यां ठाढ़ी अरज करूं छूं करता करता भोर।
मीराँ रे प्रभु हरि अविनासी देस्यूं प्राण अंकोर॥

—डाकोर, पद ७१

(४) महाअवतारी जाति का सुगीत छन्द (२५ मात्राएं, यति १५,१० पर अन्त में)

हरि थें हर्‌या जण री भीर।
द्रोपता री लाज राख्या थें बढ़ायां चीर।
भगत कारण रूप नरहरि धर्‌या आप सरीर।
बूढतां गजराज राख्यां कढ्‌या कुंजर पीर।
दासि मीराँ लाल गिरधर हरा म्हारी भीर॥

—डाकोर, पद ६६

इसमें यति का निर्वाह चारों पंक्तियों में १५, १० पर नहीं हो सका है पहली और तीसरी पंक्तियों में छन्द-शास्त्र की दृष्टि से यति भंग दोष है।

मीराँ के पदों का दूसरा वर्ग वह है, जिसमें पद किसी छन्द का सर्वांश में प्रतिरूप तो नहीं है, पर उसमें किसी विशिष्ट छन्द के चार चरणों की बजाय चार से कम या अधिक चरणों की योजना मिलती है। चार चरणों से कम के पद संख्या में बहुत कम हैं। अधिकांश पदों में पांच-छः या इससे भी अधिक चरण मिलते हैं। चार से अधिक पाद वाले ऐसे पद प्रवर्धित पादी विषम छन्दों के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए निम्नांकित पद में छः पाद हैं। प्रत्येक पाद में २५ मात्राएं हैं। १६, ११ मात्राओं पर यति है और अन्त में गुरु-लघु है। इस प्रकार यह पद सरसी छन्द का प्रवर्धितपादी रूप है—

प्यारे दरसण दीज्यो आय थे बिना रह्या न जाय।
जल बिणा कंवल चंद बिणा रजनी थे बिना जीवण जाय।
आकुल व्याकुल रैण बिहावां बिरह कलेजो खाय।

बिरह का भुष गिरधर रेणा मुसपू कह्या जाय।
कोरा सुण कायू कहियो री मिस पिय तपण बुझाय।
अब तरसावां अन्तरजामी आय मिलो दुख जाय।
मीराँ दासी जनम जनम री थारो नेह लगाय।

—काशी पद ६०

तीसरे वर्ग के मीराँ के व पद हैं जिनमें एक से अधिक छन्दों का संयोग मिलता है। ये संयुक्त छन्द कहे जा सकते हैं। जिस प्रकार कुण्डलियाँ या छप्पय में दो पूर्ण छन्द आकर मिलते हैं मीराँ के पदों में उस प्रकार के दो पूर्ण छन्दों के संयोग न होकर अनियमित चरणों के संयुक्त रूप मिलते हैं।

डाकोर की प्रति ६४ वें पद में ताटंक के चरणों के बीच में दो चरण लावणिक जाति के छन्द के डाल दिये हैं। इसी प्रति के २५ वें पद में मुक्तामणि छन्द के सात चरण के साथ एक चरण हरिपदी का और एक चरण मात्रिक जाति के किसी अनाम छन्द का जोड़ दिया है।

(क) पिया थारे नाम लुभाणी जी।
नाम लेता तिरता सुण्या सुण्या जग पाहण पाणी जी।
कीरत काई ना कियां घणा करम कुमाणी जी।
गणिका कीर पढ़ावता बैकुंठ पसाणी जी।
अरध नाम कुंजर लयां दुख अवध घटाणी जी।
गरुड़ छांड़ पग धाइया पसु-जूण पटाणी जी।
अजामेल अघ ऊधरे जम त्रास नसाणी जी।
पूतनाम जस गाइया जग सारा जाणी जी।
सरणागत थे वर दिया परतीत पिछाणी जी।
मीराँ दासी रावली अपणी कर जाणी जी। —डाकोर, पद २५

(ख) बड़े घर ताली लागा री पुरबला पुन्य जगावा री।
झीलड़्यां री कामणा म्हारा डाबरा कुण जावां री।
गंगा जमणा काम णा म्हारे म्हा जावां दरयावां री।
कामदार रा काम णा म्हारे मद् जावां म्हा दरबारां री।
हेला मेड्या काम णा म्हारे मेड्या सिर सरदारां री।
काच कथीर सूं काम णा म्हारे चढ़स्या जग री धाट्यां री।
सोना रूपा सूं काम णा म्हारे हीरां री ब्यौपारां री।

माग हमारी जाग्यां रे रत्नाकर म्हारी धीरयां री।
प्याला अमृत छाड़यां रे कुण पीवां कडुवां नीरयां री।
भगत जणा प्रभु परचों पावां जावां जावां,जगां दूर्‌यां री।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर मनरथ करस्यां पूर्‌यां री॥
—डाकोर, पद ६१

नवीन छंद

मीरां के अनेक पदों में नयी मौलिक छन्द-योजनाओं के भी दर्शन होते हैं।

काशी की प्रति में दो पद विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पद संख्या ७० में २८-२८ मात्राओं की दो पंक्तियों के साथ १२ मात्रा का एक टुकड़ा जोड़कर एक नया छन्द बना दिया है

दीस्यां ना कोई परम सनेही म्हारो सणेसा लाना।
वां बिरयां कब होसी म्हारो हंस पिय कण्ठ लगावां।
मीरां होसी मावां।

इसी प्रति के १०२ वें पद में इस व्यवस्था का भी स्वच्छन्दतर रूप दिखायी पड़ता है। उसमें अन्तरे के भावबोध और अर्थावश्यकता की दृष्टि से साथ में जोड़ी जाने वाली इस पंक्ति का रूप छोटा बड़ा कर दिया गया है। यह कहीं १० कहीं १२ और कहीं १४ मात्रा की है।

बिरह दुख भारी	=	१० मात्राएं
आयां ना री मुरारी	=	१३ मात्राए
स्याम मन क्यां नी बिसारी	=	१४ मात्राए
म्हारो थामी दासण तारी	=	१५ मात्राएं

डाकोर की प्रति के १७ वें पद में प्रत्येक पाद के उत्तरार्ध में १० मात्राओं की पंक्ति है। इसी के द्वारा पद में छंदत्व उत्पन्न किया है।

पिया बिण रह्यां न जावा।
तन मन जीवण प्रीतम वारया
निशदिन जोवा बाट कवरूप सुभावां।
मीरां र प्रभु आसा थारी दासी कंठ लावां।

इस कोटि में उन चातक और वरक छन्दों को भी गिना जा सकता है, जो सैद्धान्तिक रूप से तो छन्द शास्त्रानुमोदित (प्रस्तार-पद्धति के अन्तर्गत) हैं,

दिवस ना भूख निदरा रेणा मुखसूं कह्या जाय।
कोण सुणे कासू कहियां री मिल पिय तपण बुझाय।
क्यूं तरसावो अन्तरजामी आय मिलो दुख जाय।
मीराँ दासी जनम जनम री थारे नेह लगाय।
—काशी पद, ६०

तीसरे वर्ग के मीराँ के वे पद हैं जिनमें एक से अधिक छन्दों का संयोग मिलता है। ये संयुक्त छन्द कहे जा सकते हैं। जिस प्रकार कुण्डलियां या छप्पय में दो पूर्ण छन्द आकर मिलते हैं मीराँ के पदों में उस प्रकार के दो पूर्ण छन्दों के संयोग न होकर अनियमित चरणों के संयुक्त रूप मिलते हैं।

डाकोर की प्रति ६४ वें पद में ताटंक के चरणों के बीच में दो चरण लाक्षणिक जाति के छन्द के डाल दिये हैं। इसी प्रति के २५ वें पद में मुक्तामणि छन्द के सात चरण के साथ एक चरण हरिपदी का और एक चरण नाक्षत्रिक जाति के किसी अनाम छन्द का जोड़ दिया है।

(क) पिया थारे नाम लुभाणी जी।
नाम लेतां तिरतां सुण्यां सुण्या जग पाहण पाणी जी।
कीरत काई ना किया घणा करम कुमाणी जी।
गणका कीर पढ़ावतां बैकुंठ बसाणी जी।
अरध नाम कुंजर लयां दुख अवध घटाणी जी।
गरुड़ छांड पग धाइया पसु-जूण पटाणी जी।
अजामेल अघ ऊबरे जम त्रास नसाणी जी।
पुतनाम जद गाइया जग सारां जाणी जी।
सरणागत थे वर दिया परतीत पिछाणी जी।
मीराँ दासी रावली अपणी कर जाणी जी। —डाकोर, पद २५

(ग) बड़े घर ताली लागा री पुरबला पुन्न जगावा री।
झीलरयां री कामणा म्हारो डाबरा कुण जावा री।
गंगा जमणा काम णा म्हारे म्हा जावां दरयावां री।
कामदार स काम णा म्हार भेट् जावां म्हा दरबारां री।
हल्का महला काम णा म्हारे बैठ्या मिल सरदारां री।
कांच कथीर सू काम णा म्हारे चढ़स्या घण री साटूमी री।
सोना रूपां सू काम णा म्हारे हीरां री ब्योपारां री।

भाग हमारी बाग्यां रे रतणाकर म्हारी सीरयां री ।
प्याशो मम्रत छाड्यां रे कुण पीवां कड़वां नीर्यां री ।
भगत जणा प्रभु परचां पावां जावां जावां,जगां दूर्यां री ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर मनरथ करस्यां पूर्यां री ॥

—डाकोर, पद १२

नवीन छन्द

मीरां के अनेक पदों में नयी मौलिक छन्द-योजनाओं के भी दर्शन होते हैं ।

काशी की प्रति में दो पद विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । पद संख्या ७० में २८ २८ मात्राओं की दो पंक्तियों के साथ १२ मात्रा का एक टुकड़ा जोड़कर एक नया छन्द बना दिया है

सैस्यां ना कोई परम सनेही म्हारो सन्देशो लाना ।
वा विरयां कग होसी म्हारो हस पिय कण्ठ लगावां ।
मीरां होली गावां ।

इसी प्रति के १०२ वें पद में इस व्यवस्था का भी स्वच्छन्दतर रूप दिखायी पड़ता है । उसमें अन्तरे के भाववेग और अर्थाभिव्यक्ता की दृष्टि से साथ में जोड़ी जाने वाली इस पंक्ति का रूप छोटा बड़ा कर दिया गया है । यह कहीं १० कहीं १२ और कहीं १४ मात्रा की है ।

बिरह दुख भारी	= १० मात्राएं
म्हारां मा री मुरारी	= ११ मात्राए
स्याम मन क्यां नी बिसारी	= १४ मात्राएं
मध्रो लागी बासण तारी	= १५ मात्राएं

डाकोर की प्रति के १७ वें पद में प्रत्येक पाद के उत्तरार्ध में १० मात्राओं की पंक्ति है । इसी के द्वारा पद में संतुलन उत्पन्न किया है ।

पिया बिण रह्या न जावां ।
तन मन जीवण प्रीतम वारयां
निसदिण जोवां बाट कलरूप घुमावां ।
मीरां रे प्रभु आसा थारी दासी कंठ लावा ।

इस कोटि में उन चातक और दण्डक छन्दों का भी [illegible] है जो वैज्ञानिक रूप से तो छन्द-शास्त्रानुमोदित ([illegible]), हैं

पर किसी प्रचलित छन्द के अन्तर्गत नहीं आते कुछ का तो नामकरण भी नहीं हुआ।

जातिक छन्द

> थाना मन वा जमणा को तीर।
> वा जमणाको निरमड़ पाणी सीतड़ होयां सरीर।
> बंसी बजाता गावां कान्हा संग लिया बलवीर।
> मोर मुकुट पीताम्बर सोहां कुंडल झलक्यां हीर।
> मीरां रे प्रभु गिरधर नागर क्रीड्या संग बलवीर ।। —डाकोर, पद ७

इसमें २८ मात्राएँ हैं, जो यौगिक जाति के छन्दों की विशेषता है, पर इस जाति के किसी प्रचलित छन्द-हरिगीतिका (अन्त ।ऽ) विधाता (पहली आठवीं और १५ वीं मात्रा लघु) सार (अन्त ऽऽ) धवल (आदि । अन्त ऽ) के लक्षण इसमें नहीं मिलते।

दण्डक छन्द

क—३१ मात्राओं का दण्डक छन्द—

> कांव कबीर थुं काम रा म्हारे चाड़्यां बरा री सार्यां री।
> सोणां रूपां थुं काम णा म्हारे हीरा रो ब्योपारा री।
> (इस लक्षण का निर्वाह केवल दो पंक्तियों में ही हुआ है)
>
> —डाकोर, पद १४

ख—३४ मात्राओं का दण्डक छन्द —

> सावण मां उमग्यो म्हारो मण री मणक सुण्या हरि आवण री।
> उमड़ घुमड़ घण मेघां आया दामण घण भर लावण री।
> बीजां बड़ा मेंहा वायां बरसा सीतल पवण सुहावण री।
> मीरां रे प्रभु गिरधर नागर वेड़ा मंगल गावण री ।।
>
> —डाकोर, पद ३०

मीरां ने केशव तुलसी आदि के समान मनहर, विजया सुमन विजय और चंचरीक आदि प्रचलित तथा ४० या अधिक मात्राओं के दण्डकों का प्रयोग बिलकुल नहीं किया। वस्तुतः ये दण्डक मीरां की भावेशपूर्ण संक्षिप्त अभिव्यक्ति के अनुकूल नहीं हैं। पद की प्रकृति से भी इनका मेल नहीं बैठता। कुछ पदों में किसी विशिष्ट छन्द के दर्शन तो होते हैं पर काट-छांट के साथ। राग में छन्दशास्त्रीय दृष्टि से गिनी जाने वाली एकाध मात्रा का कम-अधिक होना महत्व

नहीं रखता क्योंकि वहां स्वर के सहारे ह्रस्व को दीर्घ और दीर्घ को ह्रस्व करना सरल रहता है। मीरां के पदों में इस स्वच्छन्दता का उपयोग बहुत मिलता है। डाकोर, पद ६३ में चार चरणों में मात्राओं की संख्या क्रमश: २२, २३ २३ है। काशी पद ८४ में मात्राएँ २७ २६, २८ २८ हैं। विद्या-सभा की संवत् १६६३ की प्रति के पद ७ में मात्रा-क्रम २४ २३ २४ २३ है।

पूर्व प्रचलित छंद-पद्धतियाँ और मीरां के पद

मीरां के पूर्व हिन्दी में निम्नांकित छन्द-पद्धतियाँ विशेष रूप से प्रचलित थीं

(१) गीत-पद्धति
(२) दोहा-पद्धति
(३) चौपाई-पद्धति
(४) छप्पय-पद्धति

गीत-पद्धति

मीरां ने जिस गीत-पद्धति का अनुसरण किया था वह सिद्धों और सन्तों द्वारा विकसित पद्धति थी। इसमें एक टेक के साथ अनेक तुकान्त पाद रहते हैं और प्रमुखत: राग में गाये जाने के लिए रचे जाते हैं। राजस्थान में डिंगल भाषा में एक अन्य प्रकार के गीत भी होते हैं। ये गाये नहीं जाते विशेष ढंग से पढ़े जाते हैं और इनके लिखने की भी खास शैली है। एक गीत में तीन या तीन से अधिक पद होते हैं। प्रत्येक पद (Stanza) दोहला कहलाता है। पूरे गीत में एक ही घटना तथा तथ्य का वर्णन रहता है, जिसे सभी दोहलों में प्रकारान्तर से दोहराया जाता है।[1] मीरां पर इस गीत पद्धति का प्रभाव दिखायी नहीं पड़ता।

दोहा-पद्धति

यद्यपि मीरां ने प्रत्यक्षत: दोहों की रचना नहीं की पर उनके पदों के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि दोहा छन्द का ज्ञान था मनवाले प्रायन्त कलात्मक रूप से प्रयोग किया है। मीरां का संपर्क संतों से था और दोहे का

(१) राजस्थानी भाषा और साहित्य—पं० मोतीलाल मेनारिया पृष्ठ ९२

प्रयोग संतों ने पर्याप्त मात्रा में किया है। दूसरे, दोहा राजस्थान का प्रिय छन्द है। यह वहाँ दूहो (बहुवचन दूहा) कहलाता है। डिंगल में इसके पाँच भेद प्रसिद्ध हैं—दूहो बड़ो दूहो तूवरी दूहो सोरठो। मीरां ने इन विभेदों की उपेक्षा करके उसके सामान्य लक्षण (११ १३ मात्राओं के चरण) को अपनाया है।

उनके पदों में 'दूहा' के प्रयोग निम्नांकित रूपों में मिलते हैं

(क) कुछ पदों में तो दोहे ज्यों के त्यों अपने अक्षुण्ण रूप में रख दिये गये हैं। काशी की प्रति के पद संख्या ८७ में 'टेक' में दोहे के लक्षण चरितार्थ होते हैं

णरण लोभां मालकां राखयाँ रुप फिर भाय
१३ + ११

शेष पद में भी दोहे रखे हुए हैं
बदन चन्द परगासतां मन्द मन्द मुसकाय=१३ ११ मात्राएँ
सकल कुटुंबा बरजतां बोल्या बोल बणाय=१३ ११ मात्राएँ
इत्यादि

(ख) कुछ स्थानों पर दोहों में एकाध शब्द जोड़ कर उन्हें पद में जड़ कर राग में गाने योग्य बना दिया है।

(१) कहीं-कहीं संबोधन सूचक अव्यय 'रे' या 'री' को ही पहले-दूसरे तथा तीसरे चौथे चरणों के बीच जड़ दिया है। इसमें उसके आत्मीयता और गेयता के संयोग के कारण विशेष कलात्मकता और प्रभावोत्पादकता आ गयी है। निम्नांकित उदाहरण द्रष्टव्य हैं

पाणा ज्यूं पीली (री) लोग कह्याँ पिंड बाय
बातसा बड कुमाऱ्यां (री) म्हारी बाह दिखाय
(काशी, पद ७६)

(२) कहीं-कहीं पदों के बीच में दोहे रख दिये हैं और शेष पद की लय के साथ सामंजस्य बैठाने के लिए दो चरणों के बीच में ४ या ६ मात्रा का कोई शब्द रख दिया है। डाकोर, पद संख्या ४६ में अगले पृष्ठ पर दिया हुआ अंश इसी प्रकार दोहे से बनाया गया है।

मोहन मुरत सांवरी (सूरत) नैना बनो बिसाल।
अधर सुधारस मुरली (राजां) उर बैजन्ती माल

उक्त उद्धरणों में दोहों के रूप स्पष्टतः पद की पंक्तियों में झांकते हैं। पीछे हुए बंध प्रथम प्रकट हो जाते हैं।

(ग) कुछ पदों में दोहे के प्रथम या द्वितीय चरण के साथ किसी अन्य छन्द का संयोग किया गया है। डाकोर की प्रति के पद संख्या ९५ में प्रत्येक पाद का उत्तरार्ध और डाकोर की प्रति के पद-संख्या ३६ में प्रत्येक पाद का पूर्वार्द्ध क्रमशः दोहे के द्वितीय और प्रथम चरण हैं।

३६ वें पद के पादों के पूर्वार्द्ध	९५ वें पद के पादों के उत्तरार्द्ध
पिया थो पथ निहारतां	कुंडल री छव ओर।
सखिया सब मिल सीख द्यां	बारा गोमत थोर।
बिन देख्यां कल णा पड़ां	झालर री झकझोर।
—इत्यादि	—इत्यादि

(यद्यपि अर्धसममात्रिक छन्द के एक चरण के लक्षण मिलने से छन्द के परिताप होने की बात कहना सही नहीं है, पर उक्त उद्धरणों की लयों द्वारा इस बात की व्यंजना हो जाती है कि अप्रत्यक्षतः उनपर दोहे की लय का प्रबल प्रभाव है।)

सारांश यह है कि मीरां ने अपने पदों में दोहे छन्द का प्रयोग अनेक प्रकार से अनेक रूपों में किया है और रागों के अनुकूल बनाने के लिए उसके परम्परागत रूप में परिवर्तन भी किया है।

चौपाई-पद्धति

यह पद्धति प्रायः प्रबन्ध काव्यों में प्रयुक्त होती थी। कथा के प्रवाह के लिए यह अत्यन्त उपयुक्त है। जैन प्रबंध काव्यों सूफियों की कथाओं, सूर के कथात्मक काव्यांशों में इसका प्रयोग हुआ था। कबीर के रमैनी-अंश चौपाई छन्द में हैं। मीरां ने सूर-कबीर-जायसी की तरह चौपाई छन्द का प्रयोग नहीं किया न स्वतंत्र रूप से और न दोहे के साथ मिलाकर। इस पद्धति का अत्यन्त अल्प अनुसरण टेकों की योजना में मिल सकता है। वस्तुतः इसे भी अनुसरण कहना उचित नहीं है क्योंकि १६ मात्राओं की जो टेकें मीरां में मिलती हैं उनके पीछे चौपाई की छन्द-सम्बन्धी विशेषताओं के निर्वाह का तनिक भी प्रयास नहीं है

और न चौपाई का छन्दत्व अनायास ही उसमें निखर सका है जैसा कि दोहे के सम्बन्ध में हुआ है।

छप्पय-पद्धति :

यह पद्धति वीरगाथा काल के काव्य में बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखती है। छप्पय रोला तथा उल्लाला के संयोग से बनता है। हिन्दी में उल्लाला के दो रूपों (सम मात्रिक इसे चंद्रमणि भी कहा गया है और अर्धसममात्रिक) को लेकर छप्पय के दो रूप माने जा सकते हैं। डिंगल में तीन प्रकार के छप्पय प्रचलित हैं।[1] मीरां इनमें से किसी रूप से प्रभावित नहीं हैं। यह छन्द प्रमुखतः ओज और वीरत्व के भाव के लिए प्रयुक्त होता है मीरां में माधुर्य की रसधार प्रवाह थी अतः इस पद्धति का अनुसरण उनके लिए स्वाभाविक भी नहीं था।

इस प्रकार मीरां का काव्य छन्द-विधान की दृष्टि से पद-पद्धति का है, दोहा पद्धति का प्रभाव भी उस पर पड़ा था। अन्य किसी पद्धति का अनुसरण-अनुकरण उन्होंने नहीं किया।

मीरां के छन्द विधान में निम्नांकित विशेषताएँ हैं :—

(१) मीरां ने जिन छन्दों का प्रयोग किया है, वे रसानुकूल हैं। पद और भजन भक्ति-रस के लिए उपयुक्त छन्द हैं ही। सार, सरसी ताटंक आदि छन्द जिनका प्रयोग म॰ [illegible] में अनजाने हो गया है, शृंगार, करुण और भक्ति रसों के लिए अत्यन्त उपयुक्त हैं।

(२) आवेग और अनुभूति को पूर्ण और अखण्ड रूप से मूर्तिमान करते हैं।

(३) संगीत के अनुकूल हैं।

पदों की छाप

प्राचीन तथा मध्यकालीन कवियों में स्फुट कविताओं में अपने नाम की छाप डालने की विशेष प्रवृत्ति थी। एक प्रकार से छाप स्फुट कविता की अनिवार्य अंग सी बन गयी थी। मीरां

---

(१) कवित=४ चरण रोला+२ चरण दोहा=६ चरण
सुधकवित=४ चरण रोला+२ चरण उल्लाला=६ चरण
दोढा कवित=६ चरण रोला+२ चरण उल्लाला=८ चरण

के अधिकांश पदों में भी मीरां की छाप मिलता है। मीरां की छापों को मोटे रूप में दो भागों में विभाजित किया सकता है

(१) जिसमें केवल 'मीरां' नाम आया है। मीरां के आराध्य का नाम नहीं है।

(२) जिसमें मीरां न अपने नाम के साथ आराध्य के किसी नाम को भी जोड़ दिया है।

पहले वाली छापों में विशेष वैविध्य और अनेकरूपता मिलती है। इसमें कुछ छापें इस प्रकार की हैं

(१) मीरां के प्रभु गिरधर नागर डाकोर, पद २ ३ ७ ८, १० १८ ४१ ४२ ४३ ४५, ४७ ४८ ५ —काशी पद ८४ ८७ ९२, ९४ आदि

(२) मीरां रे के प्रभु हरि डाकोर, पद ११ १२ १७ १९, २० २१ काशी पद ९१ ९८ १२२

(३) मीरां के प्रभु हरि अविनाशी डाकोर, पद ६, ४९, ५२, ५८ ६० काशी पद ७५, ८६,६, १०१

(३) दास मीरां लाल गिरधर (डाकोर, पद १४ २६, ६६)

(४) मीरां के प्रभुलाल गिरधर (डाकोर, पद ४०) मीरां की गिरधर नागर

(५) मीरां के सुखसागर स्वामी (डाकोर, पद ४४) मीरा सुखसागरां

(६) मीरां विरहिन गिरधर नागर (डाकोर, पद ५६)

इस वर्ग की अधिकांश छापें 'मीरां' और मीरां के प्रभु 'गिरिधर' के *नामों के संयोग से बनी हैं और इनमें सबसे प्रिय छाप है 'मीरां' के प्रभु गिरि* धर नागर'। डाकोर और काशी की प्रतियों में ही इसका प्रयाग १ पदों में हुआ है। प्रयोग की दृष्टि से इसके पश्चात् 'मीरां के प्रभु छाप का स्थान है, जो वस्तुतः 'मीरां के प्रभु गिरधर नागर' का ही संक्षिप्त रूप कहा जा सकता है।

मीरां के पदों के शब्दों में बाद में कई प्रकार के परिवर्तन हुए हैं। 'मीरां कहे गिरधर नागर' छाप के विकास की कहानी का 'पाठ' की समस्याओं के समय उल्लेख किया जा चुका है। गुजराती के अनेक पदों में 'मीरां केहे गिरधर नागर' छाप 'प्रभु के स्थान पर संबोधन-सूचक 'हे' आने और उसके 'के' के साथ मिल जाने से बन गई है। मीरां की छापों की एक प्रमुख विशेषता यह है कि व अलगी की नहीं हैं कहीं भी पद से अलग टूटी हुई सी नहीं प्रतीत होती। 'कहैं गिरधर कविराज' 'कहैं रत्नाकर' जैसी कोटि में मीरां की छापें नहीं रखी जा सकतीं। लगता है कि ये पद का स्वाभाविक अंग है क्योंकि इनसे जो अर्थ निकलता है वह शेष पद की अभिव्यक्ति के साथ सामंजस्य रखता है। यही नहीं छाप से निकला अर्थ, प्राय पदगत भाव के सारांश की व्यंजना करता है। इससे कलात्मक सौंदर्य में विशेष वृद्धि हो जाती है।

पदगत भाव के अनुकूल मीरां ने छाप के परिवर्तन भी किए हैं। 'मीरां के सुखसागर स्वामी' छाप के पद् में 'प्रियतम के आगमन' से उत्पन्न आनन्द भाव की व्यंजना है जिसमें 'मीरां' नाम के साथ सुख सागर स्वामी का प्रयो। अत्यन्त सार्थक है। अन्तिम दो पंक्तियों से भी यह बात स्पष्ट है।

बिसुर जावां दुख निरखां पिया री सुफलमनोर काम

मीरां सुखसागर स्वामी भवन पधारया स्याम—[1]

पर यह परिवर्तन सर्वत्र अत्यन्त उपयुक्त नहीं है। उन्होंने 'मीरां के प्रभु हरि अविणासी' और 'मीरां के प्रभु गिरधर नागर' छापों का प्रयोग बिना किसी भेद के किया है।

---

(१) डाकोर, पद ४४

भाषा

मीरांबाई का जन्म मेड़ता (मारवाड़) में हुआ था यहीं उनका शैशव और बाल्यकाल बीता चित्तौड़ (मेवाड़) में उन्होंने विवाह के पश्चात् कुछ काल बिताया था। फिर वे कुछ दिनों ब्रज में रहीं थी और अपने जीवन के अंतिम काल में द्वारका चली गई थी। इस प्रकार मातृभाषा (मारवाड़ी) के अतिरिक्त मीरां का घनिष्ट संपर्क मेवाड़ ब्रज और गुजरात की तत्कालीन भाषाओं से अवश्य हुआ था।

मीरां की मातृभाषा मारवाड़ी थी। उनके युग में गुजराती और मारवाड़ी दो पूर्णत: भिन्न और स्वतंत्र भाषाएं नहीं थी। इस विषय में एल पी० तैस्सितोरी का निम्नांकित वक्तव्य महत्वपूर्ण है

'जिस भाषा को मैंने पश्चिमी राजस्थानी नाम दिया है वह शौरसेन अपभ्रंश की पहली संतान है और साथ ही उन आधुनिक बोलियों की माँ है जिन्हें गुजराती तथा मारवाड़ी नाम से जाना जाता है।[1] डॉ० ग्रियर्सन ने भी प्रकारान्तर से इसी आशय की बात कही है—"यदि राजस्थानी बोलियों पर अब तक किसी मान्य भाषा की बोलियों के रूप में विचार करना है, तो वे गुजराती की बोलियां हैं।"[2] तैस्सितोरी का उक्त निष्कर्ष सन् १२०० से लेकर १६ ० तक के प्राचीन राजस्थानी और गुजराती के हस्तलिखित ग्रंथों की भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर निकाला गया है। अत: यह निष्कर्ष पूर्णत: विश्वसनीय है।

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का अपनी मूल अपभ्रंश से संबंध-विच्छेद का काल ईसा की १३ वीं शताब्दी या उसके आसपास निश्चित किया गया है क्योंकि प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का प्रौढ़ रूप मुग्धावबोध मौक्तिक में मिलता है और इसका रचनाकाल सन् १३९४ ई० है। यह प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी

---

(१) पुरानी राजस्थानी डॉ० एल० पी० तैस्सितोरी, अनु० नामवर सिंह भूमिका पृष्ठ ३

(२) लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया, जिल्द ९, खण्ड २, पृष्ठ १५

मूल रूप में अकेली एक भाषा का प्रतिनिधित्व करती है जो गुजरात और राजपूताना दोनों में प्रचलित थी।[1] धीरे-धीरे इस भाषा के पूर्वी तथा पश्चिमी रूपों में अन्तर आने लगा। पूर्वी (मारवाड़ी) और पश्चिमी (गुजराती) के विभाव की प्रक्रिया ईसा की १५ वीं शताब्दी में स्पष्ट लक्षित होने लगी थी,[2] पर जैसा कि तेस्सितोरी का मत है प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का युग ईसा की १६ वीं शताब्दी के अन्त तक तो रहा होगा कदाचित् इसके बाद तक रहा हो। इसकी कुछ विशेषताएँ तो निश्चित रूप से इसके बाद तक चलती रहीं।[3]

उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि मीरां की मातृभाषा वह भाषा थी जिसे तेस्सितोरी आदि विद्वान प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी कहते हैं। यह भाषा मारवाड़ और गुजरात प्रदेश में फैली थी और २० वर्षों से अधिक विकास के पथ पर चलकर ऐसी स्थिति में पहुँच गयी थी कि इसके पूर्वी-पश्चिमी रूप अलग होकर स्वतंत्र भाषा बनने की प्रक्रिया में थे—उन रूपों में विभाव का प्रारम्भ तो हो गया था पर वह अभी अपूर्ण था।

यह निश्चित है कि मीरां के युग में पश्चिमी राजस्थानी के दो रूप रहे होंगे—एक वह रूप जो मारवाड़ और गुजरात में फैला हुआ था और १५ वीं शताब्दी में ही स्वतंत्र साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित होने लगा था। मीरां के समय तक आते आते यह रूढ़ साहित्यिक रूप हो गया होगा। इस परिनिष्ठित साहित्यिक रूप को प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी कहा जा सकता है। दूसरा वह रूप होगा जिसे मारवाड़ी का तात्कालिक (मीरां के समय में) स्थानीय रूप कहा जा सकता है। अतः मीरां के पदों की भाषा में जहाँ प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी के परिनिष्ठित रूढ़ साहित्यिक रूपों की संभावना है, वहाँ तत्कालीन मारवाड़ी के स्थानीय प्रभावों का होना भी स्वाभाविक है।

मीरां के युग में अधिकांश उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा और विशेषकर कृष्ण-भक्ति-साहित्य की भाषा ब्रजभाषा थी। डॉ॰ सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के शब्दों में यदि हम उत्तर भारत के उस काल की किसी भाषा को

---

(१) पुरानी राजस्थानी तैस्सितोरी पृष्ठ ८

(२) सं॰ १५०८ में लिखी गयी 'वसन्त विलास' नामक रचना में ऐसे रूप मिलते हैं जिनसे मारवाड़ी और गुजराती के विभाव की प्रवृत्ति लक्षित होती है।

(३) पुरानी राजस्थानी तैस्सितोरी —पृष्ठ, १०, ११

'मध्यदेशी बोली' कहना चाहें तो वह निश्चय ही व्रजभाषा होगी। अकबर के काल तक वह पूर्णतया प्रचलित स्वाभाविक प्रयोग की भाषा बन गई थी।[1] पूर्वी राजपूताना और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में तो उस समय मथुरा-प्रांत की भाषा (व्रजभाषा) का ही एकछत्र राज्य था।[2] विक्रम की १६ वीं शताब्दी के मध्य तक पहुँचते-पहुँचते व्रजभाषा ने प्रौढ़ साहित्यिक स्वरूप प्राप्त कर लिया था और धीरे-धीरे वह समस्त मध्यप्रदेश की साहित्यिक भाषा बन गयी थी। जैसाकि कन्नौज के राजकवि राजशेखर (सं० ९३७-९७७) ने कहा है बनारस मध्यप्रदेश का पूर्वी बिन्दु था। पंजाब के कर्नाल जिले का पृथूदक अथवा पिहोवा उसकी उत्तरी एवं आबू पर्वत पश्चिमी सीमा थे दक्षिण में उसका विस्तार गोदावरी तक था।[3] इससे साहित्यिक व्रजभाषा के प्रसार के विस्तार की कल्पना की जा सकती है।

पश्चिमी राजस्थान में उस समय दो साहित्यिक भाषाएं व्यवहार में आ रही थीं एक डिंगल दूसरी पिंगल। कुछ सामाजिक साहित्यिक और धार्मिक कारणों से व्रजभाषा डिंगल के घर में भी उसके आगे निकल गयी थी। बाद में तो वह मरुभाषा से ही नहीं सुरभाषा से भी अधिक प्रिय बन गयी।

---

(१) भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी १९५४, पृष्ठ २०

(२) पूर्वी राजपूताना की प्राचीन भाषा—वह प्राचीन पूर्वी राजस्थानी हो चाहे प्राचीन पश्चिमी हिन्दी—मूल रूप में गुजरात और पश्चिमी राजपूताना की भाषा की अपेक्षा गंगा-द्वाब की भाषा के अधिक निकट थी—पुरानी राजस्थानी लासस्सितोरी

—भूमिका पृष्ठ ७

(३) राजस्थान का पिंगल साहित्य, मोतीलाल मेनारिया—पृष्ठ ११

(४) सब भाषा सिरताज सभी करि व्रजभाषा चोज
अब पुणाल पाते जहुँ सरस अनोपम मोज

—गोपाल कृत रसविलास सं० १६४४

[अभय जैन ग्रंथालय बीकानेर की हस्तलिखित प्रति सं० १०४६, पत्र ४५]

"सुरभाषा तें अधिक है व्रजभाषा सों हेत"

[श्रीमसागर भंडार, बीकानेर की हस्तलिखित प्रति सं० १०९९ पत्र १७]

गुजरात में भी १६ वीं शताब्दी के कवि अपनी मातृ-भाषा के अतिरिक्त व्रजभाषा में लिखना सम्मान की बात समझते थे। नरसी मेहता और भूदेराम जिनके व्रज भाषा-काव्य का उल्लेख परिशिष्ट में किया गया है सूर-मीरां युग के ही कवि थे और इनकी रचनाओं से पता चलता है कि तब व्रजी प्रौढ़ साहित्यिक रूप धारण करके गुजरात तक ससम्मान व्याप्त थी।

इस प्रकार मीरां के समय में व्रज-भाषा अधिकांश उत्तरी भारत की कृष्ण भक्ति की भाषा थी। कृष्ण-भक्त कवि व्रजभाषा में रचना करना सम्मान और कदाचित् धर्म की बात समझते थे क्योंकि यह उनके आराध्य की लीला भूमि की भाषा थी। बंगाल के वैष्णव गीत-साहित्य की मिश्र भाषा को व्रजबोली' नाम देना इसी धार्मिक प्रवृत्ति का द्योतक है।[1] गुजराती तथा राजस्थानियों की व्रजभाषा की रचनाओं के अतिरिक्त महाराष्ट्र के महानुभाव तथा वारकरी सम्प्रदाय में उपलब्ध व्रजभाषा की कविता इसी बात की पुष्टि करती है। कारण कुछ भी हो (व्रजभाषा का कोमल माधुर्य उसका कृष्णलीला भूमि से संबंध मध्यप्रदेश के केन्द्र में पनपना) पर इतना स्पष्ट है कि विक्रम की १६ वी शती में साहित्यिक मंच पर व्रज और पूर्वी राजस्थान में व्रजभाषा का एकछत्र राज्य था पश्चिमी राजस्थान में वह कम से कम कृष्ण भक्तों में वहाँ की साहित्यिक भाषा डिंगल से अधिक प्रचलित थी और गुजरात में उसका पर्याप्त मान था। इस प्रदेश के कृष्ण-भक्तों के लिए उसका धार्मिक पक्ष भी था। अतः इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि व्रजवासी श्याम सलोने के प्रणय में अपना सर्वस्व समर्पित करके शेष सभी से नाता तोड़ देने वाली मीरां ने अपने भक्तिभाव की अभिव्यक्ति के लिए मातृभाषा के साथ व्रजभाषा को भी अपनाया होगा। गुजरात में गुजराती लिपिकारों द्वारा संवत् १७०० के आसपास लिपिबद्ध मीरां के पदों को देखने से उक्त अनुमान की प्रतिष्ठा निर्विवाद रूप से हो जाती है। संवत् १६६५ के गुजराती कवि अविचलदास द्वारा लिखित गुटके में मीरा के जो पद हैं उनकी भाषा का मूल ढाँचा व्रजभाषा का ही है। गुजराती भाषी लिपिकारों से उन पदों में गुजरातीपन आने की संभावना अधिक है व्रजभाषापन की नहीं। अविचलदास जैसे गुजराती के विद्वान कवि द्वारा लिपिकृत पदों में प्रयुक्त व्रजभाषा के रूप उनके पूर्व प्रचलित रूप ही हो

---

(१) सुकुमारसेन—बंगला-साहित्येर कथा हिन्दीअनुवाद अनु० भोलानाथ पृष्ठ ३६

सकते हैं लिपिकार का सर्जन नहीं है।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि गुजरात में लिपिबद्ध प्राचीन पोथियों का साक्ष्य है कि मीराँ के पदों में ब्रजभाषा-प्रयोग एक वास्तविकता थी।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मीराँ की भाषा के संभावित रूप निम्नांकित हैं

(१) ब्रजभाषा का विक्रम की १६ वीं शती का साहित्यिक रूप

(२) प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का साहित्यिक रूप जो गुजरात और मारवाड़ में प्रचलित था।

(३) सं० १६ ० के आसपास मीराँ की मातृभाषा मारवाड़ी का लोक-प्रचलित रूप।

मीराँ की मातृभाषा के तत्कालीन लोकप्रचलित रूपों का कोई लेखा नहीं है ब्रजभाषा के तत्कालीन रूप सूर, हितहरिवंश हरिदास आदि की भाषा में मिल जाते और प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी की रूपरेखा आदिनाथ देवनोद्धार का बालावबोध, आदिनाथ चरित्र दशदृष्टान्त आदि ग्रंथों के आधार पर उपलब्ध हो जाती है।

भाषा का स्वरूप : [सं० १६९५ की प्रति के आधार पर]

किसी भाषा की रूपरेखा का निर्धारण उसकी व्याकरण-संबंधी विशेषताओं के आधार पर होता है। जीवित-भाषाओं के शब्द-समूहों में आदान प्रदान की प्रक्रिया सतत चलती रहत है। उनमें परिवर्तन जल्दी होता है। सामाजिक राजनीतिक साहित्यिक आदि कारणों से कोई-कोई शब्द कभी-कभी पाश्चात्य भाषाओं में प्रचलित हो जाता है। मूल भाषा के तत्सम शब्द तो उससे उत्पन्न कई भाषाओं में समान रूप से मिलते हैं। पद-रचना में परिवर्तन बहुत धीरे-धीरे होता है और उसकी भिन्नता के आधार पर ही भाषाओं में भेद किया जाता है। अतः मीराँ की भाषा के स्वरूप निर्धारण के लिए व्याकरण को ही विश्वसनीय साधन मानना उचित होगा।

---

(१) यह एक प्रति की ही बात नहीं है उस समय अन्य प्रतियों में भी यही बात है, उदाहरण के लिए, संवत १७०१ की विद्या सभा अहमदाबाद की प्रति—आदि।

प्रस्तुत अध्ययन के आधारभूत पद जिन हस्तलिखित पोथियों में हैं, उनमें सबसे प्राचीन है, डाकोर की प्रति परन्तु यह प्रति अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं है। पं० ललिताप्रसाद सुकुल के पास उसकी फोटो प्रति न होकर किसी असावधान लिपिकार द्वारा की गई प्रतिलिपि है। इस प्रति में भाषा-सम्बन्धी दोष बहुत हैं। दूसरी प्रति विद्यासभा भद्र अहमदाबाद के संग्रहालय की है। इसका लिपिकाल सं० १६६५ है और इसको गुजराती के कवि अविचलदास ने स्वयं लिपिबद्ध किया था। लेखक के पास इसमें संगृहीत मीरां के पदों की फोटोकॉपी है जिसे अविकल प्रतिलिपि कहा जा सकता है। शेष प्रतियाँ बाद की हैं। सामान्य से परिवर्तनों से व्याकरण के रूपों में परिवर्तन हो जाता है। शब्दावली मुहावरे-कहावतें आदि लिपिकारों की गलतियों से अधिक प्रभावित नहीं होतीं। अतएव यहाँ पर मीरां की भाषा के स्वरूप का निर्धारण इसी सं० १६६५ की अविचलदास की प्रति में प्रयुक्त भाषा के व्याकरण के रूपों के आधार पर किया जा रहा है। शब्द-समूह, कहावत-मुहावरे आदि के लिए अन्य प्रतियों को भी आधार बनाया गया है।

एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्रस्तुत विश्लेषण का उद्देश्य मीरां की भाषा का सांगोपांग भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करना नहीं, उसकी प्रमुख प्रवृत्ति का निर्धारण है। अत यहाँ पर कुछ भाषा रूपों को लेकर इस बात के निर्णय का प्रयास किया गया है कि सं० १६६५ की प्रति में लिपिबद्ध मीरां की भाषा की प्रमुख प्रवृत्तियाँ क्या थी। इस अंश में दी गई पद संख्या से तात्पर्य इसी प्रति की पद-संख्या से है।

संज्ञा के रूप

मीरां के पदों में संज्ञा स्वरांत अर्थात् अकारान्त आकारान्त इकारान्त और ईकारान्त रूप प्राय: मिलते हैं।

आकारान्त गोविंदा मैना मुआ

इकारान्त माठि, पंक्ति

ईकारान्त मोरली होरी मटकी तरंगिनी छवी]

संज्ञाएं प्राचीन ब्रजभाषा में भी 'स्वरान्त थी पर उसमें औकारान्त रूपों का पर्याप्त प्रयोग होता था जिसका प्रस्तुत प्रति में विशेष अभाव है।

(क) लिंग प्राचीन ब्रजभाषा शब्दों के समान मीरां के प्रयुक्त संज्ञा शब्द पुल्लिंग और स्त्रीलिंग हैं। प्राणहीन वस्तुएं भी व्याकरण की

रूपा से इन्हीं दोनों के अन्तर्गत आती हैं। प्राचीन राजस्थानी में संस्कृत और अपभ्रंश के समान तीन लिंग होते थे।

(१) प्राणी—पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग
मिरिधर स नबस ठाकुर मीरां सी दासी (पद ६)

(२) अप्राणी—पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग
मुष परे स्वेद प्रमकलर छूटी (पद ४)

(ख) वचन :—दो वचन मिलते हैं। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी तथा प्राचीन ब्रजभाषा दानों में यही स्थिति थी। ग्रंथ के प्रादिम में एकवचन मध्यम पुरुष का प्रयोग मिलता है।
कर्ता और कर्म के अविकारी रूपों में संज्ञा का एक ही रूप दोनों वचनों में प्रयुक्त मिलता है।

(१) राम मति दान करावें (पद—१) राम का प्रयोग बहुवचन के रूप में है, पर इसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

(२) बसन प्रभूषण सब तजि (पद ६) प्रभूषण (आभूषण) का प्रयोग बहुवचन में हुआ है, पर एकवचन के रूपस कोई भिन्नता इसमें नहीं है।

विकारी रूपों के बहुवचन कई प्रकार से बने हैं—जैसे

मैन—मैनां (—आ जोड़कर)
डोरी—डोरीया (—या जोड़कर)—आदि

(ग) परसर्ग (को) मुरली को घोर
गोकुल को वासी
यशोदा को पुत्र
(के) रस के पीछे
त्रिभुवन के—
हरि के नाव
काही के मनि
कंस के धोम

की तन की ताप
प्रेम की गांठ
मथुरा की नार

सुं गोविन्दा सुं प्रीत करत
पि दहू पि बिरेहू भई
थी रवि थी मोही टरत नांही

का रूप प्राचीन व्रजभाषा का है।[1] प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में संबंध कारक में कउ रूप था। कौ उसका परवर्ती रूप भी हो सकता है। के कदाचित प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी के अधिकरण—संप्रदान में प्रयुक्त कै का ही रूप है।[2] की व्रजभाषा का स्त्रीलिंग मूल-विकृत एक-बहुवचन का रूप है।[3] सु रूप प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी के करण कारक के सिउं का परवर्ती रूप है।[4] पुरानी व्रजभाषा में सौं सों रूप ही मिलते हैं, सुं नहीं है, आधुनिक व्रज में सूं है। पि भी परसर्ग व्रजभाषा में नहीं है। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में थी का प्रयोग प्रचुर रूप में मिलता है।[5]

संयोगात्मक रूप :

समि प्रात समि रण जीते आवै (समय में)
मनि थाकी के मनि (मन में)
हरि हरि थी (हृदय में से)
करि मुरली करि (कर में)
वृन्दावने वृन्दावने रहेनो (वृन्दावन में)

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में अधिकरण एकवचन के रूप दो ढंग से बनते थे —हिं (हि) लगाकर, तथा अकारान्त शब्दों में अन्त्य स्वर में ए ऐ इ

---

(१) व्रजभाषा धीरेन्द्र वर्मा पृष्ठ ८५
(२) पुरानी राजस्थानी तेस्सितोरी पृष्ठ ७२
(३) व्रजभाषा, धीरेन्द्र वर्मा पृष्ठ ८९
(४) पुरानी राज०, पृष्ठ ६७
(५) किहां थी=कहां से
बादल थी रवि नीकल्यउ=बादल से रवि निकला—पुरानी राजस्थानी पृ० ८२

रूपान्तर द्वारा जैसे परि सुरि पैरि इत्यादि ।[1] प्राचीन ब्रजभाषा में भी में का अर्थ देने वाले समासात्मक रूप इ लगा कर बनते थे[2] पर इस प्रकार के रूपों का प्रचार इतना नहीं था जितना कि हि एँ, ऐ, आदि लगाकर बने रूपों का।

परसर्ग के रूप में प्रयुक्त विशेष रूप

सहीत संगि आदि मिलते हैं, जो राजस्थानी और ब्रज दोनों में व्यवहार में आते थे।

सर्वनाम —

प्रस्तुत प्रति में निम्नांकित सर्वनामों का प्रयोग मिलता है।

कोई	तब न कोई हरकी
जैसो—तिसो	मनि जे सो भाव तिसो बुद्ध प्रकासी
जिते—ति	जिते सुबर सकल त्रिभुवन के राय
	ति धसाप्यो टौरी
को	को बाएी भा बट की
उनकी	छठ छाहार उनकी प रो जो (पु री अ)
आपुन	आपुन थे भामे
ते	ते बात फैल गई
काहे	मोच करत काहे
ति	जल ति त्याग

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में प्रश्नवाचक तथा अनिश्चयवाचक सर्वनाम के कर्ता-कर्म के अर्थ में कोई प्रयोग मिलता है।[3]

प्राचीन ब्रजभाषा में अनिश्चय वाचक सर्वनाम के मूल रूप कोऊ, कोई और विकृत रूप काहू मिलते हैं।[4] कोइ कोई का रूपान्तर भी हो सकता है।

को प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में प्रश्नवाचक तथा अनिश्चयवाचक सर्वनाम के कर्ता-कर्म में को का प्रयोग मिलता है,[5] प्राचीन ब्रजभाषा में प्राणिवाचक सर्वनाम के मूल एकवचन और बहुवचन में को मिलता

(१) पुरानी राजस्थानी पृष्ठ १४

(२) ब्रजभाषा, पृष्ठ ६०

(३) पुरानी राजस्थानी, पृष्ठ १५५

(४) ब्रजभाषा पृष्ठ ८०

(५) पुरानी राजस्थानी पृष्ठ ११५

है।[१] प्राणिवाचक प्रश्नवाचक का ही एक भेद है। इस प्रकार प्रश्नवाचक को दोनों भाषाओं में समान रूप से मिलता है। उनको रूप केवल प्राचीन ब्रजभाषा में ही मिलता है। यह दूरवर्ती निश्चयवाचक को विकृत बहुवचन रूप उन म को परसर्ग लगाकर बनता है। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में संबंध विकारी के रूप में उनको नहीं मिलता। आधुनिक राजस्थानी में उणरो वणरो रूप मिलते हैं।[२]

काहे प्राचीन ब्रजभाषा में अप्राणिवाचक सर्वनाम के विकृत रूप के रूप में मिलता है प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में केह केहिं केहइं केह प्रर्थक रूप मिलते हैं काहे नहीं मिलता।

अवधी का प्रयोग —(?)

आपुन प्रयोग अवधी का है। तुलसी और केशव के समय में ब्रजभाषा में आ चुका था।[३] प्राचीन पुरानी राजस्थानी में आपणउं आपणपु, आपा आदि रूप मिलते हैं। हो सकता है संबंधी संबंध (बहुवचन) के आपणउं से इस आपुन का संबंध हो।

बैसा—तिसी गुणवाचक सार्वनामिक विशेषण है। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे इसउ जिसउ तिसउ किसउ आदि रूप मिलते हैं।[४] संक्षिप्त रूप में सउ और उसके स्त्रीलिंग रूप में सी भी मिलता है। अत तिसी प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी के तिसउ (सउ का स्त्रीलिंग सी जोड़ने पर) में मिल जाता है। इस प्रकार जिसउ या जिसो रूप प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का होना चाहिए मीराँ मे जैसो मिलता है। ब्रज में ऐसो जैसो तैसो रूप मिलते हैं।

जिते का प्रयोग यहाँ परिमाणवाचक सार्वनामिक विशेषण के रूप में हुआ है। (संख्यावाचक है) प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में 'आदिनाथ चरित्र' म जेतइ रूप मिलता है। इसका जेते ही आना स्वाभाविक

---

(१) ब्रजभाषा, पृष्ठ ७७
(२) अध्यापक सीताराम लालस राजस्थानी व्याकरण पृष्ठ ८१
(३) केशव—बनि पुनु आपुन लहिए
तुलसी—मन लोचन आपन लो लहि है—
(४) पुरानी राजस्थानी, पृष्ठ ११९

है। आधुनिक ब्रज में जितो जिते इतो इते, रूप मिलते हैं। प्राचीन ब्रजभाषा में इती का प्रयोग भी मिलता है। अतः अनुमान किया जा सकता है कि प्राचीन ब्रजभाषा में जिते या जितो रूप अवश्य होगा।

जिते संबंधवाचक सर्वनाम भी है और इसका नित्य सम्बन्धी है ति। प्राचीन ब्रज में ति नहीं मिलता ते याते रूप मिलते हैं[1] परन्तु ते और ति रूप प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में आदिनाथ चरित्र और उपदेशमाला बालावबोध में मिलते हैं।[2]

क्रिया

क्रिया के रूपों में वैविध्य बहुत अधिक है। यहाँ पर वर्तमान काल तथा कृदन्त के कुछ रूपों का विश्लेषण किया जा रहा है।

(क) वर्तमान काल

(१) (रसिक) करत झकझोरी

(२) रसिक लाल संग खेलत होरी गिरिधर रस की

(३) को जानत घर की

(४) मधुरा की नार नाचती गावती बजावती

(५) विनोद हाथी करत लाक कहत भटकी

करत खेलत जानत कहत, नाचती गावती बजावती वर्तमान कालिक कृदन्त हैं। ये कृदन्त रूप निश्चित रूप से प्राचीन ब्रजभाषा के हैं। प्राचीन ब्रजभाषा में वर्तमानकालिक कृदन्त के रूप व्यंजनान्त धातुओं में—अत लगाकर बनाये जाते थे जैसे सेवत (नन्ददास १-२७) तथा स्वरान्त धातुओं में—त लगाकर बनाये जाते थे जैसे जात (बिहारी-१५)। ब्रज में स्त्रीलिंग प्रत्यय के रूप में ती का प्रयोग कम होता है पर होता अवश्य है—बोलती ही (मतिराम ४७)[3] प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी वर्तमानकालिक कृदन्त के रूप बिलकुल भिन्न प्रकार के होते हैं—उदाहरण केलिए स्पष्ट जाणतु हूंतउ पढ़िइ आदि।

(ख) पूर्वकालिक कृदन्त :

प्राचीन ब्रजभाषा में व्यंजनान्त धातुओं में—इ लगाकर पूर्वकालिक बनाते हैं-जैसे करि

---

(१) ब्रजभाषा, पृष्ठ ७५

(२) पुरानी राजस्थानी, पृष्ठ ११२

(३) ब्रजभाषा पृष्ठ ९९ से उद्धृत

सूर-माखम चोरी)[1] मीरां में उपलब्ध रूप इसी प्रवृत्ति के अनुरूप । मोपी उठि माई । (मूल पोथी में उठी रूप है)

सब तजि पिय के अनुरागे ।
नारि मानंद सुलराखी देखी—मालती ।

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में भूतकालिक कदन्त प्राय धातु म-एवि (जैसे लेवि करेवि आदि में)-ई जोड़कर (जैसे लगी लेई जोई में) बनते । कविता में-ई के बाद प्राय स्वार्थिक य भी आता है (जैसे पालीय रीय में) मीरां में यह प्रवृत्ति बिलकुल नहीं है ।[2]

(ग) भूतकालिक कृदन्त :

मीरां में भूतकालिक कदन्त के प्रयोग भूतनिश्चयार्थ तथा विशेषण की भाँति भी हुए हैं । वस्तुत यह प्रवृत्ति राजस्थानी गुजराती और पश्चिमी हिन्दी सबमें है । मीरां के पदों में ये कदन्त रूप निम्नलिखित प्रत्यय जोड़कर बनाये गये हैं ।

एकवचन	बहुवचन
पुल्लिंग-ओ (कीनो)	-ए (माने साए)
स्त्रीलिंग-ई (आई)	

प्राचीन ब्रजभाषा में भूतकालिक कदन्त बनाने के लिए इन प्रत्ययों का प्रयोग होता था । (जैसे 'कीनों' 'चले' 'माई' 'बनाए'—आदि रूपों में)
'होना' क्रिया के भई मौर भए रूप ब्रज के चिर परिचित रूप हैं । मीरां में इनका प्रयोग कई स्थानों पर मिलता है । जैसे भग थकित भए विदेह भई

आवृत्ति मूलक संख्यावाचक विशेषण का एक विशेष रूप दोऊ है । यह सूर में आया है तुलसी में इसका दोउ रूप है । मीरां में दोउ (उच्चारण कदाचित् दोउ) रूप है ।

'दोउ मुसट रणखेम महारण' (पद २)

एक विशिष्ट प्रयोग

क्रिया का एक विशिष्ट प्रयोग मीरां में है थाकि गोकुल को निवासी । यह कदाचित् प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का प्रयोग है । वर्तमान भाताथ और वर्तमान निश्चयार्थ में ऐसे प्रय

(१) वही, पृष्ट १०१
(२) पुरानी राजस्थानी, १७०

प्रयोग मिलते हैं। जैसे लेखि (भाव वैराग्यशतक का बालावबोध १०२) लिखमि (वही-२५) कविता में ये रूप कहीं-कहीं एकारान्त भी हो गये हैं, जैसे करे (पंचाख्यान २५०) चाले (कान्हड़दे प्रबंध-७१)[1]। ब्रजभाषा में इस प्रकार के प्रयोग नहीं मिलते।

निष्कर्ष —उक्त विवेचन से पता चलता है कि मीराँ के पदों की भाषा में प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी और प्राचीन ब्रजभाषा के रूपों का मिला-जुला प्रयोग है। (उन्होंने अपने युग के काव्य-काव्य की साहित्यिक भाषा तथा अपनी मातृभाषा के शब्दों-रूपों का मिश्रित प्रयोग अपने पदों में किया है) मीराँ की भाषा में क्रिया-रूप प्राय: ब्रजभाषा के ही हैं। अत: इसकी भाषा का मूल ढाँचा ब्रजभाषा के अधिक निकट है, वैसे प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी के प्रयोग भी काफ़ी हैं।

शब्दावली

शब्द अर्थाभिव्यक्ति की लघुतम इकाई है। किसी रचना की प्रयुक्त शब्दावली के विस्तार-संकोच से उसके रचयिता की भाषागत समृद्धि का पता चलता है, उसकी मनोभूमि प्रकाश पर पड़ता है और उसकी शैली का एक रूप सामने आता है।

मीराँ में शब्दों का वैभव अधिक नहीं है। तुलसी, सूर, नंददास जैसे कलाकार कवियों की तरह उसका शब्द-कोष न विस्तृत है और न वैविध्यपूर्ण। उसकी विशेषता कोमल माधुर्य तथा सरस सजीवता में है। मीराँ की शब्दावली को निम्नांकित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है

(१) तत्सम शब्द

प्राचीन आर्य भाषा के साहित्यिक रूप अर्थात् संस्कृत के विशुद्ध शब्द जो तत्सम शब्द कहलाते हैं,[2] १६ वीं शताब्दी के काव्य में कवि के पाण्डित्य और कलात्मक आभिजात्य के प्रतीक माने जाते थे। मीराँ में इन दोनों के प्रति उपेक्षा अथवा उदासीनता का सहज भाव था जिसके फल-स्वरूप उनके

(१) पुरानी राजस्थानी, पृष्ठ १४८

(२) हिन्दी भाषा का इतिहास, धीरेन्द्र वर्मा, भूमिका, पृष्ठ ७०

काव्य में तत्सम शब्दावली के प्राचुर्य का प्रभाव है। इस कोटि के शब्द उनकी दो प्रकार की रचनाओं में ही विशेष रूप से मिलते हैं

(क) गिरिधर के रूप-वर्णन वाले पदों[2] और
(ख) स्तुति-मूलक पदों[3] में

और तत्सम शब्दावली का विशेष प्रभाव प्रणय-विकस आत्मनिवेदन के रसिक पदावली में है।

(२) तद्भव शब्द

मीराँ की काव्य-कला का आडंबरहीन सहज आकर्षण तद्भव शब्दोंपर ही आधारित है। प्राचीन आर्यभाषाओं से मध्यकालीन भाषाओं में होकर चले आने वाले ये शब्द लोक-जीवन और विशेषकर लोक-हृदय की अनुभूतियों की रमणीयताओं से परिपूर्ण होते हैं, जो तत्सम शब्दावली में संभव नहीं है। मीराँ के पदों में ७० प्रतिशत से अधिक तद्भव शब्द हैं। शेष तत्सम देशज और विदेशी शब्द हैं। कहीं-कहीं तो पदों में दो-चार शब्दों को छोड़कर सभी शब्द तद्भव रूप मिलते हैं। उदाहरण के लिये काशी की प्रति पद-संख्या ७६ में अंतिम पंक्ति को छोड़कर शेष पद में एक भी तत्सम शब्द नहीं है। मीराँ की भाषा आज के पाठक को इसी कारण कठिन भी प्रतीत होती है पर आत्म-निवेदन के लिए जिसमें प्रिय के संमुख हृदय की समस्त आकांक्षा-कामना कहनी हो हृदय के साथ घुलीमिली तथा औपचारिक शिष्टता से मुक्त शब्दावली ही उपयुक्त है।

मीराँ के पदों में प्रयुक्त तद्भव शब्दों की एक लघु सूची इस प्रकार है
अमवा (डा० १) अटक्याँ (डा० १३) अबोलणाँ आसिरो (डा० १२)
आँगण आम्यो (डा० २८) आवड़ (डा० ३३) अटकी (डा० ३३)
अकोर (का ७५) आँखड़ा (का० ७१)
इमरत (डा० ६)
उवारना (डा ३१) उमग्यां (डा० ४५) उजलो (डा ३१) उपमी (डा० २१) ऊपरे (डा० २१)
नैण (डा २८)

---

(२) डाकोर, पद ५
(३) डाकोर, पद १४

कूप (डा ६) कोल(डा० १३)कलपना(डा० २०)कुसुम (डा० ५५)
कीण (डा० ३६)
गल (डा० ५७) पणा (डा० २७) गर्पंग (का० ७१)
चारयां (का० ७४) चितवन (कामी ७५)
छूयां छाणे (डा० ११) छाम्यो (डा० ५६)
जेनाई (डा० २) जामा (काची ७०)
झरमट (डा० १०) झूरतां (डा० २१) झकझोर (डा० ६५)
ठाढ़ी (डा० १५)
डारा (२७ डा)
णेणा (मैना)
तरस (डा० १८)
थाका (डा ३०)
दीमां दासण (डा ११)
धका (का० ६५)
नेह (डा ११) निरख्यां (डा० १९) नरनारी (डा० ३)
निरत (डा० १२) नणां (डा० ४५)
पीर(डा ११)परतीत(डा० २५)पपैया(डा० ३८)पिउ(डा० ३८)
पुरबला (काची ६४) परवारैना (का० ६५)
बाकी (डा० ३) बानी (डा० ११) बिसम (डा० २४) बुन्द्राबा
(डा० २७) बिसराम्यो (डा २८) बरसमा (डा ३०)
बिरियां (का ७) बिन्दू (का ७८)
भौ (डा २२) भूट (डा० ११) भुरम्याणा (डा १८) मछरी
मन्धर (डा० १२) मपतां (डा० ५६) मार्या (का ७०)
(डा० ३६) मैंहां (डा ५०) मिरग (डा० २१)
रावली (डा० २२) रैणां (डा २४) राती (डा० २८)
राधा (डा ४८) रूठपा (का० ६१)
ललक (डा० २४)लूण (डा १८) लटका का० (का० ७८)
वूड़मां (डा २२) विरछ (डा)
शम्लेश (का० ७४)
सीप(डा० १)सांझ(डा० २)संगाती(डा० ११)संतोष (डा०, १६)
सील (डा० १६) सर्मका (का० ७८)
हिवड़ो (का० ७५)

(३) अनुरणनात्मक या अनुकरण वाचक शब्द:

अंग्रेजी में ऐसे शब्दों को 'ओनोमेटोपोइक' शब्द कहते हैं। कहीं-कहीं भाषा के कलात्मक उत्कर्ष में ऐसे शब्द पर्याप्त योग देते हैं। मीरां के पदों में प्रयुक्त कुछ अनुरणनात्मक शब्द इस प्रकार हैं

झकझोर झिलमिल, सड़गड़ात झर, कलकल तड़फ, हहर। ऐसे शब्दों का प्रयोग ओजपूर्ण कविता में विशेष होता है। डिंगल-पिंगल की मध्यकालीन वीररसात्मक कविता इस प्रकार के प्रयोगों से भरी पड़ी है। हृदय की तरल मधुरिमा की अपेक्षा बाह्य स्थूल व्यापारों के साथ इनका सम्बन्ध विशेष है।

(४) निरर्थक प्रयोग

अनेक सार्थक शब्दों में अर्थ की सीमा के विस्तार के लिए, उनके साथ उन्हीं की ध्वनि के आधार बने हुए शब्दों को जोड़कर उनके युग्म बना देते हैं जैसे 'रोटी-ओटी 'घर-घर' 'पानी-वानी' इत्यादि। इनमें निरर्थक शब्द सार्थक शब्द द्वारा द्योतित अर्थ के साथ इत्यादि का भाव जोड़ देते हैं। मीरां में भी इस प्रकार के दो-एक प्रयोग मिल जाते हैं जैसे 'सुमरण' के साथ 'छमरन' (डाकोर, पद ६७) शब्द का का प्रयोग। व्याकरण की दृष्टि से ये समाहार द्वंद्व के अन्तर्गत आते हैं।

(५) देशज शब्द[१]

मीरां ने देशज शब्दों के भी अनेक प्रयोग किए हैं। लोक-भाषा के प्रति मीरां की ममता के कारण लोक के विशुद्ध अपने शब्द उनके पदों में सहज ही आ गये हैं उदाहरण के लिए ओड़गिया म्हारौर, हेड़्या मेड़्या इत्यादि। इन शब्दों का प्रयोग कभी-कभी अनिवार्य होता है क्योंकि इनका सही पर्याय मिलना

(१) प्राकृत वैयाकरण जिन प्राकृत शब्दों को संस्कृत शब्द-समूह में नहीं पाते थे उन्हें देशी अर्थात् अनार्य भाषा के मान लेते थे। (हिंदी भाषा का इतिहास—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा पृष्ठ ७०) हिंदी के जो शब्द मध्ययुगीन भाषाओं में होकर आए हैं वे हिंदी के लिए आर्यभाषा के शब्दों के समान ही हैं। प्रायः जिन शब्दों की व्युत्पत्ति का पता नहीं लगता और जो संस्कृत या प्राकृत के मूल से निकले नहीं जान पड़ते, देशज कहलाते हैं।
—कामताप्रसाद गुरु हिंदी-व्याकरण पृष्ठ ३१

संभव नहीं होता। साहित्यिकता की हानि इनसे एक रूप में होती है कि ये व्यापकता और दीर्घकालीनता दोनों दृष्टियों से मर्म-बोध को सीमित कर देते हैं।

(६) विदेशी शब्द

विदेशी शब्दों का प्रयोग मीरां में अधिक नहीं है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं

अरबी शब्द

अरजी — मीरां रे प्रभु अरजी म्हारी अब अबेर कुण कारण[1]
अरज — मज दासी अरज करां गिरधारी[2]
जौहर — जौहर कीमत जौहरी जाण्या[3]
जौहरी — जौहरी
कीमत — कीमत

फारसी शब्द

चाकर	— चाकरी	म्हाने चाकर राखो जी चाकरी मा दरसण पास्यूं[4]
खरची	— खर्ची	सुमरण पास्यूं खरची[5]
दरद	— दर्द	हेरी म्हा तो दरद दिवाणी
दिवाणी	— दीवानी	म्हारां दरद न जाण्यां कोय
दर		दरद री मार्‌यां दर-दर डोल्यां
प्यासी	— प्यासा	दासा भेग्या बिलखो प्यासो[6]
गुमयां	— गुम	पान गुमायां मूठड़ी मेण गुमायां रोय[7]
नेवाज	— निवाज	जुग-जुग पीर हरां भगतां री दीस्यां मोक्ष निवाज[11]

---

(१) डाकोर, पद ३४ (२) काशी, पद १०१
(३) डाकोर पद १९ (४) वही ३५
(५) वही, पद ३५ (६) वही पद ३५
(७) वही १९ (८) वही पद १९
(९) वही, पद ६६ (१०) वही, २१
(११) वही ६८

अरबी और फारसी शब्दों के प्रयोग मीरां में अधिक नहीं हैं सूर की अपेक्षा बहुत कम हैं। मीरां मुसलमानी संस्कृति से प्रभावित प्रदेश (आगरा-दिल्ली) में विशेष नहीं रहीं व्रज की यात्रा के समय उधर से गुजरी भर थीं। अतः अरबी और फारसी के वे ही प्रयोग मीरां के पदों में मिलते हैं जो कदाचित् तत्कालीन लोक-भाषा में घुलमिलकर उसी शब्द-समाज के अंग बन गये थे।[1] इस दृष्टि से मीरां की स्थिति परमानंददास जैसी है जिन्होंने अरबी-फारसी शब्दों के प्रयोग अधिक नहीं किये।

मीरां ने विदेशी शब्दों का प्रयोग उनके मौलिक रूप में नहीं अपितु अपनी भाषा-ध्वनियों के अनुरूप समुचित परिवर्तन करके किया है। हो सकता है कि मीरां को यह परिवर्तन स्वयं न करना पड़ा हो। भारतीय शब्दों के सादृश्य से प्रभावित होकर और व्रज-राजस्थानीभाषी समाजों द्वारा प्रयोग की खराद पर चढ़कर ये शब्द इसी रूप में मीरां को मिले हैं। उस समय इन शब्दों की स्थिति कुछ-कुछ ऐसी ही थी जैसी कि संस्कृत के अर्ध तत्सम शब्दों की। अस्तु, मीरां ने जिस रूप में उनका प्रयोग किया है वह रूप विदेशी बाना छोड़कर आया है। 'प्याला' मीरां के काव्य में 'प्यालो' बन गया है। दीवानी दीवाणी दर्द दरद और अर्जी अरजी होकर आये हैं। विदेशी शब्दों में रूपरचना संबंधी परिवर्तन भारतीय पद्धति से किये गये हैं जैसे 'गुम' विशेषण है उससे क्रिया बनायी है 'गुमाया' (गुमाना का भूतकालिक रूप)

मीरां में विदेशी शब्दों के कम प्रयोग के निम्नांकित कारण हैं

(१) मीरां नारी थी। हिन्दू परिवार की नारियां पुरुषों की अपेक्षा प्रायः परंपरागत संस्कृति से अधिक चिपटी रहती हैं। बाहरी सामाजिक परिवर्तन उन्हें इतना प्रभावित नहीं करते जितना पुरुषों को।[2] मीरां की स्थिति गृहकारा में बन्द नारी की सी नहीं थी फिर भी 'पुत्री और

---

(१) पूर्वी हिंदी के कवि तुलसी पश्चिमी हिंदी के कवि सूर और गुजराती के कवि नरसी मेहता की भाषा में अरबी फारसी के कई शब्दों के प्रयोग मिलते हैं।

(२) आधुनिक युग में स्वतंत्रता के पूर्व पंजाब में पुरुषों ने उर्दू स्वीकार कर ली थी तब भी स्त्रियां हिन्दी ही पढ़ती थीं क्योंकि सांस्कृतिक परंपरा के निकट हिन्दी ही थी और सामाजिक वातावरण उर्दू के पक्ष में था।

पत्नी' के रूप में उनकी सीमाएं प्रवस्य थीं । प्रतः सामाजिक वातावरण में फँसने वाले शब्दों की अपेक्षा जो दम्म घर और परिवार के भीतर तक पहुँच कर जीवन में घुलमिल गये थे उनका प्रयोग मीराँ के लिए अधिक स्वाभाविक था कमसे कम प्रारंभिक अवस्था में ।

(२) अरबी फारसी के प्रभाव का प्रमुख केन्द्र दिल्ली-आगरा का क्षेत्र था मीराँ उस क्षेत्र से दूर रही । केवल एक बार इधर यात्रा के लिये आयी थीं ।

(३) मीराँ के काव्य की भूमिका सामाजिक जीवन में प्रत्यक्षतः व्याप्त नहीं थी । उन्होंने वैयक्तिक आध्यात्मिक अनुभूतियों के चित्र अंकित किए हैं जो समाज-विरोधी न होते हुए भी समाज का अकन नही करते ।

इस सामाजिक चित्रण के अभाव के कारण तत्कालीन सामाजिक जीवन के अनेक शब्द मीराँ-काव्य में नहीं है, दूसरी ओर, वैष्णव धर्म की प्रचलित शब्दावली का बाहुल्य है । इसलिए अरबी-फ़ारसी के शब्दों के लिए गुँजायश कम थी ।

मुहावरे और लोकोक्तियाँ

मुहावरा अरबी का शब्द है जिसका अर्थ है बोलचाल या बातचीत । अब इसका प्रयोग 'लाक्षणिक या क्वचित् व्यंग्यार्थ' में रूढ़ वाक्य या प्रयोग के लिए होने लगा है ।[१] वस्तुतः मुहावरे भाषा की शक्ति का संवर्धन करने वाले विशेष प्रयोग हैं । इनसे भाषा में एक प्रकार की निकटता अपनत्व और घरेलूपन का सा भाव आ जाता है ।

लोकोक्तियाँ मानव-समाज के युग-युग से संचित अनुभव को व्यक्त करने वाले सरल सूत्र हैं । अलंकार-शास्त्र में लोकोक्ति को एक अलंकार के रूप में भी स्वीकार कर लिया गया । इससे स्पष्ट है कि काव्य-शास्त्रियों ने भी लोकोक्ति को भाषा की शक्ति का उत्कर्षकारक और सामान्य उक्ति से अधिक सबल और सुन्दर माना है । लोक तो अपनी इस सयानी रचना पर मुग्ध ही है ।

मीराँ के काव्य में लोकोक्तियों के प्रयोग का प्राय: अभाव है । 'सिर छत्रं' को पात दूद्या सम्यां ना फिर बार,'[२] 'बाँह गह री लाज'[३] जैसी दो चार

---

(१) बृहत् हिन्दी कोष—ज्ञान-मण्डल, १०७५

(२) डाकोर पद ६७

(३) वही, पद ६८

नाद-सौंदर्य—वर्ण-चयन और योजना की सबसे बड़ी सफलता उसमें भावानुकूल नाद-सौंदर्य की सृष्टि करना है। मीरां स्वयं गाती थीं। संगीत का उन्हें अच्छा ज्ञान था। उनके पदों में नाद द्वारा अर्थ को ध्वनित करने की तुलसी-जैसी अतुल सामर्थ्य है, यह कहना तो अत्युक्ति होगी पर उनकी वर्ण-योजना नाद द्वारा विषयानुकूल वातावरण का निर्माण प्रायः सफलतापूर्वक कर सकी है। उदाहरण के लिए—

'रंग भरी राग भरी राग सूं भरी री।
होली खेल्यां स्याम संग रंग सूं भरी री।
उड़त गुलाल लाल बादरा रो रंग लाल।
पिचका उड़ावां रंग रंग री झरी री।'[1]

पद में 'रंग रंग री झरी री' शब्द अपने नाद के आंदोलन से मस्ती और उल्लास की ऐसी स्वच्छंद परिस्थिति को स्थापित कर देते हैं जो पद के मूल वक्तव्य को अनुकूल और सार्थक परिवेश प्रदान करता है। लगता है कि बरसते हुए सुख की तान-लय पर वर्ण स्वयं स्वच्छंद-से उल्लास से थिरकते हैं।

वर्षा के चित्रों में यह कौशल विशेष है। गीत की मंगल बेला में वर्षा का कोमल रूप कुशल ध्वनि-योजना द्वारा ही मूर्तिमान हो जाता है।

'बरसां री बदरियां सावन री सावन री मन भावन री।
मगाक मुम्या हरिआवण री॥'[2]

इन दो पंक्तियों में कोमल और मधुर वर्णों का प्रधानतः ह्रस्व रूप में प्रयोग वह अभीप्सित वातावरण बना देता है, जो युगों के पश्चात् प्रियागमन की भनक से उत्पन्न सुखानुभूति की स्वाभाविक भूमिका बन जाता है। इसी प्रकार 'कंचन कसत कसौटी जैसे' की मंथर गति और कोमल वर्ण-योजना दीर्घकालीन विरह कोमलता को ध्वनित करती है और उसके पश्चात् जब वे कहती हैं कि 'तन रह्यो बारह बानी' तो 'रह्यौ' का आघात तथा 'बारहबानी' में 'बा' की दीर्घता एक ओजपूर्ण आवेग की व्यंजना करती है जिसमें उनके दृढ़ संयमित आत्म विश्वास को चित्रित करने वाला रागात्मक वातावरण बन जाता है और धर्म के प्रति ऐसा ही मार्मिक आत्मसमर्पण 'भाव में सूक्ष्म रागात्मक सौरभ की सृष्टि कर देता है।

(१) काशी पद ७१
(२) डाकोर, पद ५०

माधुर्य गुण—शृंगार परम मधुर और परम आह्लादमय रस है, वस्तुतः रस-राज है। माधुर्य भक्ति इसी महामहिम का आध्यात्मिक संस्करण है। मधुरिम ध्वनियों का प्रकृतया माधुर्य भाव के साथ विशेष आत्मीय सम्बन्ध है। मीरां के प्राण तो अनुराग की अकथनीय माधुरी से संसिक्त थे अतएव उनकी अलौकिक प्रणयाभिव्यक्ति में माधुर्य गुण की प्रधानता स्वाभाविक है। वियोग की व्यथा में उसके विस्तार का अवकाश और भी अधिक हो गया है।

चित्त को दीप्त या उत्तेजित करने वाले ओजगुण प्रसंगों का मीरां के जीवन और काव्य दोनों में काफ़ी अभाव है। उनके पदों में 'कालीदह नाथना' और 'चाणूर-मुष्टिक-वध' जैसे कतिपय उदाहरण मिल जाते हैं पर वे अग्र प्रसंग मलिन तथा विरस हैं और इनमें मीरां की आत्मा नहीं रमी। विशिष्ट मर्म के आग्रह से ही वे प्रवेश पा गये हैं। हाँ प्रसाद गुण मीरां के काव्य की व्यापक विशेषता है। अर्थ को दुर्बोध कर देने वाली जटिलताएं उनकी अभिव्यक्ति में कहीं नहीं हैं। जो न रहस्य के अनेक तम में खोई हो, न वायवी कल्पना के पंखों पर रमणीयता के स्वप्न-लोक सौंदर्य का कायली हो, उसकी अभिव्यक्ति अप्रसाद से पीड़ित कैसे हो सकती है?

शब्द-शक्ति

शब्द की उपादेयता अर्थाभिव्यक्ति में है। वही उसकी आन्तरिक सामर्थ्य या शक्ति है। उसके अभाव में शब्द निष्प्राण और उसकी सत्ता सारहीन है। इस शक्ति (शब्दार्थ-संबंध) के तीन प्रकार माने गये हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। विद्वान इस बात पर पूर्णतः एकमत नहीं हैं कि श्रेष्ठ काव्य के मूल में किस शक्ति का अनिवार्य व्यापार रहता है, पर वस्तुतः सभी शक्तियों का अपना-अपना महत्व है। वे अभिव्यक्ति की श्रेष्ठता की श्रेणियाँ नहीं हैं, शब्दार्थ-संबंध के प्रकार हैं, अतएव वे एक दूसरे की पूरक हैं, विरोधी नहीं। मीरां के काव्य में अभिधा और व्यंजना की प्रधानता है, लक्षणा उसमें गौण है।

(क) अभिधा — शब्द के मुख्यार्थ का बोध कराने वाली शक्ति अभिधा है। जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य का बोध इसी के द्वारा होता है। मीरां के काव्य में कृष्ण के रूप और उनकी लीलाओं के वर्णन में अभिधा का प्राधान्य है। उदाहरण के लिए :

कृष्ण का रूप-चित्रण मोर मुगट पीताम्बर सोहां कुंडल झलक्याँ हीर
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर कोड्या संग बलबीर ॥[1]
अथवा शंख चक्र गदा पद्म दरसें मिटे जग की त्रास ॥[2]
वृन्दावनादि के वर्णन आंसो म्हांणुं लाग्या बिन्द्राबन नीको ।
घर घर तुलसी ठाकर पूजा दरसण गोविन्दजी को
निरमल नीर बहूया जमणा को भोजन दूध दही को ।[3]
कृष्ण-लीला के अंकन कालिन्दी दह नाग नाथ्या काल फण-फण निरत करंत
कूदा जल मरतर णा डर्‌यां ब एक बाहु अनन्त ।
अथवा द्रोपदी की लाज राखी तुम बढ़ायो चीर ॥[5]

ये वर्णन संक्षिप्त और मीराँ की मधुर भावना में लिपटे रहने के कारण वैसे नीरस नहीं हैं जैसे कि सूर के भौगादि के लम्बे विवरण-वर्णन हैं[6] पर साथ ही इनमें सूरकृत वात्सल्यचित्रण की स्वभावोक्तियों की कोटि की सरसता और कलात्मकता भी नहीं है । अभिधा का अत्यन्त कलात्मक और मार्मिक प्रयोग मीराँ की अपनी इच्छा आकांक्षा स्थिति आदि के सहज और सीधे कथनों में है ।

> म्हारां री गिरधर गोपाल दूसरो न कूयां ।
> दूसरो न कोया साधा सकल लोक जूयां ।
> सजन सुधि ज्यों जाणै त्यों लीजै ॥[8] इत्यादि

इन कथनों में यद्यपि उनकी लौकिक व्यथा और अलौकिक अनुराग की मार्मिक व्यंजना भी होती है, पर इसमें चमत्कार प्रमुखत: अभिधा का है । ऐसे चित्रों की तुलना सूर की 'संदेसो देवकी सों कहियो' जैसी रससिक्त पंक्तियों से की जा सकती है ।

---

(१) डाकोर ७
(२) नागरीदास ३
(३) डाकोर, ८
(४) वही १२
(५) नागरीदास ४
(६) सूरसागर (सभा) दशमस्कंध पद १२ २३
(७) डाकोर, १
(८) नागरीदास ५

(ख) लक्षणा — अभिधार्थ से जहाँ काम नहीं चलता वहाँ रूढ़ि या प्रयोजन के आधार पर उससे संबंधित अर्थ लगाया जाता है। इसी को लक्षार्थ कहते हैं। लक्षणा अगोचर को गोचर या दृश्य के माध्यम से प्रगट कर देती है। इसके सहारे शब्द अपनी भंगिमाओं से बहुत कुछ कह जाते हैं। मीरां के पदों में लक्षणा का सौंदर्य विशेषकर क्रिया और विशेषण पदों में दिखाई पड़ता है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं —

क्रिया-शब्द

समाणी बांका चितवण नैणा समाणी।[1]
अटके म्हारे नैणा निपट बंकट छव अटके।[2]
लागी माधो मोहणा री जोवां थारी बाट।[3]
लुभाणी पिया थारे नाम लुभाणी जी।
उमगना सावण मा उमग्या म्हारो मन री।[4]

विशेषण-शब्द

प्यासी भूम[5]
बंकट छब[6]
बांका चितवण[7]

मीरां के पदों में लक्षणा का वैभव विशेष नहीं है। उन्होंने परंपरागत प्रयोगों को ही अपनाया है। इस दृष्टि से न उनमें सूर का सा विस्तार है, न महादेवी की सी कुशलता। उनकी प्रमुख विशेषता मार्मिकता की सृष्टि है। 'बाँकी चितवन का नयन में समा जाना' और 'भूमि का प्यासा होना' इन उक्तियों ने मूल वक्तव्यों को हृदय के चिर परिचित और मार्मिक सत्यों से बाँध कर रागात्मकता को जगाने की असीम सामर्थ्य प्रदान कर दी है और इसमें सहारा लिया गया है लक्षणा का।

---

(१) डाकोर पद संख्या ३
(२) वही पद ५
(३) वही पद ११
(४) वही पद २१
(५) वही पद ५०
(६) वही पद ४६
(७) वही पद २
(८) वही पद ३

(म) व्यंजना —अभिधा और लक्षणा के विराम लेने पर कभी-कभी एक विशेष अर्थ और निकलता है जिसे व्यंग्यार्थ कहते हैं। इस प्रकार के अर्थ को व्यक्त करने की शब्द की सामर्थ्य व्यंजना शक्ति कहलाती है। मीरां का काव्य मूलतः व्यंजनाप्रधान काव्य है। उसमें भी प्रमुख है भावव्यंजना वस्तु-व्यंजना का स्थान गौण है और अलंकार-व्यंजना का अभाव है।

'सखी म्हारी नींद नसानी हो
पियरो पंथ निहारतां सब रैण बिहाणी हो।'[1]

पपैया म्हारो कबरो बैर चितामा।
म्हा सोवूं छी अपने भवणमां पियुकरतां पुकारो॥'[2]

इन उदाहरणों में उत्कट विरह की विकल व्यथा की ही व्यंजना है।

'रहत गुलाल लाल बादरा री रंग लाल
पिचको उड़ावां रंग रंगरी झरी री' इस

पद में हृदय का संयोगजन्य उल्लास न अभिधा द्वारा व्यक्त है, न लक्षणा से इसका संकेत व्यंजना से ही मिलता है। इसके 'लाल' और 'रंग री झरी' शब्दों में प्रणयमूलक रस की स्वच्छंद अनुभूति की कितनी मनोहर सांकेतिक अभिव्यक्ति है? लगता है कि जैसे अनुराग की ही वर्षा हो रही हो। इसी प्रकार सावन के प्रसंग मीरां के प्रणयी मन की चिर आशामयी प्रतीक्षा-विकल भाव को ध्वनित करते हैं। वे कहती हैं

सुण्या री म्हारे हरि आवांगा आज।
म्हैला चढ़ चढ़ जोवां सजनी कब आवां महाराज।
दादुर मोर पपीहा बोल्यां कोइल मधुरां साज।
उमण्यां इंद्र चहूं दिस बरसां दामण छोड्यां लाज।
धरती रूप नवां नवा धरयां इंद मिलण रे काज।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर वेग मिलयो महाराज॥'[3]

इसमें प्रणयिनी मीरां ने 'इन्द्र के उमगने चारों दिस बरसन और दामिनी के लाज छाड़ने' का चित्र अंकित करके अपने लाज भरे उन्मद नारी मन की कामना की कैसी संयत पर मर्मस्पर्शी व्यंजना की है?

---

(१) डाकोर, पद ३९ (२) वही पद १८
(३) वही पद ८५

जहाँ तक भक्ति-रस का संबंध है वह मीराँ के पदों में व्यंग्य ही है। भक्तिगत माधुर्य के स्वाभाविक सहज और उदात्त भाव की मार्मिक व्यंजना करने वाली इतनी निश्छल आत्माभिव्यक्ति प्रायः विरल है। उन्हें साहित्य के महान मंच पर वरेण्य बनाने का श्रेय इसी प्रकार की भाव-व्यंजना को है।

चित्रण

अभिव्यक्ति-कौशल में चित्रण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जो कलाकार जितने ही सजीव और स्वाभाविक चित्र अंकित करता है, उसके काव्य की सहृदयता और प्रभावोत्पादकता उतनी ही बढ़ जाती है। भाव तो व्यंग्य होता है। इसलिए चित्र प्रायः विभाव और अनुभावों के ही अंकित किये जाते हैं।

(क) आलंबन के चित्र—मीराँ की प्रेमाभक्ति का प्रमुख कारण गिरिधर का रूप-व्यापार-सौंदर्य है। उन्हीं के आकर्षण ने उन्हें इस अलौकिक प्रणय-पंथ पर खींच लिया है। अतएव मीराँ का ध्यान जब कृष्ण की माधुरी मूरत पर टिकता है तो व उसे शब्दों में उतार देती हैं।[1] इस 'बारिज नयन मतवाली अलक, निपट बंकट छबिवाले' मदन मोहन के कोमल मधुर तरुण रूप के चित्र मीराँ में मिलते हैं। सूर के समान वात्सल्य की छवियों को उन्होंने अंकित नहीं किया। शायद उनका अनंकुरित मातृत्व इसके मूल में हो। बाल-लीला का केवल एक उल्लेखनीय चित्र है कालीदह को नाथने का।[2]

कृष्ण राधा या गोपियों के नखशिख का चित्रण मीराँ के पदों में नहीं मिलता। वस्तुतः उनकी कथा मीराँ-कृष्ण कथा है राधा-कृष्ण कथा के चित्र उनमें अत्यन्त विरल हैं। मीराँ का नारी मन नारी-रूप से इतना मोहित नहीं हो सकता जितना सूर या श्री हितहरिवंश का। फिर राधा से उनका तादात्म्य और उनके नारी सुलभ सकोची स्वर के लिए इस शृंगारिक तत्त्व में लीन होना कठिन था।

---

(१) डाकोर, पद ३ ४ ५ आदि

(२) कमल दल लोचण थे नाथ्यां काल भुजंग।
कालिन्दी दह नाग नाथ्यां काल फण फण निरत करन्त
कूदा जल अन्तर ना डर्यां थे एक बाहु अनन्त।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर ब्रज वणता रो कंत॥

(ख) अनुभाव के चित्र—भाव अनुभावों के माध्यम से ही व्यक्त होता है। संयोगजन्य अनुभावों के चित्र मीरां के काव्य में विरल हैं पर हैं अवश्य। वृषभानु-नन्दिनी प्रातःकाल स सोम-मुखिनी के रूप में आती हैं। उनके मुख की शोभा और माधुर्य-शिथिल गति का वर्णन मीरां ने एक पद में किया है जिसमें कहा है कि

मुख पर स्वेद अलक लट छूटी मधुरी चाल डोरिया भूमत आवे।[1]
इसमें संयोग शृंगार के आन्तरिक सुख-क्षण का कैसा स्पष्ट चित्रण है? पर यह पद मीरां के स्वभाव के अनुकूल कम और भी हितहरिवंश की रचना परंपरा का अधिक लगता है।

किसी गोपी से गोविन्द ने प्रीति की, प्रीति का प्रभाव इतना उन्मादक इतना विस्मरणकारी हुआ कि तन-बदन की सुध बुध भी नहीं रही। प्रेम की कैसी मधुर विवशता है कि—

डोलत गजमस्त जैसे सुध न रहे मन्की।
प्रेम की गाँठ परी कोटि बार भटकी।[2]

मीरां स्वयं विरह की बावरी हो गयी हैं उन्हें नींद नहीं आती है, नींद का झोंका आया भी तो प्रिय को स्वप्न में देखकर चौंक पड़ती हैं और जग जाती हैं।[3] एक दिन 'यादव चंद्र परमासते और मंद-मंद मुसकाते मीरां के द्वार से निकल गये। बस तबसे उनके सौंदर्य-लोभी नयन कृष्ण के रूप में अटक गये हैं लौटते नहीं हैं। तब से वे कहती हैं 'कम-कम-नख शिख सख्या ललक ललक अकुलाय'। इस 'ललक ललक अकुलाने' में कितना आकर्षण-संमोहन कितनी विवशता विकलता साकार हो उठी है। विरह की सुध भी अघट नियम में नींद और जागरण से आँख मिचौनी सजग और

(१) विद्या सभा सं० १९९५, पद ४
(२) वही पद ३
(३) नींदड़ी आवां णा सारां रात कुण विध होय प्रभात
चमक उठा सुपणा सख लखड़ी सुध का भूल्या जात
तड़फां तड़फां जीयरा जावां कब मिलस्यां दीनानाथ।
भयां बावरां सुध बुध भूलां पिव जाण्यां म्हारी बात।—काशी पद ८१
(४) काशी पद ८७

नींद में जाग-जाग पड़ने में जो वियोग की अन्तर्दशाएं चित्रित हैं उनको पाठक श्रोता-व्याख्याता मोसता हुआ-सा सामने देखता है।

(ग) प्रकृति चित्रण—मीरां ने प्रकृति के चित्र विशेष अंकित नहीं किए। प्रकृति कहीं आलंबन नहीं है। उद्दीपन के रूप में भी उसका विशेष महत्व नहीं है। उनके प्रणय में भी काव्य-कलापों की भूमिका के रूप में प्रकृति नहीं आ सकी। वस्तुतः मीरां का समग्र ध्यान कृष्ण पर था व अपनी समस्त भावात्मक सत्ता के साथ गिरिधर के रंग में डूब गयी थीं पर प्रकृति के सौंदर्य और महत्व को मीरां ने समझा था। उसे अपनी तरह सप्राण सचेतन मान कर उसके साथ आत्मीयता का भाव रखती थीं इसलिए वे बादल से कह सकती थीं

'बदरा रे तें जल भरा आज्यो।
झर झर बूंदा बरसां आली कोयल शब्द सुणाज्यो'

प्रकृति के जिन व्यापारों में प्रियतम के आने का संदेश-संकेत मीरां को मिलता है उन्हें मीरां ने अंकित कर दिया है।[1] कहीं-कहीं प्रकृति ने उद्दीपन विभाव का कार्य भी किया है।[2] ये चित्र संख्या में कम हैं सूक्ष्मता का इनमें अभाव है पर सांकेतिक होने के कारण मार्मिक हैं। प्रकृति के विराट रूप के चित्र भी मीरां के काव्य में नहीं हैं। प्रकृति की भयंकर विराटता या तो प्रकृतिवादियों में होती है या प्रकृति की भूमिका में विराट के साथ रंगरेली करने वाले रहस्यवादियों में। मीरां के सगुण प्रिय यमुना के किनारे, द्वार पर, ब्रज की गली में ही मिल जाते हैं अतः ऐसा संयोग मीरां की रचनाओं में नहीं आया और उनके भाव-गीतों में प्रकृति के कोमल मधुर और प्रिया-मुखी रूप को ही स्थान मिला।

---

(१) बरसां री बदरिया सावण री सावण री मन भावन री
डाकोर पद ५०

(२) *बादल देख्यां झरी स्याम बादल देख्यां झरी।*
काला पीला घटूयां उमड्यां बरस्यां चार घरी।
जित जावां तित पाणी पाणी प्यासां भूम हरी।
म्हारा पिया परदेसां बसतां भीज्यां बार खरी।
मीरां रे प्रभु हरि अबिनासी करस्यो प्रीत खरी॥

—डाकोर, पद ४९

बिम्ब-योजना

कविता अनुभूति की भाषा है जो संवेदना को देह प्रदान करती है। तथ्य का बोध मात्र करानेवाली अभिव्यक्ति काव्य की कोटि में नहीं आती। अतः सफल कवि को प्रायः बिम्ब के सहारे भाव वस्तु या व्यापार को मूर्तिमान करना पड़ता है।[1] आचार्य शुक्ल ने तो 'बिम्ब ग्रहण कराना' कविता का काम बताया है।[2] मीरां की यह एक कलात्मक उपलब्धि है कि वे सामान्य और अमूर्त को व्यापक रूप से गोचर और अनुभूतिगम्य बना सकी हैं।

पर, मीरां माध्यम की पुजारिन नहीं थीं। इसलिये उनमें न बिम्ब की मनोहरता का मोह था न शब्द-शिल्प की कल्पनाप्रिय प्रवृत्ति। बिम्बवादियों (ह्यूम एजरा पाउण्ड रिपोस्टे आदि) की तरह वे कलापूर्ण ऐंद्रिक शब्द-चित्रों के जाल में नहीं उलझीं। सूर और तुलसी की तरह उनके शब्द-चित्र वाणी के वैभव से अलंकृत भी नहीं हैं, पर इनके बिम्बों की भूमिका या संदर्भ में मानवीय संवेदनाओं का ऐसा संस्पर्श अवश्य रहता है जो भाव-बोध से आगे अनुभूति और आस्वादन की स्थिति तक ले जाता है और वस्तु को सजीव बना देता है। मीरां के काव्य की मार्मिकता और लोकप्रियता का कदाचित् यह एक प्रमुख कारण है।

मीरां में न यथार्थ का तथ्य चित्रण है, न आदर्श का भाव-चिन्तन और न दूरगामी कल्पना का विहग-विलास। इसलिए उनके बिम्ब न स्थूल विवरणों से बने हैं, न सूक्ष्म चिन्तन-रेखाओं के दुर्बोध संयोगों से। उनमें प्रायः एक प्रकार की घनीभूत भावमयता ही मुखरित हो उठी है, जो शिल्प की आयासहीनता के कारण सहज मनाकान्त और अविकल है।

बिम्ब-योजना का मूलाधार इन्द्रिय-संवेदन है। ऐंद्रिक बोध के माध्यमों के आधार पर बिम्बों के भी पाँच प्रकार हो जाते हैं— दृश्य

---

(१) इस प्रसंग में सी० डी० लेविस का यह कथन दृष्टव्य है —

Poetic image is a more or less sensuous picture in words to some degree metaphorical with an undertone of humane emotion in its context, but also charged with and releasing into the reader a specific poetic emotion or passion —Poetic Image pp 22.

(२) रसमीमांसा, पृष्ठ १६०

(Visual) श्रव्य (Auditory), स्पर्शमूलक (Tactile), स्वादमूलक (Gustatory) तथा गंधमूलक (Olfactory)

मीरां में दृश्य बिम्बों का बाहुल्य है। प्रिय की पाषाणी उपेक्षा और प्रेमिका की त्यागमूलक एकनिष्ठता साकार कर देनेवाले ऐसे दृश्य बिम्ब अनेक हैं:— 'पानी पीर न जाणई ज्यूं मीन तड़फ्यां देह।' यह भी हुआ है कि तन्मयता के क्षण में रूप-रस-गंध-स्पर्श और शब्द एकाकार हो गए हैं। 'सांवा पाना भामसी भी सांवरा' में रूप-रस-गंध तीनों ध्वनित हैं, पर ऐसे बिम्ब अधिक नहीं हैं। प्रयत्न करने पर आधुनिक बिम्बवादियों द्वारा बहुचर्चित औष्मिक और देह-संवेदनात्मक बिम्ब भी मीरां के पदों में खोजे जा सकते हैं पर ऐसा प्रयास इस विकल वियोगिनी के प्रति एक अन्याय होगा।

मीरां के बिम्ब प्रायः सान्द्र या समाहृत (Compress) अधिक हैं, विवृत (Elaborate) कम। गीत की सीमित परिधि और आवेग के लघु क्षण में न फैलाव का अवकाश है न विस्तार की बहिर्मुखी चेतना। विवृत बिम्ब सक्षम कलात्मकता की अपेक्षा करते हैं। सूर के काव्य में कहीं-कहीं बिम्बों में सूक्ष्म रेखाओं और सूक्ष्मतर रंगों की बड़ी विस्तृत कलापूर्ण योजना मिलती है, तुलसी में इसका सौंदर्य और भी व्यापक है, पर मीरां के बिम्बों में वह विवृति नहीं है। विवृत बिम्ब प्रायः विशेष अलंकृत होते हैं। साजसज्जा मीरां के जीवन और काव्य में कहीं नहीं है इसलिए समाहृत सूक्ष्म लघु अनलंकृत बिम्ब ही उन्हें अधिक प्रिय हैं।[2]

बिम्बवादियों ने वस्तु, व्यापार और भाव-बिम्बों की अलग-अलग

---

(१) Kreuzer—Elements of Poetry शीत-ताप-बोधक बिम्बों को Thermal (औष्मिक) तथा शारीरिक विश्राम-बोधक बिम्बों को Kinaesthetic (देह-संवेदनात्मक) नाम दिया गया है। वस्तुतः बोध और अनुभूति के प्रकारों के साथ इस संख्या का विस्तार किया जा सकता है।

(२) ऐसे अनेक उदाहरण हैं —
हरि बिन मथुरा ऐसी लागे शशि बिनु रैन अंधेरी।
छोड़ गयी अब कौन बिसासी, प्रेम की बाती बराय।
पिलतां मिळतां पिस गई म्हारी आंगळियां री रेख।

चर्चा की है। रूप के स्थिर और व्यापार के गत्यात्मक चित्र तो मीरां में हैं पर उनकी वास्तविक सफलता भाव-व्यंजक बिम्बों को प्रस्तुत करने में ही है। वैसे तीनों प्रकार के बिम्ब प्रायः आपस में घुलमिल जाते हैं और संश्लिष्ट बिम्ब सामने आता है।

दो बिम्बों को देखिए —

(१) बिरह समंद में छोड़ गया छो नेह री नाव चढ़ाय।[1]
(२) ज्यों चातक घन कौं रटै मछरी बिन पानी।[2]

इस प्रसंग में एक बात कह देना आवश्यक है कि बिम्ब-योजना में कल्पना की अस्वाभाविक कलाबाजी शब्दक्रीड़ा की चमत्कारिक प्रवृत्ति और चित्रण-प्रियता मीरां के काव्य में नहीं है। जबकि सूर जैसे रससिद्ध कलाकार कृष्ण-छवि के चित्रण में 'त्रिपुरारि' का बिम्ब खड़ा करने की कारीगरी का मोह नहीं त्याग सके[3] (जैसे न शंकर की जटाएं बालकृष्ण की सुकोमल अलकों का स्थान ले सकती हैं और न सुन्दर तिलक त्रिनेत्र का) तथा "दधि सुत में दधि जात"[4] सिद्ध करने में चित्रण की बजाय शब्द-क्रीड़ा में उलझ गए हैं और जायसी भ्रमर-चित्रण के स्थान पर घूमी छोलकर बैठ गए हैं वहां मीरां ऐसे किसी मोह में नहीं फँसी। इसका कारण उनके काव्य की सीमितता और प्रिय में अतिशयलीनता भी हो सकती है और कल्पना के प्रयोग के प्रति उनकी उपेक्षा या असमर्थता भी।

कुछ भी हो संक्षेप में कहा जा सकता है कि चित्रण स्वतंत्र रूप से मीरां को प्रिय नहीं था। उनके रूप-व्यापार के चित्रों में वैविध्य विस्तार और सूक्ष्म रेखाओं का अभाव है। प्रकृति के चित्र उसके कोमल आत्मीय और भावप्रेरक रूप के हैं पर वर्षा तक ही सीमित हैं। भावों और मनोव्यापार के मूर्तरूप उन्होंने सफलतापूर्वक प्रस्तुत किये हैं और कलात्मकता के मोह में उनका चित्रण कहीं भी अति अलंकृत नहीं हुआ।

---

(१) डाकोर, पद
(२) नागरीदास पद ६
(३) सूरसागर (सभा) दशम् स्कन्ध पद १६९
(४) वही पद १७२

अप्रस्तुत विधान

काव्य जीवन के सत्य और अनुभूति की मार्मिकतम वाणी है। उसके भाव-बोध की अभिव्यक्ति की साधक उनसे भिन्न वस्तुओं की जो योजना की जाती है उसे अप्रस्तुत विधान कहते हैं। काव्य में 'प्रस्तुत' का होना (चाहे सांकेतिक रूप में ही हो) आवश्यक है पर 'अप्रस्तुत' अवयव का होना अनिवार्य नहीं है।—(कोरे वस्तु-व्यापार-वर्णन अथवा स्वाभावोक्ति में अप्रस्तुत विधान नहीं रहता, पर रसात्मकता रह सकती है।)[1] मीरां का काव्य 'प्रस्तुत' के मार्मिक स्वरूप और निश्छल सहज अभिव्यक्ति के कारण ही रसात्मक है उसमें अप्रस्तुत-विधान की स्थिति अत्यन्त गौण है।

अप्रस्तुत-विधान प्रायः अलंकृति बन जाता है। इसकी सार्थकता अभिव्यक्ति की साधना में निरत हो जाने में है स्वयं सर्वस्व बन जाने में नहीं। मीरां की अलंकृति आत्मश्लाघी नहीं है। उपमा रूपक और उत्प्रेक्षाओं के वैभव से उनका काव्य बोझिल-संकुल तो हुआ ही नहीं है जहाँ वे आए हैं, वहाँ भी अधिक मुखर नहीं है। (अतिमुखर होने पर अलंकृति अनुभूति का शोषण करती है पोषण नहीं।) 'कमलदल लोचना थे नाथ्या काल भुजंग' जैसी पंक्तियों में अलंकृति की रेखाएँ उभरती नहीं हैं सामने आती है अनन्त कोमलता की मूर्ति और अकस्पित प्राण-भेदा साहस! हृदय में स्निग्धता जगती है कि अगला चित्र उसे झकझोर देता है अलंकार की ओर ध्यान ही नहीं जाता।

रसमयी वाणी तो वैसे ही अलंकारों की अपेक्षा नहीं करती। अतिशय अलंकृति उसकी दुर्लभ्य बाधा है। मीरां में जहाँ कलात्मक उत्कर्ष के शास्त्र पूजित शिखरों का अभाव है वहाँ वे भाव-व्यंजना की उक्त बाधा से भी मुक्त हैं। जहाँ उनके भाव गुप्त हैं वे मौन हैं। कला परंपरा या किसी के मोह से उन्होंने भाव की पूर्ति अलंकारों से नहीं की। आनन्दवर्धन के शब्दों में कह सकते हैं कि मीरां के काव्य में ये अलंकार 'अहम्पूर्विकया' उपस्थित होते हैं और इसीलिए वे मीरां की अनुभूति से अन्तरंगसम्बद्ध होकर व्यंजनक्षम हो सके हैं।

---

(१) रसमीमांसा रामचन्द्रशुक्ल, पृष्ठ ११८

काव्य के बाह्य स्वरूप को रमणीय बनाने के लिए मीरां ने अप्रस्तुत की योजना नहीं की। उनके काव्य का वर्ण्य विषय दृश्य जगत् की दृष्टि से अत्यन्त सीमित है, उसमें वैविध्य और विस्तार नहीं है अभिव्यक्ति की कलात्मकता के लिये सचेतन प्रयासशीलता का भी उसमें अभाव है। अतएव 'अप्रस्तुत' के प्रयोगों की सीमा का अतिसङ्कुचित होना स्वाभाविक ही है।

मीरां में चमत्कार का प्रमुख कौशल प्रस्तुत और अप्रस्तुत के साम्य पर आधारित है। यह साम्य कहीं भाव या गुण का है कहीं रूप का और कहीं प्रभाव का। निम्नांकित उदाहरणों से यह बात स्पष्ट है—

भाव का गुण-साम्य   अंग छीण व्याकुल भयां मुख पिव पिव बाणी हो।
ज्यूं चातक घण कूं रटा मछरी ज्यूं पाणी हो।[1]

रूप-साम्य   कुंडल झलकां कपोल अलकां लहरां।
मीना तज सरवर ज्यों मकर मिलण आई॥[2]

प्रभाव-साम्य   तण मण वारयां हरि चरणां मा दरसण-अमरित पायमारी।[3]

प्रथम उदाहरण में मीरां का चातक और मछली से भाव-साम्य है तीनों वियोगवश प्रियतम की याद में एक से हो गये हैं। दूसरे में कुंडल मकराकृत है और तीसरे में 'दर्शन' अमृत' जैसा इसलिये है कि अमृत से अमर करने वाला जो अलौकिक माधुर्य-रस मिलता है दर्शन का फल भी वही है। परंपरागत अलंकारशास्त्र की शब्दावली में पहले दोनों उदाहरण उत्प्रेक्षा के और तीसरा रूपक का है।

विरोधमूलक चमत्कार रचना सहज नहीं होता जितना कि साम्य मूलक। अतएव मीरां के पदों में इस प्रकार के चमत्कारपूर्ण प्रयोग विरल हैं जो हैं उनमें भी विरोध की योजना में कलात्मक गुंफन का अभाव है। वे न सूरकृत भ्रमरगीत की गोपियों की सी विरोधमूलक विदग्ध उक्तियां साहित्य को दे सकी हैं और न बिहारी के दोहों में प्रयुक्त विरोधाभास की छटा का सर्जन कर सकीं। फिर भी विरोध-मूलक चमत्कार उनके काव्य में है जो सीमित होते हुए भी सामान्यतः रमणीय है। उदाहरण के लिए, कमल दल लोचणा थे नाथ्यां

(१) डाकोर, पद १६
(२) काशी पद ८५
(३) डाकोर, पद ४०

काल भुजंग। यहाँ में 'कमल-दल-लोचन' (कोमल सुंदर) होते हुए भी कृष्ण का कालीदह जैसे विषैले कालभुजग को नाथना एक विरोध का आभास कराता है पर कृष्ण की महत्ता का स्वरूप उनके व्यक्तित्व में ऐसे विरोधों की स्थिति से ही स्पष्ट होता है। इसीसे बुद्धि उन्हें अलौकिक और आराध्य मान लेती है।

न्यायमूलक अलंकारगत चमत्कार प्रायः उन स्थलों पर होता है, जहाँ यथासंख्या काव्यलिंग तद्गुण लोकोक्ति आदि अलंकार आते हैं। लोकोक्तियों के उदाहरण मीराँ की भाषा के विवेचन करते समय दिये गये हैं, उनमें युग-युग की अनुभूति का सत्य बोलता है। जहाँ मीराँ ने एक पंक्ति में अपने मन को प्रभु की ओर प्रेरित होने का उद्बोधन किया है वहाँ युक्ति द्वारा कारण देकर पद या वाक्य का समर्थन भी कर दिया है शास्त्रीय शब्दावली में इसी को काव्यलिंग अलंकार कहते हैं, जैसे—

भज मन चरण कंवल अविनासी।
जैताई दीसा धरण गगण मां तेताई उठ जासी।

इस प्रकार का चमत्कार स्वयं अत्यंत साधारण होता है। अतः काव्य के उत्कर्ष में इसका योग भी विशेष नहीं है।

काव्य-वस्तु के प्रभाव की तीव्रतर और तद्गत भावानुभूति को अधिक संवेद्य बनाने के लिए, उसके यथार्थ वास्तविक रूप को कुछ अतिशयता के साथ प्रस्तुत किया जाता है। अधिकांश अलंकारों के पीछे यही प्रवृत्ति काम करती है। यह काम कल्पना द्वारा होता है। मीराँ में अतिशयता सूचित करने के लिए ऊहात्मक वस्तु-व्यंजनात्मक विधान का वही रूप ग्रहण किया गया है जहाँ ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप सत्य या सम्भाव्य है अयथार्थ नहीं है। ये रूप काफ़ी मार्मिक हैं। उदाहरण के लिए 'तारां गणता रैण बिहावां' में अतिशयता होते हुए भी आधार की संभवता के कारण उक्ति में मन को छू लेने की शक्ति आ गयी। ऐसी पंक्तियों की कमी मीराँ में नहीं है —

(१) पपीहा म्हारा कबरो बैर चितार्यां
म्हां सोवू ही अपणे भवणमां पियु पियु करतां पुकार्यां।[1]

---

(१) डाकोर, पद ३८

(२) कम्पन कोटा बरसा पधारमा दूसहा श्री व्रजनाथ।[1]
(३) म्हारे घर होतां आज्यों महाराज
गैण बिछ्याउं हिवड़ो डास्यूं सर पर राख्यूं बिराज।[2]

रीतिकाल में असत्य या कवि प्रौढोक्ति-सिद्ध वस्तु के अथवा सत्य वस्तु के काल्पनिक हेतु के आधार पर अनेक ऊहात्मक चित्र अंकित किये गये। जायसी[3] और सूर[4] में भी इस प्रकार के दोष हैं। मीरां इससे प्रायः मुक्त हैं।

शास्त्रीय दृष्टि से अतिशयतामूलक चमत्कार-पद्धतियों में अतिशयोक्ति अत्युक्ति आदि अलंकार आते हैं। मीरां ने इनका प्रयोग चमत्कार-सृष्टि के लिए कहीं नहीं किया। संस्कृत का परवर्ती साहित्य काव्य-कलेवर के शृंगार की साधना की ओर एक प्रकार की चमत्कारपूर्ण फैशन-परस्ती की ओर उन्मुख था। रीतिकाल का तो कहना ही क्या ! उन दिनों अलंकृति स्वयं में एक महनीय उपलब्धि थी। भक्तियुग भी पूर्णतः इससे मुक्त न था। तुलसी और सूर भी अपनी कुशलता सिद्ध करके ही आगे बढ़े थे। पर, मीरां ने न तो 'नखशिख का अनुपम दाव' बनाया और न अँगुरी की मुंदरी को कंगन बनाने की कलात्मक कोशिश की।

कल्पना

शेक्सपियर ने कहा है—'The lunatic, the lover and the poet are of imagination, all compact मीरां प्रणयनी भी थी और कवयित्री भी इसलिए कल्पना की प्रचुरता उनमें स्वाभाविक थी। काव्य के क्षेत्र में चित्रण तथा अप्रस्तुत-विधान दोनों की जननी कल्पना ही है। मीरां के चित्रण की तो चर्चा हो चुकी है। अप्रस्तुत-योजना में भी मूलमता और विराटता दोनों का अभाव उनकी पदावली में है। कल्पना का रमणीय प्रयोग और तज्जन्य चमत्कृत कर देने वाला रूप-विधान भी उनमें नहीं है। पर, उनकी

(१) वही पद १६
(२) वही पद २१
(३) पुनि तेहि ठाँर परी तिनि रेखा घूंट जो पीक लीक सब देखा।
(४) दूर करहु बीना कर धरिबो
रथ थाक्यो मानो मृग मोहे नाहिन होत चन्द्र को ढरिबो।

एक बहुत बड़ी उपलब्धि यह है कि उनका समस्त अप्रस्तुत-रूप-विधान भावोद्रेक द्वारा परिचालित है और, यही सच्ची कवि-कल्पना है।[1] केवल कसत कसौटी जैसे तन रह्यो वारह वानी' 'मीरां के रंग लाग्यो हरी के'[2] 'म्हाँ सती कँस के पुट् भई सुमद की माथी'[3] आदि अनेक उदाहरण इस तथ्य के प्रबल प्रमाण हैं।

अभिनवगुप्त ने कल्पना को 'अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा' कहा है। मीरां में 'अपूर्व' कुछ है, तो विराट सौन्दय की वैयक्तिक (निसकुल अपनी) अनुभूति और विरोधों के विरुद्ध अपराजित दुदम्य साहस है जो नारी सुलभ माधुय के परिवेश में और आकर्षक लगता है। वरना उनके काव्य की समस्त भाव भूमि चिरपरिचित है लौकिक और अलौकिक दोनों दृष्टियों से और इसीलिए संवेदना के तल पर अधिक सशक्त और व्यापक है।

मीरां प्रणयिनी है। फिर भी उनमें कल्पना का असंकल्पित रूप नहीं है जो प्राय दिवास्वप्नों और फैन्सी के रूप मे व्यक्त होता है। उसके पीछे पलायन की एक अनजानी निष्क्रिय प्रवृत्ति रहती है जो वस्तुत मीरां के मजग सक्रिय और आस्थावान व्यक्तित्व के लिये विजातीय थी। धर्म-गुरुओं के प्रबल विरोध और राणा के राजकीय रोष दोनों के सामने उनकी आस्था अनातंकित और विश्वास अविचल रहे। इसलिए उनकी कल्पना सदैव उनके संकल्पों की ही संगिनी बनी किन्ही शिथिल क्षणो की स्वप्निल रमणीयता की नहीं।

उक्ति-सौंदर्य

उक्ति ही सच्चे अर्थ में हमारी भाषा की इकाई है, अत उक्ति का अपनी समग्रता में सुन्दर होना भी काव्य की रमणीयता का कारण होता है और यह समग्रता का सौंदर्य अवयवों के सौंदय को अपने में समाकर भी उनसे अपना अलग अस्तित्व रखता है। यह सौंदर्य दो प्रकार का होता है एक तो केवल अनूठेपन का' और दूसरा 'मार्मिकता' का है। यही दूसरा सौंदय

(१) रसमीमांसा शुक्ल पृष्ठ ३४८

(२) नागरीदास पद २ तथा १

(३) विद्यासभा हस्तलिखित प्रति सवत् १७०१

काव्यगत उक्ति-सौंदर्य है। इस सौंदर्य का प्रसार मीरां के पदों में पर्याप्त है। सुन्दर उक्ति सहज और स्वाभाविक भी हो सकती है तथा वक्र और वैचित्र्यपूर्ण भी। मीरां की सहज उक्तियों में हृदय की मर्म-कथा बोलती है। 'तनक हरि चितवां म्हारी ओर'[1] में कोई वक्रता नहीं है पर 'तनक' शब्द ने उनकी समस्त ललक-लालसा को मूर्तिमान कर दिया है।

वक्रोक्ति (अलंकार नहीं) उक्ति की वक्रता या चमत्कारिता है, जो काव्योत्कर्ष में सहायक होती है। आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति में वाणी के चमत्कार के लगभग सभी रूपों की गणना कर ली है अतएव मीरां में वक्रोक्ति के अनेक रूपों के प्रयोग मिल जाते हैं जिनमें से कुछ निम्नांकित हैं: —

(१) पद परार्द्ध वक्रता — 'हम चितवां थे चितवो णा हरि हिवड़ो बड़ो कठोर' पंक्ति में हिवड़ो में 'डो' प्रत्यय की विशेषता है अतएव इसे प्रत्ययवक्रता कहेंगे जो पद के परार्द्ध में होने के कारण पदपरार्द्धवक्रता का एक रूप है।

(२) पदपूर्वार्द्ध वक्रताः—'म्हां मोहन रो रूप लुभाणी' में 'मोहन' का प्रयोग चमत्कार पूर्ण है, यह अर्थ को अतिशय पुष्ट करता है और संभाव्य अर्थ की ओर संकेत भी। इसमें शब्द के एक ऐसे पर्याय का चमत्कारपूर्ण प्रयोग हुआ है, जो अर्थ से घनिष्ठता रखता है। अतएव इसे पर्यायवक्रता कहा जायगा जो पद पूर्वार्द्धवक्रता का एक भेद है।

इसीप्रकार मीरां के पदों में उपसर्ग और निपात (अर्थात् अव्यय रहित अव्यय के रमणीय प्रयोग) सुंदर वस्तु का रमणीय वर्णन तथा प्रसंग के आकर्षक सौष्ठव के उदाहरण भी मिलते हैं जिन्हें पारिभाषिक शब्दावली में पद वाक्य और प्रकरण-वक्रता कहा जा सकता है। प्रसंगवक्रता के कई उदाहरण मीरां में इतने रमणीय हैं कि उनसे रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे विश्वकवि प्रभावित हुए और उन्होंने स्वयं उसका अनुकरण किया है।

> थाण्यां थूं मिलण बिच नया होय।
> माया म्हारे भागरा फिर गया आण्यां जाय।
> जोवतां मन रैण बीता दिवस बीता जोय।
> हरि पधारा आंगणां गया म्हें अभागण सोय॥ (शाकार, २६)

---

(१) श्वासी पद ७१

उक्त घटना को गुरुदेव ने गीतांजलि में इस प्रकार रख दिया है —
He came and sat by my side but I woke not. What a cursed sleep it was, O miserable me! He came when the night was still. Alas, why are my nights all thus lost? Ah, why do I ever miss his sight whose breath touches my sleep

(गीतांजलि – गीत २९)

दिन और रात भर प्रतीक्षा करने के पश्चात् सो जाना कितना स्वाभाविक है और निष्ठुर दुर्भाग्य का यह खेल कितना करुण! टैगोर की इस स्थिति में कि "प्रिय आया और मैं जगी नहीं" की अपेक्षा मीराँ की यह स्थिति अधिक मार्मिक है कि दिनरात प्रतीक्षा की पर प्रिय के आने की अनकही घड़ी में आँख लग गयी।

टैगोर कृत 'माडनर' काव्य का सारा प्रसंग ही मीराँ के पद 'म्हाने चाकर राखो जी गिरधर लाला चाकर राखो जी" पद के केंद्रीय भाव का कथात्मक विस्तार है।

शास्त्रीय कवि-कोटियाँ और मीराँ — मीराँ मूलतः भक्त थीं कवि-रूप उनमें गौण था और कवि रूप में भी शास्त्रीयता तो उनसे अत्यन्त दूर थी। अतः काव्य-शास्त्र की रूढ़ कसौटी पर मीराँ का मूल्यांकन उचित नहीं है। पर, प्राचीन रूढ़ काव्य-शास्त्रीय परंपरा मीराँ को किस कोटि में रख सकती है यह जान लेना शायद प्राचीनों की दृष्टि से उपादेय तथा नवीनों की दृष्टि से मनोरंजक हो सकता है।[1]

कारयित्री प्रतिभा के आधार पर कवि की तीन कोटियाँ मानी गयी हैं —

(क) सारस्वत—सहजा प्रतिभा प्रधान कवि जिनमें कवित्व-शक्ति पूर्व जन्म के संस्कार वश काव्य रचना में प्रवृत्त होती है।
(ख) आभ्यासिक—जिनकी कवित्व-शक्ति आहार्य बुद्धि द्वारा अभ्यास से जागृत होती है।
(ग) औपदेशिक—जिनकी काव्यरचना उपदेश के सहारे होती है।

---

(१) कविकोटियों के संबंध में निश्चित तथा तथ्यपूर्ण विवरण देने वाले प्रमुखतया दो ही ग्रंथ हैं—राजशेखर-कृत 'काव्य-मीमांसा' और क्षेमेन्द्र कृत 'कवि कंठाभरण'।

मीरां को काव्य का उपदेश किसी ने दिया था इसका प्रमाण नहीं है। इसकी संभावना भी नहीं है। उन्होंने मसि और कागद भी नहीं छुआ था यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता लेकिन उनके पदों को देखकर कोई भी कह सकता कि कम से कम उपदेश की प्रेरणा मर्मकथा की उस मधुरवाणी का आधार नहीं है। 'अभ्यास' का हाथ भी मीरां के काव्य में अधिक नहीं है। रचनाओं का अनगढ़पन कला के प्रति रचनाकार की उदासीनता की बात स्पष्ट स्वरों में कह देता है। बौद्धिकता और चिन्तन की मुग्धावस्था के स्थान पर भावना का सहज उद्रेक भी 'आहार्य बुद्धि द्वारा अभ्यास के विरुद्ध साक्ष्य प्रस्तुत करता है। मीरां की प्रतिभा सहज थी इसीलिए भक्ति के अनुभूतिपूर्ण क्षणों की वाणी अनायास काव्य की कोटि में आ गयी। पद गाते-गाते मीरां को अभ्यास अवश्य हुआ होगा अन्य भक्तों के पदों को पढ़कर या सुनकर भी उन्होंने कुछ न कुछ सीखा ही होगा। संगीत के स्वर साधने का अभ्यास गाने या बजाने उन्होंने किया ही था। अतः यों कहना उचित होगा कि मीरा की काव्य प्रतिभा सहजा थी जो कदाचित 'अनायास' अभ्यास के कारण प्रखर हुई। इस दृष्टि से व औपदेशिक और आभ्यासिक नहीं सारस्वत कवियों की कोटि में आती हैं।

प्रतिभा और व्युत्पत्ति के आधार पर कवि तीन प्रकार के माने गये हैं

(क) शास्त्र कवि (ख) काव्य कवि (ग) उभय कवि।

शास्त्र कविकी रचना में अध्ययन और ज्ञान प्रधान होता है काव्य-कवि भावना को प्राधान्य देता है और उभयकवि में दोनों का सामंजस्य है। मीरां शास्त्र सामग्री अवश्य थी (जीव गोस्वामी की घटना इसका प्रमाण है) पर उनके काव्य में शास्त्र कहीं नहीं बोलता। व शास्त्रज्ञ भी शास्त्राक्रान्त नहीं। उसकी पूंजी है 'भाव' तत्व जो परिपक्व होकर आस्वाद्य होने पर रस-संज्ञा ग्रहण कर सकता है। अतः मीरां को इस आधार पर काव्यकवि में काटि रख सकते हैं पर हिचक के साथ क्योंकि काव्य रस भी उनकी रचनाओं का लक्ष्य नहीं है, वह पद की अनायास अनवोली उपलब्धि या यों कहिए कि बाईप्रोडक्ट मात्र है।

रचना की मौलिकता के आधार पर कवियों की चार कोटियाँ कही गयी हैं

(क) उत्पादक कवि—नवीन उद्भावना करने वाला

(ख) परिवर्तक कवि—दूसरे की रचना में परिवर्तन करके अपनी छाप के साथ प्रस्तुत करने वाला

(ग) संवर्गक कवि— प्रगट रूप से दूसरे की रचना को अपना कहने वाला

मीरां का काव्य अच्छा हो या बुरा साधारण हो या असाधारण पर वह 'संवर्गक आच्छादक परिवर्तक कवि' की रचनाओं की कोटि में नहीं आता। उन्होंने जो कुछ लिखा है उनकी अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति है। कथ्य ही नहीं कथा भी उनकी अपनी है। उनकी रचनाओं का संदर्भ उनका इतना अपना है कि 'नई उद्भावना' का प्रश्न उठाना भी अप्रासंगिक-सा लगता है। वह तो पराई कथा के संदर्भ में अपनी बात कहने वालों का काम-धाम है।

कवियों की अन्य कई कोटियों का उल्लेख भी है जैसे भावापहरण की दृष्टि से—(क) छायोपजीवी पदकोपजीवी पादोपजीवी सकलोपजीवी प्राप्त कवित्वजीवी भुवनोपजीवी। (ख) भ्रामक चुम्बक कर्षक द्रावक। इसी प्रकार काव्य की दृष्टि से चार कोटियां हैं असूर्यम्पश्य निषण्ण दत्तावसर, प्रायोजनिक। कवि सुकवि सत्कवि महाकवि भी कवि की कोटियां बतायी गयी हैं परन्तु मीरां को इन कोटियों की दृष्टि से देखना उपहासास्पद होगा क्योंकि इनका आधार विशुद्ध कला है और मीरां कलाकार कवयित्री नहीं थी। केशव ने कविप्रिया में कवि के तीन भेद किये हैं— (१) उत्तम-हरिरसलीन (२) मध्यम—'बरनत मानुषहिं' (३) अधम—दोषपूर्ण काव्य रचनेवाले या दोषों का वर्णन करने वाले। मीरां हरिरसलीन थीं। मानुष' उनके काव्य का विषय नहीं बना मनुष्य के विषय में उनके काव्य में कहीं कहीं संकेत भी हैं वे भी हरिभक्ति के प्रसंग में ही हैं। अतः मीरां इस दृष्टि से उत्तम कोटि के कवियों में ही हैं।

मीरां के काव्य का सामाजिक मूल्य .

प्रश्न उठता है कि 'मीरां के काव्य का सामाजिक मूल्य क्या है? सम-सामयिक समाज को कवि तीन भावों से ग्रहण करता है—स्वीकृति अस्वीकृति या तटस्थता के साथ। अस्वीकृति की अवस्था में कभी विद्रोह होता है और कभी पलायन। मीरां में उदासीन तटस्थता तो बिल्कुल नहीं थी। जीवन की लहरों में वे दूर तक गई थीं और समाज का त्याग उसे निर्पेक्ष, निर्मम, शून्य दृष्टि से उन्होंने कभी नहीं देखा। पर साथ ही समाज और परम्परा की अनुसरणप्रिय अक्षमय स्वीकृति भी उनमें पूर्णतः नहीं थी। उन्होंने युग और परम्परा के जीवन्त मानवीय सत्य को ही ग्रहण किया मरणोन्मुख सब तत्वों का यथासम्भव परिष्कार किया और यदि नहीं हुआ तो शालीनतापूर्वक उनका तिरस्कार कर दिया।

युग के सांस्कृतिक क्षय के कीटाणुओं के विरुद्ध संघर्ष भक्तिकाल के सभी प्रबुद्ध कलाकारों ने किया। कबीर और तुलसी सबसे आगे थे। मीरां में यह संघर्ष उनके राजकीय परिवेश और नारी-स्वरूप के अनुकूल ही प्रस्फुटित हुआ। इसीलिए उनमें विरोध का कोलाहल नहीं निरोध की दृढ़ता है।

मीरां के काव्य में चिरन्तन नारीत्व की आशा-आकांक्षा और व्यथा का स्वर तो है ही युग की नारी का मूक विद्रोह भी ध्वनित है। उसमें कबीर का परुष ओज तुलसी की तम-विभेदक सजगता और सूर की रससिक्तता न हो पर करुण-माधुर्य की वह स्निग्धता अवश्य है जो विरोध को आघात से झुकाती नहीं स्पर्श से विगलित कर देती है।

कितने साम्प्रदायिक नेताओं ने मीरां को फुसलाया फटकारा। (मर्यादा-मार्ग के विरागी कृष्णदास तो शील-सौजन्य की मर्यादा भी तोड़ गए।) मगर धार्मिक गद्दियों के रूप में पनपने वाले साम्प्रदायिकतावाद और एक प्रकार के धार्मिक सामन्तवाद की मीरां ने बड़ी शालीनता से उपेक्षा कर दी। कृष्ण के अतिरिक्त किसी को उन्होंने गुरु-सख्य-आराध्य नहीं माना। उस युग में बलिदान की भावना के बावजूद नारी घर की शोभा पुरुष के वैभव की प्रदर्शनी या उसके बच्चों की जन्मदात्री-पोषिका मात्र थी। नारी की

स्वतन्त्रता सामाजिक व्यवहार में तो मदुस्य थी ही धार्मिक क्षेत्र में भी वह गुरु के बिना पार नहीं जा सकती थी । मीरां ने नारी और पुरुष के स्वातन्त्र्य सम्बन्धी इस सामाजिक भेद को दार्शनिक व्याख्या द्वारा तो अस्वीकृत किया ही,[1] लौकिक व्यवहार में भी ध्वस्त किया और सबसे बड़ी बात यह थी कि मीरां ऐसे अन्य अनेक सामंतीय मूल्यों को ठुकराकर लोक-जीवन के साथ एकरस हो गई । उस युग में इतना कर्तृत्व किसी भी नारी को महनीय बनाने के लिए पर्याप्त था । इसी कर्तृत्व की आस्वादाद मनुर्गूंज उनके स्वरों में सर्वत्र व्याप्त है जो उनके काव्य की एकांतिक आध्यात्मिकता को सामाजिकता से टूटने नहीं देती ।

मीरां का काव्य प्रधानतः वियोग की व्यथा और संयोग की साधना का काव्य है । वे न तो दुखी हैं और न दुखवादी हैं । उनके प्राणों में प्यार की वह पीर (दुख नहीं) है जो जीवन को अधिक मधुर और संवेदनशील हृदय को संसार के प्रति उदार बना देती है । मीरां केवल कृष्ण को पुरुष और शेष सभी मानवों को गोपी-रूप में देखती थी । अतः उसका आत्मनिवेदन वैयक्तिक होते हुए भी समस्त साधक मानव-जाति का आत्म-निवेदन है ।

कुछ आलोचक तो निरछल आत्माभिव्यक्ति का स्वतंत्र उपयोग भी स्वीकार करते हैं । जैसा कि डॉ॰ नगेन्द्र का मत है, इसका पहला उपयोग तो यही है कि सहानुभूति (Sympathy) के द्वारा सामाजिकों को परिष्कृत आनन्द की प्राप्ति होती है । यह परिष्कृत आनन्द उसकी संवेदना को समृद्ध करता हुआ उनके व्यक्तित्वों को समृद्ध बनाता है जीवन में रस उत्पन्न करता है पराजय और अशान्ति की अवस्था में शान्ति और माधुर्य का संचार करता है ।[2] यह सब नैतिक तथा सामाजिक दृष्टि से भी उपेक्षणीय उपलब्धि नहीं है । प्रसिद्ध कवि-आलोचक टी॰ एस॰ इलियट ने भी प्रकारान्तर से अपने निबंध 'The social function of poetry' में लगभग इसी प्रकार की बात कही है । उनके अनुसार प्रत्येक अच्छी कविता में किसी नई अनुभूति या परिचित तथ्य के नव्य बोध या किसी ऐसी बात का संप्रेषण होता है जिसे अनुभूत करके भी उपयुक्त शब्द नहीं दिए जा सके । और, यह प्रक्रिया स्वयं

(१) श्रीव गोस्वामी – मीरां – प्रसव

(२) विचार और विवेचन पृष्ठ ५४

हमारी चेतना को व्यापक और संवेदना को सुसंस्कृत बनाती है।[१] मीराँ के काव्य के सम्बन्ध में और चाहे कुछ कहा जाय इसमें कोई संदेह नहीं है कि उनकी अनुभूति मौलिक तथा आत्माभिव्यक्ति निश्छल है और मानवीय स्तर की है और हमें भाव बोध और अनुभूति की चिर मार्मिक गहराइयों में ले जाकर लोक-मानस के साथ सम्बद्ध करती है। फिर उसकी सूक्ष्म सामाजिक उपादेयता के सामने प्रश्नवाचक कैसे लगाया जा सकता है?

निष्कर्ष

(१) मीराँ के काव्य में परम्परा-मान्य शास्त्र-पूजित कलात्मक उपलब्धियों के उच्च शिखरों का अभाव है। उनकी कला कहीं भी मुखर नहीं है सर्वत्र उनकी आत्माभिव्यक्ति के प्रति अनायास अर्पित है।

(२) मीराँ के काव्य की भूमिका आध्यात्मिक ही नहीं लौकिक भी है, जिसमें अमानवीय मूल्यों के विरुद्ध संघर्षमयी नारी की करुणा और विद्रोह के अत्यन्त मुखर संयत और आस्थावान स्वर हैं।

(३) मीराँ का काव्य मानव की मूलभूत संवेदनाओं की निश्छल रागमयी अभिव्यक्ति के कारण लोक के लिए सहज संवेद्य है। चिरन्तन व्यथित प्राण नारीत्व की आशा आकांक्षा, विवशता और उल्लास के स्वर ने उस अप्रतिम मधुरता दे दी है। इसलिए यह व्यक्ति वर्ग और युग की सीमा के परे भी चिरमधुर, चिरप्रकाम्य रहेगा।

(४) मीराँ शास्त्र से परिचित होकर भी उसमें बँधी नहीं थी। इसलिए शास्त्रीय संगीत, साहित्यिक छंदविधान और लोकगीत की लयें सभी

---

(१) I suppose it will be agreed that every good poet, whether he be a great poet or not, has some thing to give us besides pleasure for if it were only pleasure the pleasure itself could not be if the highest kind There is always the communication of some new experience or some fresh understan ding of the familiar or the expression of something which we have experienced but have no words for which enlarges our consciousness or refines our sensibility— On Poetry and Poets pp 18

उनके पदों में सहज एकत्र हो, उन्हें शास्त्र-सम्मत लोकप्रिय रूप दे सके और संगीत-साहित्य शास्त्रियों से लेकर भोली ग्राम-बालिकाओं तक का प्रिय बना गए।

(५) मीराँ सुन्दर कवयित्री ही नहीं महान कवयित्री भी हैं। युग-बोध को नई दिशाएँ वे नहीं दे सकीं पर उसे मानवता के प्राणों के चिरमधुर स्पन्दन से परिचित करा गई हैं।

परिशिष्ट [१]

मीराँ द्वारा सेवित मूर्तियाँ

मीराँ राजस्थान, ब्रज और गुजरात के अनेक स्थानों पर गई और जहाँ गई वहाँ वे संतों से मिलीं और उन्होंने वैष्णव मंदिरों के दर्शन किए। 'तुलसी मस्तक तब नवै धनुष बान लेउ हाथ' जैसी कोई भावना उनमें नहीं थी। उनकी दृष्टि अत्यन्त उदार थी। अतः 'गिरिधर' के प्रति अनन्य प्रियतम भाव होते हुए भी भगवान् के अन्य किसी रूप के प्रति अवज्ञा उन्होंने कभी नहीं व्यक्त की। सांप्रदायिक संघर्ष और खींचातानी के उस युग में जब संप्रदाय का लेबिल लगाए बिना निस्तार नहीं था मीराँ तटस्थ निष्कम्प भाव से खड़ी रहीं क्योंकि उनकी दृष्टि पंथ पर नहीं गन्तव्य पर थी। उन्होंने अपनी भक्ति-भक्ति गिरिधर को ही अर्पित की किसी संप्रदाय को नहीं। अतः अनेक मंदिरों में अनेक मूर्तियों के सामने विशेषकर कृष्ण की मूर्तियों के सामने उन्होंने शीश झुकाया होगा कीर्तन भी किया होगा। उन सबका लेखा-जोखा संभव नहीं है। यहाँ पर केवल उन मूर्तियों की चर्चा है जिनके मीराँ द्वारा विशेष रूप से अर्चित-वंदित होने के लिखित या अभिलिखित प्रमाण उपलब्ध हैं।

विभिन्न स्रोत निम्नलिखित मूर्तियों को मीराँ द्वारा सेवित मानते हैं.—

(१) मेड़ते के चतुर्भुजजी के मंदिर की मूर्ति।
(२) द्वारका के रणछोड़रायजी के मंदिर की मूर्ति।
(३) डाकोर के रणछोड़रायजी के मंदिर की मूर्ति।
(४) शिवराजपुर की गिरिधरलालजी की मूर्ति।
(५) नूरपुर के किले की व्रजराज स्वामी की मूर्ति।
(६) आंबेर के जगतशिरोमणि के मंदिर की गिरिधर गोपाल की मूर्ति।
(७) उदयपुर के जगदीशजी के मंदिर की दो मूर्तियाँ।
(८) चित्तौड़गढ़ के कुंभस्याम और मीराँबाई के मंदिर की मूर्तियाँ।
(९) अन्य (बाँकेबिहारी, गोविन्दजी तथा मदनमोहनजी आदि की)

(१) मेड़ता-स्थित चतुर्भुजाजी की मूर्ति—पुरुषोत्तमदास पुरोहित बी० ए० के अनुसार अपने बाल्यकाल में मीरां को अन्य मेड़तिया राठौड़ों की तरह ही मेवाड़ के चतुर्भुजनाथ का इष्ट था।[1] मेड़ता में तो लेखक को यह भी किंवदन्ती उपलब्ध हुई कि श्री चारभुजाजी स्वयं मीरां के हाथों से दूध पीते थे। इससे मीरां द्वारा चतुर्भुजाजी की पूजा करने का संकेत अवश्य मिलता है। मीरां-साहित्य के स्थानीय पंडितों का मत है कि मीरां ने अपने जीवन काल के प्रारम्भ में 'मीरां कहे प्रभु हरि अविनाशी' या मीरां कहे प्रभु चतुर्भुजनाथ' छाप के पद भी लिखे थे।[2]

इस समय चतुर्भुजाजी के मंदिर में चार प्रमुख मूर्तियां हैं—

(१) चारभुजा भगवान की (श्याम वर्ण) प्रमुख मूर्ति।
(२) कल्याणरायजी की (गौर वर्ण की)।
(३) गिरिधरजी की।
(४) राधा-कृष्ण की।

ये मूर्तियां प्रमुख मंदिर में हैं। इसके अतिरिक्त चारों ओर पांच-छ मंदिर और हैं जिनमें अन्य मूर्तियां हैं। इनमें से चारभुजा भगवान की मूर्ति प्रमुख ही नहीं प्राचीनतम भी है। चारभुजा के मंदिर की स्थापना मीरां के पितामह रावदूदाजी ने नया मेड़ता बसाने के (संवत १५११) पश्चात् की थी। तभी से चतुर्भुज भगवान मेड़ता के ग्राम-देवता के रूप में पूजे जाते हैं और उनका इष्ट सभी मेड़तिया राठौड़ करते हैं।[3] राव मालदेव ने संवत् १६११ में मेड़ते को दूसरी बार जीतकर वहां के समस्त महल ध्वस्त कर दिए थे पर चतुर्भुजाजी का मंदिर उन्होंने भी नहीं छुआ। वह अब तक वर्तमान है। चतुर्भुजा के मंदिर के मुख्य द्वार के ऊपर वह स्थान अब भी है जहां बैठकर मीरां कीर्तन करती थी। अतः मीरां द्वारा अपने जीवन के प्रत्यूष में चतुर्भुजाजी की पूजा के संबन्ध में व्यापक जनश्रुति और स्थानीय साक्ष्य सत्य के बहुत समीप है। समय बीतने पर उनके चारों ओर

---

(१) आदर्श भक्त अर्थात मीराबाई भूमिका पृष्ठ २
(२) लेखक को मीरां के उपरिलिखित छाप के लगभग एक दर्जन पद मेड़ता में मौखिक परंपरा से मिले। इनमें से कुछ अप्रकाशित भी हैं।
(३) जयमल-वंश-प्रकाश पृष्ठ ७१ (४) वही पृष्ठ १२१

अलौकिक घटनाओं का जाल और फैल गया है। मनस्थाणरामजी, गिरिधरजी और राधा-कृष्ण की मूर्तियों की स्थापना कब हुई, इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। वैवाह्य के पश्चात् चित्तौड़गढ़ से लौटने पर मीरां मेड़ता में रही थी। उस समय तक उनकी गिरिधर-सम्बन्धी भक्ति भावना पूर्ण दृढ़ हो गई थी। संभव है कि गिरिधरजी की मूर्ति की प्रतिष्ठा उन्हीं की प्रेरणा से उसी युग में हुई हो।

(२) द्वारिका की वर्तमान मूर्ति द्वारका के रणछोड़जी के मंदिर में मीरां कुछ काल तक पूजा करती रही थी। श्रद्धालु लोगों का विश्वास है कि व अन्त में वही मूर्ति में विलीन भी हो गई। पर, वहां की वर्तमान मूर्ति तो वह है जो बोडाणा जी द्वारा पुरानी मूर्ति के डाकोर ले जाने के बाद लाडवा नामक ग्राम में प्रगट हुई थी। इस घटना का काल निश्चित रूप से सन् ११९९ के पश्चात् का है।[१] अतः इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि द्वारका के रणछोड़ जी के मंदिर की वर्तमान मूर्ति मीरां द्वारा सेवित मूर्ति नहीं है।

(३) डाकोर की रणछोड़जी की मूर्ति द्वारका की रणछोड़राय जी की मूर्ति आजकल डाकोर के रणछोड़जी के मंदिर में वर्तमान है। कहा जाता है कि यह मूर्ति मीरां द्वारा सेवित है अन्तकाल में वे इसी में विलीन हुई थी।

मीरां छाप के गुजरात में कई ऐसे पद प्रचलित हैं जिसमें रणछोड़ जी के डाकोर आने की घटना का उल्लेख है।[२] मीरां की छाप की कुछ गरबियां १०० १२५ वर्ष तक पुराने हस्तलिखित ग्रन्थों में भी मिलती हैं।[३] इनमें भी

---

(१) गजेटियर ऑव बॉम्बे प्रेसीडेंसी (खेरा एंड पंच महल्स) पृष्ठ १६७

(२) माप तमे तुलसी ने पत्र बोळाया एवा गुण रे गोविंदना गवाया।
बोडाणें बहु मान समरीया डाकोरमां वर्ताया
भाइल पुगली घोपवा भाम्या अधवचथी अटकाव्या इत्यादि

(३) विद्या-सभा की हस्तलिपि पोथी सं० ११९० तथा ११९२ (श्री डाकोमक्षोनी गरबी)

[शेष टिप्पण पृष्ठ ४८९ पर देखिए]

मीरां की डाकोर जाकर रणछोड़रायजी के दर्शन की अभिलाषा को अभिव्यक्त है। जैसा कि पीछे सिद्ध किया जा चुका है ये रचनाएं अप्रामाणिक हैं, मीरांकृत नहीं हैं परन्तु फिर भी इनका एक उपयोग है। इनसे पिछले सवासौ वर्षों से चली आने वाली जनता की भावनाओं और विश्वासों का पता चलता है।

उक्त रचनाओं तथा बम्बई प्रेसीडेंसी के चौथे जिल्द के गजटियर में रणछोड़जी के द्वारका आने के विषय में जो वक्तव्य है उसका सार इस प्रकार है—[1]

१७४२ ई॰ में डाकोर में एक रामदास नामक व्यक्ति रहता था जो बोडाणो[2] नाम से प्रख्यात था। जाति का वह क्षत्री था। कृष्ण का वह इतना भक्त था कि उसने अपनी एक हथेली पर 'Sweet Basil' के पौधे को उगा लिया था। पूजा के लिए वह वर्ष में दो बार द्वारका के कृष्ण-मंदिर में जाता था। उसके वृद्ध होने पर कृष्ण को दया आई और यह देखकर कि इतना मार्ग तै करना उसके लिए संभव नहीं है उन्होंने उसे अपनी मूर्ति डाकोर उठा लाने की अनुमति प्रदान कर दी। बोडाणा मूर्ति लेकर आया। पुजारियों को जब यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने पीछा किया। डाकोर में आते-आते पुजारियों ने उसे पकड़ लिया और उस तौर से मार डाला पर मरने से पूर्व उसने वह मूर्ति डाकोर के तालाब (गोमती) में फेंक दी। बोडाणा की पत्नी की प्रार्थना पर रणछोड़जी गोमती से निकल आए और द्वारका के पुजारी मूर्ति के बराबर सोना लेकर जाने को राजी हो गए, पर एक नथ में ही मूर्ति तुल गई। पुजारियों ने इस पर अपने वचन को तोड़ दिया। फिर स्वप्न में भगवान ने यह वचन देकर कि उनकी दूसरी वैसी ही मूर्ति उन्हें एक कुएं में मिल जायेगी वे द्वारका लौट गए।

डाकोल दरसण जाइए, गोमती गंगमां नाइए रे।
रणछोड़जीना दरसण करीने, चरण कमल चीत रहीये रे।
मीराबाई के प्रभु गीरधर नागर चरण कमल चीत रहीये रे।
(इसी प्रकार की मीरां की छाप की पदावियां दोनों पोथियों में हैं)

(१) गजेटियर ऑव द बाम्बे प्रेसीडेंसी वॉल्यूम ३, कैरा एंड पंच महाल (१८७९ ए॰ डी॰ में प्रकाशित) पृष्ठ १६७

[टिप्पण २ पृष्ठ ४९० पर देखिए]

डाकोर का वर्तमान मंदिर १६६१ शक संवत् में (सन् १७०२ में) पेशवा के साहूकार सतारा निवासी गोपाल जगन्नाथ ताम्बेकर नामक एक व्यक्ति ने बनवाया था।[1]

अतः इतना निश्चित है कि डाकोर के मंदिर की वर्तमान मूर्ति द्वारका के रणछोड़जी के मंदिर की ही है पर यह प्रश्न अभी रह ही जाता है कि मीरां द्वारा इस मूर्ति की सेवा हुई थी या नहीं।

गजेटियर के अनुसार मीरां के पश्चात् और बोडाणों द्वारा मूर्ति डाकोर लाने के पूर्व द्वारका मुसलमानों द्वारा लूटी गई थी और वहां की मूर्तियां तोड़ी गई थीं।[2] रणछोड़जी की मूर्ति अत्यन्त प्रसिद्ध और पवित्र मानी जाती थी। हो सकता है कि यह मूर्ति भी तोड़ दी गई हो। अतः डाकोर की रणछोड़जी की वर्तमान मूर्ति के भी मीरां द्वारा सेवित होने की संभावना बहुत कम है।

(४) शिवराजपुर की अष्टभुजा मूर्ति—फतेहपुर के जिले के अन्तर्गत गंगा तट पर स्थित शिवराजपुर में एक कृष्ण-मूर्ति है। यह भी मीरां द्वारा सेवित मानी जाती है। मीरां साहित्य के डा० त्रिपाठी जैसे अन्वेषी विद्वान इसे संभव भी मानते हैं[1] शिवराजपुर के वृद्ध उस मूर्ति को १० वर्ष से पहले का लाया हुआ बताते हैं। कहा जाता है मीरांबाई की मुक्ति होने के बाद उनका पुजारी किसी प्रेरणा से यह मूर्ति राजपूताने से काशी ले जा रहा था। मार्ग में शिवराजपुर आने पर यह मूर्ति वहीं प्रतिष्ठित हो गई। तब से यह मूर्ति मीरां के गिरिधर गोपाल नाम से विख्यात है।

शिवराजपुर की गिरिधरलालजी की मूर्ति का वेष मीरां की कृतियों में में वर्णित गिरिधर रूप से मिलता है। यह मूर्ति विशाल और रमणीय है।

---

(२) डाकोर में उसका नाम 'बोडाणा' प्रचलित है। कदाचित् रोमन अक्षरों और अंग्रेजी उच्चारण के यह कारण यह 'बोधानो' हो गया है।

(१) स्वस्ति श्री भूमि धारक शक अनके संचित वर्ष धरे।
वासंति शुभ शालिवाहन शके सौम्यायने संवरे।
डाकोर यात्रा काशीभाई सोमाभाई पटेल बी० एस सी० पृष्ठ १

(२) गजेटियर ऑफ दी बॉम्बे प्रेसीडेंसी खेडा एंड पंच महल्स वॉल्यूम ३

(१) बृहत् काव्यदोहन भाग ७ मीरांबाई लेख पृष्ठ १७-१८

इसमें सर्पनाग हैं और इसके आठ भुजाएँ हैं जिनमें शंख चक्र गदा पद्म मौ चराने की लकड़ी तथा गोवर्द्धन पर्वत है। दो हाथों में अंगूरों पर आधारित मुकरित मुद्रा में बाँसुरी है। इस मूर्ति में मीरां द्वारा पिए गए विष का कृष्ण चिह्न भी है।

इस विषय में निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

(१) उक्त जनश्रुति के अतिरिक्त इस विषय में अन्य कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है।

(२) मीरां की मुक्ति राजपूताना में नहीं द्वारका में हुई थी। कोई पुजारी बिना विशेष राजकीय अनुग्रह के चित्तौड़ या उदयपुर से मूर्ति ला सकता था यह बात भी विश्वसनीय नहीं है।

(३) मूर्ति का शिवराजपुर में पधारने का आग्रह अकारण है। कहा जाता है कि किसी सेठ लक्ष्मणदास ने मथुरा में भव्य मंदिर बनवाकर उसमें यह मूर्ति पधारने का विचार किया था पर मूर्ति वहाँ नहीं गई। काशी मथुरा चित्तौड़ उदयपुर को छोड़कर शिवराजपुर का ही चुनाव क्यों? राजनीतिक या सामाजिक परिस्थितियों में इसका संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता।

प्रतीत यह होता है कि मीरां के पदों में वर्णित कृष्ण-चिह्न बाँसुरी आदि के कारण शिवराजपुर की कृष्ण-मूर्ति को 'मीरा क गिरधर' संज्ञा प्राप्त हो गई और फिर कालान्तर में श्रद्धावान जनता में दंतकथाओं का जाल फैलता गया। तानसेन द्वारा गिरिधर मूर्ति का मीरां से संबंध जोड़े जाने की घटना का प्रमाण तो वैष्णवदास के टिप्पण में सुरक्षित है ही। जीवनी खंड में इसका स्पष्टीकरण हो चुका है।

(५) नूरपुर की व्रजराज स्वामी की मूर्ति—कहा जाता है कि मीरां द्वारा सेवित एक मूर्ति नूरपुर के जिले में प्रतिष्ठित है 'वीरविनोद' के लेखक को नूरपुर के पुरोहित मुक्तानन्द के पास (जो वि० सं० १९४१ में उदयपुर आया था) कुछ कागज और ताम्रपत्र मिले थे। इस सामग्री तथा अन्य स्थानीय ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर विनोदकार का कथन है कि राजा दिलीप से जब दिल्ली की राजधानी छूटी और उनके पुत्र जैतपाल ने नूरपुर को अपनी राजधानी बनाया उससे चौबीसवीं पीढ़ी में राजा बासू हुआ जो बादशाह जहाँगीर के भेजने से अपने प्रधान पुरोहित व्यास समेत चित्तौड़ आया। उस

समय राना मामू ने महाराणा उमरसिंह से एक मूर्ति जो अब नूरपुर के किले में व्रजराज स्वामी के नाम से प्रसिद्ध है और मीरांबाई द्वारा पूजित कही जाती है मांगी इस पर उनके प्रधान पुरोहित व्यास को वह मूर्ति एक ग्राम समेत जिसका ताम्रपत्र नीचे लिखा जायगा मकल्प करके दे दी।[1]

(६) उदयपुर के जगदीशजी के मंदिर की मूर्ति—जगदीशजी के मंदिर के पुजारी चतुर्भुजजी के पुत्र रघुनंदन ने अपने वंश में चली आनेवाली अनुश्रुति के आधार पर लेखक को बताया कि मीरां को गिरधरजी की मूर्ति माधवपुरीजी से मिली थी।[2] उनके अनुसार मीरां व्रज में जाकर माधवपुरीजी से फिर मिली थी और वहीं उन्हें वालेरायजी की मूर्ति (यह मूर्ति भी उस मंदिर में है) उनसे प्राप्त हुई। मीरां द्वारका जाते समय ये मूर्तियां रामेश्वर को दे गई। उस समय रामेश्वरजी चित्तौड़ में रहते थे बाद में वे उदयपुर में आए। वैसाख सुदी पूर्णिमा शुक्रवार सं० १७११ को उदयपुर के महाराणा जगतसिंह जी ने जगदीशजी का मंदिर बनवाया जिसमें ये मूर्तियां पधराई गई।

जगन्नाथराय या जगदीशजी के मंदिर की स्थापना के संबंध में उक्त उल्लेख तो उदयपुर राज्य के इतिहास की कसौटी पर सत्य सिद्ध होता है[3] पर मीरांबाई को यह मूर्ति व्रज-यात्रा-काल में माधवपुरी से मिली थी यह बात विश्वसनीय नहीं है क्योंकि माधवपुरी (माधवेन्द्र पुरी) मीरां की व्रज-यात्रा के पूर्व ही दिवंगत हो चुके थे। प्रस्तुत विषय की दृष्टि से यह बात विचारणीय नहीं है कि मीरां को यह मूर्ति कहां से मिली विचारणीय यह कि मूर्ति मीरां द्वारा पूजित है या नहीं और मंदिर में पुजारी के परिवार में परंपरागत सूचना और उदयपुर का का इतिहास दोनों इस मूर्ति को मीरां द्वारा सेवित सिद्ध करते हैं।

(७) आमेर के जगत् शिरोमणिजी के मंदिर की मूर्ति—जयपुर के समीप आमेर नामक स्थान में जगत् शिरोमणि का प्रसिद्ध मंदिर है इसे मीरां का मंदिर भी कहा जाता है। इसमें गिरिधर गोपाल अथवा गिरिधारीलालजी

---

(१) ताम्रपत्र महाराणा अमरसिंह के समय वि० १६६१ श्रावण कृष्ण ९ का है। वीर विनोद पृष्ठ २२७ के फुटनोट में ताम्रपत्र की नकल दी हुई है।

(२) विस्तार के लिये देखिए, यही प्रबंध 'मीरां के गुरु' प्रसंग

(३) उदयपुर राज्य का इतिहास ओझा पृष्ठ १२१

की एक मूर्ति है। कहा जाता है कि यह मूर्ति मीराँ द्वारा सेवित है। जगत् शिरोमणि के मंदिर के पुजारी देवाजी के वंशज हैं। इनमें से रूपनारायण तथा गिरधारीलाल से ज्ञात हुआ कि उनके परिवार के परंपरागत 'रिकार्ड्स' के अनुसार यह मूर्ति उनके पूर्वपुरुष देवाजी से मीराँ को मिली थी। अकबर ने मानसिंह की सहायता से जब चित्तौड़गढ़ पर विजय प्राप्ति की तब मानसिंह अन्य वस्तुओं के साथ प्रस्तुत मूर्ति आंबेर ले आए थे। राजा मानसिंह ने अपने पुत्र जगतसिंह के स्वर्गवासी होने पर इस मूर्ति की पुनर्स्थापना जगत् शिरोमणि नाम से की और कृष्ण पाषाण-निर्मित इस एकाकी मूर्ति के साथ राधा की मूर्ति पुत्री भाव से पधराई।

इस मंदिर के सामने गरुड़जी की चौकी है जिसपर उत्कीर्ण सं० १८७७ के सन को राधाकृष्णदासजी ने संवत १६११ का मानकर उक्त मूर्ति और मीराँ की मृत्यु के विषय में कई निष्कर्ष निकाले थे। डॉ० श्री कृष्णलाल ने भी अपने निष्कर्षों से संवत् १६११ के साथ उनका मूर्ति-संबंधी घटनाओं की संगति बैठाने के लिए, मीराँ द्वारा गिरिधर की किसी अन्य मूर्ति के बनाए जाने की संभावना का अनुमान किया है।[1] 'अध्ययन के आधार' में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि यह तिथि संवत् १ ११ नहीं संवत १८७७ है। अतएव सं० १६११ के आधार पर कोई अनुमान लगाना ठीक नहीं है।

गिरधारीलाल द्वारा दी गई मंदिर-स्थापना तथा मूर्ति प्रतिष्ठा-संबंधी सूचनाएं विश्वसनीय हैं क्योंकि जयपुर राज्य का इतिहास इसकी पुष्टि करता है।

अकबर ने चित्तौड़गढ़ संवत् १६२४ में जीता था।[2] चित्तौड़गढ़ से लाई गई सामग्री का विवरण कहीं उपलब्ध नहीं है पर इस बात में अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि मानसिंह गिरिधर गोपाल की मूर्ति को आदरपूर्वक आमेर ले आए थे। मुसलमानों द्वारा दुर्ग-विजय के अवसर पर हिंदू सामन्त के लिए मंदिर की मूर्ति को अपने संरक्षण में कर लेना स्वाभाविक ही है। बाद में मंदिर में राधाजी की मूर्ति बनवाकर जोड़ी पूरी करने की सूचना भी 'गिरधर' की मूर्ति के बाहर से लाए जाने की ओर ही संकेत करती

(१) मीराँबाई पृष्ठ ३०
(२) उदयपुर राज्य का इतिहास ओझा पृष्ठ ४१७

है। अतः मंदिर-स्थित जगत् शिरोमणिजी के मंदिर की गिरिधरजी की मूर्ति चित्तौड़गढ़ की मूर्ति ही सिद्ध होती है और इस नाते उसके मीरां द्वारा सेवित होने की संभावना बहुत अधिक है।

(घ) चित्तौड़गढ़ के कुंभश्याम और मीरांबाई के मंदिर की मूर्तियां—

चित्तौड़गढ़ में कुंभस्वामी और आदिवराह के दोनों विष्णु-मंदिर एक ही ऊंची कुर्सी पर पास-पास बने हुए हैं। इनमें से एक बड़ा और दूसरा छोटा है। बड़े मंदिर की भीतरी परिक्रमा के पिछले ताक में वराह की मूर्ति विद्यमान है। अब लोग इसी को कुंभस्वामी या कुंभश्याम का मंदिर कहते हैं। अबुलफ़ज़ल ने अकबरनामे में इसका नाम गोविन्दश्याम लिखा है।[1] इस मंदिर के सभा-मण्डप के ताकों में कुछ मूर्तियां स्थापित हैं जिनके आसनों पर वि सं० १५०५ के कुंभकर्ण के लेख हैं। इस की प्राचीन प्रस्तर मूर्ति मुसलमानों के समय में तोड़ डाली गई, जिससे नई मूर्ति पीछे से स्थापित की गई।[2] चित्तौड़ पर मुसलमानों का अधिकार मीरां के पश्चात् संवत् १६२४ में हुआ था अतएव कुंभश्याम के मंदिर की वर्तमान मूर्ति का मीरां द्वारा सेवित न होना ही निश्चित है।

छोटा मंदिर जिसे अब गलती से मीरांबाई का मंदिर कहते हैं राणा कुंभा द्वारा ही बनवाया गया था। चित्तौड़ के कीर्तिस्तंभ पर खुदा हुआ लेख इस बात का प्रमाण है।[3] चित्तौड़गढ़ के मुसलमानों के अधिकार में रहने पर इसकी मूर्ति के सुरक्षित रहने की संभावना भी कम है। हो सकता है कि मानसिंह इस मूर्ति को भी आमेर ले गए हों। ऐसी परिस्थिति में आदिवराह के मंदिर की वर्तमान मूर्ति के मीरां द्वारा सेवित होने की संभावना लगभग नहीं के बराबर है।

अन्य—मीरां की स्वीकृत पदावली में कृष्ण के अनेक नाम मिलते हैं। कहीं-कहीं इन नामों का उल्लेख इस प्रकार है कि वह कृष्ण की मूर्तियों (अर्चावतारों) से भी सम्बद्ध किए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए अगले पृष्ठ पर दिए हुए पदांश दृष्टव्य हैं—

---

(१) महाराणा कुंभा हरबिलास सारदा, पृष्ठ १४६

(२) उदयपुर राज्य का इतिहास ओझा पृष्ठ ३१० फुटनोट (३)

(३) चित्तौड़ कीर्तिस्तंभ का लेख पद्य ११ — महाराणा कुंभा, सारदा पृष्ठ १४६

(क) आली म्हाने लागे वृन्दावन नीको ।
घर-घर तुलसी ठाकुर पूजा दरसण गोविन्दजी को ।[1]

(ख) हमरो प्रणाम बाँकेबिहारी को ।
यह छबि देखि मगन भइ मीरा मोहन गिरधरधारी को ।[2]

(ग) देख्यो रूप मदन मोहन रो पियत पियूख न मटके ।[3]

श्री गोविन्द जी की मूर्ति संवत् १५९१ के लगभग श्री रूपगोस्वामी को योगपीठ अर्थात् गोमाटीला पर मिली था। प्रारंभ में यह मूर्ति एक छोटे से मंदिर में रूपगोस्वामी द्वारा स्थापित की गई थी। इस मंदिर के जीर्ण होने पर सं० १६४२ में मानसिंह ने वर्तमान मंदिर का निर्माण करवाया और उसमें गोविन्दजी की मूर्ति की प्रतिष्ठा करवाई।

बांके बिहारीजी का विशाल मंदिर हरिदासजी द्वारा बनवाया गया था। उन्हें यह मूर्ति निधुवन में मिली थी। इसका निर्माण-काल सं० १६००-१६१० ठहरता है।

'मदन मोहन' की मूर्ति श्री सनातन गोस्वामी को सं० १५९० में आदित्य-टीले पर मिली थी जिसकी प्रतिष्ठा उसी वर्ष माघ मास की द्वितीया को की गई। उस समय यह मूर्ति मदनगोपालजी कहलाती थी। उत्कल-नरेश प्रतापनरेन्द्र के पुत्र पुरुषोत्तम द्वारा प्रेषित राधाजी की दो मूर्तियों को (राधा और ललिता भाव से) मदनगोपालजी के दोनों ओर प्रतिष्ठित करने के पश्चात् उनका नाम मदनमोहन पड़ गया था।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि ये तीनों मूर्तियाँ मीरां के ब्रज प्रवास काल में वहाँ वर्तमान थीं। अतः मीरां का उनके दर्शन करना स्वाभाविक ही था।

---

(१) डाकोर (८)
(२) वही (४)
(३) वही (५)
(४) हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्रशुक्ल (१० वाँ संस्करण) पृष्ठ १८९

उक्त विवेचन से निम्नांकित निष्कर्ष निकलते हैं—

(१) द्वारका के रणछोड़जी के मन्दिर की वर्तमान मूर्ति शिवराजपुर की 'गिरधरलाल' की तथा चित्तौड़गढ़ के कुंभश्याम के मन्दिर की वर्तमान मूर्ति निश्चितरूप से मीराँ द्वारा सेवित नहीं हैं। मीराँ ने उनके दर्शन भी नहीं किए थे।

(२) वृन्दावन की गोविन्दजी, मदनमोहनजी तथा बाँकेबिहारीजी की मूर्तियों के उन्होंने दर्शन किए थे।

(३) डाकोर के रणछोड़रायजी के मन्दिर की मन्दिर के जगत् शिरोमणिजी के मन्दिर की उदयपुर के जगदीशजी के मन्दिर की मूर्तियों के मीराँ द्वारा सेवित होने की संभावना लगभग वास्तविकता के समीप है। मेड़ता के चतुर्भुजजी के मन्दिर की मूर्तियों का मीराँ द्वारा सेवित होना निश्चित है।

इनमें से मीराँ के पास गिरिधर की मूर्ति कौन-सी थी यह निर्णय करना कठिन है। प्राय: यह श्रेय उदयपुर के जगदीशजी के मन्दिर की मूर्ति को दिया जाता है।

परिशिष्ट [२]

मीराँ-पूर्व हिन्दी-कृष्ण-काव्य

मीराँ मौलिक मानव मनुभूतियों की मधुर गायिका हैं। उनके काव्य में प्राय युग-युग के सत्य वैयक्तिक मनुभूति के क्षण बनकर सहज स्वर पा गए हैं। मतएव न उनमें परंपरा की मनुकृति है और न उसके प्रति विद्रोह। फिर भी इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि वे परंपरा और युग का निर्माण थी और यह परम्परा उनकी तथा उनके युग की सम्मिलित काव्य-साधना से विकास के चरम शिखर की ओर अग्रसर हुई। अत मीराँ का मूल्यांकन उस परंपरा के संदर्भ में ही सम्यक रूप से हो सकता है।

कृष्ण भक्ति कब और कैसे प्रारंभ हुई इसकी कथा बड़ी लम्बी और विवादग्रस्त है पर इतना निश्चित है कि हिंदी-साहित्य को जन्म के साथ ही उससे प्रेरित काव्य की विधाम सिद्धिमचित परंपरा का उत्तराधिकार अनायास ही मिल गया। तब तक भागवत के अतिरिक्त हरिवंश पुराण नारद पाचरात्र आदि धार्मिक ग्रंथों और भास के नाटक जैसी साहित्यिक कृतियों में कृष्ण जीवन के चित्र अंकित किए जा चुके थे। पुष्पदन्त कवि का महापुराण लिखा जा चुका था। क्षमेन्द्र (१२ वी शती) कृत दशावतारचरित्र में वियोगिनी गोपिकाओं द्वारा गोविन्द के गुणगान और हेमचन्द्र द्वारा संकलित अपभ्रंश क दोहों और प्राकृतपैंगलम् में संगृहीत पिंगल-ग्रंथों में कृष्ण-संबंधी रचनाएँ सामने आ चुकी थी। यह सब इस बात का साक्ष्य हैं कि कृष्ण-काव्य की सरस धारा अक्षुण्ण बहती जा रही थी। तभी कृष्णानुरक्ति का हिन्दी का स्वर मिला जो मिथिला की अमराइयों से गुजरात के रम्य प्रदेश तक गूँज उठा।

हिन्दी-साहित्य के आदि काल में कृष्ण-काव्य की तीन विशाल धाराएं इस महाप्राण नायक को अपनी साधना-भूमियों पर, अपने विशिष्ट साम्प्रदायिक दृष्टिकोणों से प्रस्तुत कर रहीं थी। ये धाराएं थी—

[१] वैष्णव परंपरा के राधा-कृष्ण के भक्ति-गीत—ये सामान्यतः तीन वर्गों में रखे जा सकते हैं

(क) स्तुतिमूलक
(ख) उपदेशपरक
(ग) सरस लीलात्मक

[२] नाथ-सिद्ध-परंपरा से प्रभावित गोविन्द, विट्ठल के स्तवन-गान जिनमें निर्गुण-सगुणवाद का विभेद विरोध नहीं, समन्वय था।

[३] जैन दृष्टिकोण से लिखे गए कृष्ण-चरित जो दो रूपों में मिलते हैं (क) फागु (ख) प्रद्युम्नचरित

इन धाराओं के अतिरिक्त दो परंपराओं के अस्तित्व के प्रमाण और उपलब्ध हैं यद्यपि इन्हें पूर्ण रूप से प्रस्तुत कर सकना अभी और शोध की अपेक्षा रखता है। ये हैं—

[४] शुद्ध शृंगारिक और काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से लिखे गए कृष्ण-काव्य जो प्रायः भक्तिकाव्य में मिलकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व खो चुके हैं।

[५] सूफीपरक अर्थों का व्यंजक कृष्ण-काव्य जिसके अस्तित्व के प्रथम संकेत हकायके-हिन्दी आदि ग्रंथों में मिलते हैं।

सूफियाना कृष्ण-काव्य (?) सूफियाने कृष्णकाव्य की परंपरा अधिक प्राचीन नहीं है पर १४ १५ वीं शती में संगीत और ब्रजी की सरसता के कारण अनेक सूफी कृष्ण-काव्य की ओर उन्मुख हुए थे। ख्वाजा गेसूदराज सैयद मुहम्मद हुसैनी और अमीर खुसरो के नाम तो इस संदर्भ में प्रसिद्ध हैं ही। आगे चलकर कृष्ण-काव्य संगीत के कारण सूफियों को इस सीमा तक मोहने लगा कि कट्टर मुल्ला-मौलवियों द्वारा उनकी कड़ी आलोचना होने लगी और बिलग्रामी (मीर अब्दुल वाहिद) जैसे उदार नेता मुसलमानों को उसका सामान्य उत्तर ही नहीं देना पड़ा 'कृष्ण-लीला' के सूफीपरक अर्थों को स्पष्ट भी करना पड़ा। हकायके हिन्दी में उन्हें कहना पड़ा—

'यदि हिन्दवी वाक्यों में कृष्ण अथवा उनके अन्य नामों का उल्लेख हो तो इससे रिसालत पनाह सल्लम (मुहम्मद साहब) की ओर संकेत होता

है।[1] यदि हिन्दी वाक्यों में ब्रज अथवा गोकुल शब्द आए तो उससे आलमे नासूत और कभी-कभी आलमे मलकूत तथा कभी-कभी आलमे जबरूत की ओर संकेत होता है।"[2]

हकायके हिन्दी के लेखक का जन्म हिजरी सन् ९१५ (संवत् १५६६) के आसपास मीरां के जन्म के ५/६ वर्ष बाद ही हुआ था। उन्होंने उक्त ग्रंथ की रचना संवत् १६२३ (जमादि-उल्-अव्वल ९७४ हि०) में की थी। इसमें उन्होंने 'विष्णु पद' में प्रयुक्त शब्दावली के सूफी अर्थ देते समय कुछ उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं जो निश्चित रूप से उनके समकालीन और पूर्ववर्तियों के हैं। इनमें से कृष्ण की चर्चा करने वाले अवतरण निम्नांकित हैं —

(१) 'पाय पार कछु बांसुरी बाजें' (पृष्ठ ७६)

(२) 'कान्ह घाट रोक्यौ' अथवा 'कन्हैया मारग रोकी' (पृष्ठ ८०)

(३) 'सार जवान को हौं' अथवा 'काहू की बांह मरोरी काहू के कर चूरी फोरी काहू की मटकिया डारी, काहू की कंचुकी फारी (फाड़ी) (पृष्ठ ८१)

(४) 'यह बालक मेरा कछू न जाने' कन्हैया मेरो बारो तुम बाद लगावत खोर (पृष्ठ ८२)

(५) मोर मुकुट सीस धरे (पृष्ठ ८३)

यह कहा नहीं जा सकता कि ये सब रचनाएँ सूफियों की हैं पर मेरा यह अनुमान है कि यदि ये ग्रंथ सूफी रचनाओं में न आते तो इनके सूफीपरक अर्थ देकर कट्टर मुसलमानों से बचने की कोशिश नहीं होती। दूसरे यह भी स्वयंसिद्ध ही है कि धारा के विरुद्ध गीतों पर मुग्ध होकर नृत्य तक करने वाले भावुक संगीतज्ञ सर्जन के क्षणों में उनसे अप्रभावित नहीं रहते होंगे। बाद के मुसलमान कवियों की कृष्ण-सम्बन्धी रचनाएँ भी इस परंपरा के अस्तित्व की ओर संकेत करती हैं। मानसिंह के दरबार में तो महमूद और बख्शू जैसे कलाकार थे जो शासन की प्रेरणा संगीत के प्रेम और परंपरा से प्रभावित हो राधा-कृष्ण-लीला के गीत गाते थे। महमूद की तो एक होली और एक कृष्ण-पद भी मिलता है जो निश्चित रूप से मीरां-पूर्व सूफी कृष्ण काव्य के अस्तित्व का प्रबल प्रमाण है।

---

(१) हकायके हिन्दी पृष्ठ ७३

(२) वही पृष्ठ ७५

शृंगारिक कृष्ण-काव्य —राधा-कृष्ण के शृंगारिक रूप को लेकर अपभ्रंश में तो रचनाएँ हुई ही पर उस भाषा में भी ऐसी कृतियाँ मिलती हैं जिसे हिन्दी और अपभ्रंश के बीच की कड़ी कहा जा सकता है। वस्तुतः यह भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश-काल की वह लोक भाषा थी जिसे कुछ खींचतान कर 'पुरानी हिन्दी' कहा गया है। बारहवीं शती में हेमचन्द्र द्वारा संकलित यह दोहा दृष्टव्य है —

हरि नच्चाविउ पंगणहिं, विम्हइ पाडिउ लोउ।
एम्वहिं राह पओहरहँ जं भावइ तं होउ॥

[(जो) हरि को नचाते हैं प्रांगण में विस्मय में डालते हैं लोगों को ऐसे राधा-पयोधरों को जो भावे वही हो।]

यह दोहा निश्चित रूप में में हेम के किसी पूर्ववर्ती का है और यह हिन्दी के उद्भव की घोषणा कर रहा है। शृंगार की ऐसी रचनाएँ जयदेव के गीत-गोविन्द और विद्यापति के पदों की पूर्वजा है। जयदेव के साधनामूलक हिन्दी-पद तो सामने आ गए हैं असंभव नहीं कि शीघ्र ही उनकी या सम कालीनों की शृंगारिक हिन्दी रचनाएँ भी प्रकाश में आवें और जिस परंपरा के पूर्ववर्ती और परवर्ती दोनों छोर प्रकाशित हैं, वह स्वयं अन्धकार में न रहे।

धर्म दृष्टि से रचित कृष्ण-काव्य —जैन कवियों ने जैसे राम-कथा को अपनी दृष्टि से प्रस्तुत किया वैसे ही कृष्ण-कथा को अपने धर्म का साधक स्वरूप प्रदान कर दिया। विश्लेषण करने पर इस काव्य-धारा में दो रूप विशेष रूप से सामने आते हैं—एक 'फागु' काव्यों का और दूसरा, प्रद्युम्न को नायक मानकर लिखी गई कृष्ण-कथाओं का।

(क) फागु और रासक काव्य —कृष्ण-काव्य का एक रूप गुजरात में प्राप्त 'फागु' तथा उसकी परंपरा के अन्य ग्रन्थों में मिलता है। फागु के रचयिता और रचनाकाल के सम्बन्ध में तो मतभेद है ही उसकी भाषा भी विचारणीय है। प्राचीन हिन्दी से उसका साम्य एक महत्वपूर्ण प्रश्न लगा देता है। श्री मुंशी फागु के रचनाकार का नाम नर्रासि (१४६६) मानते हैं।[1] के का शास्त्री का अनुमान है कि कदाचित् यह कृति वसन्तविलासकार की ही

(१) Gujrat and its literature pp 139

है।[1] कुछ लोग फागु की ८१वीं कड़ी में 'कीरति मेरु समाण' के आधार पर इस कृति की रचना का श्रेय कीर्तिमेरु नामक जैन साधु के किसी शिष्य को देना अधिक समीचीन समझते हैं। कुछ भी हो इसकी संवत् १४८७ की एक हस्तलिखित प्रति उपलब्ध हुई है जो इसकी प्राचीनता का प्रबल प्रमाण है। इस फागु में दोहे मात्र नहीं हैं। कवि ने 'अढ़ैयु' तथा रासक' छंद का भी प्रयोग किया है। भाषा का विवाद उठाना व्यर्थ है। निम्नांकित उद्धरण इस बात के प्रमाण हैं कि प्राचीन हिन्दी-काव्य की चर्चा के समय यह ग्रन्थ विचारणीय अवश्य है।

'क्रीडा करी गोविन्द चित्तमत्त मकल नरिन्द।

× × ×

रास—

गोपिय गोपिय ठाण निरोपिय बन वनि मगई मुकुन्द रे।
ग्रह्य बिचारी किहि संचरी ? बोलति कुल मम चन्द रे।
बाट बाट सवि जोयइ सहियर, अहियर तब कुण रंग रे।
ग्रह्य मूकी तुं किम हिव जासई ? पासइ गोपिय वृन्द रे।'

श्री क मा मुंशी ने अपने इतिहास में जो अंश उद्धृत किए हैं,[2] उनका रूप भी द्रष्टव्य है

रासक—

वणवरि ग्राविय प्रभु बीनविउ मन वसइ वि सारी रे।
माघव माघव भेटसे ग्रावइ ग्रावति देव मुरारि रे।
—इत्यादि

ग्रांदोल—

नाचई गोपिय वृन्द बाई मधुर मृदंग।
गोडई ग्रंग सुरंग सारंमघर नाइत महुयरि ऐ,
कुलवण महुयर ए।।
कर लिई पंकज नाल सिरि धरि फेरइ बाल।

(१) कवि चरित पृष्ठ १२
(२) फार्बस गुजराती त्रैमासिक १९९१ पृष्ठ ४१७
(३) गुजराती एंड इट्स लिटरेचर, पृष्ठ १४०

पंचिहि बाजइ ताम सारंगधर॰
तारा माहि जिमि चन्द गोपिय माह मुकुंद
पणमई सुरनर वंद सारंगधर॰

रूपु—

गोपिय पेखिति कीडति हीडत बनहि मँझारि।
मारुत प्रेरित घन भर ममई मुरारि ॥

(ख) प्रद्युम्न-चरित तथा ऊषा-हरण —इस परंपरा का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ है अग्रवाल वंशीय एक जैन कवि कृत—'प्रद्युम्न चरित'। इस ग्रंथ को प्रकाश में लाने का श्रेय डॉ॰ हीरालाल श्री अगरचन्द नाहटा तथा डॉ॰ शिवप्रसादसिंह को है।[1] अग्रवाल कवि का मूल नाम 'सधारु' था और वे आगरे में उत्पन्न हुए थे। प्रद्युम्न-चरित की रचना संवत् १४११ में हुई थी। कथा के सूत्रधार नारदजी हैं, जो सत्यभामा से रुष्ट होकर उनके मान मर्दन के लिए शिशुपाल की वाग्दत्ता रुक्मिणी का प्रेम और विवाह कृष्ण से करवा देते हैं। बाद में उनके पुत्र प्रद्युम्न की कथा विस्तार से आती है, जो अन्त में कृष्ण प्रद्युम्न के नाटकीय संघर्ष और नारद द्वारा रहस्योद्घाटन में समाप्त होती है। प्रारम्भ में तीर्थंकरों की वन्दना और अन्त में प्रद्युम्न द्वारा जिनेन्द्र से दीक्षा और कैवल्य प्राप्ति का वर्णन है।

इन प्रद्युम्न चरितों की एक लम्बी परंपरा जैन-साहित्य में मिलती है। बम्बई की जैन श्वेताम्बर सभा द्वारा प्रकाशित 'जैन ग्रंथावली' में पाँच प्रद्युम्न चरितों की चर्चा मिलती है जिसमें से एक तो १२०१ वि॰ की रचना है। ये पाण्डुलिपियाँ अभी तक मैंने स्वयं नहीं देखी है, पर असम्भव नहीं कि इनमें से कोई हिन्दी के प्रारंभिक काल की प्रस्तुत परंपरा की महत्वपूर्ण कड़ी हो।

इसी परंपरा में ऊषा-हरण नामक अनेक ग्रंथ भी मिलते हैं पर मीरां के पूर्व के दो ग्रंथों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं—एक है परमानन्द ब्राह्मण कृत ओखा-हरण जिसकी रचना संवत १५१२ में हुई थी और दूसरा है

(१) देखिए—नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट १९२३ २५ अगरचन्द नाहटा का लेख '१४११ के प्रद्युम्नचरित का कर्त्ता' हिन्दी अनुशीलन वर्ष ६/१ ४

(२) नागरी प्रचारणी पत्रिका ५६-१

जनार्दन ब्राह्मण कृत [1] जो संवत् १६२४ में लिखा गया था। इन दोनों की भाषा गुजराती मिश्रित हिन्दी है वस्तुत गुजराती के अधिक निकट है।

नाथ-सम्प्रदाय से प्रभावित कृष्ण-काव्य— भक्ति-काल में सगुण और निर्गुण धाराओं में स्पष्ट विभेद ही नहीं कुछ विरोध भी था। पर आदिकाल में स्थिति भिन्न थी भक्तों और सन्तों में भेद नहीं था। सगुणवादी 'इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना' की बात कर लेते थे। जयदेव इस समन्वय के प्रथम और स्पष्ट उदाहरण हैं। रामानन्द ने भी 'हनुमान की आरती' और 'हठयोगी साधना' की चर्चा को विरोधी नहीं समझा पर उनके पश्चात् हिन्दी प्रदेश में विभेद की प्रक्रिया धीरे-धीरे इतनी प्रखर हुई कि कबीर को 'दशरथ सुत का मरम' बताना पड़ा और तुलसी से निर्गुणिया की 'ज्ञानवादी अहम्मन्यता' का खण्डन किए बिना न रहा गया। यह विभेद महाराष्ट्र को नहीं छू पाया। वहाँ संत विट्ठल की मूर्ति की पूजा और अन्त-साधना एक साथ करते रहे। असम और गुजरात की स्थिति भी हिन्दी प्रदेश से भिन्न रही।

जयदेव—हिन्दी कृष्ण-काव्य के रचयिताओं में प्राचीनतम नाम जयदेव का मिलता है [2] जिनके दो पद गुरु ग्रंथ साहिब में संकलित हैं। डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'साहित्य के विद्यार्थी के लिए यह विश्वास करना कठिन है कि ये दोनों जयदेव (गीतगोविन्दकार और गुरु ग्रंथ साहिब में संगृहीत पदों के रचयिता) एक ही हैं क्योंकि ग्रंथ साहिब में संगृहीत पद केवल विषय वस्तु की दृष्टि से ही गीत गोविन्द से भिन्न नहीं हैं उनमें गीतगोविन्द के रचयिता की चपल चटुल शैली और मनोहर पद-विन्यास का कुछ साम्य नहीं मिलता।[3] आचार्य क्षितिमोहन सेन ने अपने दादू नामक ग्रंथ में इसी

(१) प्राचीन गुर्जर काव्य (क ह. ध्रुव)

(२) संस्कृत साहित्य में जयदेव नाम के कई व्यक्ति मिलते हैं— प्रसन्नराघव नाटक के रचयिता चन्द्रालोककार और गीत-गोविन्दकार। नाभादास ने भक्तमाल में दो जयदेवों का उल्लेख किया है, एक 'उजागर गीतगोविन्द के कर्त्ता कवि नृपचक्रवर्ती' और दूसरे 'संसार से निवृत्त' होने वाले। यहाँ आशय गीतगोविन्दकार से ही है।

(३) हिन्दी-साहित्य पृष्ठ ११८

बात का संकेत किया था[1] पर उनका निष्कर्ष भिन्न था।

वस्तुतः गुरु ग्रंथ साहिब के प्रथम संचय में संकलित जयदेव छाप के पद की शब्दावली और भावना दोनों उसके रचयिता के गीतगोविन्दकार होने का ही संकेत देती है। इस संबंध में निम्नांकित बातें विचारणीय हैं—

( ) जयदेव के गीतगोविन्द के श्लोकों का प्राकृतपैंगलम् के कृष्ण लीला-संबंधी पद से साम्य और उनका लोकगीत की लय तथा राग का प्रयोग (जो संस्कृत काव्य के लिए असामान्य बात थी) यह बताता है कि जयदेव संस्कृत में लिखते समय जन भाषा लोक-लय और जनभावना के प्रति अत्यन्त सजग थे। उन्होंने तत्कालीन जन भाषा में भी काव्य लिखा होगा इसमें संदेह नहीं है।

(२) जयदेव के एक पद की दो पंक्तियाँ हैं—

हरि भगत निज निहकेवला रिद करमणा बचसा।
जोगेन किं जगेन किं दानेन किं तपसा॥

इन पंक्तियों की लय पदों के संस्कृत रूप और 'गोविन्देति भज गोविन्देति भज' की भावना क्या इस बात का संकेत नहीं करती कि संस्कृत का कोई कृष्ण भक्त पंडित जनभाषा में अपनी बात कहने का प्रयास कर रहा है? लय और पदावली स्पष्टतः गीतगोविन्द की ओर संकेत करती है। बस लगता है कि गीतगोविन्द की शृंगारिक आत्मा संन्यास लेकर जन-भाषा के स्वर में उद्बोधन कर रही है।

(३) जहाँ तक भाव साधना पद्धति के प्रभाव का प्रश्न है यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि उस युग में दोनों धर्म-साधनाएं समन्वित थी। रामानन्द जैसे सगुणवादी भी उलट कुंडलिनी और अनहद नाद की बात करते थे।

गीतगोविन्दकार राजा लक्ष्मणसेन के दरबारी कवि थे जिनका शासन काल ११७६-१२०५ ई० माना जाता है।[2] कुछ विद्वानों का अनुमान है कि

---

(१) ग्रंथ साहेबे जयदेवेर वाणीगुलो उद्धृत आछे। तासात्ते कैवि गीतगोविन्देर बाणीर संगे तार किछु मात्र भावेर सम्पर्क नाई।

(२) रजनीकान्त गुप्त जयदेव-चरित (हिन्दी अनुवाद) खड्गपुर प्रेस बाँकीपुर (१८१० ई०), पृष्ठ १२

वे उड़ीसा के राजा कामार्णव देव (११६६ १२११ ईसवी) और पुरुषोत्तमदेव (१२२१ १२३६) के समकालीन थ। कुछ भी हो उनका जीवन-काल ईसा की १२ वीं शती के आसपास पड़ता है।

जयदेव का गीतगोविन्द में मांसलता है, प्रणय का उन्माद का उन्मादक ग्रंथ है और है प्राणों को मधुर स्पन्दन से भर देनेवाला अलंकृत संगीत। इसके विपरीत उनका गोविन्द-सम्बन्धी हिन्दी-पद म वैराग्यमूलक भक्ति के नितान्त सरस भाव का अलंकारहीन सीधी-सादी भाषा में अभिव्यंजित किया गया है। इस प्रकार जयदेव-साहित्य में कृष्ण-काव्य के दो रूप मिलते हैं—

(१) संस्कृत में—गीतगोविंद में शब्द-सौन्दर्य पद-लालित्य एवं संगीत माधुर्य से पूर्ण सकल शृंगारिक भाव प्रधान गीति-काव्य का।

(२) हिन्दी में—वैराग्य-प्रधान संत-भावना से प्रभावित सरलतापूर्ण पर कलाहीन शैली में रचित गीत-काव्य का।

[इन दो भाव-धाराओं और शैलियों का अनुसरण हिंदी में समान रूप से नहीं हुआ। गीतगोविंद की चिरमधुर मनुगूंज से अनेक परवर्ती भक्त-कवि प्रेरित हुए पर 'गोविंद भज' का उपदेश बाद के कवियों को प्रभावित नहीं कर सका। इतना ही नहीं प्राक् हिंदी कृष्ण-काव्य की समस्त धारा पर दृष्टिपात करने पर यह पद अपनी उपदेशमयी दुर्लभ्य नीरसता के साथ परंपरागत संदर्भ में अजनबी-सा प्रतीत होता है।]

जयदेव में कृष्ण-काव्य की जो दो परंपराएं दिखाई पड़ती हैं व उन्हीं तक सीमित नहीं रहीं। एक ओर सरस ब्रज-बीथियों और मिथिला की भाव प्रवण भूमि में राधाकृष्ण की 'शृंगारमयी लोकोत्तर छटा' के रसोन्मत्त करने वाले मधुर गीत लिखे जा रहे थे जिनकी प्रौढ़ कलात्मक अभिव्यक्ति विद्यापति और सूर की रचनाओं में हुई और दूसरी ओर महाराष्ट्र में नाथ-मत से प्रभावित वैराग्य-प्रधान साधनात्मक भक्तिभावना पनप रही थी जिसे महानुभाव और वारकरी संप्रदाय के संतों ने वाणी दी। पहले प्रकार की धारा विशुद्ध अनुरक्तिमूलक थी। इसकी परंपरा हिंदी में चली। नाथ-मत से प्रभावित महाराष्ट्र की कृष्ण भक्ति भावना का प्रचार उत्तर में नहीं हुआ। एक और ध्यान की बात है कि मीरां के पूर्व महाराष्ट्र के कृष्ण भक्त कवियों-चक्रधर, महदाइसा दामोदर पंडित (महानुभावी) ज्ञानेश्वर और मुक्ताबाई (वारकरी) का जो हिंदी-काव्य उपलब्ध है वह भावना अभिव्यक्ति-शैली तथा भाषा-तीनों दृष्टियों से संत-काव्य के अधिक निकट है।

जयदेव की विशुद्ध अनुरक्तिमूलक और शृंगारपरक भाव धारा के उत्तराधिकारी मैथिलकोकिल विद्यापति थे। इन्होंने भाव ही नहीं कला की दृष्टि से भी जयदेव की संस्कृत परंपरा का अनुसरण और विकास किया।[1]

विद्यापति—डॉ० उमेश मिश्र के अनुसार उनका जन्म २४१ लक्ष्मण संवत् (सन् १३६० ई०) के लगभग बैठता है।[2] मीराँ के समय से पूर्व ही भक्तों में इनका बड़ा प्रभाव हो गया था। महाप्रभु चैतन्य तो उनके पदों को गाते-गाते मूर्छित हो जाते थे।

विद्यापति के कृष्ण-काव्य में कुछ विद्वान (कुमार स्वामी जनार्दन मिश्र आदि) रहस्यवाद की अनुपम छटा देखते हैं[3] और सहजिया संप्रदाय के वैष्णव भक्त तो विद्यापति को अपने सात श्रेष्ठ रसिक भक्तों में से एक मानते हैं पर वस्तुतः उनका काव्य गीतगोविंद की तरह ही उद्दाम यौवन के उद्दाम विलास के गीतों से भरा है। जैसा कि डॉ० रामकुमार वर्मा का कथन है 'आराध्य के प्रति भक्त का जो पवित्र विचार होना चाहिए, वह उसमें लेशमात्र भी नहीं है उसमें कृष्ण तो यौवन में उन्मत्त नायक की भाँति हैं और राधा यौवन की मदिरा में मतवाली एक मुग्धा नायिका की भाँति। अनेक पदों में इस कवि कण्ठहार ने 'शिवसिंह और लखिमादेई' के मधुर रस के लिए, रति का लक्ष्य मानकर चलनेवाले केलिकला विशारद कृष्ण और अनिंद्य सुंदरी कामिनी-राधा-की प्रणयलीला' की विभिन्न अवस्थाओं के चित्र अंकित किए हैं।[5]

---

(१) तुलना कीजिए ललित लवंग लता परिशीलन कोमल मलय समीरे। (जयदेव)
सरस वसन्त समय भल पाओल दखिन पवन बहु धीरे। (विद्यापति)

(२) विद्यापति ठाकुर पृष्ठ ३६ [इस विषय में अनेक मत हैं—देखिये 'विद्यापति' शिवप्रसाद सिंह पृष्ठ ३८-४१]

(३) विद्यापति प्रो० जनार्दन मिश्र एम० ए० पृष्ठ ३२

(४) हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृष्ठ ५०८

(५) विद्यापति की पदावली, बेनीपुरी (द्वितीय संस्करण) देखिए 'प्रेम-प्रसंग'-'मिलन'-'सखी-सम्भाषण' आदि खंड

विद्यापति ने 'विरह' और 'भावोल्लास' के पद भी लिखे हैं। इनमें वियोग की मनोव्यथा का चित्रण है और प्रणय का मानसिक पक्ष प्रधान है अतः इनमें शृंगार की वह मांसलता नहीं है जो संयोग के चित्रों में है। साथ ही विद्यापति की कुछ रचनाएं ऐसी भी हैं जिनमें उनका विकल मन भाव जनम नींद में गँवाकर' 'साँझ की बेला में' 'सेवकाई' माँगता है।[1]

इस प्रकार विद्यापति के कृष्ण-काव्य में तीन धाराएँ हैं—

(१) प्रमुख—स्थूल संयोग शृंगार की

(२) सामान्य—वियोगजन्य मनोव्यथा की

(३) अत्यन्त क्षीण—भक्तिमूलक दैन्य भावना की

नामदेव—कृष्ण-काव्य रचयिताओं की परंपरा में नामदेव का नाम भी गिनाया जाता है। गुजरात के नरसिंह मेहता जैसे भक्त कवियों पर इनका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था। उन्होंने इनसे छाप की पद्धति ही ग्रहण नहीं की थी उनके ... रासमें' के पदों में सम्बोधन की रीति और उनकी आर्त भावना पर नामदेव की छाप दिखाई पड़ती है।[2] प्रारंभ में ये विट्ठल के सगुण भाव के भक्त थे। कृष्ण कथीरा लेकर गोविन्द राइ की पूजा करते थे। उस समय की उनकी रचनाओं में सगुण-भक्ति का स्वर अधिक प्रबल है पर विसोबा खेचर से दीक्षा लेने के पश्चात् इनकी प्रेमपूर्ण भक्ति में ज्ञान का समावेश हो गया। नामदेव ने कदाचित् उत्तर भारत की यात्रा के पश्चात् ही हिन्दी में काव्य रचना की होगी और उस समय वे भावना की दृष्टि से संत-मत के समीप थे। अतएव नामदेव का सगुण भक्ति-काव्य-धारा में योग नगण्य है।

शंकरदेव—शंकरदेव का जन्म सन् १४४९ में असम प्रान्त के एक कायस्थ कुल में हुआ था। जिस धर्म का इन्होंने प्रवर्तन किया उसे महाधर्म या महापुरुष धर्म अथवा महापुरुषिया धर्म कहते हैं।[3] इन्होंने असमिया तथा

(१) वही पृष्ठ २४१
से २९६ तक तथा पृष्ठ ३१४ से ३१५ तक

(२) गुजराती साहित्यनुं रेखा-दर्शन, पृष्ठ ७२-८२

(३) भागवत सम्प्रदाय डॉ० बलदेव उपाध्याय पृष्ठ ५४५ १४१

समीचीन है तो 'दसम' वाला प्रक्षिप्त अंश १४ वीं और १६ वीं शती की कृति ठहरती है।

जहाँ तक इसके रचयिता का प्रश्न है वह भावी शोध का विषय है। अभी तो रासो के रचयिता का भी ठीक पता नहीं है।

'दसम' क्षेमेन्द्र के दशावतार-चरितम् की परंपरा की कृति नहीं है। लगता है कि इसके मूल रूप में आगे चलकर और विकास हुआ है। दसमकार मूलतः शायद राम-कृष्ण-लीला का ही गान करना चाहता था। उसने कहा भी है—राम-किसन कित्ती सरस कहत भये बहुवार।
सिर हनुमान मार रामलीला कछु गवाइए।[1]

दसम में आई कृष्ण-कथा में काव्य-शास्त्रीय रूढ़ियों और शृंगारिकता का समन्वित रूप है। शिशिर शीत और वसन्त में वियोग-व्यंजिकाओं का चित्रण इसी परंपरा की ओर संकेत करता है।[2] वैसे इसमें प्रधानतः मदनोत्सव और वसन्तोत्सव की लीलाओं की है और अन्त में मथुरागमन गोपीविरह और कंस-दलन के पश्चात् द्वारकागमन का उल्लेख करके कथा समाप्त होती है। इस ग्रंथ की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि कृष्ण की अवतारवादी लीलाओं का चित्रण करते हुए भी वह निर्गुणवाद का समर्थक है। वियोगिनी गोपिकाओं के सम्बन्ध में वह कहता है—

अभिनव विरह विलप्पि त्रिय विक्खम नन्द कुंवार।
निर्गुण गुन बाँधिय सकल मनु पच्छिय परिहार।

[नन्दकुमार ने उन्हें पीड़ित करके निर्गुण गुण (रस्सी) में बाँध दिया मानो पक्षियों को पंखहीन (उड़ाने वाली वासना से मुक्त) कर दिया हो]

विष्णुदास (पंद्रहवीं शती ?) विष्णुदास को प्रकाश में लाने का श्रेय डॉ॰ शिवप्रसाद सिंह को है[3] जिन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा की सर्च रिपोर्टों के आधार पर इस कवि का विवरण प्रस्तुत किया। इन रिपोर्टों के

(१) पृथ्वीराजरासो, प्रथम भाग सं॰ कविराज मोहनसिंह पृष्ठ ८०
(२) शिशिर शन तप हरहिं कम्पत दसनन्न सुवदन भति।
हेमन्त घन दहिग दमिक बाल गुरुक गुरुस मिलि।
(३) सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृष्ठ १४९ १५२

अनुसार 'विष्णुदास गोपाचलगढ़ या ग्वालियर के वासी थे जो उन दिनों डोंगरसिंह नामक राजा के अधीन था और इनका जीवन-काल १४३५ ईसवी के आसपास है। इनकी निम्नलिखित रचनाओं की सूचना मिलती है—

(१) महाभारत कथा (कथित रचनाकाल संवत १४९२)
(२) रुक्मिणीमंगल
(३) स्वर्गारोहण
(४) स्वर्गारोहण पर्व
(५) स्नेहलीला

इन खोज-रिपोर्टों और उनमें उद्धृत अशों को ध्यान से देखने के पश्चात् इस प्रसंग में कुछ तथ्य सामने आते हैं जो विचारणीय हैं —

(क) विष्णुदास की उक्त रचनाओं में से एक भी इस समय उपलब्ध नहीं है। जो उपलब्ध हैं, वह सभा के खोज-रिपोर्ट-लेखकों द्वारा प्रस्तुत विवरण और कुछ उद्धरण मात्र हैं।

(ख) इन खोज-रिपोर्टों में जिस नियोजित क्रम से पुस्तकों की संख्या बढ़ाई गई है, वह संदेह उत्पन्न करता है।

(ग) १९०९ ई० के खोज-रिपोर्ट-लेखक विष्णुदास की दो रचनाओं (महाभारत कथा तथा स्वर्गारोहण) के दतिया राज पुस्तकालय में होने की सूचना देते हैं पर बाद में वे दतिया राजपुस्तकालय में न मिलकर, दरियाव गंज जिला एटा और पिनाहार जिला आगरा में मिलती हैं।

(घ) 'रुक्मिणी मंगल' के अन्त के विष्णुपद के दिए हुए दो पाठ यह स्पष्ट कर देते हैं कि इनमें केवल पढ़ने की भूलों के कारण ही इतना अन्तर नहीं है। एक पाठ है महमत मोहन करत बिलास।
कहीं मोहन कहीं रमन रानी और कोउ नहीं पास।

दूसरा पाठ है मोहन महमन करत बिलास।
कनक मंदिर में केलि करत हैं और कोउ नहीं पास॥

(ङ) विष्णुदास ग्वालियर-वासी ब्रजभाषी थे। उनकी प्रतियाँ मिली हैं ब्रज प्रदेश में लिपिबद्ध हुई हैं—आगरा और एटा में। फिर भी उनमें कुछ ऐसे प्रयोग हैं जो ब्रज के आधुनिक और प्राचीन दोनों रूपों की दृष्टि से विरल हैं। कुछ उदाहरण लीजिए—

(१) पंडो चरित सुने हैं काना

[सामान्यतः लोगों में यह भ्रम है कि ब्रज में हर आकारान्त संज्ञा ओकारान्त हो जाती है इसीलिए कई विद्वान घोड़ा का ब्रजी रूप घोड़ो कर गए हैं जो वस्तुतः अशुद्ध है। पडो भी इसी आधुनिक विद्वता का निर्माण सा लगता है।]

(२) तुम करो प्रस्ताना
(३) साध लोग छांडेंगे जाती
(४) कलि में ऐसी कलि है रांड, इत्यादि।

इस सम्बन्ध में मेरा नम्र निवेदन यही है कि जब तक मूल प्रतियाँ उपलब्ध न हों और रिपोर्टों की परीक्षा न हो जाय तब तक विष्णुदास के रचना-काल के सामने से प्रश्नवाचक न हटाया जाय।

भीम—हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में भीम नामक कवि की 'हरिलीला सोलह कला' नामक कृति की एक हस्तलिखित प्रति सुरक्षित है, जिसका लिपिकाल संवत् १७२१ है। इसका रचनाकाल संवत् १५४१ कहा जाता है। वस्तुतः भीम गुजराती कवि थे और कदाचित् भक्तिवत्सदास के पितामह तथा प्रसिद्ध गुजराती कवि विष्णुदास के पिता थे। 'हरि लीला सोलह कला' की भाषा प्राचीन गुजराती है। इसलिए कभी-कभी उसके प्राचीन हिन्दी होने का भ्रम हो जाता है।

कुंभनदास—'गोवर्धननाथजी के प्राकट्य की वार्ता' के आधार पर कुंभनदासजी का जन्म-संवत् १५२५ ठहरता है।[1] संवत् १५४९ में श्री वल्लभाचार्यजी ने श्रीनाथजी के पधारने के कुछ ही बाद 'कुंभनदासजी को नाम सुनायो और ब्रह्म-सम्बन्ध करवायो'।[2] कुंभनदास के पद स्फुट रूप से अनेक हस्तलिखित गुटकों में मिलते हैं। प्राप्त पदों में कुछ तो निश्चित रूप से मीरां के रचना-काल के पूर्व की कृतियाँ हैं, पर अब उन पदों का अलग कर लेना संभव नहीं है।

---

(१) अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृष्ठ २४८

(२) अष्टछाप सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ ७२ (अथ कुंभनदासजीरकी तिनकी वार्ता)

'लोक लाज कुल की मर्यादा' त्यागकर 'रसिक नंदनंदन की कोटिक मद सजानेवाली चितवन' पर 'तन मन वारने' की सरस साधना को कुंभनदास ने अपने काव्य में मुखरित किया है। सूर की कमनीय कला और मीरां के मधुर आवेश की तीव्रता उनमें नहीं है फिर भी साधुता और भक्तिभाव की ईमानदार अभिव्यक्ति के कारण ये भक्तिकालीन साहित्य में अपना स्थान लिए हुए हैं।

सूरदास—वल्लभ-सम्प्रदाय में प्रचलित परंपरागत मान्यता के आधार पर सूरदास की जन्म-तिथि संवत् १५३५ वैसाख सुदी पंचमी निर्धारित होती है। उन्होंने लगभग ३१–३२ वर्ष की अवस्था में (संवत् १५६६–६७) वल्लभाचार्य से पुष्टिमार्ग की दीक्षा ली थी। दीक्षा के पूर्व वे गऊघाट पर रहते थे[1] स्वयं स्वामी थे सेवा करते थे। भगवत् गान किया करते थे। मीरां का रचना काल सूर के ब्रह्म-सम्बन्ध के बाद ही प्रारंभ होता है। अतः वल्लभाचार्य से मिलन के पूर्व रचित सूर के भगवत-गान मीरां के युग के पूर्व की संपत्ति है। उनकी इस काल की रचनाएं 'विनय के पद' हैं। जैसाकि डॉ० मुंशीराम शर्मा ने अपने ग्रंथ 'भारतीय साधना और सूर-साहित्य' में स्पष्ट किया है सूर के ये विनय-संबंधी पद चार कोटियों में रखे जा सकते हैं—

(१) हठयोग और शिव-साधना से संबंध रखनेवाले पद
(२) निर्गुण भक्ति से प्रभावित पद
(३) वैष्णव भक्ति के दास्य भाव वाले विनय के पद
(४) सख्य भाव की भक्ति वाले पद

प्रथम मिलन के अवसर पर सूर ने वल्लभाचार्य को जो दो पद सुनाये थे वे निर्विवाद रूप से दीक्षा के पूर्व के हैं और उनमें आत्म-ग्लानि दैन्य और वैराग्य का भाव प्रधान है। पुष्टिमार्गी दीक्षा प्राप्ति के पश्चात् उन्होंने 'हरिलीला' के पद रचना प्रारम्भ कर दिया जिसमें वात्सल्य सख्य और माधुर्य की मनमोहिनी त्रिधारा अपनी पावन सरसता के साथ बही। सूर के इस परवर्ती काव्य की कुछ थोड़ी-सी प्रारम्भिक रचनाएं मीरां के काव्य-रचना-काल के पूर्व की भी होंगी अधिकांश तो उनकी समकालीन हैं।

(१) अष्टछाप, सं० धीरेन्द्र वर्मा पृष्ठ ३ और ४, "अब सूरदास जी गऊघाट ऊपर रहते।"

तत्ववेत्ता—ये निंबार्क-सम्प्रदाय के संत जोधपुर राज्य के जैतारण नगर के निवासी और जाति के छैन्याति ब्राह्मण थे। इनके असली नाम का पता नहीं है। तत्ववेत्ता इनका उपनाम था। इनका आविर्भाव-काल संवत् १५५० के लगभग माना जाता है।[1]

'तत्ववेत्ता का पिंगल भाषा में लिखे १८ छप्पयों का एक संकलन उपलब्ध है। उसका जो अंश डॉ॰ मेनारिया ने उद्धृत किया है उससे स्पष्ट है कि सर्वचन्द्र (रामचन्द्र हरिश्चन्द्र आदि) को सुमरते-सुमरते उन्हें वृन्दावन-चन्द (परमचन्द) का 'परचे भया' था। उसी की सरल अनुभूति उनके काव्य की मूल प्रेरणा थी। अतः उनको मीराँ पूर्व के कृष्ण-काव्य के प्रणेताओं में स्थान देना उचित ही होगा।

लालचदास —लालचदास हलवाई नामक किसी कवि का दोहा—चौपाई—छंद-शैली में रचित 'भागवत भाषा हरि चरित दशम स्कंध' की दो प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों का उल्लेख डॉ॰ दीनदयाल गुप्त ने किया है। इनके अनुसार ये प्रतियाँ मायाशंकर याज्ञिक संग्रहालय में हैं। इनमें से एक में रचना-काल सं॰ १५०० दिया हुआ है।[2]

लाला भगवानदीनजी दीन' के पास 'भागवत' कृत 'भागवत दशम् स्कंध भाषा' की प्रति थी। मिश्रबन्धु विनोद में रायबरेली निवासी एक लालचदास हलवाई द्वारा सं १५८७ में दोहा—चौपाई शैली में लिखित 'भागवत दशम स्कन्ध की भाषा' नाम से इसी कृति का उल्लेख है।[3] डॉ॰ गुप्त का कथन है कि 'मिश्रबन्धुविनोद' में उद्धृत अंश कुछ पाठभेद के साथ याज्ञिक संग्रहालय की भागवत से मिलते हैं जिससे निश्चित हो जाता है कि ये दोनों दो भिन्न पुस्तकें नहीं हैं।

नागरी प्रचारिणी सभा की सन् १९०६ व ८ की खोज-रिपोर्ट के अनुसार हरि चरित्र' के रचयिता लालचदास १५१५ वि॰ में विद्यमान थे। मिश्रबन्धुओं ने भी इसी तिथि को उनके कविता-काल के रूप में उल्लिखित किया है। वस्तुतः लालचदास का रचना-काल संदिग्ध है। इतना स्पष्ट है कि

(१) राजस्थानी भाषा और साहित्य पृष्ठ १४१
(२) अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ २१
(३) मिश्रबन्धु विनोद—भाग १, पृष्ठ २५६

वे मीरां के पूर्ववर्ती या समकालीन थे। काव्य की दृष्टि से उनकी रचनाएं महत्वपूर्ण नहीं हैं।

नरसिंह मेहता —नरसिंह मेहता की कृष्ण-भक्ति-संबंधी कुछ हिन्दी-रचनाएं यत्र-तत्र मिलती हैं। 'शिवसिंह सरोज' में इनका एक पद उद्धृत है।[1] मीरांदास रचित 'नरसी मेहता को मामेरो' में भी नरसी की छाप के कई पद मिलते हैं। लेखक को 'नरसी की छाप' के कुछ पद मौखिक परम्परा से मिले हैं जो प्रायः रचना वाली द्वारा मिले 'माहेरा' के बीच-बीच में गाए जाते हैं। इनके अतिरिक्त इच्छाराम सूर्यराम देसाई द्वारा संपादित 'नरसिंह मेहता कृत काव्य संग्रह' में भी कुछ पद ऐसे हैं जो दो-एक शब्दों से अपवाद के साथ पूर्णतः व्रजभाषा के हैं।[2] इन हिन्दी रचनाओं में कौन कितनी प्रामाणिक है यह निर्णय अभी तक नहीं हो सका पर गुजरात के साहित्यकारों का यह सामान्य विश्वास है कि व्रजवासी कृष्ण की मधुर भक्ति के साधक और मुमुक्षु कवि ने अपने समय के अन्य कवियों के समान अपने आराध्य कृष्ण की जन्मभूमि से सम्बन्धित काशी और उत्तर भारत की तत्कालीन 'काव्य भाषा' (व्रज-भाषा) में रचना अवश्य की थी।

नरसिंह मेहता के जीवनकाल के विषय में मतभेद है। गुजराती के अधिकांश विद्वान उनका आयुष्यकाल सन् १४१४ से १५०० मानते हैं और उन्हें गुजराती भाषा के 'आदि कवि' होने का श्रेय देते हैं[3] और अपर यह मत

(१) पृष्ठ १७४—पद : ध्यान धरि ध्यान धरि नन्दजी कुंवर कू वे
—मति अविचल आनन्द पाम्ये।

(२) पृष्ठ ४६८ पद ५० मुं—राग आरती
पृष्ठ ४६६, पद १ मुं—राग प्रभातियुं।

(३) (क) गुजराती साहित्यना मार्गसूचक स्तंभो (कृ० मो० झवेरी, संशोधित बीजी आवृत्ति), पृष्ठ ३८
(ख) कवि चरित भाग १-२, के० का० शास्त्री पृष्ठ २४ (बीजुं संस्करण)
(ग) गुजराती साहित्य (मध्यकालीन) अनन्तराय रावल पृष्ठ ८६
(घ) हिंदी के कुछ इतिहास लेखकों ने उन्हें हिंदी में कृष्ण-विषयक पद-रचना करनेवाला प्रथम कवि माना है—हिंदी-साहित्य-एक अध्ययन भटनागर, पृष्ठ १२८

सत्य हो तो नरसी व्रजभाषा के भी कदाचित् प्रथम कवि सिद्ध होंगे। परन्तु इस विषय में प्रिंसिपल मार्तण्डशंकर ध्रुव द्वारा व्यक्त संदेह से प्रभावित होकर के० एम० मुंशी ने स्वतंत्र अनुशीलन के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला है कि 'नरसिंह का जीवन-काल सन् १५०० और सन् १५८० के बीच ही कभी मानना युक्तिसंगत है।[१]

नरसी को ईसा की १५वीं शती का माननेवाले विद्वान 'हारमाला' को नरसिंह कृत मानकर उसमें उल्लिखित सं० १५१२ (सन् १४५५) के आधार पर उनके जीवन-काल के विषय में अनुमान करते हैं। मुंशीजी इस ग्रंथ को अप्रामाणिक मानते हैं। साथ ही १५वीं और १६ वीं शती के कृष्ण-भक्ति कवियों के नरसी के विषय में अनुल्लेख विशेषकर सन् १५११ में चैतन्य के भूभाग गमन का नरसी-संबंधी विवरण रखनेवाले गोविन्ददास की डैमिको में इसके उल्लेख का अभाव तथा १५०० ई० के आसपास पल्लवित 'वृन्दावन-निकाय' की भक्ति का नरसिंह पर प्रभाव देखकर वे नरसी को सन् १५०० ई के बाद का मानते हैं।[२] यद्यपि मुंशीजी के तर्क नकारात्मक हैं और उनके बल पर उनका निर्णय सही नहीं सिद्ध किया जा सकता पर वस्तुतः उनका निष्कर्ष लगभग सही है।

इस विषय में निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं—

(१) खंभात-निवासी कवि विष्णुदास ने अपने 'कुंवरबाईनु मोसाळुं' नामक काव्य-ग्रंथ में नरसिंह मेहता द्वारा 'मीराँबाईने बीस अमीत भरें' कहलाया है।[३] विष्णुदास ने अपनी कुछ रचनाओं की रचना-तिथि दे दी है उसके आधार पर उनका जन्म संवत् १६०० के आसपास माना जाता है[३] और उनके 'कुंवरबाईनुं मोसाळुं' का रचना-काल गुजराती साहित्यान्वेषकों ने संवत् १६२४-२८ के लगभग निर्धारित किया है।[४] स्पष्ट है कि मीराँ का प्रत्यक्ष परिचय पानेवाले अनेक व्यक्ति विष्णुदास के समय में रहे होंगे और वे अपने

(१) गुजरात एंड इट्स लिटरेचर, पृष्ठ २००
(२) वही, पृष्ठ १९९–२००
तथा 'नरसैया भक्त हरिनो'—प्रस्तावना मुंशी, पृष्ठ ४६–८२
(३) कवि विष्णुदास कृत 'सभापर्व नवाख्यान कुंवरबाईनु मोसाळु, इत्यादि' प्रकटकर्ता भा० मि० मेहता (सं० १९७७) पृष्ठ ९८
(४) कवि-चरित, के० का० शास्त्री पृष्ठ १४७

व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर जानते रहे होंगे कि नरसी मीराँ के समय में थे या नहीं।

विष्णुदास ने इन लोगों के अनुभव और विश्वासों के आधार पर ही अपने ग्रंथ का निर्माण किया होगा। इस प्रकार मीराँ के विषपान की घटना के बाद तक नरसिंह मेहता का जीवित रहना समकालीनों के प्रत्यक्ष अनुभव और तज्जन्य मान्यताओं के आधार पर किए गए उल्लेख से ही सिद्ध हो जाता है।

(२) नरसिंह मेहता ने अपने एक पद—'तुं तारा बीर्द साहामुं जोये धामळा' में स्वयं कहा है—मीराँबाईनां विर्ष अमृत कीधां। 'जूनी भत' न मिलने के कारण ही इसे अप्रामाणिक नहीं मान लेना चाहिए।

(३) राजस्थान और मध्यभारत में एक अनुश्रुति है कि 'नरसी मेहता को माहेरो' संवत् १६१६ में कृष्ण भगवान ने भक्त की लाज रखने के लिए भरा था। रत्नाखाती द्वारा रचित और शिवकर्ण द्वारा संशोधित माहेरो में इसी आशय का दोहा भी है—

"सोला सौ सोलो तणो विक्रम संवत् नाम
बबदासे इकियासिया साके सालीवाहान
भक्तां के हित कारण जद हरि बांध्यो मोड़
माहेरा में रुपिया भागा छप्पन क्रोड़"[२]

(४) मीराँ-छाप के एक पद में नरसिंह मेहता का उल्लेख मिलता है।[३] अगर इसे प्रामाणिक मान लिया जाय तो भी इसका इतना ही अर्थ है कि मीराँ के जीवन-काल में नरसिंह एक आदर प्राप्त भक्त के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे।

आनन्दशंकर ध्रुव के० एम० मुंशी के तर्कों और उक्त तथ्यों के प्रकाश में नरसिंह मेहता को मीराँ का समकालीन मानना ही उचित है।

---

(१) नरसिंह मेहेता कृत काव्य-संग्रह, संग्रहकर्ता अने संशोधक इच्छाराम सूर्यराम देसाई पृष्ठ ४७२

(२) नरसी मेहता को बड़ो माहेरो, प्रकाशक बनवारीलाल वणिक पृ० ११

(३) गुजराती साहित्यनुं रेखादर्शन के० का० शास्त्री, पृष्ठ ८०

संभव है कि सूर की तरह से भी मीरां से आयु में बड़े रहे हों पर वे मीरां के विषपान की घटना के बाद तक जीवित अवश्य थे। अतः नरसिंह मेहता की ब्रजभाषा की अधिकांश रचनाएं (अगर प्रामाणिक मानी जायें) मीरां के काल की ही हैं। हो सकता है कि कुछ मीरां के रचना-काल के पूर्व की भी हों।

भालण—गुजराती को कड़वाबद्ध आख्यान काव्य से मंडित करने वाले प्रथम कवि भालण माने जाते हैं। उनका काल कन्हैयालाल मुंशी सं० १४८२ से १५११ तक, कृ० मो० झवेरी सं० १४९५ से १५९५ तक और रा० च० मोदी सं० १४६१ से १५४५ तक मानते हैं। भालण मूलतः राम के भक्त थे पर इन्होंने कृष्ण-काव्य भी लिखा। इनकी 'भागवत-दशम स्कन्ध' की प्राचीनतम हस्तलिखित प्रति सं० १७५५ की है। उसमें भालण की छाप के ५ ब्रजभाषा-पद प्राप्त हैं—[2]

(१) मैया मोहे भावे दधि भात[3]
(२) व्रज को सुख समरत हो स्याम[4]
(३) कहो मैया कैसे सुख पाऊं[5]
(४) अब पढ़वे को आयो दिन[6]
(५) सुत मैं सुनी लोक में बात[7]

हे० डा० कोटावाला द्वारा प्रकाशित पाठ में एक पद और मिलता है—

(६) कौन तप कीनौरी माई नंद घरनी

भावना की दृष्टि से ये पद सामान्यतः सूर के पदों से मिलते हैं। के० का० शास्त्री इसी आधार पर भालण को सूर का समकालीन (सं० १५५० में वर्तमान) मानते हैं।[8] वस्तुतः भालण के काल का निर्णय एक बड़े महत्त्व की चीज है। अधिकांश गुजराती शोधकों के आधार पर तो भालण का काल

---

(१) गुजराती साहित्यनुं रेखादर्शन पृष्ठ ८१
(२) गुजरात विद्यासभा ग्रंथ-संख्या १५७ (श्री मंजुलाल जानी के वैयक्तिक संग्रह में भी इसकी एक प्रति सं० १७८१ की थी, जो आदि में खंडित थी।)
(३) पद-संख्या २१२ (४) पद-संख्या २१४ (५) पद-संख्या २१५
(६) „ २१६ (७) „ २१९
(८) पहले तो शास्त्रीजी भालण को ब्रजभाषा का आदिकवि तक मानते थे। ('भालण: व्रजभाषानो आदि कवि'—हिन्दुस्तान दैनिक, ११ नवम्बर १९६४)

सूर के काल से पूर्व पड़ता है।[1] जो हो पर प्रस्तुत पदों की भाषा उनकी प्राचीनता के सामने प्रश्नवाचक लगा देती है और यह असंभव नहीं कि भावी शोध इन्हें किन्हीं अस्समकुलीन सूर-साहित्य-प्रेमी का सर्जन सिद्ध कर दे।

मीराँ अपने जीवन की संध्या में—सं० १६०० के आसपास द्वारिका में थीं। नरसिंह मेहता के अतिरिक्त भागवत की रचनाओं के संपर्क में भी आई होंगी।

केशव हृदेराम—यहाँ पर एक ऐसे कृष्ण-काव्यकर्त्ता का उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा जिन्हें सांप्रदायिक भावना या शोधकों की भूल के कारण प्राचीन मान लिया गया है।

गुजराती के एक कवि हैं प्रभासपाटन के निवासी 'केशव हृदेराम'। उन्होंने ब्रजभाषा में भी कविताएं लिखी हैं।[2] उनका 'कृष्ण-क्रीड़ा-काव्य' अत्यन्त प्रसिद्ध है। उसकी हस्तलिखित पोथी के हाशिए में एक स्थान पर 'संवत् १५२९ वर्षे उत्सव' लिखा है जिसके आधार पर स्व० अम्बालाल जानी ने उसका रचना-काल सं० १५२९ माना है। प्रो० मनसुखलाल झवेरी तथा प्रो० रमणलाल शाह जैसे आधुनिक विद्वान भी कुछ संशय के साथ यही (सन् १४७३) मानते हैं।[3] परन्तु ग्रंथ में 'तिथि संवत् निधि वसका सोम' दिया हुआ है जिसका अर्थ १५ (तिथि) ९२ (निधि वसका = ९० + सोम अर्थात् २) लेना अधिक उचित लगता है १५ (तिथि) २९ (दस का योग २ + निधि ९) नहीं। फिर जैसा कि रामलाल मोदी सिद्ध कर चुके हैं ग्रंथ में उल्लिखित संवत्सर का नाम 'सौम्य' तथा द्वादशी का दिन है। 'शततारिका नक्षत्र' 'वृद्धि योग' और 'बालव करण' तो सं० १५९२ की आश्विन सुदी १२ गुरुवार को पड़ता है।[4] अतः केशव हृदेराम का कविता-काल मीराँ के कविता-काल से पूर्व नहीं ठहरता दोनों समकालीन ही हैं।

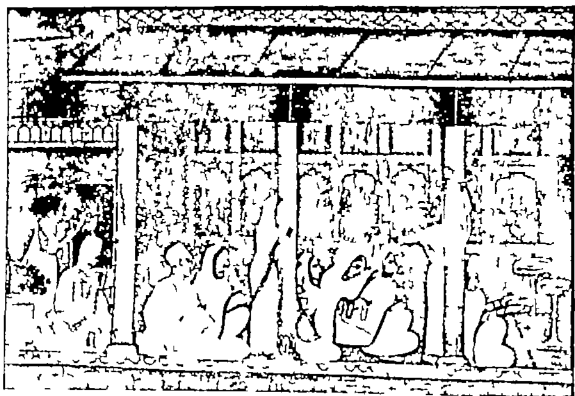
---

(१) श्री भायाणी को भालण के प्राचीन निवास-स्थान से एक जन्म-कुण्डली प्राप्त हुई है, जिसके अनुसार उनका जन्म संवत् १४९५ में हुआ था।

(२) इस काव्य की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—
"त्यज अभिमान गोवाली। परम आव्यो श्रीवनमाली
जाके चरण चतुर्भुज सेवे, किंकर होय कपाली ॥——इत्यादि ॥
गुजराती साहित्यनुं रेखादर्शन खण्ड १ लो पृष्ठ ८०

(३) गुजराती साहित्यनुं रेखादर्शन मनसुखलाल झवेरी रमणलाल शाह पृ० २९

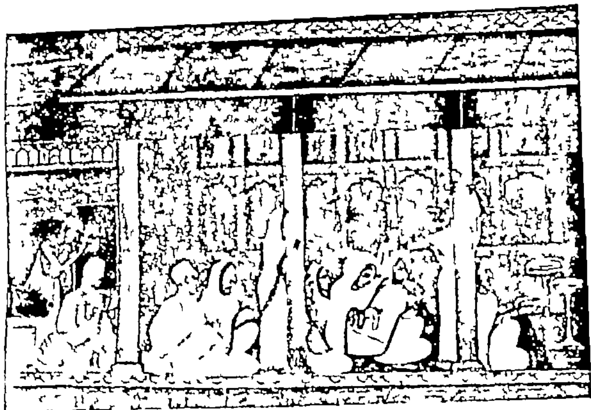
(४) गुजराती साहित्यनुं रेखादर्शन खण्ड १ लो, पृष्ठ ८८



मीरांबाई का प्राचीनतम उपलब्ध चित्र

(किशनगढ़ संग्रह)

आरती के समय — मीरां, भक्तों के साथ



मीराँबाई का प्राचीनतम उपलब्ध चित्र
(किशनगढ़ संग्रह)
आरती के समय—मीराँ, भक्तों के साथ

प्रतिपत्रदास द्वारा संवत् १६९५ में

प्रसि त्ति॥ श्रीराम प्रसादात् ॥ संवत १५५
वरखे आषाढ सुदि १२ रवौ अद्येह नरपु
र स्थाने श्रीमन्नंतर नागर ज्ञाती भट्ट
पितुजी सुत अनलदास स्वय वुधिरात
श्रीरामप्रसादे भाल नगी
सु पर्व सं ३ पे प्र दिशानारायण ग्र
शेसो पूं॥ अनन्यदु अल्पीराम सु
पाठ पाठं पौ तु नं नायदु॥ अथ
३३१ रागसागर सं रथा अथ पिता
र्थ आर न तु न्ना चद्र॥ ०॥
॥ ना॥ ना॥ श्री॥ श्री॥ श्री॥ ॥ श्री॥
गीशाय स्वच देरालक्ष्मी य स्यव
सीयस्या श्रिरुद येसैद्वी रारमेन्
ई नाजे॥ श्रिमासगनेग मध्यासनायश्रि
प रौ डौ स्तुनम राय। लक्ष्मी प्रभ
यश्रिमत्तिरिय। धार रोते श्रिवचनी
भस्ते॥ ॥ ना॥ श्रीरामायनम॥

लिपिबद्ध गुटके का दो पृष्ठ

वा॥ [illegible] तन दिहि॥ [illegible] [illegible]

॥ जिउं जैसी मो सजना॥ रे हिनेइ [illegible]

ते सै [illegible] नि न [illegible] ॥ जु [illegible] म [illegible]

सजनु ता॥रा॥ [illegible] जन पिठी मन

करीतैयु किनइ ॥ जुवर स॥ जु जा॥

मुरली [illegible]॥ औजन मुरली को जिद

॥ स्याम सुंदर गोपीनाथ हे दा॥ वन विराजि

साजन॥ सब दमर सतान राग मधुर ध॥ गा

वि॥ मोह पशु पंछित सब सुरा॥ मुनि का धी

न ब्रका वि॥१॥ मुरली धोर सु वंशी सुण॥

गोपी काजन आधा इ॥ आरो पत्र गिरधर मि

लि तन का ताप बुझाई॥२ मुरली॥ [illegible]

ता॥

बो पृष्ठ

आदि

रागमारू ॥ आयरा गोकुल कोमारी॥ मथुरा
लीलायनी रुअन्त को नैद सुजरागी॥१॥ आ
एकोमतत एक नायत भरत बीना दहरी॥
नेहअशोदे कुपुरन पुनमग टअन्न ना
शी॥२॥ आको फाडी मैचीन जेशी हुनीने
शीवुद मजाशी॥ मु म भया एरमार मर
मेजीउ भाशी॥३॥ आवो पीताम्बर छटीब
राजत अर गजाशा हारी॥ गीरधर सोन
[illegible]॥४॥
॥ मेरी गाडी नेननी नेह दीओ ता दीनथ
उनशाम मनो हर सीत नननयेन दीओ॥आ
जेशे भन मभयो ले अमीत आग नवेद
पीओ॥ मीसरी देह ग्रेह सुजमपतपर
जस पान मीओ॥॥ मेरी॥ तजी सजम्नाम
चली मकु मुत मुहरी मैन आया ठीओ॥

संवत १७११ में लिपिबद्ध

भोलाम्रो लमजोलीश्रमह्भाग लै॥
जाणेगी यराप्रीसे॥॥ श्रलगोर हुंश्रां
श्रलगट जोसेजरा सुमधुराग्राइदि
प्रथमकुंप्रु तनाभारी कुसरहुछे न
राहीरो॥६॥ श्राटलादीवराश्रोइ लेन
गमीश्राइ वनजाउवाहीरो॥ नरसहीथो
योस्वामी न्नलेमरवीश्रोपुनेरपीणा
हुवराइगिरे॥७॥ —— ॥८॥

रागभासा॥ तेरोरूपदेखलटश्रीदेहथेम
देहन्नहीजेरपरीलेरेमद्भृश्री॥१॥ मातपी
नालोकमकुसबनोभलीहरश्री॥ हीर
देथयेटरतनोरीछश्रीनागरनटश्री॥२॥
मेरेमनेएशीश्राहीलोरजोनेनटश्री
मीराप्रभुगीरधराबीनश्रोनजानघर
श्री॥३॥ तेरोरूपदेखलटश्री

गुटके के दो पृष्ठ

संदर्भ-ग्रंथ

हिन्दी —

प्रमुखतः मीराँ के जीवन और काव्य से संबंधित ग्रंथ

१—मीराँ एक अध्ययन	पद्मावती शबनम
२—मीराँ-मंदाकिनी	नरोत्तमदास स्वामी
३—मीराँ-माधुरी	ब्रजरत्नदास
४—मीराँ जीवनी और काव्य	महावीरसिंह गहलोत
५—मीराँ-दर्शन	मुरलीधर श्रीवास्तव
६—मीराँबाई का काव्य	मुरलीधर श्रीवास्तव
७—मीराँ-पदावली	विष्णुकुमारी 'मंजु'
८—मीराँ	वामदेव शर्मा
९—मीराँबाई की पदावली	परशुराम चतुर्वेदी
१०—मीराँ की प्रेम-साधना	भुवनेश्वर मिश्र 'माधव'
११—मीराँ-बृहद्-पद-संग्रह	पद्मावती शबनम
१२—मीराँबाई के भजन	ईश्वरप्रसाद रामचन्द्र
१३—मीराँबाई की शब्दावली	बालेश्वरप्रसाद, बेलवेडियर प्रेस
१४—मीराँबाई	श्रीकृष्णलाल
१५—मीराँबाई का जीवन चरित्र	मुंशी देवीप्रसाद
१६—मीराँबाई का जीवन चरित्र	कार्तिकप्रसाद खत्री
१७—श्री भक्तशिरोमणि मीराँबाई के भजन	विश्वेश्वर प्रेस बनारस
१८—भक्तिमती मीराँबाई	बलवंतसिंह मेहता
१९—भक्त मीराँ	व्यथित हृदय
२०—मीराँ की पदावली	सदानन्द भारती
२१—आदर्श भक्त अर्थात् मीराँबाई	पुरुषोत्तमदास पुरोहित
२२—मीराँ और उनकी प्रेमवाणी	ज्ञानचन्द जैन
२३—मीराँबाई	बलदेवप्रसाद मिश्र
२४—मीराँ स्मृति ग्रंथ	बंगीय हिंदी परिषद्
२५—मीरा सुधा सिंधु	स्वामी आनन्द स्वरूप

इतिहास ग्रंथ (राजनैतिक)

२६—मुँहणोत नैणसी की ख्यात (दो भाग)	काशी नागरी प्रचारिणी सभा
२७—उदयपुर राज्य का इतिहास (२ भाग)	गौरीशंकर हीराचंद ओझा
२८—जोधपुर राज्य का इतिहास	गौ० ही० ओझा
२९—मारवाड़ का इतिहास (२ भाग)	विश्वेश्वरनाथ रेउ
३०—महाराणा सांगा	हरबिलास सारडा
३१—राजपूताने का इतिहास (भाग १)	जगदीशसिंह गहलोत
३२—वीर-विनोद	कविराजा श्यामलदास
३३—वंश भास्कर (काव्य)	सूर्यमल मिश्रण
३४—चतुरकुल चरित	ठाकुर चतुरसिंह वर्मा
३५—जयमल वंशप्रकाश	गोपालसिंह राठौर मेड़तिया
३६—ऐतिहासिक संकीर्ण निबंध (खण्ड ६)	
३७—अकबर नामा (भाग १)	
३८—महाराणा यश प्रकाश	ठाकुर भूरसिंह शेखावत

विविध—

३९—अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय	दीनदयालु गुप्त
४०—अष्टादश सिद्धान्त के पद स्वामी हरिदास जू के	टीकाकार ललिताप्रसाद पाठक
४१—अकबरी दरबार के हिन्दी-कवि	सरयूप्रसाद अग्रवाल
४२—ईरान के सूफी कवि	बाँकेबिहारी तथा कन्हैयालाल
४३—उत्तरी भारत की संत-परम्परा	परशुराम चतुर्वेदी
४४—कबीर-कसौटी	केहरसिंह
४५—काव्यशास्त्र	भगीरथ मिश्र
४६—कबीर	हजारीप्रसाद द्विवेदी
४७—गौतम चंद्रिका में तुलसी का वृत्तान्त	विश्वनाथप्रसाद मिश्र
४८—ग्रंथ साहिब सर्वांग सद्गुरु श्री गरीबदास जी की बानी	गरीबदास
४९—चैतन्य चरितावली खण्ड ५	प्रभुदत्त ब्रह्मचारी
५०—चौरासी वैष्णवन की वार्ता	लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस संस्करण
५१— ”	डाकोर संस्करण

५२—दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता	सम्पादक—ब्रजभूषण शर्मा तथा द्वारकादास पारीख
५३—तमिल और उसका साहित्य	पूर्णसुन्दरम
५४—तुलसी-ग्रंथावली	नागरी प्रचारणी सभा
५५—नरसी मेहता को बड़ो माहेरो	प्रकाशक—बनवारीलाल बगीच
५६—नरसी मेहेता का बड़ा मामेरा	सदाशिवकरण रामरतन खेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई
५७—नागर समुच्चय	नागरीदास सं॰ बा॰ राधाकृष्णदास
५८—प्राचीन वार्ता-साहित्य (प्रथम भाग)	संपा॰ द्वारकादास पुरुषोत्तम परीख
५९—पुरानी हिन्दी	के टेस्सितोरी अनु॰ नामवरसिंह
६०—प्रेमभक्ति योग	देवदास महाराज ठाकोर
६१—बंगला साहित्य की कथा	सुकुमार सेन अनु॰ भोलानाथ शर्मा
६२—ब्रजभाषा	धीरेन्द्र वर्मा
६३—ब्रजमाधुरी सार	वियोगी हरि
६४—भागवत सम्प्रदाय	बलदेव उपाध्याय
६५—भारत की चित्रकला	राय कृष्णदास
६६—भक्त कवि व्यास जी	वासुदेव गोस्वामी
६७—मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ	सावित्री सिन्हा
६८—महिला-मृदुवाणी	मुंशी देवीप्रसाद
६९—मूल गोसाईं चरित	वेणीमाधवदास
७०—रस-मीमांसा	रामचन्द्र शुक्ल
७१—राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज— तृतीय भाग—	उदयसिंह भटनागर
७२— चतुर्थ भाग—	अगरचंद नाहटा
७३—राधा-वल्लभ संप्रदाय सिद्धान्त और साहित्य	विजयेन्द्र स्नातक
७४—राम-भक्ति में रसिक संप्रदाय	भगवतीप्रसाद सिंह
७५—रामरसिकावली	महाराज रघुराजसिंह
७६—राजस्थानी भाषा और साहित्य	मोतीलाल मेनारिया
७७—राजस्थान का पिंगल साहित्य	मोतीलाल मेनारिया
७८—रामानन्द की हिन्दी रचनाएं	प्रधान संपा॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी

७९—राजस्थान की जातियाँ	बजरंगलाल लोहिया
८०—विचार-विमर्श	चन्द्रबली पाण्डेय
८१—वैष्णव धर्म	परशुराम चतुर्वेदी
८२—संतकवि दरियाँ-एक अनुशीलन	धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी
८३—संगीतसार	महाराज सवाई प्रतापसिंह देव
८४—सन्तबाणी संग्रह	रैदासजी—बेलवेडियर प्रेस
८५—संगीत राग कल्पद्रुम	कृष्णानन्द व्यासदेव रागसागर
८६—साहित्य वाचस्पति सेठ कन्हैयालाल पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ	प्रधान संपादक—वासुदेवशरण अग्रवाल
८७—सूर और उनका साहित्य	हरवंशलाल शर्मा
८८—सूरसागर	नागरी प्रचारिणी सभा काशी
८९—श्री बयालीस लीला वाणी	श्रीहित ध्रुवदास
९०—श्री गोदाम्बा कृत गीतावली	अनुवादक—लक्ष्मणाचार्य
९१—सूफी मत और हिन्दी साहित्य	विमलकुमार जैन
९२—श्री गुरु ग्रंथ साहिब	शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी अमृतसर
९३—श्रीहित हरिवंश और उनका साहित्य	ललिताचरण गोस्वामी
९४—श्री भक्तमाल	सम्पादक—रूपकला
९५—श्री राधा का क्रमविकास	शशिभूषणदास गुप्त
९६—शिवसिंह सरोज	शिवसिंह सेंगर
९७—हिंदी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय	पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
९८—हिंदी साहित्य	हजारीप्रसाद द्विवेदी
९९—हिंदी साहित्य की भूमिका	हजारीप्रसाद द्विवेदी
१००—हिंदी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल
१०१—हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	रामकुमार वर्मा
१०२—हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि	रत्नकुमारी
१०३—हिंदी धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ	त्रिवेणीप्रसाद सिंह
१०४—हिंदुई साहित्य का इतिहास	मूल लेखक गार्सां द तासी अनु० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
१०५—मिश्रबन्धु विनोद (प्रथम भाग)	मिश्रबन्धु
१०६—भारतीय साधना और सूर साहित्य	मुंशीराम शर्मा

१०७—भक्ति और प्रपत्ति का स्वरूपगत भेद	रामनाथ शास्त्री
१०८—भारतीय दर्शन	बलदेव उपाध्याय
१०९—भारतीय दर्शन	उमेश मिश्र
११०—हिंदी को मराठी संतों की देन	विनयमोहन शर्मा
१११—तुलसीदास	माताप्रसाद गुप्त

गुजराती

१११—कवि चरित (भाग १ २)	के० का० शास्त्री
११२—कुंवरबाईनुं मामेरुं	संपा मगनभाई प्रभुदास देसाई
११३—गुजराती साहित्यना मार्गसूचक स्तंभो	कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी
११४—गुजराती साहित्यनुं रेखा-दर्शन खंड १ लो	के का० शास्त्री
११५—गुजराती साहित्यना स्वरूपो	म० र० मजुमदार
११६—गुजराती साहित्य (मध्य कालीन)	अनन्तराय रावल
११७—गुजराती साहित्यनुं रेखा दर्शन	मनसुखलाल झवेरी तथा रमणलाल शाह
११८—चौराशी वैष्णवनी वार्ता	अहमदाबाद संस्करण
११९—जुनुं नर्म गद्य—पुस्तक १लुं	सम्पा नर्मदाशंकर लालशंकर
१२०—२५२ वैष्णवनी वार्ता	प्रका० वसूभाई छगनलाल देसाई ,
१२१—दयाराम कृत काव्य संग्रह (मीरा चरित्र)	संपा० नन्दकिशोर
१२२—नरसिंह मेहता कृत काव्य-संग्रह	संपा० इच्छाराम सूर्यराम देसाई
१२३—प्राचीन साहित्य अंक बीजो	संपा० मा० महेता
१२४—प्राचीन काव्य-सुधा (भाग १ २ ३)	संपा० छगनलाल विद्याराम रावल
१२५—प्राचीन काव्य माला (भाग ६)	प्रकाशक हरगोविन्द द्वारकादास कोटवाला तथा मायाशंकर शास्त्री
१२६—भक्तमाल प्रसंग	गोपालराम प्रभुराम महेता
१२७—महाजन मंडल	मगनलाल नरोत्तमदास पटेल
१२८—मीरांबाई	भानुसुखराम निर्गुणराम महेता
१२९—मीरांनी भक्ति गीतो	दिवाली बेन भट्ट
१३०—मीरांनी प्रेमवाणी	श्री मधुर
१३१—मीरां वाली जनम जनम की	रेवाशंकर सोमपुरा

१३२—मीरांबाईनी भजनो | हरसिद्धभाई वजुभाई दिवेटिया
१३३—मीरांबाई | सत्संग मण्डल—नरनारायण मंदिर मुंबई—२
१३४—मीरां-माहात्म्य | राधाबाई
१३५—वैष्णव धर्मनो संक्षिप्त इतिहास | दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री
१३६—रास मण्डलनी गरबियो | प्र हेमराज दयालजी सौरुजी सेरी
१३७—बृहद्-काव्य-दोहन (भाग १ २,५,६ ७) | इच्छाराम सूर्यराम देसाई
१३८—सती मण्डल | केशवजी विश्वनाथ
१३९—शामळमामा | जयसुखलाल ज्योतिषी

मराठी
१४०—गाथा पंचक श्री सन्त गाथा | संपादक त्र्यंबक हरी श्रापटे
१४१—संत मिरांबाईचा गाथा | बालकृष्ण लक्ष्मण पाठक
१४२—मीरांबाई भजन माध्यार अर्थात् मीरांबाई कृत पदरत्न संग्रह— | श्री गोविन्दराव मेराबा कार्लेकर
१४३—भक्त लीलामृत | महीपति
१४४—श्री तुकाराम चरित्र | लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर
१४५—महाराष्ट्रीय ज्ञान-कोष
१४६— „ „ (पुरवणी)
१४७—चरित्र मीरांबाई | सोपी मामा

संस्कृत आदि
१४८—नारद भक्ति सूत्र
१४९—शाण्डिल्य भक्ति सूत्र
१५०—श्रीमद्भागवत
१५१—श्री वैष्णवमताब्ज भास्कर
१५२—छांदोग्य उपनिषद् कठोपनिषद् आदि
१५३—ऋग्वेद
१५४—गाहा सतसई

पत्र-पत्रिकाएं
१५५—मधुरीलन जनमारती राजस्थानी शोध-पत्रिका हिन्दुस्तानी वीणा

संतवाणी वेणपुत पारिजात भारती नागरी प्रचारिणी पत्रिका कल्याण, राष्ट्र-वाणी इनके अंक आदि का उल्लेख यथास्थान कर दिया गया है।

हस्तलिखित ग्रंथ, सूची-पत्र तथा खोज रिपोर्टें

१२६—फार्बस सभा बम्बई, शाही लक्ष्मी लायब्रेरी नडियाद विद्या-सभा अहमदाबाद प्राच्य विद्या मंदिर बड़ौदा रामद्वारा जोशी बावड़ी उदयपुर, राजस्थानी संशोधन मण्डल धुलिया (पश्चिम खानदेश) राजवाड़े संशोधन मण्डल धुलिया पुस्तक-प्रकाश जोधपुर सरस्वती भण्डार पुस्तकालय उदयपुर अगरचन्द नाहटा का संग्रहालय बीकानेर पुरोहित संग्रहालय जयपुर, काशी नागरी प्रचारिणी सभा काशी साहित्य सम्मेलन संग्रहालय प्रयाग प्राच्य विद्या मंदिर उज्जैन के सूची-पत्र और हस्तलिखित ग्रंथ। इनका भी यथास्थान उल्लेख कर दिया गया है।

अंग्रेजी

1. A Monograph on Mirabai — S. S. Mehta
2. Alvar Saints — Swami Sidhnath Bharati
3. An Indian Ephemeris — S. Pillai
4. An Outline of the religious literature of India — J. N. Farquhar
5. Annals and Antiquity of Rajasthan — James Tod
6. Archeological Survey of India Annual Reports-1907-8, 1911 12
7. Book of Indian Eras — Alexander Cunningham
8. Early History of the Vaishnava Sect — Rai Choudhary
9. Encyclopaedia Religion and Ethics Volume II
10. Encyclopaedia of Britanika Vol. VI

11 Gazetteer of the Bombay presi dency Vol. III-Khaira and Panch Mahals.	
12. Glories of Marwar and glorious Rathors	Bisheshwarnath Reu
13 Gujrat and its Literature	K. M Munshi
14 History of Gujrat	Bele
15 Hyms of Alvar	J S M Hooper
16. Influence of Islam on Indian Culture	Tarachand
17 Indian Antiquary-August, 1903 Legend of Mirabai, the Rajput Poetess	M Macauliff
18 Journal of the Royal Asiatic Society-1905	
19 Linguistic Survey of India-Vol. IX	George Grierson
20. Medieval Mysticism	K. Mohan Sen
21 Mewar and Mughal Emperors	G N Sharma
22. Mirabai, life and times	H. Goets
23 Monograph on the religious sects in India among Hindus	D A. Pal
24. Modern Vernacular Literature of Hindustan	George Grierson
25. Ragas and Raginis	O C. Gangoli
26. Rasmala	A. K. Forbes
27 Religious Sects of Hindus	H H. Wilson
28. Satvatas	S. K. Aiyenger
29 Songs of Mirabai	R. C. Tondon
30 Some Aspects of Society and Culture during the Moghal age	P N Chopra
31 The Sultanate of Delhi	A L. Shrivastava
32. The Early writers on Music	V V Narsingachari
33 Vaishnava Literature of Medieval Bengal	Dinesh Chandra Sen
34 Selection from Classical Gujarati Literature	H J Taraporewala